Centre for Distance & Online Education

Faculty of Arts

व्याकरण एवं भाषा विज्ञान– ।

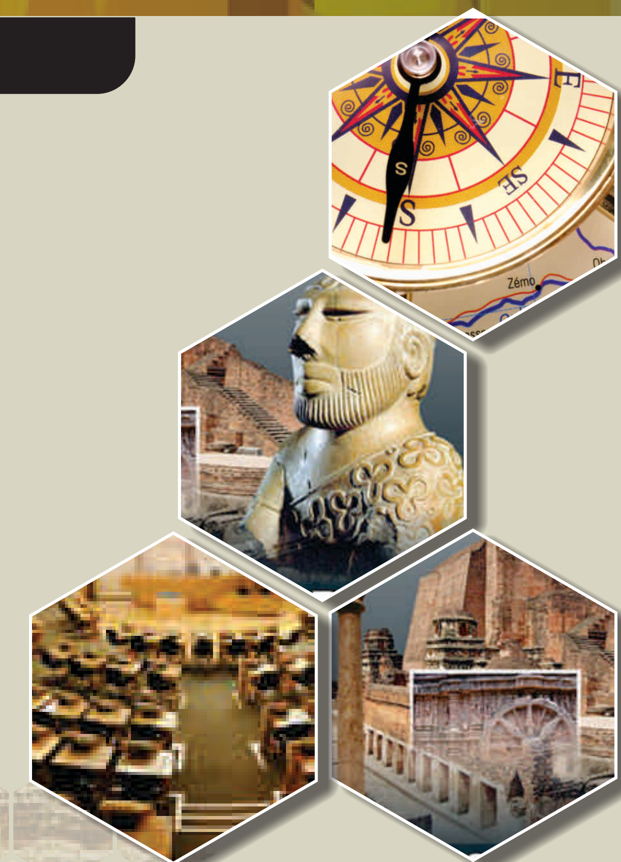

1MASANS2

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur

A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

व्याकरण एवं भाषा विज्ञान– ।

Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

1MASANS2

व्याकरण एवं भाषा विज्ञान – ।

1MASANS2
व्याकरण एवं भाषा विज्ञान – ।

Credit- 4

Subject Expert Team

Dr. V.P.Mishra, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Renu Shukla, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Shri Prakash Tiwari, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Krishna Kumar Bhaskar, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Vinod Pandey, Asso. Prof.& Head, Sanskrit Dept. D.A.V. Mahavidyalaya Civil Line kanpur (U.P.)
Dr. Raghvendra Sharma, Asso. Prof. & Head Dept. of Veda, Govt. Dudhadhari Sanskrit P.G. Collage, Raipur (C.G.)

Course Editor:

Dr. Suryakant Tripathi, Associate Professor & Head, Sanskrit Dept., D.A.V. Mahavidyalaya Civil Line kanpur (U.P.)

Unit Written By:

1. Dr. Krishna Kumar Bhaskar

Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

2. Dr. Renu Shukla

Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

Warning: All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher. Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.)

Edition : March 2024

Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.), Ph. +07753-253801,07753-253872 E-mail: info@cvru.ac.in, Website: www.cvru.ac.in

विषय-सूची

इकाई-1	**कारक एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण** • अथ कारकप्रकरणम् (1)	**1-44**
इकाई-2	**कारक एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण** • अथ कारकप्रकरणम् (2)	**45-112**
इकाई-3	**कृत्य एवं कृदन्त प्रक्रिया** • कृदन्ते कृत्यप्रक्रिया	**113-164**
इकाई-4	**व्याकरण महाभाष्यम् एवं निबन्ध** • शब्दानुशासनम् • संस्कृत निबन्ध	**165-332**

1 कारक एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- कर्ता कारक (प्रथमा विभक्ति) का विवेचन
- कर्म कारक (द्वितीया विभक्ति) का विवेचन
- करण कारक (तृतीया विभक्ति) का विवेचन
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

यह इकाई भट्टोजिदीक्षित कृत 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' के 'कारक प्रकरण' के अन्तर्गत कर्ता, कर्म तथा करण कारक का विवेचन प्रस्तुत करती है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त छात्र :

- कर्ता कारक के प्रयोग के विभिन्न नियमों से परिचित हो सकेंगे।
- प्रथमा विभक्ति के प्रयोग से सम्बन्धित सूत्रों से अवगत हो सकेंगे।
- कर्म कारक एवं द्वितीया विभक्ति के प्रयोग के नियमों से परिचित हो सकेंगे।
- करण कारक के प्रयोग के विभिन्न नियमों को समझ सकेंगे।
- तृतीया विभक्ति-विधायक विभिन्न सूत्रों की व्याख्या से अवगत हो सकेंगे।

प्रस्तावना :

'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' भट्टोजिदीक्षित द्वारा लिखा गया संस्कृत व्याकरण का अनुपम ग्रन्थ है। पाणिनि द्वारा रचित 'अष्टाध्यायी' की जटिलता एवं विषय-बहुलता को सरल, सुबोध एवं व्यवस्थित क्रम में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही भट्टोजिदीक्षित ने 'अष्टाध्यायी' के समस्त सूत्रों की व्याख्या करते हुए 'शब्दकौस्तुभ' नामक एक वृत्ति लिखी थी जो अब अपने सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। इसके बाद उन्होंने अपनी 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' की रचना की। भट्टोजिदीक्षित की इस कृति से पूर्व किसी भी व्याकरण ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का समावेश नहीं था। सिद्धान्त कौमुदी में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों को विविध प्रकरणों व्यवस्थित किया गया है तथा इसी के अंतर्गत सभी धातुओं के रूपों का विवरण भी दे दिया गया है। पाणिनीय व्याकरण के व्याख्याताओं में भट्टोजिदीक्षित का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस इकाई में वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के कारक प्रकरण के अन्तर्गत कर्ता, कर्म तथा करण कारक की व्याख्या विभिन्न सूत्रों के माध्यम से की गयी है। इस इकाई में पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी के सूत्रों के माध्यम से ही प्रथमा, द्वितीया तथा तृतीया विभक्ति के प्रयोग को विभिन्न उदाहरणों एवं शब्दों की सिद्धि करके समझाया गया है।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी : अथ कारकप्रकरणम् (1)

प्रथमा-विभक्तिः

1. प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा 2/3/46।।

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः ।

प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् ।।

पदार्थकथन— यह सूत्र प्रथमा-विभक्ति का विधान करता है । प्रातिपदिकार्थ, लिङ्ग, परिमाण एवं वचन (संख्या) अर्थ को अभिव्यक्त करने हेतु प्रथमाविभक्ति-सु औ जस्, आती है । 'प्रातिपदिकार्थश्च, लिङ्गञ्च, परिमाणञ्च' इस विग्रह में द्वन्द्वसमास करके 'प्रातिपदिकार्थ लिङ्गपरिमाणवचनानि' बनता है । 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिणामवचनानि एव' इस विग्रह में निश्चयार्थक एव का प्रयोग हुआ है । निश्चयार्थक एव के अर्थ को प्रकट करने हेतु उक्त पद का 'मात्र' (निश्चयार्थक) के साथ 'मयूरव्यंसकादयश्च' सूत्र से नित्य तत्पुरुषसमास करके 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग-परिमाणवचनमात्रम्' बना । सप्तमी-एकवचन में 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे' बना । इस मात्र शब्द का प्रातिपदिकार्थ लिङ्ग परिमाण (माप) वचन (संख्या) प्रत्येक के साथ अन्वय (योग) होता है क्योंकि नियम है—'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते'। अर्थात् द्वन्द्व समास के अन्त में या आदि में प्रयुक्त (श्रूयमाण) पद का प्रत्येक द्वन्द्वसमास-घटक शब्द के साथ प्रयोग होता है । 'प्रातिपदिकार्थ' शब्द का अर्थ है —नियतोपस्थितिक। अर्थात् 'नियता उपस्थितिर्यस्य' शब्द का उच्चारण करने पर जिस अर्थ की निश्चित (नियत) उपस्थिति होती है वह अर्थ प्रातिपदिकार्थ है।

NOTES

1. सूत्र का सामान्य अर्थ—प्रातिपदिकार्थ मात्र में, लिङ्गमात्र की अधिकता में, परिमाणमात्र में एवं वचनमात्र (संख्यामात्र) अर्थ में प्रथमाविभक्ति होती है ।

व्याख्या—(1) प्रातिपदिकार्थ—'पदंपदं प्रति' इस विग्रह में वीप्सा में अव्ययीभाव कर प्रतिपदम् बना । 'प्रतिपदेभवं' इस अर्थ में ठक् कर प्रातिपदिक बना । प्रत्येक पद में अर्थ होता है । अत एव अर्थवत् शब्द प्रातिपदिक कहलाता है । विभक्ति लगने से पूर्व शब्द का मूल रूप प्रातिपदिक है ।

प्रातिपदिकस्य अर्थः—प्रातिपदिक का अर्थ हुआ 'प्रातिपदिकार्थ' । प्रातिपदिकार्थ में इस सूत्र से प्रथमा विभक्ति का विधान किया जाता है । अर्थात् सु औ जस् पद के अर्थ को प्रकट करते हैं । जब तक शब्द के साथ सुप् या तिङ विभक्ति नहीं लगायी जाती है तब तक वह शब्द पद नहीं कहलाता तथा अपने अर्थ को प्रकट करने में समर्थ नहीं होता है। प्रयोग के योग्य नहीं माना जाता है । 'अपदं न प्रयुञ्जीत' यह नियम है । इस तरह इस सूत्र में प्रातिपदिकार्थ का अर्थ है—'नियतोपस्थितिकः, केवल नियत अर्थ का बोध (उपस्थिति) प्रातिपदिकार्थ है । जब राम, कृष्ण इत्यादि से नियत अर्थ का बोध कराना हो तब उससे प्रथमाविभक्ति का प्रयोग किया जाता है । राम:, कृष्ण का 'सु' रामः एवं कृष्णः पद के ही नियत अर्थ को बताते हैं । संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण एवं अव्ययपदों में अर्थमात्र का बोध कराने के लिए प्रथमाविभक्ति आवश्यक है ।

प्रातिपदिकार्थ के विषय में कई पक्ष हैं । प्राचीन वैयाकारण 'सत्ता' को प्रातिपदिकार्थ मानते हैं । सामान्यतः स्वार्थ (जाति) द्रव्य (व्यक्ति) लिङ्ग, संख्या एवं कारक ये पाँच प्रातिपदिकार्थ माने जाते हैं । किन्तु कुछ लोग जाति एवं द्रव्य को ही प्रातिपदिकार्थ मानते हैं । कुछ विद्वान जाति (स्वार्थ) द्रव्य एवं लिङ्ग इन तीनों को प्रातिपदिकार्थ मानते हैं, कुछ जाति, व्यक्ति (स्वार्थ, द्रव्य) लिङ्ग संख्या इन चारों को, तथा कुछ विद्वान् उपर्युक्त पाँचों को प्रातिपदिकार्थ मानते हैं । **नागेश भट्ट** इस सूत्र में प्रवृत्तिनिमित्त और प्रवृत्ति निमित्त के आश्रय को ही प्रातिपदिकार्थ मानते हैं । कुछ विद्वान् जाति या खण्डोपाधि को ही प्रातिपदिकार्थ मानते हैं, तो कुछ जाति और वयक्ति दोनों को । किन्तु **भट्टोजिदीक्षित** यहाँ पर 'नियतोपस्थिति' को प्रातिपदिकार्थ मानते हैं । अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियत उपस्थिति होती हो वह प्रातिपदिकार्थ है ।

पाणिनि ने '**स्वमोर्नपुंसकात्**' सूत्र रचकर जाति और व्यक्तिमात्र को ही प्रातिपदिकार्थ नहीं माना है । क्योंकि यह सूत्र नपुंसकलिङ्ग-वाचक प्रातिपदिक से सु और अम् का लुक् करता है । यदि जाति एवं व्यक्ति (द्रव्य) को ही प्रातिपदिकार्थ माना जाये तब कोई भी प्रातिपदिक लिङ्ग का वाचक नहीं होगा । या प्रवृत्तिनिमित्त और व्यक्ति (तदाश्रय) को प्रातिपदिकार्थ मानने पर प्रत्येक प्रातिपादिक इन्हीं दो अर्थों को कहेगा, लिङ्ग अर्थ को नहीं कहेगा । इस स्थिति में नपुंसकलिङ्ग-वाचक प्रातिपदिक से सु और अम् का लुक् विधान करना निष्फल होता है । अतः इस सूत्र में जाति या जाति-व्यक्ति को ही प्रातिपदिकार्थ मानना इष्ट नहीं है । लिङ्ग भी प्रातिपदिकार्थ है ही ।

उच्चैः । नीचैः । कृष्णः । श्रीः । ज्ञानम् । अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम् । अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राधिक्यस्य। तटः-तटी-तटम् । परिमाणमात्रे-द्रोणो व्रीहिः । द्रोणरूपं यत् परिमाणं तत्परिच्छिनो व्रीहिरित्यर्थः । प्रत्यार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु प्ररिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः । वचनं संख्या । एकः । द्वौ । बहवः । इहोक्तार्थत्वाद् विभक्तेरप्राप्तौ वचनम् ।

पदार्थकथन—उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्, इत्यादि–लिङ्गरहित अव्यय और नियतलिङ्ग वाले पद 'प्रातिपदिकार्थ मात्र' के उदाहरण हैं । (इनमें प्रथमा–विभक्ति प्रातिपदिकार्थमात्र में होती है ।) अनियतलिङ्ग वाले (जिनका कोई एक लिङ्ग निश्चित नहीं है ।) शब्द 'लिङ्गमात्र की अधिकता' के उदाहरण हैं । जैसे तट–तटी–तटम्, यहाँ लिङ्गमात्र की अधिकता के अर्थ में प्रथमा हुई है । परिमाण मात्र की अधिकता में प्रथमाविभक्ति का उदाहरण है—द्रोणो व्रीहिः। इसका अर्थ है द्रोणरूप परिणाम (माप) से परिच्छिन्न (नपा) हुआ व्रीहि = धान । इस में सु–प्रत्ययार्थ परिणाम में प्रकृति–द्रोण का अर्थ अभेद–सम्बन्ध से विशेषण होता है, तब वाक्यार्थ निष्पन्न होता है, यह समझना चाहिए । वचन का अर्थ है—संख्या । संख्या अर्थ में प्रथमाविभक्ति के उदाहरण हैं—एकः, द्वौ, बहवः । यहाँ एक से एकत्व, द्वि से द्वित्व और बहु से बहुत्व अर्थ के उक्त हो जाने के कारण प्रथमाविभक्ति की प्राप्ति नहीं थी, क्योंकि नियम है—'**उक्तार्थानाम् अप्रयोगः**'—अब जिन का अर्थ उक्त हो जाये उनका प्रयोग नहीं होता है । अतः एक द्वि बहु से प्रथमा लाने हेतु इस सूत्र में वचन–शब्द का ग्रहण हुआ है ।

व्याख्या—अलिङ्गाः नियतलिङ्गाश्च ....।

(1) उच्चैः, नीचैः, अधः, सम्यक् इत्यादि अव्यय हैं । इनको 'सुप्तिङन्तं पदम्' (सुबन्त एवं तिङन्त पद कहलाते है ।) से पदसंज्ञा करने के लिए विभक्ति लाना आवश्यक है । उच्चैःनीचैः इत्यादि अव्ययपदों में प्रथमाविभक्ति का अर्थ केवल '**प्रातिपदिकार्थ**' = नियतरूप से प्रतीत होने वाला अर्थ है । अर्थात् जितना अर्थ प्रातिपदिक का है, उतना ही अर्थ प्रथमाविभक्ति के आने पर भी ज्ञात होता है ।

अव्ययपदों में लिङ्ग–अर्थ का सम्बन्ध नहीं होता है । अव्यय की परिभाषा है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ।।

अर्थात् जो शब्द तीनों लिङ्गों में सभी विभक्तियों में सभी वचनों में विकार को प्राप्त नहीं करता है, एक जैसा ही रहता है, वह **अव्यय** है ।

इस कथन से स्पष्ट है कि अव्यय के अर्थ में लिङ्ग और संख्या का सम्बन्ध नहीं होता है । लिङ्ग और संख्या का सम्बन्ध द्रव्य से होता है । द्रव्य की परिभाषा है—'**लिङ्गसंख्यान्वयि द्रव्यम्** ।' द्रव्य से भिन्न अर्थ वाला शब्द अव्यय होता है । इस तरह अव्यय में लिंग का सम्बन्ध न होने से अव्ययपद प्रातिपदिकार्थ मात्र के उदाहरण हैं । इसी बात को दीक्षित जी ने ''अलिङ्गाः' (जिनमें लिङ्ग नहीं होते वे प्रातिपदिकार्थ मात्र के उदाहरण हैं) पद द्वारा बताया है ।

(2) नियतलिङ्ग वाले शब्द भी प्रातिपदिकार्थ मात्र के उदाहरण हैं । यद्यपि कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम् इन तीनों में प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त क्रमशः पुँल्लिङ्गत्व, स्त्रीलिङ्गत्व और नपुंसकत्वरूप अर्थ का भी बोध होता है, तब भी ये प्रातिपदिकार्थ मात्र के ही उदाहरण हैं क्योंकि यहाँ पर पुंसत्व स्त्रीत्व नपुंसकत्व (लिङ्गरूप) अर्थ प्रातिपदिकार्थ से भिन्न नहीं हैं । इनमें लिङ्गरूप अर्थ की उपस्थिति नियत रूप से होती है—और नियत रूप से उपस्थित होने वाले अर्थ को ही प्रातिपदिकार्थ माना गया है।

कृष्णः में पुँल्लिङ्गत्वरूप अर्थ की, 'श्रीः' शब्द में स्त्रीलिङ्गत्वरूप अर्थ की, तथा 'ज्ञानम्' में नपुंसकत्वरूप अर्थ की प्रतीति नियमतः (नियत) होती है, अतः ये शब्द नियतलिङ्ग वाले शब्द हैं । इन शब्दों में 'लिङ्ग अर्थ भी 'प्रातिपदिकार्थ' के अन्तर्गत ही आता है । अतः ये प्रातिपदिकार्थ के उदाहरण हैं । इनमें 'प्रातिपदिकार्थमात्र' अर्थ में **'प्रातिपदिकार्थ'** सूत्र से प्रथमाविभक्ति आती है ।

यद्यपि कृष्णः, पटः, कृष्णा पटी, कृष्णं वस्त्रम्, में कृष्णशब्द तीनों लिङ्गों में दिखाई पड़ते हैं, तथापि यहाँ भगवान् विष्णु का वाचक **कृष्ण**-पद है, और वह नियतलिङ्ग है, यह समझना चाहिए ।

प्रातिपदिक के द्वारा उक्त अर्थ में प्रथमा के विधान का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि एकत्व आदि संख्या के बोध के लिए प्रथमा की जाती है । अव्यय पदों में पदसंज्ञा करने के लिए प्रथमाविभक्ति की जाती है । यद्यपि **अव्ययादाप्सुपः** से अव्ययपदों से सुप् का लुक् हो जाता है, तथापि प्रत्ययलक्षण करके अव्यय को सुबन्त माना जाता है, एक सुबन्त की पदसंज्ञा होती है । पदसंज्ञा होने के कारण ही 'उच्चैः' में स् को पदान्त मानकर रुत्व एवं विसर्ग होते हैं । **'उच्चैस्ते सम्यगुच्चारणम्'** में उच्चैः पद से परे 'तव' को 'तेमयावेकवचनस्य' सूत्र से 'ते' आदेश होता है ।

(3) अनियतलिङ्ग—जिन शब्दों में किसी एक लिङ्ग की ही उपस्थिति नहीं होती है अपितु भिन्न-भिन्न लिङ्गों का बोध होता है, वे शब्द अनियत लिङ्ग वाले शब्द कहे जाते हैं । जैसे—**तटः-तटी-तटम्** । विशेषणवाचक कृष्ण-कृष्णा- कृष्णम् इत्यादि । इन शब्दों में प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त पुंस्त्व, स्त्रीत्व एवं नपुंण्टसकत्वरूप अधिक अर्थ की प्रतीति होती है । अतः ये अनियतलिङ्ग वाले शब्द 'लिङ्गमात्र की अधिकता' के उदाहरण हैं । यहाँ पर प्रातिपदिकार्थ सूत्र से 'लिङ्गमात्राधिक्य' अर्थ में प्रथमाविभक्ति होती है । मूल में 'अनियतलिङ्गस्तु लिङ्गमात्राधिक्यस्य, पंक्ति का यही आशय है ।

(4) परिमाणमात्र अर्थ की अधिकता में प्रथमाविभक्ति के विधान का उदाहरण —**'द्रोणो व्रीहिः'** है । द्रोण कहते हैं लड़की या लोहे का एक विशेष प्रकार के पात्र को, जिससे अनाज को मापा (तौला) जाता है । अतः द्रोण-शब्द परिणाम विशेष का वाचक है । व्रीहि का अर्थ **'धान'** है । 'द्रोणो व्रीहिः' में द्रोण परिणाम-विशेष है तथा व्रीहि व्यक्ति है । इन दोनों—द्रोण परिमाणविशेष एवं व्रीहि-व्यक्ति में धर्म और धर्मी का भेद हो जाने से अभेदान्वयबोध सम्भव नहीं हो पा रहा था । अतः परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव सम्बन्ध की कल्पना कर 'द्रोण रूप जो परिमाण उससे परिच्छिन्न (तुला नपा) व्रीहि' यह अर्थ कर अभेदान्वय बोध की बाधा को दूर कर दिया गया है ।

(5) वचनमात्र में प्रथमाविभक्ति आती है । वचन-शब्द का अर्थ है—'संख्या' । प्राचीन आचार्यों ने संख्या के लिए वचन शब्द का संज्ञाशब्द के रूप में प्रयोग किया है । एकः द्वौः बहवः में क्रमशः एक द्वि एवं बहु शब्द से संख्यामात्र अर्थ को प्रकट करने के लिए सु औ जस् रूपी प्रथमाविभक्ति का विधान 'प्रातिपदिकार्थ' सूत्र से किया गया है ।

2. सम्बोधने च (2/3/47) इह प्रथमा स्यात् । 'हे राम !' इति प्रथमा ।

सम्बोधने यह पद सप्तमी-एकवचन में है । सम्बोधन-शब्द का अर्थ है—किसी को अभिमुख कर (लक्ष्य कर) बोध कराना । च-पद से प्रातिपदिकार्थ सूत्र से प्रथमा की अनुवृत्ति लाई जाती है । इस तरह सूत्र का अर्थ हुआ—'सम्बोधन अर्थ के अधिक प्रतीत होने पर प्रथमाविभक्ति होती है ।'

व्याख्या—यह सूत्र सम्बोधन अर्थ में प्रथमाविभक्ति का विधान करता है । हे राम ! यहाँ पर सम्बोधन अर्थ में प्रथमा विभक्ति का विधान किया जाता है । यहाँ ज्ञातव्य है कि हे राम! कहने पर न केवल राम व्यक्ति का ही बोध होता है, अपि तु सम्बोधित राम व्यक्ति का बोध होता है । प्रातिपदिकार्थ सूत्र से प्रातिपदिकार्थमात्र का बोध होने पर प्रथमा होती है । हे राम! इस प्रयोग में राम व्यक्तिरूपी प्रातिपदिकार्थ के अलावा सम्बोधनरूप अधिक अर्थ की प्रतीति होने से प्रातिपदिकार्थ से प्रथमा प्राप्त नहीं थी । अत: 'सम्बोधने च' सूत्र द्वारा सम्बोधनरूप अधिक अर्थ की प्रतीति होने पर भी प्रथमाविभक्ति की जाती है ।

सम्बोधन का अर्थ—'सम्बोधनम् अभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्.'—किसी को अभिमुख कर (लक्ष्य कर) अच्छी तरह समझाना सम्बोधन पद का अर्थ है । सम्बोधन के द्वारा कुछ बताना आवश्यक है, अत: हे राम! इस सम्बोधन के उपरान्त कुछ बताने की आकांक्षा के शेष रह जाने के कारण 'मां पाहि' इस प्रकार के शेष अंश का अध्याहार कर लिया जाता है । इस तरह **'हे राम ! मां पाहि'** इस वाक्य में राम सम्बोधन है क्योंकि राम के प्रति 'मां पाहि' (मेरी रक्षा करो) यह ज्ञापित किया जा रहा है ।

कर्मकारक-द्वितीया विभक्ति

3. कारके 1/4/23 ।। इत्यधिकृत्य ।

3. सामान्यार्थ—'कारके' इस पद का अधिकार करके (अपादान कर्म इत्यादि संज्ञाएँ की जाती हैं ।)

व्याख्या—यह सूत्र अधिकार सूत्र है । 'कारके' इस सूत्र से आगे आने वाले प्रत्येक सूत्र में 'कारके' इस पद का अधिकार जाता है । 'कारके' यह सप्तम्यन्त पद 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यादि प्रथमान्त पदों वाले सूत्रों में जब जाएगा तब सप्तम्यन्त 'कारके' इस पद का प्रथमान्त कर्तुरीप्सिततमं कर्म इत्यादि के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा । अत: 'कारके' में भाष्यकार ने प्रथमा के अर्थ में सप्तमी माना है । इस तरह कुर्तरीप्सिततमं कर्म इत्यादि सूत्रों में 'कारके' यह सप्तम्यन्तपद 'कारकं' इस प्रथमान्त पद में परिवर्तित होकर उपस्थित होगा तथा वाक्यभेद से अन्वित होगा । अर्थात् प्रत्येक सूत्र में 'कारकम्' की अनुवृत्ति जाने पर दो वाक्य बनेंगे । जैसे—'ध्रुवमपायेऽपादानम्' सूत्र में 'कारकम्' का अधिकार आने पर (1) 'ध्रुवम् अपाये कारकं' यह एक वाक्य बनेगा तथा (2) 'अपादानम्' यह दूसरा वाक्य होगा । 'ध्रुवमपाये कारकम्' का अर्थ होगा—विभाग होने पर ध्रुव (अवधिभूत) को कारक संज्ञा होती है । यहाँ अधिकृत 'कारके' यह पद प्रथमान्त में परिवर्तित होकर विधेय बन जाता है, अत: सिद्ध है कि पहले से 'कारक' संज्ञा सिद्ध नहीं थी, अपितु इसी सूत्र से कारक संज्ञा भी की जाती है । उसके बाद दूसरे वाक्य—'अपादानम्' का पूर्ववाक्य के साथ वाक्यभेद से अन्वय करके अर्थ किया जाता है—

''विभाग होने पर ध्रुव को कारकसंज्ञा होती है, और उस कारकसंज्ञक ध्रुव को अपादान संज्ञा होती है । इसी प्रकार कर्तुरीप्सिततमं कारकम्— कर्म, साधक तमं-कारकं-करणम् इत्यादि अन्वय किए जाते हैं । अर्थात् ईप्सिततम्, साधकतम या ध्रुव इत्यादि कारकसंज्ञक होते हुए कर्मसंज्ञक, करणसंज्ञक या अपादान संज्ञक होते हैं । इस तरह दोनों संज्ञाओं का बिना विरोध के समावेश हो जाता है ।

NOTES

अधिकार—'कारके' यह अधिकार सूत्र है । अधिकार का अर्थ है—'उत्तरोत्तरगमनम् अधिकार:'—अपने से आगे-आगे के सूत्रों में जाना अधिकार है । अधिकार का लक्षण—''स्वदेशे वाक्यार्थबोधशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधकत्वम्'', अर्थात् अपने देश (स्थान) में वाक्यार्थ के बोधा से रहित होते हुए जो दूसरे सूत्रों के देश में (स्थान पर) अपना वाक्यार्थ बोध करावे वह 'अधिकार' है । 'कारके' इस सूत्र का अपने स्थान पर कोई अर्थ नहीं है । किन्तु ध्रुवमपायेऽपादानम्, कर्तुरीप्सिततमं कर्म इत्यादि आगे के सूत्रों में 'कारके' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रों का अर्थ पूर्ण हो जाता है ।

अधिकारसूत्र—'उत्तरोत्तरसूत्रेषु स्वघटकपदसमर्पकं सूत्रम् अधिकारसूत्रम्' । अर्थात् आगे के सूत्र में अपने पद को समर्पित करने वाला सूत्र अधिकार-सूत्र है । जैसे 'कारके' स्त्रियाम् इत्यादि ।

---

4. कर्तुरीप्सिततमं कर्म 1/4/49 ।। कर्तुः क्रियया आप्तुम इष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

पदार्थकथन—इस सूत्र में कर्तुः, ईप्सिततमं, कर्म ये तीन पद हैं । कारके की अनुवृत्ति आती है, और वह प्रथमान्त में परिवर्तित होकर ईप्सिततमं एवं कर्म के साथ अन्वित होता है । जैसे—कर्तुः इप्सिततमं कारकं कर्म ।

सामान्य अर्थ—कर्ता की क्रिया के द्वारा 'ईप्सिततम' की कारक संज्ञा होती हुई कर्म संज्ञा होती है।

व्याख्या—कर्तुः—कर्तृ-शब्द का षष्ठी एकवचन का रूप है । कृ धातु से कर्ता अर्थ में तृच् प्रत्यय कर 'कर्तृ' यह शब्द बनता है । कर्तुः में 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र से कर्ता के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का विधान किया जाता है ।

ईप्सिततमम्—आप्तुम् इष्यमाणं—'प्राप्त करने के लिए चाहा जाता हुआ' इस अर्थ में आप्तृ (आप्) व्याप्तौ धातु से सन् प्रत्यय, द्वित्वादि, अभ्यासलोप कर ईप्स बना । ईप्स से 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' से वर्तमान अर्थ में क्त-प्रत्यय कर ईप्सित बनता है । 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' में ईप्सित शब्द से तमप्-प्रत्यय कर 'ईप्सिततमम्' बनता है । **ईप्सिततमम् का अर्थ हुआ**—'प्राप्त करने के लिए अत्यन्त चाहा जाने वाला' । अर्थात् जिसको प्राप्त करना अत्यन्त अधिक इष्ट हो। यहाँ कर्तुः में कर्ता का अर्थ धातु के अर्थ व्यापार का आश्रय माना जाता है, । (धातूपात्तव्यापाराश्रयः कर्ता)। वह कर्ता अपने में विशेषण बने व्यापार (क्रिया) के द्वारा जिसे प्राप्त करना चाहेगा, वह कर्म होगा । अर्थात् प्राप्त करना भी क्रिया के द्वारा होना चाहिए । अत एव वृत्ति में लिखा गया—''कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्''—अर्थात्—'कर्ता क्रिया के द्वारा जिसको प्राप्त करने के लिए अत्यधिक चाहेगा, वह कारक होकर उसी क्रिया के प्रति कर्म-संज्ञक होता है ।'

कर्तुः किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति । कर्मण ईप्सिता माषा न तु कर्तुः। तमब्ग्रहणं किम्-पयसा ओदनं भुङ्क्ते । कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम् । अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात् ।

व्याख्या—'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इस सूत्र में 'कर्तुः' ईप्सिततमं एवं कर्म इन तीनों पदों का क्या प्रयोजन है ? इसको बताने के लिए 'कर्तुः किम्' इत्यादि पंक्तियाँ मूल में लिखी गई हैं ।

कर्तुः किम्—कर्तुरीप्सिततमं सूत्र में 'कर्तुः' यह पद क्यों रखते हैं ? यदि व्यापार अर्थ की प्राप्ति के लिए 'कर्तुः' यह पद मानें तो इसके लिए– 'कर्तुः' पद की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि 'ईप्सिततमं' का अर्थ '**आप्तुम् इष्टतमम्**' प्राप्त करने के लिए चाहा जा रहा, यह है । केन आप्तुम–'किससे प्राप्त करने के लिए' ऐसी आकांक्षा होने पर कारक का अधिकार होने से 'कारक' के द्वारा ही उक्त व्यापार अर्थ का लाभ हो जाएगा तथा 'केन आप्तुम' इस आकांक्षा की शांति हो जाएगी । पुनः सूत्र में कर्तुः इस पद को रखने का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न का **उत्तर** देते हुए मूल में लिखा गया है '**माषेष्वश्वं बध्नाति**'—माषों (के खेत) में घोड़ा बाँधता है, इस प्रयोग में 'माष' शब्द को कर्मसंज्ञा रोकने के लिए इस सूत्र में 'कर्तुः' यह पद आवश्यक है । क्योंकि 'कर्तुः' इस पद के अभाव में सूत्रार्थ होगा–'कारक का जो ईप्सिततम है उसे कर्म संज्ञा हो' । इस अर्थ के होने पर 'माषेषु अश्वं बध्नाति' इस प्रयोग में कारक अश्व को 'माष' अत्यन्त ईप्सित है, अतः 'माष' को भी कर्मसंज्ञा हो जाएगी । सूत्र में 'कर्तुः' इस पद को रखने में माष को कर्मसंज्ञा नहीं होती है । क्योंकि बध्नाति क्रिया का कर्म 'अश्व' को ही यहाँ पर माष ईप्सित है, बध्नाति क्रिया के कर्ता (बाँधने वाला) को माष ईप्सित नहीं है । कर्ता को तो अश्व की रक्षा करना ईप्सिततम है । वस्तुतः 'माषेष्वश्वं बध्नाति' इस वाक्य का अर्थ है–''माष के खेत में भक्षण से रोकने के लिए अश्व को अन्यत्र बान्धता है ''। इन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने के लिए मूल में 'कर्मणः ईप्सिताः माषाः न कर्तुः' यह लिखा गया है । सारांश यह है कि 'कर्तुः' पद के अभाव में बन्धनकर्मीभूत अश्व की मास ईप्सिततम होने से माष को कर्मसंज्ञा हो जाएगी । यह दोष होगा । कर्तुः पद के रहने पर 'कर्ता की क्रिया द्वारा अत्यन्त ईप्सित कारक को कर्मसंज्ञा होगी' । कर्ता को यहाँ अश्व का रक्षण ईप्सिततम है, अतः अश्व को कर्म संज्ञा होती है, माष को नहीं ।

तमब्यहणं किम्—'ईप्सिततमं' इस पद में तमप्-प्रत्यय लगाने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर मूल में '**पयसा ओदनं भुङ्क्ते**' (दूध से भात खाता है ।) इस पंक्ति के द्वारा दिया गया है । तमप् ग्रहण के अभाव में 'कर्त्ता' की **क्रिया** के द्वारा प्राप्त करने के लिए चाहे गये को कर्मसंज्ञा हो' यह सूत्र का अर्थ होगा । तब 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' दूध से मिला भात खाता है, इस वाक्य में कर्ता (भोजन करने वाले) को पय और ओदन दोनों ईप्सित हैं क्योंकि वह दोनों को खा रहा है । अतः पयस् को भी कर्मसंज्ञा हो जाएगी । तमप् के रहने से ईप्सिततम ओदन को ही कर्मसंज्ञा होगी । यद्यपि इस वाक्य में भोजन-कर्ता दूध और ओदन दोनों को खा रहा है, फिर भी ओदन की ही भोजनक्रिया के प्रति प्रधानता रहने से ओदन ही ईप्सिततम् है और वही कर्म-संज्ञक होता है । क्योंकि भोजनकर्ता केवल दूध पीने से सन्तुष्ट नहीं होता है अपि तु दुग्धमिश्रित ओदन खाने से सन्तुष्ट होता है, अतः इस वाक्य में प्रधानता ओदन की ही है । पयस् तो ओदन का संस्कार करने वाला है । वह ओदन के भोजन में सहायक है, अर्थात् करण है , अतः उसमें तृतीया विभक्ति लगती है ।

इस विश्लेषण से सिद्ध हैं कि ईप्सित पयस् को कर्मसंज्ञा के वारण के लिए सूत्र में तमप् ग्रहण है । अन्यथा पयस् को कर्मसंज्ञा हो जाने से वहाँ भी तृतीया न होकर द्वितीया हो जाती ।

एक बात अवश्य ध्येय है कि जब भोजन से निवृत्त हो चुका कोई व्यक्ति पुनः दूध (पय) के लोभ से ओदन खाने में प्रवृत्त होगा, तब वहाँ पय भी उसका ईप्सिततम होगा । इस तरह के स्थल पर 'पयः' को भी कर्मसंज्ञा हो जाएगी और 'पयः ओदनं भुङ्क्ते' यह कहा जा सकता है ।

अधिशीङ्स्थासां कर्म सूत्र में 'आधारः' की अनुवृत्ति आती है। तथा इस सूत्र के कर्म पद का अर्थ है—'क्रिया का आधार'। अर्थात् अधि उपसर्ग पूर्वक शीङ् स्था और आस्-धातुओं का आधार कर्म है। यदि यही कर्म 'कर्तुरीप्सिततमं' सूत्र में अनुवृत्ति द्वारा ही आया जाये, स्वतन्त्र रूप से कर्मशब्द का पाठ न किया जाये तब कर्म के साथ 'आधारः' पद की भी अनुवृत्ति होने से 'कर्तुरीप्सिततमं' का अर्थ होगा—कर्ता का 'ईप्सिततम् आधार कर्म है'। और इस अर्थ को मानने पर **'गेहं प्रविशति'** ऐसे वाक्यों में ही कर्मसंज्ञा होती, **'पयसा ओदनं भुङ्क्ते'** ऐसे वाक्यों में ओदन की कर्मसंज्ञा नहीं होती। क्योंकि 'गेहं प्रविशति'—घर में प्रवेश करता है, इस वाक्य में 'गेहं' कर्ता की क्रिया आधार है। 'ओदनं' पद भोजनक्रिया का आधार नहीं है। अतः आधार अर्थ की निवृत्ति के लिए 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र में स्वतन्त्र-रूप से कर्म पद लिखा गया। अर्थात् कर्म-पद के पुनर्ग्रहण से आधार पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में नहीं आती है। इसी को मूल में 'कर्म इत्यनुवृतौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम्'—'कर्म की अनुवृत्ति से कार्य चल जाता; किन्तु आधार की अनुवृत्ति भी आ जाती, अतः कर्म का ग्रहण आधार पद की निवृत्ति के लिए है' के द्वारा बताया गया है। इससे यह लाभ हुआ कि कर्ता का ईप्सिततम क्रिया का आधार हो या न हो तब भी कर्मसंज्ञा होती है।

5. अनिभिहिते 2/3/1 ।। इत्यधिकृत्य ।

व्याख्या—न अभिहितः अनभिहितः तस्मिन् अनभिहिते, यह व्युत्पत्ति है। नञ्-समास कर सप्तमी के एकवचन में रूप है। अभिहित का अर्थ 'कथित' होता है और अनभिहित का अर्थ है—**अकथित**। यह अधिकार सूत्र है। आगे के सूत्रों में इसका अधिकार (अनुवृत्ति) जाता है, तथा कर्म करण इत्यादि संज्ञा सूत्रों का अर्थ किया जाता है। अनभिहित का दूसरा अर्थ है—**अनुक्त**। जो न कहा गया हो, अर्थात् जो अर्थ किसी अन्य पद या पदांश के द्वारा न कहा गया हो, उसे अनभिहित कहते हैं।

5. सूत्रार्थ—'अनभिहिते' इसका अधिकार है।

कर्मणि द्वितीया आदि सूत्र में इसका अधिकार जाने से उसका अर्थ होता है—कर्म आदि कारकों के किसी अन्य पद द्वारा अनुक्त (अकथित) रहने पर ही द्वितीया आदि विभक्तियाँ होती है। इसका अधिकार पाद के अन्त तक है, किन्तु यह अधिकार कारक विभक्तियों में ही प्रभावी रहता है, उपपद विभक्तियों में नहीं।

प्रश्न—वे अन्य पद कौन से हैं, जिनके द्वारा अर्थ के अनुक्त रहने पर द्वितीया आदि होते हैं ?

समाधान—कर्म इत्यादि अर्थ प्रायशः तिङ् कृत् तद्धित, एवं समास से उक्त होते हैं। अतः तिङ् कृत् तद्धित एवं समास से कर्म इत्यादि अर्थ के अनुक्त रहने पर द्वितीया आदि विभक्तियाँ की जाती हैं।

6. कर्मणिद्वितीया 2/3/2 ।।

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते कर्मणि प्रातिपदिकार्थमात्र इति प्रथमैव। अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ-हरिः सेव्यते। कृत्-लक्ष्म्या सेवितः। तद्धित-शतेन क्रीतः शत्यः। समास—प्राप्तः आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। यथा—'विषवृक्षोऽपि सम्बद्‍र्ध्य स्वयं छेतुमसाम्प्रतम्।' साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यते इत्यर्थः।

NOTES

पदार्थ कथन—कर्मणि द्वितीया इस सूत्र में 'अनभिहिते' का अधिकार आता है, और यह 'कर्मणि' का विशेषण बनता है। अनभिहिते का अर्थ है—अनुक्त में।

6. सूत्रार्थ—अनुक्त कर्म में (कर्म का अर्थ उक्त न होने पर) द्वितीया विभक्ति होती है ।

हरिं भजति— यहाँ पर भजन्क्रिया से सम्बद्ध कर्ता देवदत्त आदि को हरि ईप्सिततम् है, अत: हरि को कर्तुरीप्सिततमं कर्म से कर्मसंज्ञा होती है, तथा कर्मणि द्वितीया से 'हरि' इस कर्मसंज्ञक से द्वितीया विभक्ति होती है । **अभिहित कर्म** में प्रातिपदिकार्थ-मात्र अर्थ में प्रथमा ही होती है । अभिधान तो प्राय: तिङ् कृत् तद्धित एवं समासों द्वारा होता है । **तिङ् का उदाहरण है** – हरि: सेव्यते । **कृत् का उदाहरण है**— लक्ष्म्या सेवित: । **तद्धित का उदाहरण है**—शतेन क्रीत: शत्य:। **समास का उदाहरण है**—प्राप्त: आनन्द: यं स: प्राप्तानन्द: । **क्वचित्**—कहीं-कहीं निपात से भी अर्थ का कथन (अभिधान) होता है । जैसे—विषवृक्षोऽपि सम्वर्ध्य स्वयं छेत्तुम् असाम्प्रतम्-(विष-वृक्ष को बढ़ाकर भी स्वयं काटने में समर्थ नहीं होता है) । **साम्प्रतम्** इसका अर्थ है—समर्थ होता है (उचित है) ।

व्याख्या—'हरिं भजति' इस वाक्य में 'देवदत्त' को कर्ता के रूप में रख लेते हैं । इस उदाहरण में भज् धातु से वर्तमान काल में लट्-लकार (तिङ्-प्रत्यय) ल: कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य: सूत्र से कर्ता के अर्थ में होता है । अत: कर्ता के अर्थ को लकार स्थानीय 'ति' प्रत्यय ने कह दिया, जिससे कर्ता का अर्थ उक्त हो गया । किन्तु 'हरिम्' (हरि+अम्) पद के कर्म को किसी पद या पदांश ने प्रकट नहीं किया है । अतएव कर्म अनुक्त रह गया । कर्म अनुक्त रह जाने से 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से हरि के कर्म-अर्थ को प्रकट करने हेतु द्वितीया का विधान किया जाता है ।

'(देवदत्त:) हरिं भजति' इसका वाक्यार्थ बोध—'सन्तुष्टि के अनुकूल सेवा का व्यापार' (क्रिया) भज् धातु का अर्थ है । कर्ता में रहने वाले पूजादि-व्यापार से उत्पन्न सन्तुष्टिरूप फल का आश्रय होने से हरि को 'कर्तुरीप्सिततमं' से कर्मसंज्ञा होती है । 'हरि में स्थित सन्तुष्टि के अनुकूल एकत्व-विशिष्ट देवदत्त में रहने वाला वर्तमानकालिक व्यापार' (क्रिया) यह शाब्दबोध **'देवदत्त: हरिं भजति'** इस वाक्य से होता है । वैयाकरण के मत में **भावप्रधानमाख्यातम्**—व्यापार-प्रधान तिङन्त होता है, इस वचन के अनुसार व्यापारमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होता है । नैयायिक मत में प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होता है । 'देवदत्त: हरिं भजति' इस वाक्य से 'हरिनिष्ठतुष्ट्यनुकूलव्यापाराश्रयो देवदत्त:'—हरि में स्थित तुष्टि के अनुकूल व्यापार का आश्रय देवदत्त, यह शाब्दबोध होता है, किन्तु यह पक्ष वैयाकरणों में आदृत नहीं है । ध्यान देने की बात है कि जिस वाच्य में प्रत्यय होता है, वह अर्थ 'उक्त' माना जाता है । उसके अतिरिक्त अन्य अर्थ अनुक्त रह जाते हैं । **'हरिं भजति'** में कर्ता के अर्थ में तिङ्-प्रत्यय के होने से कर्ता अर्थ उक्त है, किन्तु कर्म-अर्थ अनुक्त । जहाँ कर्म वाच्य में प्रत्यय होता है, वहाँ कर्म-अर्थ उक्त होता है तथा कर्ता आदि अर्थ अनुक्त रहता है। उक्त कर्म के अर्थ में प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही होती है । इसी बात का **'अभिहिते कर्मणि'** इत्यादि के द्वारा कथन किया गया है । जहाँ अर्थ अभिहित हो जाता है, वहाँ 'अनभिहिते' का अधिकार नहीं जाता है । और वहाँ अभिहित कर्म में 'अभिहिते प्रथमा' इस वार्तिक से प्रथमा ही होती है ।

NOTES

कृत् द्वारा कर्म का अभिधान—**लक्ष्म्या सेवितः**—(लक्ष्मी द्वारा सेवित) इस वाक्य में 'हरिः' इस कर्ता का अध्याहार कर लें तथा 'हरिः लक्ष्मयाः सेवितः' ऐसा वाक्य मान लें । 'सेवितः' इस में सेव् धातु से कर्म-वाच्य में (तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः के नियम से) क्त-प्रत्यय हुआ है । क्त-कृत्-प्रत्यय है । इस कृत्-प्रत्यय के द्वारा हरि-रूप कर्म अर्थ का अभिधान हो गया । अतः हरि से प्रथमा विभक्ति आती है, द्वितीया नहीं । लक्ष्मी कर्ता है, किन्तु वह अनुक्त है, अतः 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से अनुक्त कर्ता से तृतीया हुई है ।

'सत्त्वप्रधानानि नामानि'—नाम सत्त्व=द्रव्य प्रधान होते हैं, इस यास्क के नियम से प्रातिपदिकों में प्रथमान्तोपात्तविशेष्यकः शाब्दबोध माना जाता है । 'लक्ष्म्या सेवितः' इसका शाब्दबोध होगा—'लक्ष्मीनिष्ठपरिचरणजनिततुष्ट्याश्रयो हरिः— लक्ष्मी में विद्यमान सेवा से उत्पन्न तुष्टिरूपफल का आश्रय हरि' ।

तद्धित द्वारा कर्म का अभिधान —**शतेन क्रीतः शत्यः (पटादिः)**— सौ से खरीदा गया पट आदि । इस उदाहरण में शतेन के शत से 'शताच्च ठन्यतावशते' से यत् प्रत्यय हुआ है । इस तद्धित यत्-प्रत्यय से पटादि-कर्म अर्थ उक्त हो गया । अतः 'शत्यः' में कर्म के उक्त होने से प्रथमा हुई, द्वितीया नहीं ।

समास द्वारा कर्म का अभिधान—**प्राप्तः आनन्दो यं सः प्राप्तानन्दः** (जिसको आनन्द ने प्राप्त कर लिया)—प्राप्त पद में 'गत्यार्थकर्मक' सूत्र से कर्ता में क्त-प्रत्यय है । उसका आनन्द-शब्द के साथ अन्य पद में 'यम्' के अर्थ में 'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि-समास कर **प्राप्तानन्दः** बना है । यहाँ पर अन्य पदार्थ (यम्) कर्म का अर्थ समास द्वारा उक्त हो गया है । अतः प्राप्तानन्दः में 'अभिहिते प्रथमा' से प्रातिपदिकार्थ-मात्र में प्रथमा हुई, 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया नहीं हुई ।

अभिधानं च प्रायेण—इस वाक्य के पद का फल बताते हुए कहते हैं—'**क्वचिन्निपातेनाभिधानम्**' । अर्थात् कहीं-कहीं या कभी-कभी निपात शब्द (अव्यय) के द्वारा भी कर्म-अर्थ का अभिधान हो जाता है । जैसे—'**विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुम् असाम्प्रतम्**' । (विषवृक्ष को भी बढ़ाकर स्वयं काटना उचित नहीं है) । इस उदाहरण में 'असाम्प्रतम्' का अन्वय 'विषवृक्षोऽपि' के साथ होता है । यदि संवर्द्ध्य के साथ या छेत्तुम् के साथ 'विषवृक्षोऽपि' इस का अन्वय हो तो द्वितीया हो जायेगी । किन्तु 'असाम्प्रतम्' इस निपात (अव्यय) के साथ अन्वय होने से 'विषवृक्षोऽपि' इसमें विषवृक्ष से प्रथमा होती है क्योंकि 'असाम्प्रतम्' इस निपात के द्वारा विषवृक्ष-कर्म का अभिधान किया गया है ।

असाम्प्रतम् में नञ् के साथ 'साम्प्रतं' का समास होता है । न साम्प्रतम् = असाम्प्रतम् । साम्प्रतम् इस निपात का अर्थ है—'युज्यते-उचित' । इस तरह असाम्प्रतम् का अर्थ हुआ-उचित नहीं है, ठीक नहीं है । 'युज्यते' पद में युज् (दिवादिगण) से कर्मवाच्य में लट्-लकार है । इस प्रकार विष-वृक्ष को भी बढ़ाकर स्वयं काटना उचित नहीं है, यह वाक्यार्थ निकलता है । 'विषवृक्षं क्षेत्तुं न युज्यते' यह भावार्थ है । विषवृक्ष यद्यपि कर्म है, फिर भी उसका अर्थ 'असाम्प्रतम्' इसके द्वारा उक्त हो गया है । कर्म के उक्त हो जाने से विषवृक्ष से द्वितीया के बदले प्रथमा ही होती है ।

7. तथायुक्तं चानीप्सितम् 1/4/50।।

ईप्सिततमवत् क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति । ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते ।

पदार्थ—'तथायुक्तं च अनीप्सितम्' ये तीन पद सूत्र में पठित हैं । कर्तुरीप्सिततमं कर्म से 'कर्म' पद की अनुवृत्ति आती है तथा 'कारके' का अधिकार है, और वह (कारकं) प्रथमान्त रूप में परिवर्तित होता है । 'तेन' प्रकारेण इस विग्रह में तद् से थाल् कर 'तथा' शब्द बनता है । तथा का 'युक्तं' के साथ समास होता है । 'अनीप्सितम्' पद में 'न ईप्सितं' इस विग्रह में नञ्-समास कर, 'नलोपो नञः' से न् का लोप एवं नुट् आगम कर 'अनीप्सितम्' बनता है। 'तथायुक्तं' से 'ईप्सिततम' का ही ग्रहण होता है।

7. **सामान्यार्थ**—क्रिया से युक्त ईप्सिततम के समान अनीप्सित (जो ईप्सित नहीं है) भी कारक-संज्ञक होता हुआ कर्मसंज्ञक होता है । या—कर्ता का ईप्सिततम के सदृश क्रिया के द्वारा प्राप्त करने में जो अनीप्सित भी कारक हैं , उसे कर्मसंज्ञा होती है ।

(1) ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति—(गाँव को जाता हुआ तृण को छूता है) यहाँ पर 'तृण' यद्यपि ईप्सिततम नहीं है, फिर भी औदासीन्य भाव से कर्ता की क्रिया का ईप्सित माना गया है, अतः 'तथायुक्तं' से कर्मसंज्ञा होती है और कर्म 'तृणम्' में कर्मणि द्वितीया से (तृण+अम्) द्वितीया होती है ।
(2) **ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते**— इस वाक्य में कर्ता का भुङ्क्ते क्रिया द्वारा ईप्सिततम ओदन है, उसे 'कर्तुरीप्सिततमं' से कर्मसंज्ञा होती है, किन्तु भोजनक्रिया में विष अनीप्सित है (द्वेष्य है)। अतः अनीप्सित 'विष' को भी 'तथायुक्तं' से कर्मसंज्ञा होकर '**कर्मणि द्वितीया**' से द्वितीया होती है ।

व्याख्या—कर्तुरीप्सिततमं कर्म सूत्र से 'ईप्सिततम' को कर्मसंज्ञा होती है । उससे भिन्न द्वेष्य एवं उदासीन (अनीप्सित्) को कर्मसंज्ञा करने के लिए '**तथायुक्तं चानीप्सितं**' यह सूत्र है । इस सूत्र में तथा शब्द (तेन प्रकारेण इति = तथा) सादृश्य का वाचक है । वह अपने प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है, पूर्वसूत्र में पठित 'ईप्सिततम' पद सन्निहित होने के कारण सादृश्य का प्रतियोगी है । अतः 'तथा' का अर्थ 'ईप्सिततमवत्-ईप्सिततम के समान यह किया जाता है । अतः वृत्ति में लिखा है—ईप्सिततमवत् क्रियया युक्तं अनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । अर्थात् जिस प्रकार कर्ता की क्रिया से युक्त ईप्सिततम वस्तु को कर्मसंज्ञा होती है उसी प्रकार कर्ता की क्रिया से युक्त यदि अनीप्सित वस्तु भी हो तो उस अनीप्सित वस्तु को कर्मसंज्ञा होती है । यहाँ पर अनीप्सित शब्द के कथन से द्वेष्य और उपेक्ष्य (उदासीन) कर्म का संग्रह होता है ।

उपेक्ष्य का उदाहरण—**ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति**—यहाँ पर गमन क्रिया के सम्बन्ध से कर्ता का ईप्सिततम 'ग्राम' है । उसे कर्तुरीप्सिततमं से कर्मसंज्ञा हो जाती है । गमन-क्रिया करते हुए अनायास ही तृण के स्पर्श की क्रिया हो जाती है । तृण का स्पर्श करना कर्ता का ईप्सिततम नहीं है, अपितु कर्ता उदासीन भाव से, उपेक्ष्य भाव से तृण का स्पर्श करता है, तो भी 'तथायुक्तं चानीप्सितं' सूत्र से तृण को कर्मसंज्ञा होती है, तथा तृणम् (तृण+अम्) में 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया होती है ।

वस्तुतः, स्पृश धातु का अर्थ है—संयोगानुकूलव्यापारः—संयोग के अनुकूल क्रिया । 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' इस वाक्य में 'तृण' में ईप्सिततमत्व नहीं है, फिर भी 'गङ्गां स्पृशति' इस प्रयोग में स्पर्श की जा रही ईप्सिततम गङ्गा को क्रियाजन्य-संयोग-रूप फल का आश्रय होने से जिस प्रकार कर्मसंज्ञा होती है, उसी प्रकार 'तृणं स्पृशति' में स्पर्श क्रिया से उत्पन्न संयोगरूप-फल (तृण का स्पर्श करने पर संयोग) का आश्रय होने से तृण को कर्मसंज्ञा हो सकती है ।

द्वेष्य कर्म का उदाहरण —'**ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते-(भात खाता हुआ विष खा लेता है)** । इस उदाहरण में कर्ता का, भोजनक्रिया में 'ओदन' ईप्सिततम है, विष उसका अनीप्सित=द्वेष्य है; क्योंकि किसी बलवान् शत्रु के द्वारा पकड़ा गया कर्ता ओदन के भक्षण के साथ विष खाने को मजबूर है । अतः 'विष' उसका द्वेष्य है । द्वेष्य (अनीप्सित) विष को **तथायुक्तं** से कर्मसंज्ञा होती है, कर्मणि द्वितीया से विषं (विष+अम्) में द्वितीया विभक्ति आती है ।

भुज धातु का अर्थ है—'मुखे प्रक्षिप्तस्य गलविवरप्रवेशानुकूलः हनुचलनादिव्यापारः' —मुख में प्रक्षिप्त वस्तु का गले के विवर (बिल) में प्रवेश के अनुकूल हनु-चलन रूप व्यापार (क्रिया)। 'विष' भक्षण-क्रिया में द्वेष्य है, अतः विष में ईप्सिततमत्व का अभाव है । फिर भी 'ओदनं भुङ्क्ते' इत्यादि में खाये जा रहे (भुज्यमान) ओदनादि की तरह, हनुचलन क्रिया से उत्पन्न गल-विवर में प्रवेश रूप फल का आश्रय होने से विष को कर्मसंज्ञा हो जाती है । जब कर्ता स्वेच्छा से, मृत्यु की कामना से, भ्रान्तिवश विष खा लेता है तब 'विष' भक्षण कर्ता का ईप्सिततम हो जाएगा, उस स्थिति में 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से ही विष को कर्मसंज्ञा हो जाएगी ।

---

8. अकथितञ्च 1/4/51 ।।

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।
दुह्याच्पच्दण्ड्रुधि-प्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् ।
कर्मयुक्स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ।।

'दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्म' इति परिगणनं कर्तव्यम् इत्यर्थः । गां दोग्धि पयः । बलिं याचते वसुधाम् । अविनीतं विनयं याचते । तण्डुलान् ओदनं पचति । गर्गाञ्छतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षम् अवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते, शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा ।

पदार्थ—'अकथितं', 'च' ये दो पद हैं । कथित का अर्थ है—प्रधान । न कथितम् अकथितम्=अप्रधान (गौण)। 'कारके' का अधिकार है । 'च' से कर्म की अनुवृत्ति आती है ।

8. **सूत्रार्थ**—अपादान-आदि विशेष कारकों से अविवक्षित (अकथित) कारक को कर्मसंज्ञा होती है ।

कारिकार्थ—दुह्-याच् दण्ड् रुध् प्रच्छ् चि ब्रू शास् जि मथ और मुष्, इन धातुओं के 'कर्म के साथ जिसका सम्बन्ध होता है' (कर्मयुक्) तथा नी हृ कृष् एवं वह-धातुओं के कर्म के साथ जिसका सम्बन्ध होता है, वही अकथित कहलाता है ।

NOTES

दुहादीनाम्—'दुह्' आदि बारह धातुओं के तथा 'नी' आदि चार धातुओं के कर्म से जो सम्बद्ध होता है। (जुड़ता है) वही 'अकथित'-कर्म है ऐसा परिगणन करना चाहिए।

उपर्युक्त सोलह धातुओं के अकथित-कर्म के उदाहरण क्रमशः— 'गां दोग्धि पयः से लेकर ग्रामम् अजां नयति हरति, कर्षति, वहति वा' तक है।

व्याख्या—अपादानादिविशेषैः—अपादान, सम्प्रदान, अधिकरण, कर्म, करण, कर्ता और हेतु ये सात कारक हैं। जब अपादान सम्प्रदान अधिकरण आदि विशेष-कारकों की विवक्षा न हो (ये विशेषसंज्ञाएँ न करनी हों) किन्तु सम्बन्ध-सामान्य के रूप में ही कहना हो तब इन अपादानादि को कर्मसंज्ञा हो जाती है। आशय यह है कि वक्ता जब अपादानादि कारकों को अपादान आदि के रूप में नहीं बोलना चाहता हो तब वे अपादानादि अकथित माने जाते हैं, और उनको भी कर्म-मान लिया जाता है। यदि वक्ता इनको अपादान आदि कारकों के रूप में ही बोलना चाहेगा तब अपादान आदि संज्ञाएँ भी होंगी। सोलह (16) धातुओं के प्रधान कर्म से सम्बन्धित अपादानादि कारकों को अकथित-कर्म माना जाता है। इस हेतु कारिका में परिगणन किया है।

कारिका में पठित सोलह धातुओं के दो कर्म हैं—(1) प्रधान-कर्म (2) अकथित-कर्म। उक्त सोलह धातुओं का फल प्रधान-कर्म में ही समाप्त नहीं होता है, किन्तु एक और कर्म भी इन धातुओं का रहता है। इनके क्रमशः उदाहरण—

दुह्—गां दोग्धि पयः (गाय से दूध दुहता है)—यहाँ पर प्रधान-कर्म 'पयस्' है, तथा उससे सम्बन्ध रखने वाला 'गो' अकथित-कर्म है। गो को **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा कर '**कर्मणि द्वितीया**' से गाम् (गो+अम्) में द्वितीया आती है।

विश्लेषण—उक्त उदाहरण में दुह्धातु का अर्थ "क्षरणानुकूलव्यापारः क्षारण-पर्यायः" —क्षरण के योग्य क्रिया=अर्थात् क्षारण है। क्षारणात्मक क्रिया से उत्पन्न क्षरणरूप फल का आश्रय होने से 'पयः' प्रधान कर्म है। पय का क्षरण गाय से होता है, क्षरण में (पय का गाय से विभाग होने के कारण) 'गो' अपादान है। गो में अपादानत्व की उपेक्षा कर (अविवक्षा कर) सम्बन्धित्व की विवक्षा करने पर 'अकथितं च' से 'गो' को भी कर्मसंज्ञा होती है। तथा शेष-षष्ठी को बांधकर कर्मणि द्वितीया से द्वितीया होती है। प्रौढमनोरमा में दीक्षितजी ने कहा है '**गोसम्बन्धिपयःकर्मकं दोहनमर्थः** गो सम्बन्धी दुग्ध (पयः) कर्मक दोहन' यह अर्थ 'गां दोग्धि पयः' का है और '**माषाणां अश्नीयात्**' यहाँ पर जिस प्रकार शेष में षष्ठी होती है, उसी प्रकार 'गां दोग्धि पयः' में षष्ठी न हो, इसलिए, अर्थात् शेष-षष्ठी को बांधने के लिए '**अकथितञ्च**' यह सूत्र है।

जब गो में अपादानत्व की विवक्षा होगी तब 'गोः पयः दोग्धि'—गाय से दूध निकालता है, यह बनेगा ही। अर्थात् गो से अपादान में पञ्चमी होगी। जब गो को 'पयः' का विशेषण बनाएंगे तब 'गोः' यह षष्ठी में भी होगा। 'गो-सम्बन्धी पय का क्षरण' यह अर्थ होगा।

भट्ट नागेश ने बताया है कि— अपादानत्व सम्प्रदानत्व-आदि विशेष की अविवक्षा कर केवल कर्मत्व की ही विवक्षा करना (बोलने की इच्छा करना) 'अकथित' है तथा अपादानत्वादि-विशेष की अविवक्षा रहने पर अविवक्षित अपादान आदि कर्म-संज्ञक होते हैं, यही 'अकथितञ्च' का अर्थ है

। कारकत्वव्याप्य संज्ञाएँ स्वबोध्य (अपादानत्वादि में) कर्मत्व-आदि शक्ति की बोधिका होती है । इस तरह 'गां पय: दोग्धि' इस वाक्य से 'गोकर्मक एवं पय:कर्मक दोहन' यही बोध होगा । अवधि गो से द्रवद्रव्य (दुग्ध) का विभाग ही 'क्षरण' कहलाता है और वह 'क्षरण' कर्ता-गोप में स्थित व्यापार से उत्पन्न होता हैं । इस प्रकार (गोप:) 'गां पयो दोग्धि' इस वाक्य में कर्त्ता गोप के व्यापार (क्रिया) से उत्पन्न क्षरण-रूप विभाग-विशेष का आश्रय होने से 'गो' तथा 'पय:' को **कर्तुरीप्सिततमं** एवं **तथायुक्तं** से कर्मसंज्ञा सिद्ध हो सकती है । अत: अकथित-पद से उभयकर्मक (प्रधानकर्मक एवं अप्रधानकर्मक) बोध ही सही है, न कि सम्बन्धी के रूप में 'गो' का बोध करना ।

याच्-वलिं याचते वसुधाम्—(बलि से पृथ्वी माँगता है) इस प्रयोग में वसुधा मुख्य-कर्म है, और बलि गौण कर्म है । 'वले: याचते वसुधाम्' ऐसा होना चाहिए था । किन्तु 'वलि' में अपादानत्व की अविवक्षा होने से अकथितं च से कर्मसंज्ञा हुई, और कर्मणि द्वितीया से वलिम् (वलि+अम्) में द्वितीया होती है ।

पच्—'तण्डुलान ओदनं पचति—'चावलों से भात पकाता है' इस वाक्य में पचति का मुख्य-कर्म 'ओदन,' है और 'तण्डुल' गौणकर्म क्योंकि 'तण्डुलों को भात में बदल देता है', यह अर्थ होगा । पके तण्डुल ही ओदन कहलाते हैं। अत: 'तण्डुलै: ओदनं पचति' यह वाक्य होना चाहिए था परन्तु 'तण्डुल' में करणत्व की अविवक्षा होने पर **अकथितं च** से तण्डुल को कर्मसंज्ञा होती है, तथा **कर्मणि द्वितीया** से तण्डुलं (तण्डुल+अम्) में द्वितीया होती है ।

नवीन का कहना है—पच्-धातु का अर्थ है—'विक्लित्ति के अनुकूल व्यापार ।' तण्डुल में मृदुता और विशदता लाना विक्लित्ति है । विक्लित्ति के द्वारा प्रकृति-तण्डुल ही ओदन नामक द्रव्यान्तर में परिवर्तित हो जाता है । अत: 'तण्डुलै: प्रकृतिभूतै: ओदनं करोति' यह अर्थ होगा । इस वाक्य में व्यापार का फल-विक्लित्ति के प्रति जन्य-भाव से आश्रय होने के कारण ओदन प्रधान-कर्म है और तण्डुल गौण-कर्म है । उसमें कर्मत्व की विवक्षा में द्वितीया होती है ।

दण्ड्—''गर्गान् शतं दण्डयति''— (गर्गों को सौ रुपये दण्ड करता है) इस वाक्य में 'शतं' प्रधान कर्म है । 'गर्गेभ्य: शतं दण्डयति' ऐसा होना चाहिए । किन्तु गर्ग में अपादानत्व की अविवक्षा करने से अकथितं च से कर्मसंज्ञा होती है, तथा कर्मणि द्वितीया से (गर्गान् = गर्ग +शस्) द्वितीया होती है ।

रुध्—'व्रजमवरुणद्धि गाम्—'गाय को बाडे में रोकता है'— इस वाक्य में 'गाम्' मुख्य-कर्म है, तथा 'व्रज' गौण कर्म है । 'व्रजे गाम् अवरुणद्धि' ऐसा होना चाहिए था, किन्तु व्रज में अधिकरणत्व की अविवक्षा कर कर्मत्व की विवक्षा है, अत: **अकथितं** च से कर्मसंज्ञा , तथा **कर्मणि द्वितीया** से (व्रज + अम्) द्वितीया हुई ।

प्रच्छ्—'माणवकं पन्थानं पृच्छति—छात्र से रास्ता पूछता है' । इस वाक्य में 'पन्थानं' मुख्यकर्म है, और करणत्व की अविवक्षा होने पर 'माणवक' को अकथितं च से कर्मसंज्ञा होती है, कर्मणि द्वितीया से माणवकं (माणवक+अम्) में द्वितीया हुई है । यह गौणकर्म है । 'माणवकेन पन्थानं पृच्छति' ऐसा होना चाहिए था, किन्तु कर्मसंज्ञा कर 'माणवकं' बन गया ।

प्राचीन—'पथविषयक माणवकसम्बन्धी ज्ञान को चाहता है' यह वाक्यार्थ मानते हैं ।

चि—'वृक्षमवचिनोति फलानि— वृक्ष से फलों को चुनता है' इस वाक्य में 'फलानि' मुख्य-कर्म है । 'वृक्षात् फलानि अवचिनोति' ऐसा होना चाहिए था, किन्तु 'वृक्ष' में अपादानत्व की अविवक्षा कर **अकथितं च** से वृक्ष को कर्मसंज्ञा हुई, तथा कर्मणि द्वितीया से वृक्षं (वृक्ष+अम्) में द्वितीया आयी है । 'वृक्षं' गौण-कर्म है ।

ब्रू, शास्—"माणवकं धर्मं ब्रूते, शास्ति वा"—छात्र को धर्म बताता है, या धर्म का उपदेश करता है', इस वाक्य में धर्म मुख्य-कर्म है । 'माणवकाय धर्मं ब्रूते, शास्ति वा' ऐसा होना चाहिए था, किन्तु माणवक में सम्प्रदानत्व की अविवक्षा कर **अकथितं च** से 'माणवक' को 'कर्मसंज्ञा' होती है, तथा **कर्मणि द्वितीया** से माणवकं (माणवक + अम्) में द्वितीया होती है । यहाँ 'माणवकं' गौण-कर्म है ।

जि—"शतं जयति देवदत्तम्—"देवतदत्त से सौ रुपया जीतता है", इस वाक्य में शतं मुख्य-कर्म है । 'देवदत्तात् शतं जयति' ऐसा होना चाहिए था, किन्तु देवदत्त में अपादानत्व की अवविक्षा कर अकथितं च से कर्मसंज्ञा होती है, तथा कर्मणि द्वितीया से देवदत्तं (देवदत्त+अम्) में द्वितीया विभक्ति आती है ।

मथ्—"सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति —समुद्र से सुधा को मथता है," इस वाक्य में 'सुधां' प्रधानकर्म है । 'क्षीरनिधेः सुधां मथ्नाति' ऐसा वाक्य होना चाहिए था, किन्तु 'क्षीरनिधि' में अपादानत्व की अविवक्षा कर **अकथितं च** से उसे कर्मसंज्ञा होती है, तथा **कर्मणि द्वितीया** से क्षीरनिधिं (क्षीरनिधि+अम्) में द्वितीय होती है ।

मुष्—"देवदत्तं शतं मुष्णाति—देवदत्त से सौ रुपये चुराता है", इस वाक्य में 'शतं' प्रधानकर्म है । 'देवदत्तात् शतं मुष्णाति' यह वाक्य होना चाहिए था, किन्तु देवदत्त के अपादानत्व की अविवक्षा कर उसमें कर्मत्व की विवक्षा कर '**अकथितं च**' से देवदत्त को भी कर्मसंज्ञा होती है, तथा '**कर्मणि द्वितीया**' से (देवदत्त + अम् = देवदत्तं) द्वितीया होती है । 'देवदत्तं' यह गौणकर्म है ।

नी हृ कृष् वह्—"ग्रामम् अजां नयति—"गाँव में बकरी को ले जाता है"

'ग्रामम् अजां हरति—'गाँव में बकरी को हरता है'

'ग्रामम् अजां कर्षति—'गाँव में बकरी को खींचता है'

'ग्रामम् अजां वहति—'गाँव में बकरी को ढोता है'

इन वाक्यों में मुख्यकर्म 'अजां' है । 'ग्रामं' गौणकर्म है । '**ग्रामे अजां प्रापयति**—गाँव में अजा को पहुँचाता है' यह अर्थबोध होता है । इसमें ग्राम अधिकरण है, ग्राम में अधिकरणत्व की अविवक्षा कर कर्मत्व की विवक्षा में '**अकथितं च**' से कर्मसंज्ञा होती है, तथा **कर्मणि द्वितीया** से ग्रामं (ग्राम+अम्) में द्वितीया की जाती है । अन्यथा '**गामे अजां नयति**' यह वाक्य बन जाता है ।

इसी प्रकार हरति, कर्षति, एवं वहति के साथ भी समझना चाहिए ।

NOTES

9. **गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ 1/4/52 ।।**

गत्यर्थानां शब्दकर्मकाणाम् अकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात् ।।

'शत्रूनगमयत् स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।

आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद् विधिम् ।।

आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ।।''

'गति' इत्यादि किम्—पाचयत्योदनं देवदत्तेन । अण्यन्तानां किम्-गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं तमपरः प्रयुङ्क्ते गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः ।

पदार्थ—गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, भक्षणार्थक, शब्दकर्मक, और अकर्मक-धातुओं की अण्यन्त-अवस्था का कर्ता ण्यन्त-अवस्था में कर्मसंज्ञक होता है ।

उदाहरण—गत्यर्थक—शत्रून् स्वर्गम् अगमयत् (अण्यन्तावस्था-शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन्) । यहाँ शत्रु को ण्यन्त-अवस्था में कर्मसंज्ञा हुई है ।

बुद्ध्यर्थक—वेदार्थम् स्वान् अवेदयत्, (अण्यन्तावस्था-वेदार्थं स्वे अविदुः) यहाँ अण्यन्त-अवस्था के कर्ता 'स्व' को ण्यन्त-अवस्था में कर्मसंज्ञा हुई है ।

प्रत्यवसानार्थ=भक्षणार्थक—देवान् अमृतम् आशयत् (अण्यन्तावस्था-देवा:अमृतम् आश्नन्) । यहाँ अण्यन्त-अवस्था के कर्ता 'देवा' को ण्यन्त-अवस्था में कर्मसंज्ञा हुई ।

शब्दकर्मक—विधिं वेदमध्यापयत्, (अण्यन्तावस्था-विधिः वेदम् अध्यैत)। यहाँ अण्यन्तावस्था के कर्ता 'विधि' को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा हुई है ।

अकर्मक —पृथिवीं सलिले आसयत्, (अण्यन्तावस्था-पृथिवी सलिले आस्त) । यहाँ अण्यन्तावस्था के कर्ता 'पृथिवीं' को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा हुई ।

(यः एवम् अकरोत्) सः श्रीहरिः मे गतिः =शरणम् (अस्ति) । इस श्लोक का अन्वय होगा ।

गतीत्यादि—सूत्र में गत्यर्थक इत्यादि का पाठ यदि नहीं करेंगे तब—'पाचयति ओदनं देवदत्तेन' में अण्यन्तावस्था के कर्ता देवदत्त को भी पच्धातु के योग में कर्मसंज्ञा हो जाएगी, तथा देवदत्तेन के बदले 'देवदत्तम्' यह गलत प्रयोग हो जाएगा ।

अण्यन्तानाम् किम्—यदि सूत्र में 'अण्यन्तानाम्' यह पद नहीं रखें तो— गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं, तम् अपरः प्रयुङ्क्ते—'गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः' यहाँ पर ण्यन्त-अवस्था के कर्ता 'देवदत्त को कर्मसंज्ञा हो जाएगी, तथा देवदत्तेन (अनुक्तकर्ता) के स्थान पर 'देवदत्तम्' यह कर्मसंज्ञक प्रयोग हो जाएगा, जो गलत होगा ।

व्याख्या—'गतिश्च बुद्धिश्च प्रत्यवसानञ्च' इस विग्रह में द्वन्द्व समास कर 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि' बनता है। प्रत्यवसान का अर्थ है—'भक्षण' । पुनः 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि अर्थः येषाम्' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास कर **गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाः** (गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक एवं प्रत्यवसानार्थक = भक्षणार्थक) बना । 'शब्दः कर्म येषां, ते, इस विग्रह में बहुव्रीहि कर **'शब्दकर्माणः'** बना (शब्द

है—कर्मकारक जिन धातुओं का, वे धातु)। 'अविद्यमानं कर्म येषाम् ते' इस विग्रह में 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोप:' इस वार्तिक से बहुव्रीहि समास तथा अविद्यमान के 'विद्यमान' का लोपकर **अकर्मका:** (कन् स्वार्थ में) बना ।

पुन: 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाश्च शब्दकर्माणश्च अकर्मकाश्च' इस विग्रह में **'चार्थे द्वन्द्व:'** से द्वन्द्वसमास कर षष्ठीबहुवचन में 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम्' यह एकपद बना । अणि का अर्थ है—णिच् उत्पन्न नहीं होने पर।' 'यत्' पद का अध्याहार कर 'अणौ य: कर्ता'—(धातु से) णिच्-प्रत्यय के आने से पूर्ण जो कर्ता' यह अर्थ किया जाता है । **इस तरह सूत्र का सम्पूर्ण अर्थ है—**

णिच्-प्रत्यय के उत्पन्न होने से पूर्व गत्यर्थक बुद्ध्यर्थक भक्षणार्थक शब्दकर्मक एवं अकर्मकधातु के अर्थ-क्रिया (व्यापार) के प्रति जो कर्ता है वह कर्त्ता (इन धातुओं से) णिच् प्रत्यय के उत्पन्न होने पर कर्मसंज्ञक होता है ।

अर्थात् सूत्र में प्रकरणवश कर्म एवं 'कारके' का अधिकार चला आ रहा है, तथा यह सूत्र ण्यन्त-धातुओं के मूलरूप में कर्ता को कर्मसंज्ञा का विधान करता है ।

कारिकार्थ—जिस भगवान् हरि ने शत्रुओं को स्वर्ग भेजा, स्वजनों को वेदार्थ समझाया, देवों को अमृत पिलाया (खिलाया), ब्रह्मा को वेद पढ़ाया एवं पृथिवी को जल पर रखा, वही भगवान् हरि=विष्णु मेरी गति=शरण हैं, (उद्धार करने वाले हैं)।

इस कारिका में आए उदाहरणों को पूर्व में ही प्रदर्शित कर दिया गया है । इन उदाहरणों में उन उन धातुओं से प्रेरणा अर्थ में णिच्-प्रत्यय होने पर प्रयोज्यकर्ता—शत्रु, स्व, देव, विधि, और पृथिवी को कर्मसंज्ञा होती है । ये सभी गौणकर्म कहलाते हैं ।

(वा.) नीवह्योर्न ॥ नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन । **(वा.) नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेध:** ॥ वाहयति रथं वाहान् सूत: । **(वा.) आदिखाद्योर्न** ॥ आदयति खादयति वान्नं बटुना । **(वा.) भक्षेरहिंसार्थस्य न** ॥ भक्षयत्यन्नं बटुना । अहिंसार्थस्य किं ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् ।

व्याख्या—वा. णीञ् प्रापणे एवं वह प्रापणे इन दोनों धातुओं की अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्त-अवस्था में कर्मसंज्ञा नहीं हो । **उदाहरण—**नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन—(नौकर से भार को पहुँचाया जाता है, या वहन करवाया जाता है ।) इस वाक्य में दो उदाहरण हैं (1) भृत्येन भारं नाययति (2) भृत्येन भारं वाहयति । भृत्य: भारं नयति तथा भृत्य: भारं वहति, यह वाक्य अण्यन्तावस्था का है, 'तम् अपर: प्रयुङ्क्ते' इस अर्थ में णिच् करने पर **नाययति** और **वाहयति** ये रूप बनते हैं । दोनों वाक्यों में 'गतिबुद्धि' सूत्र से अण्यन्तावस्था के कर्ता **'भृत्य'** को कर्मसंज्ञा प्राप्त हुई, किन्तु **वा. 'नीवह्योर्न'** से कर्मसंज्ञा का निषेध हो गया । ण्यन्तावस्था में भृत्य प्रयोज्यकर्ता है, तथा वह अनुक्त=अप्रधान है, अत: अनुक्तकर्ता से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया हुई ।

वार्तिक में पठित नी और वह् धातु का अर्थ 'प्रापण' है । प्रापण अर्थ भी 'गत्यनुकूल व्यापार' ही है, और यह अर्थ गत्यर्थक धातुओं में समाविष्ट है, अत: **गतिबुद्धि** सूत्र से नी व वह् को गत्यर्थक मानकर कर्मसंज्ञा प्राप्त हुई थी, जिसका निषेध वार्तिक द्वारा किया गया है ।

NOTES

नियन्तृकर्तृकस्य—

नियन्ता कर्ता यस्य-नियन्ता = सारथि है कर्ता जिसका, ऐसे वह् धातु के अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में 'नीवह्योर्न' से कर्मसंज्ञा का निषेध नहीं होता है । अर्थात् सारथि द्वारा प्रेरित वह् धातु की अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्त-अवस्था में **गतिबुद्धि** सूत्र से कर्मसंज्ञक होता है।

उदाहरण—वाहयति रथं वाहान् सूतः—(सारथि अश्वों से रथ को खिंचवाता है) इस वाक्य में 'वाहाः रथं वहन्ति' यह अण्यन्तावस्था है । तं सूतः प्रेरयति, इस अर्थ में वह् धातु से णिच् करने पर 'सूतः रथं वाहान् वाहयति' बनता है । यहाँ पर 'गतिबुद्धि' से 'वाह' को प्राप्त-कर्मसंज्ञा का 'नीवह्योर्न' वार्तिक से निषेध प्राप्त हुआ, किन्तु '**नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः**' वार्तिक से 'नीवह्योर्न' के निषेध का प्रतिषेध हो जाने से 'गतिबुद्धि' सूत्र से वाह को कर्मसंज्ञा हो जाती है, तथा कर्मणि द्वितीया से द्वितीया होती है ।

वा. आदिखाद्योर्न—अद् भक्षणे एवं खाद् भक्षणे (आदि एवं खादि ण्यन्त है) इन दोनों धातुओं के अण्यन्तावस्था के कर्ता को (प्रयोज्यकर्ता को) ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं हो ।

अद् एवं खाद् धातु प्रत्यवसानार्थक (भक्षणार्थक) हैं, अतः 'गतिबुद्धि' सूत्र से प्राप्त कर्मसंज्ञा का यह वार्तिक निषेध करता है ।

आदयति खादयति वा अन्नं बटुना—(बालक को अन्न खिलाता है) यहाँ पर दो वाक्य हैं । बटुः अन्नं अत्ति (अण्यन्तावस्था), तं प्रेरयति, इस अर्थ में अद्-धातु से णिच् कर 'बटुना अन्नं आदयति' बनता है । इसी प्रकार बटुः अन्नं खादति (अण्यन्तावस्था), तं प्रेरयति, इस अर्थ में खाद् से णिच् कर 'बटुना अन्नं खादयति' बनता है । दोनों वाक्यों में अण्यन्तावस्था का कर्ता बटु है । उसे ण्यन्तावस्था में 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ' सूत्र से कर्मसंज्ञा प्राप्त हुई, किन्तु '**आदिखाद्योर्न**' इस वार्तिक से कर्मसंज्ञा का निषेध हो गया । बटु-प्रयोज्यकर्ता है, वह अनुक्त है । अतः अनुक्तकर्ता 'बटु' से कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया होती है, तथा '**बटुना अन्नं खादयति या बटुना अन्नं आदयति**' ये बनते हैं ।

वा. भक्षेरहिंसार्थस्य न—अहिंसार्थक भक्ष् धातु के अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में गतिबुद्धि से प्राप्त कर्मसंज्ञा नहीं हो ।

भक्षयति अन्नं बटुना—'बटुः अन्नं भक्षयति=खादति' यह अण्यन्तावस्था है । 'तं प्रेरयति गुरुः' इस अर्थ में चुरादि भक्षि से णिच्-प्रत्यय करने पर 'बटुना अन्नं भक्षयति=खादयति' बनता है । यहाँ पर अण्यन्त-अवस्था के कर्ता 'बटु' को 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ' सूत्र से कर्मसंज्ञा प्राप्त थी, किन्तु 'भक्षेरहिंसार्थस्य न' वार्तिक से कर्मसंज्ञा का निषेध हो गया । प्रयोज्यकर्ता 'बटु' के अप्रधान होने से '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' से 'बटु' में तृतीया विभक्ति होती है ।

अहिंसार्थस्य किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्—

वार्तिक से अहिंसार्थक भक्ष् के अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा का प्रतिषेध किया जा रहा है । यदि उक्त वर्तिका में 'अहिंसार्थस्य' पद न रखें तब क्या होगा ? यह प्रश्न है ।

उत्तर—यदि 'भक्षेरहिंसार्थस्य न' वार्तिक में 'अहिंसार्थस्य' यह पद नहीं रखेंगे तब 'भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्' इस प्रयोग में प्रयोज्यकर्ता -बलीवर्द' को भी कर्मसंज्ञा का निषेध हो जाएगा । क्योंकि यहाँ पर भक्ष का प्रयोग हिंसा अर्थ में हुआ है । 'अहिंसार्थस्य' पद रखने पर अहिंसार्थक भक्ष् धातु का प्रयोज्यकर्ता कर्मसंज्ञक नहीं होगा । हिंसार्थक भक्ष् का प्रयोज्यकर्ता तो कर्मसंज्ञक होगा ही । इस वाक्य में सस्य का भक्षण हिंसा ही है । क्योंकि खेत में उगी तथा बिना कटी फसल को 'सस्य' कहते हैं । उसमें अन्त:संज्ञा होने से सस्य को सजीव माना जाता है । सजीव सस्य का भक्षण हिंसा ही है । अत एव यहाँ 'वार्तिक' प्रवृत्त नहीं होता है । निषेध न होने से वलीवर्द: सस्यं भक्षयति (ण्यन्तास्था) में वलीवर्द (प्रयोज्यकर्ता) को **गतिबुद्धि** सूत्र से कर्मसंज्ञा हो जाती है ।

(वा.) जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम् ।। जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः ।।

(वा.) दृशेश्च ।। दर्शयति हरि भक्तान् । सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणम्, न तु तद्विशेषार्थानाम् इत्यनेन ज्ञाप्यते । तेन स्मरति जिघ्रति इत्यादीनां न । स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन ।

(वा.) शब्दायतेर्न ।। शब्दाययति देवदत्तेन । धात्वर्थसङ्गृहीतकर्मत्वेन अकर्मकत्वात् प्राप्ति: येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति, तेऽत्राकर्मका:, न तु अविवक्षितकर्माणोऽपि । तेन 'मासम् आसयति देवदत्तम्' इत्यादौ कर्मत्वं भवत्येव, 'देवदत्तेन पाचयति' इत्यादौ तु न ।

जल्पति—जल्प भाष् इत्यादि धातुओं के अण्यन्तावस्था को कर्ता के ण्यन्तावस्था में 'गतिबुद्धि' सूत्र से कर्मसंज्ञा हो। यह वार्तिक गतिबुद्धि सूत्र का पूरक है । क्योंकि सूत्र में गतिबुद्धि इत्यादि अर्थों में वार्तिकोक्त अर्थ समाहित नहीं है ।

जल्पयति-भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः—(देवदत्त पुत्र से धर्म कहवाता है) पुत्र: धर्मं जल्पति, (पुत्र:धर्म) भाषते वा, यह अण्यन्तावस्था है । इसका कर्ता 'पुत्र' है । तम् देवदत्त: प्रेरयति इस अर्थ में णिच् करके 'जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्त:' यह वाक्य ण्यन्तावस्था में बनता है । यहाँ पर **'जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानं'** वार्तिक के बल से अण्यन्तावस्था के कर्ता 'पुत्र' को गतिबुद्धि सूत्र से कर्मसंज्ञा होती है, तथा **कर्मणि द्वितीया** से (पुत्र+अम्) द्वितीया है।

दृशेश्च—दृशिर् प्रेक्षणे (दृश्) धातु के अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा हो ।

दर्शयति हरिं भक्तान्—(भक्तों को हरि का दर्शन कराता है) 'भक्ता: हरिं पश्यन्ति' यह अण्यन्तावस्था है । तं पूजक: दर्शयति (प्रेरणा) इस प्रेरणा अर्थ में दृश् से णिच्-प्रत्यय करने पर 'दर्शयति हरिं भक्तान्' (ण्यन्तावस्था) बनता है । इस वाक्य में अण्यन्तावस्था के कर्ता 'भक्त' को 'दृशेश्च' से कर्मसंज्ञा हुई, तथा **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया कर 'भक्तान्' बना।

सूत्रे ज्ञानसामान्येति—गतिबुद्धि सूत्र में बुद्धि-पद से ज्ञानसामान्य के वाचक धातुओं का ही ग्रहण होता है, ज्ञान-विशेष के बोधक स्मृ घ्रा इत्यादि धातुओं का ग्रहण नहीं होता है, यह **'दृशेश्च'** वार्तिक के विधान से ज्ञापित किया जाता है । अत एव **'स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन'** इस प्रयोग में देवदत्त (प्रयोज्यकर्ता) को गतिबुद्धि सूत्र से कर्मसंज्ञा नहीं हुई । यदि सूत्र में, बुद्धि-पद से ज्ञानसामान्य एवं ज्ञानविशेष, इन दोनों का ग्रहण होता तब 'दृशेश्च' वार्तिक व्यर्थ हो जाता है । क्योंकि

दृश-धातु का अर्थ-प्रेक्षण = चाक्षुषज्ञान ही है । अतः ज्ञानार्थक होने से गतिबुद्धि सूत्र से ही दृश्-धातु के प्रयोज्यकर्ता की कर्मसंज्ञा हो जाती ।

शब्दायतेर्न—वार्तिक में शब्दायति का षष्ठी एकवचन में 'शब्दायतेः' प्रयोग है । '**शब्दं करोति**-शब्द करता है' इस अर्थ में 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' से शब्द-पद से क्यङ्प्रत्यय, अकृत्सार्वधातुकयोदीर्घः से दीर्घ कर 'शब्दाय' यह नामधातु बनता है । 'शब्दाय' से 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' से श्तिप् कर 'शब्दायति' पद बनता है । इस तरह वार्तिक का **अर्थ है**—

क्यङन्त शब्दाय-धातु के अण्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं हो ।

शब्दापयति देवदत्तेन—(देवदत्त से शब्द (हल्ला) करवाता है) अण्यन्तावस्था में—देवदत्तः शब्दायते (देवदत्त शब्द करता है) । तम् अन्यः प्रेरयति—(उसको अन्य शब्द करने के लिए उकसाता है) इस अर्थ में शब्दाय से णिच् करने पर 'शब्दाययति देवदत्तेन' यह ण्यन्तावस्था में बनता है । इस वाक्य में 'देवदत्तः' अण्यन्तावस्था का कर्ता है, उसे ण्यन्तावस्था में 'गतिबुद्धि' सूत्र से कर्मसंज्ञा प्राप्त हुई, किन्तु **वा. 'शब्दायतेर्न'** से कर्मसंज्ञा का निषेध हो गया । प्रयोज्यकर्ता देवदत्त अप्रधान है, अतः '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' से तृतीया करने पर 'देवदत्तेन' बना।

(1) मासमासयति देवदत्तम् (देवदत्त को महीने भर ठहराता है)—देवदत्तः मासम् आस्ते (अण्यन्तावस्था) । 'तम् अन्यः आसयति'—उसको कोई अन्य ठहराता है इस अर्थ में णिच् करने पर 'मासम् आसयति देवदत्तम्' यह बनता है । इस वाक्य में आस्-धातु 'मास'-कर्म के रहने से सकर्मक होते हुए भी अकर्मक माना गया है । क्योंकि कालवाची 'मास' कर्म के रहने पर धातु सकर्मक नहीं माना जाता, यह व्याख्या ऊपर दी जा चुकी है । यहाँ पर आस्-धातु के अकर्मक होने से अण्यन्तावस्था के कर्ता देवदत्त को ण्यन्तावस्था में 'गतिबुद्धि' सूत्र से कर्मसंज्ञा हो जाती है ।

(2) 'अविवक्षित कर्म वाला' यहाँ अकर्मक नहीं माना जाता है, इसका उदाहरण है—

देवदत्तेन पाचयति यज्ञदत्तः—यज्ञदत्त देवदत्त से पकवाता है—देवदत्तः पचति, (अण्यन्तावस्था) तं प्रेरयति यज्ञदत्तः इस अर्थ में णिच् कर 'देवदत्तेन पाचयति यज्ञदत्तः' बनता है । इस उदाहरण में पच्-धातु सकर्मक है । किन्तु ओदन कर्म की अविवक्षा कर देने से इसे अकर्मक मानकर भी 'गतिबुद्धि' सूत्र की प्रवत्ति नहीं हुई है । क्योंकि 'अविवक्षित कर्मवाला' धातु यहाँ अकर्मक नहीं माना जाता है । फलतः प्रयोज्यकर्ता देवदत्त को कर्मसंज्ञा नहीं होती है । वह अनुक्तकर्ता है, अतः उससे तृतीया-विभक्ति होती है ।

---

10. हृक्रोरन्यतरस्याम्—1/4/53

हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ कर्म वा स्यात् ।। हारयति कारयति वा भृत्यं-भृत्येन वा कटम् ।

वा. अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् । अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा ।

पदार्थ—'हा च का च' इस विग्रह में द्वन्द्व कर 'हकरौ' बनता है । षष्ठीद्विवचन में 'हृकृ' शब्द का 'हृक्रोः' बनता है । 'अन्यतरस्याम्' इस पद का अर्थ है 'विकल्प से' । गतिबुद्धि सूत्र से 'अणि

कर्ता स णौ' इतने अंश की अनुवृत्ति आती है । 'कर्म' की भी अनुवृत्ति आती है, तथा 'कारके' का अधिकार है ।

सूत्रार्थ—हृ और कृ धातु के अण्यन्त-अवस्था के कर्ता को ण्यन्त-अवस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञा हो ।

व्याख्या—हृ और कृ धातु का पाठ 'गतिबुद्धि' सूत्र में न होने से किसी सूत्र से कर्मसंज्ञा प्राप्त नहीं थी, अतः यह अप्राप्तस्थल में विकल्प से कर्मसंज्ञा करता है । यदि अभिपूर्वक हृ, का प्रयोग करें तब उसका अर्थ होगा—भक्षण करना, तथा विपूर्वक कृ धातु अकर्मक होगा । भक्षणार्थक एवं अकर्मक हृ एवं कृ के अण्यन्तावस्था के कर्ता को 'गतिबुद्धि' सूत्र से नित्य कर्मसंज्ञा प्राप्त थी, उसे भी यह सूत्र विकल्प कर देता है । इस तरह यह सूत्र अप्राप्त एवं प्राप्त दोनों स्थलों में विकल्प से कर्मसंज्ञा का विधान करने से 'उभयत्र-विभाषा' सूत्र है ।

उदाहरण — हारयति कारयति वा भृत्यं-भृत्येन वा कटम्—(नौकर से चटाई ढुलवाता है, या बनवाता है।) यहाँ पर दो वाक्य हैं—**हारयति भृत्यं-भृत्येन वा कटम्** तथा **कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्** । भृत्यः कटं हरति (अण्यन्तावस्था), 'तमन्यः प्रेरयति' इस अर्थ में णिच् कर 'हारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्' यह ण्यन्तावस्था है । इस वाक्य में अण्यन्तावस्था के कर्ता 'भृत्य' को 'हृक्रोरन्यतरस्यां' से कर्मसंज्ञा हुई विकल्प से, तथा 'भृत्यम्' बना । कर्मसंज्ञा के नहीं होने पर अनुक्त प्रयोज्य कर्ता से तृतीया हुई । 'भृत्येन' बना ।

इसी प्रकार—**भृत्यः कटं करोति** (अण्यन्तावस्था) । तमन्यः प्रेरयति इस अर्थ में णिच् कर '**भत्येन-भृत्यं वा कटं कारयति**' (नौकर से चटाई बनवाता है) बनता है । यह ण्यन्तावस्था है । इस उदाहरण में अण्यन्तावस्था के कर्ता 'भृत्य' को **हृक्रोरन्यतरस्यां** से कर्मसंज्ञा हुई- 'भृत्यं' बना । कर्मसंज्ञा के वैकल्पिक पक्ष में अनुक्तकर्ता 'भृत्य' से 'कर्तृकरणयोः' से तृतीया कर भृत्येन बना । (ये दोनों उदाहरण अप्राप्तविभाषा पक्ष में हैं ।)

अभिवादिदृशोः—(ण्यन्त),अभिपूर्वक वद्-धातु एवं (ण्यन्त) दृश्-धातु के अण्यन्त-अवस्था के कर्ता को ण्यन्त-अवस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञा हो, आत्मनेपद में ।

उदाहरण—अभिवादयते देवं भक्तं-भक्तेन वा—(भक्त से देव को नमस्कार करवाता है) भक्तः देवम् अभिवदति (अण्यन्तावस्था) तं पूजकः प्रेरयति, इस अर्थ में अभि+वद् से णिच् करके णिचश्च से आत्मनेपद करने पर 'अभिवादयते देवं भक्तं भक्तेन वा' यह प्रयोग होता है । यहाँ पर अण्यन्तावस्था के कर्ता 'भक्त' को 'अभिवादिदृशोः' से कर्मसंज्ञा कर कर्मणि द्वितीया से द्वितीया हुई । कर्मसंज्ञा के अभाव में अनुक्तकर्ता से तृतीया हुई । **दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा**—(भक्त को देव का दर्शन करवाता है) । भक्तः देवं पश्यति (अण्यन्तावस्था) 'तं पूजकः प्रेरयति' इस अर्थ में प्रेरणार्थक णिच् करके 'णिचश्च' से आत्मनेपदसंज्ञा कर 'दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा' बनता है । इस वाक्य में अण्यन्त-अवस्था के कर्ता भक्त को 'दृशेश्च' वार्तिक से नित्य कर्मसंज्ञा प्राप्त थी, उसको बाधकर 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' से विकल्प से कर्मसंज्ञा हुई । **कर्मणि द्वितीया** से (भक्त+अम्) द्वितीया होती है । पक्ष में **कर्तृकरणयोस्तृतीया**' से (भक्तेन) तृतीया होती है।

NOTES

11. अधिशीङ्स्थासां कर्म-1/4/46।।

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् ।। अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ।

12. अभिनिविशश्च 1/4/47 ।।

अभिनीत्येतत्संघातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्मस्यात् ।।

अभिनिविशते सन्मार्गम् । परिक्रयणे सम्प्रदानम् (1/4/44) इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्या अन्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न । पापे अभिनिवेशः ।

अर्थ—11. अधिपूर्वक शीङ् स्था एवं आस्-धातु के आधार को कर्मसंज्ञा हो ।

'अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिः' में वैकुण्ठ को कर्मसंज्ञा होती है ।

12. 'अभिनि' समुदायपूर्वक विश् धातु के आधार को कर्मसंज्ञा होती है । '**अभिनिविशते सन्मार्गम्**' में सन्मार्ग को कर्मसंज्ञा होती है । इस सूत्र में 'परिक्रयणे सम्प्रदानम्' से मण्डूकप्लुति से अन्यतरस्यां की अनुवृत्ति करने पर व्यवस्थित-विभाषा का आश्रयण कर कहीं-कहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं भी होती है । इसलिए 'पापे अभिनिवेशः' में अभिनिपूर्वक विश् धातु के आधार 'पाप' को कर्मसंज्ञा नहीं होती है ।

व्याख्या—अष्टाध्यायी में इन सूत्रों से पूर्व '**आधारोऽधिकरणं**' सूत्र से क्रिया के आधार को अधिकरणसंज्ञा की जाती है । किन्तु विशेष-प्रयोगों में उसको अपवादत्वात् बाधकर इन सूत्रों से आधार को कर्मसंज्ञा का विधान किया जा रहा है । अतः ये सूत्र अधिकरण संज्ञा के अपवाद हैं ।

अधिशीङ्—'शीङ् च स्था च आस् च' इस विग्रह में द्वन्द्व कर 'शीङ्स्थासः' बनता है । 'अधिपूर्वाः शीङ्स्थासः' इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपश्च' से समास एवं 'पूर्व' पद का लोपकर षष्ठीबहुवचन में 'अधिशीङ्स्थासां' बनता है । 'कर्म' यह प्रथमान्त है । 'आधारोऽधिकरणम्' से 'आधारः' की अनुवृत्ति आती है । 'कारके' का अधिकार है ।

सूत्रार्थ—अधिपूर्वक शीङ् स्था और आस्-धातु का आधार कारक कर्मसंज्ञक हो ।

अधिशेते वैकुण्ठं हरिः—(हरि वैकुण्ठ में सोते हैं) इस वाक्य में अधिशयन क्रिया के आधार 'वैकुण्ठ' को आधारोऽधिकरणं से प्राप्त अधिकरणसंज्ञा को बाधकर 'अधिशीङ्-स्थासां कर्म' से कर्मसंज्ञा हुई । कर्मणि द्वितीया से (वैकुण्ठ + अम्) द्वितीया हुई ।

अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः, अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिः—(हरि वैकुण्ठ में रहते हैं, हरि वैकुण्ठ में हैं) इन दोनों उदाहरणों में वैकुण्ठ को प्राप्त अधिकरणसंज्ञा को बाधकर '**अधिशीङ्-स्थासां कर्म**' से कर्मसंज्ञा हुई, तथा **कर्मणि द्वितीया** से (वैकुण्ठ+अम्) द्वितीया होती है।

ये तीनों धातु अकर्मक हैं, किन्तु इस सूत्र से कर्मसंज्ञा होने के कारण सकर्मक हो जाते हैं । तीनों ही उदाहरणों में 'अधि' सप्तमी के अर्थ 'आधार' का द्योतक है ।

NOTES

अभिनिविशश्च—'अभिनि' यह समुदाय है । 'अभिनिपूर्वः विश्' इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादीनां' से समास एवं 'पूर्व' का लोप कर षष्ठी-एकवचन में अभिनिविशः बना । 'च' से कर्म एवं आधार की अनुवृत्ति आती है, तथा 'कारके' का अधिकार है ।

सूत्रार्थ—'अभिनि' पूर्वक (इन दोनों उपसर्ग समुदाय से युक्त) विश् का आधार कारक कर्मसंज्ञक हो।

यह सूत्र भी **आधारोऽधिकरणं** सूत्र का अपवाद है । अभि और नि उपसर्गों का सूत्र में निर्दिष्ट-क्रम में रहना अपेक्षित है, विपरीतक्रम नहीं होना चाहिए ।

---

13. उपान्वध्याङ्वसः 1/4/48

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् ।

उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः ।

वा. अभुक्त्यर्थस्य न । वने उपवसति ।

अर्थ—उप अनु अधि,एवं आङ्पूर्वक वस्धातु के आधार को कर्मसंज्ञा हो ।

'उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः' इस सूत्र का उदाहरण है । इसमें 'वैकुण्ठ' को कर्मसंज्ञा होती है ।

वा. भोजननिवृत्ति-वाचक (नहीं खाने के अर्थ में) वस्-धातु के आधार को कर्मसंज्ञा नहीं हो ।

वने उपवसति—(वन में उपवास करता है) यहाँ पर वन को कर्मसंज्ञा का निषेध '**अभुक्त्यर्थस्य न**' से हुआ ।

व्याख्या—उप अनु अधि एवं आङ् इन चारों का द्वन्द्वसमास कर दीर्घ एवं यण्-सन्धि कर उपान्वध्याङ् बनता है । 'उपान्वध्याङ्पूर्वः वस्' इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' से समास एवं 'पूर्व' पद का लोपकर षष्ठी-एकवचन में 'उपान्वध्याङ्वसः' बनता है । '**अधिशीङ्**' से 'कर्म' पद की, तथा **आधरोऽधिकरणं** से 'आधारः' पद की अनुवृत्ति आती है । 'कारके' इसका अधिकार है ।

सूत्रार्थ—उप अनु अधि एवं आङ् उपसर्गपूर्वक 'वस्' धातु का आधारकारक कर्मसंज्ञक हो ।

उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः—(हरि वैकुण्ठ में रहते हैं) इस उदाहरण के चार वाक्य बनते हैं (1) हरिः वैकुण्ठम् उपवसति (2) हरिः वैकुण्ठम् अनुवसति (3) हरिः वैकुण्ठम् अधिवसति (4) हरिः वैकुण्ठम् आवसति । चारों का अर्थ पूर्वोक्त ही है । इन चारों में 'वैकुण्ठ' को **आधारोऽधिकरणं** से अधिकरणसंज्ञा प्राप्त थी, उसको बाधकर '**उपान्वध्याङ्वसः**' से कर्मसंज्ञा हुई । **कर्मणि द्वितीया** से (वैकुण्ठ + अम्) द्वितीया हुई । इनमें उपसर्ग आधारत्व के द्योतक हैं।

अभुक्त्यर्थस्य न—भुक्तिः अर्थः यस्य = भोजन है अर्थ जिसका, वह 'भुक्त्यर्थ' हुआ । न भुक्त्यर्थः = अभुक्त्यर्थः (नञ्-समास, जिसका भोजन अर्थ नहीं है) षष्ठी-एकवचन में 'अभुक्त्यर्थस्य' बना ।

NOTES

वार्तिकार्थ—'भोजन नहीं करना' अर्थ में उपपूर्वक वस्-धातु के आधार को कर्मसंज्ञा नहीं हो ।

वार्तिक-कारिका

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ।।

उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्यधिलोकम् । अधोऽधोलोकम् ।

वा. अभितः परितः समयानिकषा हा प्रतियोगेऽपि ।। अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाऽभक्तम्, तस्य शोच्यते इत्यर्थः । 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्' ।

व्याख्या—कारक द्वितीया के बाद उपपदविभक्ति-द्वितीया का वर्णन करते हैं । **उभसर्वेति**—यह श्लोकवार्तिक है । इसका अन्वयपूर्वक अर्थ—(1) उभसर्वतसोः द्वितीया कार्या = तस्प्रत्ययान्त उभ-शब्द (उभयतः) एवं तस् प्रत्ययान्त सर्वशब्द (सर्वतः) के योग में द्वितीया करनी चाहिये । (2) धिक् द्वितीया कार्या = धिक्-शब्द का प्रयोग होने पर द्वितीया करनी चाहिये (3) आम्रेडितान्तेषु उपर्यादिषु त्रिषु द्वितीया कार्या = आम्रेडितान्त = द्वित्व किए-उपरि उपरि, अधि-अधि, एवं अधः-अधः के योग में द्वितीया-विभक्ति करनी चाहिए । (धिक्-शब्द 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इस नियम से अव्यय है । अव्ययादाप्सुपः से 'धिक्' शब्द से आई विभक्ति का लुक् हो जाता है ।) 'तस्य परमाम्रेडितम्' सूत्र से द्वित्व किए गए शब्द के आगे वाले रूप को आम्रेडित-संज्ञा होती हे । जैसे—उपरि उपरि में दूसरा उपरि आम्रेडित है । 'उपर्यादिषु' इस शब्द से 'उपर्युध्यधसस्सामीप्ये' इस सूत्र में पठित अव्यय-उपरि अधि एवं अधस् इन तीनों का ग्रहण हुआ है । (4) ततोऽन्यत्रापि (द्वितीया) दृश्यते = उससे अन्यत्र भी = उपर्युक्त से भिन्न प्रयोगों में भी, द्वितीया- विभक्ति दिखाई पड़ती है ।

उदाहरण—उभयतः कृष्णं गोपाः—(कृष्ण के दोनों ओर गोप हैं) यहाँ तस्प्रत्ययान्त = उभयतः के योग में इस वार्तिक से 'कृष्ण + अम् = कृष्णम्' में द्वितीया-विभक्ति हुई है ।

(उभ से आद्यादित्वात् तसिप्रत्यय हुआ एवं उभयोऽन्यत्र से अयच् कर उभयतः बना । यहाँ षष्ठी के अर्थ में द्वितीया हुई है ।

सर्वतः कृष्णम् गोपाः (कृष्ण के सभी ओर गोप हैं) यहाँ तसि-प्रत्ययान्त सर्व (सर्वतः) के योग में **कृष्णं** में षष्ठी के अर्थ में द्वितीया हुई है।

धिक् कृष्णाभक्तम्—(कृष्ण के अभक्त को धिक्कार है ।) यहाँ धिक् शब्द निन्दा अर्थ में है । निन्दार्थक धिक् के योग में 'कृष्णाभक्तम्' पद में षष्ठी के अर्थ में श्लोकवार्तिक से द्वितीया होती है ।

(कुछ लोग धिक् का अर्थ 'निन्द्य' मानते हैं । ऐसी स्थिति में 'कृष्णाभक्त निन्द्य है' यह वाक्यार्थ होगा । तब प्रथमा के अर्थ में धिक् के योग में **कृष्णाभक्त** से द्वितीया करनी होगी । 'धिङ्मूर्ख' इत्यादि प्रयोगों में 'निषिद्धाचरणम्' का अध्याहार कर फिर द्वितीया करनी होगी । या फिर 'मूर्ख' ! त्वां धिक्' ऐसा प्रयोग कर त्वां का अध्याहार होगा ।)

उपर्युपरि लोकं हरिः—(इस लोक के ऊपर ऊपर हरि हैं) यहाँ पर 'उपरि-उपरि' इस आम्रेडितान्त के योग में 'लोकम्' पद में षष्ठी के अर्थ में द्वितीया होती है ।

अध्यधि लोकम् हरिः—(हरि लोक के पास-पास हैं) यहाँ पर भी अधि-अधि इस आम्रेडितान्त के योग में 'लोकम्' पद में षष्ठी के अर्थ में वार्तिक से द्वितीया-विभक्ति होती है ।

अधोऽधो लोकं हरिः—(हरि लोक के नीचे-नीचे हैं) यहाँ पर आम्रेडितान्त 'अधः अधः' के योग में 'लोकम्' पद में षष्ठ्यर्थ में द्वितीया होती है ।

(तीनों उदाहरणों में 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' से उपरिअधि एवं अधास् को द्वित्व हुआ है ।)

अभितः परितः समयेति—अभि और परि से 'पर्यभिभ्यां च' से तसि-प्रत्यय कर अभितः एवं परितः बनता है । समया निकषा हा एवं प्रति ये सभी अव्यय-पद हैं । **समया** का अर्थ है—समीप और मध्य । **निकषा** का अर्थ है—'समीप' । **हा** का अर्थ है—'खेद' । यह वार्तिक 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इसका फलितार्थ है ।

वार्तिकार्थ-अभितः परितः समया निकषा हा एवं प्रति के योग में भी द्वितीया-विभक्ति होती है ।

उदाहरण— अभितः कृष्णं (गोपाः) — (कृष्ण के दोनों ओर गोप हैं) इस वाक्य में '**अभितः परितः**' वार्तिक से 'कृष्णम्' में षष्ठी के अर्थ में द्वितीया हुई है ।

परितः कृष्णम् (गोपाः) — (कृष्ण के सभी ओर गोप हैं) इस वाक्य में भी '**अभितः परितः समया**' इत्यादि वार्तिक से परितः के योग में 'कृष्णम्' पद में षष्ठी के अर्थ में द्वितीया हुई है ।

ग्रामं समया — (गाँव के समीप या मध्य में) इस वाक्य में '**समया**' के योग में 'ग्रामं' पद में षष्ठी के अर्थ में द्वितीया होती है ।

निकषा लङ्काम् — (लङ्का के पास) यहाँ पर 'निकषा' के योग में षष्ठी के अर्थ में 'लङ्कां' पद में '**अभितः परितः समयानिकषा**' इत्यादि वार्तिक से द्वितीया होती है ।

'विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति' यह माघ का वचन है । यहाँ लंङ्का में द्वितीया का प्रयोग हुआ है।

हा कृष्णाभक्तं' (कृष्ण के अभक्त के लिए खेद है, या शोक है) । यहाँ पर **हा** के योग में 'कृष्णांभक्तं' पद में द्वितीया हुई है ।

बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् — (भूखे को कुछ भी नहीं सूझता है) इस वाक्य में प्रति उपसर्गपूर्वक भा दीप्तौ धातु 'प्रति' इस उपसर्ग के बल से 'स्फुरण' अर्थ को देता है । इसलिए 'प्रति'

यह पद 'लक्षण' आदि अर्थ में नहीं है, अत एव इसे कर्मप्रवचनीयसंज्ञा नहीं होती है, न ही 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । इस वार्तिक से ही 'बुभुक्षितं' पद में **प्रति** के योग में द्वितीया-विभक्ति होती है ।

NOTES

14. अन्तरान्तरेणयुक्ते 2/3/4 ।।

आभ्यां योगे द्वितीया । अन्तरा त्वां मां हरिः । अन्तरेण हरिं न सुखम् ।

अर्थ—'अन्तरा' और 'अन्तरेण' के योग में द्वितीया होती है ।

यथा—**अन्तरा त्वां मां हरिः** = तेरे मेरे बीच में हरि हैं । यहाँ 'त्वां' 'मां' में द्वितीया होती है । **अन्तरेण हरिं न सुखम्** = हरि को छोड़कर सुख नहीं है । यहाँ 'हरि' में द्वितीया होती है ।

व्याख्या—'अन्तरा च अन्तरेण च' इस विग्रह में द्वन्द्वसमास कर 'अन्तरान्तरेण' यह बनता है । दोनों पद अव्यय हैं, अतः द्विवचन का लुक् हो जाता है । 'ताभ्यां युक्ते' इस विग्रह में तत्पुरुष कर सप्तमी एकवचन में 'अन्तरान्तरेणयुक्ते' बनता है । **कर्मणि द्वितीया** से 'द्वितीया' की अनुवृत्ति आती है । यह विधिसूत्र है ।

अन्तरा का अर्थ है—'मध्य में' । (अन्तरा मध्ये', अमरकोश) अन्तरेण पद का अर्थ है—वर्जन=छोड़ना, विना । (पृथग्-विनान्तरेणर्ते हिरुङ्नाना च वर्जने', अमरकोश)

सूत्रार्थ—अन्तरा और अन्तरेण इन दोनों के साथ युक्त रहने पर (षष्ठ्यर्थ में) द्वितीया होती है ।

उदाहरण—अन्तरा त्वां मां हरिः—यहाँ 'तव' 'मम' इस प्रयोग के बदले अन्तरा के योग में 'अन्तरान्तरेण युक्ते' से द्वितीया होने पर युष्मद्+अम्=त्वां, अस्मद्+अम्=मां का प्रयोग होता है ।

अन्तरेण हरिं न सुखम्—(हरि के बिना या हरि को छोड़कर सुख नहीं है) यहाँ पर अन्तरेण के योग में हरि से '**अन्तरान्तरेणयुक्ते**' से द्वितीया होती है, हरि+अम्=हरिं बनता है ।

15. कर्मप्रवचनीयाः —1/4/83 ।। इत्यधिकृत्य ।

16. अनुर्लक्षणे —1/4/84 ।।

लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ।

17. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया 2/3/8 ।।

एतेन योगे द्वितीया स्यात् ।

पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत् । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः । परापि हेतौ तृतीया अनेन बाध्यते, 'लक्षणेत्थम्भूत'—इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् ।

अर्थ— 15. 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है ।

16. लक्षण अर्थ के द्योतित होने पर अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो ।

NOTES

यह गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है ।

17. कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया हो ।

पर्जन्यो जपम् अनु प्रावर्षत् = मेघ जप समाप्त होने पर बरसा । यहाँ अनु के योग में 'जप' से द्वितीया हुई । जप के कारण वर्षण उपलक्षित (दृष्ट) हुआ, यह इस वाक्य का भावार्थ है । यह द्वितीया '**हेतौ**' सूत्र से परत्वात् प्राप्त तृतीया का बाध करती है । क्योंकि 'लक्षणेत्थंभूत' इत्यादि सूत्र से ही लक्षण अर्थ में कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाती, '**अनुर्लक्षणे**' यह सूत्र पुनः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा-विधान के सामर्थ्य से तृतीया को बाधती है ।

व्याख्या—कर्मप्रवचनीयाः— यह अधिकारसूत्र है । 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' सूत्र-पर्यन्त इसका अधिकार है । अर्थात् इस सूत्र तक सभी सूत्रों में 'कर्मप्रवचनीयाः' पद उपस्थित होगा ।

भाष्यकार ने 'कर्मप्रवचनीय' को अन्वर्थसंज्ञा=अर्थानुसारिणी संज्ञा, माना है । कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः= जिन्होंने क्रिया को कहा है वे कर्मप्रवचनीय हैं । कर्म का अर्थ यहाँ 'क्रिया' है । कर्म उपपद + प्र + वच् से अनीयर्-प्रत्यय भूतकालिक, कर्ता अर्थ में होता है । इसके अनुसार जो क्रियाकृत विशेष-सम्बन्ध को द्योतित करते हैं, वे कर्म प्रवचनीय हैं । वे वर्तमान स्थिति में किसी क्रिया को प्रकट नहीं करते हैं । वाक्यपदीयकार ने कहा है—

क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः ।

नापि क्रियापदापेक्षी सम्बन्धस्य तु भेदकः ।।

अनुर्लक्षणे—'अनुः' और 'लक्षणे' ये दो पद हैं । 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार आता है । इस सूत्र में 'लक्षण'—पद—लक्ष्यते ज्ञायते अनेन=(जिससे जाना जाये वह) इस व्युत्पत्ति से 'विशेष हेतु' अर्थ को बताता है । चिह्नमात्र अर्थ को नहीं बताता है ।

सूत्रार्थ—लक्षण (हेतु) अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो ।

गत्युपसर्गसंज्ञापवादः—

गतिश्च एवं उपसर्गाः क्रियायोगे—से प्राप्त गतिसंज्ञा एवं उपसर्गसंज्ञा का यह सूत्र अपवाद है, अर्थात् अपवाद होने के कारण बाधक है ।

उदाहरण—(पर्जन्यः) जपम् अनु प्रावर्षत्—(मेघ ने) 'जप पूर्ण होते ही वर्षा की' । इस वाक्य में जप पूर्ण होने के पूर्व जप होने की सूचना अनु से द्योतित हो रही है । अर्थात् वर्षा का हेतु 'जप' लक्षित होता है । अतः अनुर्लक्षणे से अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई तथा 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' से 'जप' से (जप+अम्) द्वितीया हुई ।

हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः—'वर्षा के हेतुभूत जप के फलस्वरूप ही वर्षा हुई', यह अर्थ, 'जपमनु प्रावर्षत्' का हुआ । यहाँ पर वृष्टिकाल उपदेश्य है । उसका प्रज्ञान किसी के ज्ञान के सहारे ही ज्ञापित हो सकता है । अतः 'जप' को यहाँ प्रज्ञान मानते हैं । तब 'जपकाल में मेघ बरसा' यह अर्थ सम्भव हो पाता है । हेतुभूत जप यहाँ पर 'लक्षण' है । वर्षा लक्ष्य है । लक्ष्य-लक्षण-भाव के

सम्बन्ध का द्योतक 'अनु' है । इस तरह–वर्षण के हेतुभूत वरुण के जप के उत्तरकाल में मेघ बरसा, यह विस्तृत अर्थ 'हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणम्' इस वाक्य का प्रतिफलित होता है ।

NOTES

18. तृतीयार्थे 1/4/85 ॥

अस्मिन् द्योत्येऽनुः उक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह सम्बद्धा इत्यर्थः । 'षिञ् बन्धने' क्तः ॥

19. हीने 1/4/86 ॥

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत् । अनु हरिं सुराः । हरेर्हीना इत्यर्थः ।

18. **तृतीयार्थ**= साहित्य द्योतित होने पर अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है । जैसे–

नदीम् अन्ववसिता सेना= नदी के साथ सेना सम्बद्ध है । 'षिञ् बन्धने' से क्त हुआ है । इस प्रयोग में अन्ववसिता के अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है तथा नदी से कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया होती है ।

19. हीन अर्थ के द्योतित होने पर (हीन अर्थ में) अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है । जैसे– **अनु हरिं सुराः** (देवता हरि से हीन हैं) । इस प्रयोग में अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने के कारण 'हरि' से द्वितीया होती है ।

व्याख्या–'तृतीयार्थे' इस सूत्र में अनुर्लक्षणे सूत्र से 'अनु' की अनुवृत्ति आती है । 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है ।

सूत्रार्थ–तृतीया के अर्थ (साहित्य) में अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

विश्लेषण–उपर्युक्त वाक्य में द्वितीया का अर्थ 'सम्बद्ध' है क्योंकि अब उपसर्गपूर्वक षिञ् बन्धने से क्त-प्रत्यय कर 'अवसिता' बनता है । अनु+अवसिता=अन्ववसिता । अवसिता में अव उपसर्ग के बल से 'सम्बन्ध' अर्थ हो जाता है । अनु 'सम्बद्ध-अर्थ=द्वितीया का' द्योतक है ।

हीने– इस सूत्र में भी 'अनु' की अनुवृत्ति आती है, तथा 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है । 'हीने' का अर्थ है–रहित, निकर्ष । ओहाक् त्यागेन (हा) से क्त-प्रत्यय, हा के आ को ईत्व, एवं **'ओदितश्च'** से 'क्त' के 'त' को 'न' कर **हीने** बनता है ।

सूत्रार्थ–हीन (निकृष्टभाव) अर्थ के द्योतित होने पर 'अनु' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

अनु हरिं सुराः–(देव हरि से हीन हैं) इस उदाहरण में हीन अर्थ में 'अनु' को 'हीने' सूत्र से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई, एवं कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया से अनु के योग में हरि से द्वितीया होती है ।

20. उपोऽधिके च 1/4/87 ॥

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात् ॥ अधिके सप्तमी वक्ष्यते । हीने–उप हरिं सुराः।

NOTES

उपोऽधिके च—अधिक और हीन अर्थ द्योतित होने पर 'उप' इस अव्यय को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

अधिक अर्थ में सप्तमी कही जायेगी । हीन अर्थ में उदाहरण है- **उप हरिं सुराः**—(देवता हरि से हीन हैं) यहाँ पर उप को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है, तथा 'हरि' से कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया होती है ।

व्याख्या— 'उपः अधिके च' यह पदच्छेद है । यह भी संज्ञासूत्र है । कर्मप्रवचनीयाः का अधिकार है, सूत्रोक्त 'च' पद से 'हीने' इस पद की भी अनुवृत्ति की जाती है । इस तरह उप के हीनता और आधिक्य ये दो अर्थ यहाँ विवक्षित हैं।

सूत्रार्थ—हीन और अधिक अर्थ का द्योतन किये जाने पर 'उप' इस अव्यय को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

अधिके सप्तमी वक्ष्यते—उप को अधिक अर्थ में कर्मप्रवचनीयसंज्ञा द्वितीयाविधान के लिए नहीं है, अपितु 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' (2.3.9) से अधिक अर्थ में सप्तमी कही जायेगी । अतः इसका उदाहरण यहाँ नहीं दिया गया है ।

उप हरिं सुराः—(हरि से देवता हीन हैं) यहाँ पर हीन अर्थ में 'उपोऽधिके च' से 'उप' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई । **'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'** से हरि से द्वितीया होती है ।

यहाँ हीनत्व द्वितीयार्थ है, जो उप द्वारा द्योत्य है ।

---

21. लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः 1/4/90 ॥

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः ।

लक्षणे—वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत् । इत्थम्भूताख्याने—भक्तो विष्णुं प्रति परि अनु वा । भागे—लक्ष्मीर्हरिं प्रति, परि, अनु वा । हरेर्भाग इत्यर्थः । वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षं प्रति, परि, अनु वा सिञ्चति । अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम् परिषिञ्चति ।

अर्थ—लक्षण (ज्ञापक), इत्थंभूत-आख्यान, भाग, और वीप्सा अर्थों में प्रति परि और अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

लक्षण का उदाहरण—**वृक्षं प्रति, परि अनु वा विद्योद्यते विद्युत्**—(वृक्ष के द्वारा दिखलाई गई बिजली चमक रही है) यहाँ पर प्रति आदि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है उसके योग में 'वृक्षम्' में द्वितीया है ।

इत्थम्भूताख्यान—**भक्तो विष्णुं प्रति परि अनु वा**—(भक्त विष्णु की भक्ति वाला है) यहाँ इत्थम्भूताख्यान अर्थ में प्रति आदि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है तथा उसके योग में 'विष्णु' में द्वितीया हुई है ।

भाग—**लक्ष्मीः हरिं प्रति परि अनु वा**—(लक्ष्मी हरि का भाग है = हरि लक्ष्मी के पति हैं) यहाँ पर भी भाग अर्थ में कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है तथा उसके योग में कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया से 'हरिं' में द्वितीया है ।

वीप्सा—**वृक्षं वृक्षं प्रति परि अनु वा सिञ्चति**—(प्रत्येक वृक्ष को सींचता है) यहाँ पर प्रति परि आदि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने से उपसर्गसंज्ञा का बाध हो जाता है । अत एव सिञ्चति के स् को षत्व नहीं होता है ।

एषु किम्—लक्षणादि अर्थों को नहीं कहें तब क्या होगा ? '**परिषिञ्चति**' में परि को भी कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने से उपसर्गसंज्ञा का बाध होगा, तथा 'उपसर्गात्सुनोति' से स् को षत्व नहीं होगा।

व्याख्या—'लक्षणञ्च इत्थम्भूताख्यानञ्च भागश्च वीप्सा च' इस विग्रह में द्वन्द्वसमास कर सप्तमीबहुवचन में 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु' यह बना । 'प्रतिश्च परिश्च अनुश्च' इस विग्रह में इतरेतरयोग-द्वन्द्व कर प्रथमाबहुवचन में 'प्रतिपर्यनवः' बना । कर्मप्रवचनीयाः का अधिकार है ।

लक्षण का अर्थ है—ज्ञापक (चिह्न) **इत्थंभूताख्यान** का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—प्रकार-विशेष को प्राप्त का कथन करने वाला । **व्युत्पत्ति**—'अयं प्रकारः' इस अर्थ में इदम् से थम् प्रत्यय कर 'इत्थम्' बनता है । **इत्थम्**=अनेन प्रकारेण भूतः=प्राप्तः=इत्थम्भूतः । प्रकार विशेष को प्राप्त । 'आख्यायते अनेन' इस अर्थ में आङ्+ख्या+ल्युट् को अन कर 'आख्यानम्' कथन बनता है । इत्थंभूतस्य आख्यानम् इस विग्रह में षष्ठी-तत्पुरुष कर 'इत्थम्भूताख्यानम्' बनता है ।

भाग का—स्वीकारयोग्य अंश, या 'स्वीकार्य अंश का स्वामी' यह अर्थ विवक्षित है (भागः अस्तिअस्य इति भागः)।

वीप्सा का अर्थ है—'सम्पूर्ण रूप से सम्बन्ध की इच्छा' (व्याप्तुं कात्स्न्येन सम्बन्धुमिच्छा वीप्सा) अर्थात् अभिव्याप्ति। वि उपसर्ग+आप्+सन्+अ-प्रत्यय+टाप्=वीप्सा ।

सूत्रार्थ—ज्ञापक, प्रकार-विशेष को प्राप्त का कथन करने वाला, स्वीकार्य अंश का स्वामी एवं वीप्सा इन अर्थों के विषय बनने पर प्रति परि एवं अनु को कर्मप्रवचनीय-संज्ञा होती है । (यहाँ पर अर्थों का द्योतन अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि व्याप्ति की इच्छा द्योत्यार्थ नहीं हो सकती है ।)

लक्षण का उदाहरण—**वृक्षं प्रति, वृक्षम् अनु, वृक्षं परि**, (वृक्ष की ओर विद्युत् चमक रही है) इस उदाहरण में वृक्ष विद्युत् का ज्ञापक (लक्षण) है । अत एव '**लक्षणेत्थम्भूताख्यान**' सूत्र से प्रति परि एवं अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई, तथा कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया से 'वृक्षं' में द्वितीया होती है।

इत्थम्भूताख्यान का उदाहरण—**भक्तो विष्णुं प्रति, भक्तो विष्णुं परि, भक्तो विष्णुम् अनु वा**—(भक्त विष्णु-विषयक भक्ति से युक्त है) इस उदाहरण में भक्तिरूप विशेष विधि को प्राप्त करने से भक्त इत्थम्भूत है । अतः '**लक्षणेत्थम्भूताख्यान**' से प्रति परि एवं अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है, तथा **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** से विष्णु से द्वितीया कर विष्णुम् बनता है ।

भाग का उदाहरण—

लक्ष्मीः हरिं प्रति, लक्ष्मीः हरिं परि, लक्ष्मीः हरिम् अनु वा—

(लक्ष्मी हरि का भाग है अर्थात् हरि लक्ष्मी के स्वामी हैं) इस उदाहरण में लक्ष्मीरूप भाग का हरि के साथ स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध का कथन हो रहा है, अतः भाग अर्थ में 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान-भाग'

इत्यादि से प्रति परि एवं अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है, तथा कर्मप्रवचनीयुक्ते द्वितीया से हरि से द्वितीया कर 'हरिम्' बनता है ।

22. अभिरभागे 2/4/91 ॥

भागवर्जे लक्षणादौ अभिरुक्तसंज्ञ: स्यात् । हरिम् अभि वर्तते । भक्तो हरिमभि । देवं देवमभि सिञ्चति । अभागे किम् ? यदत्र मम अभिष्यात्तद् दीयताम् ।

भाग अर्थ को छोड़कर लक्षण इत्थम्भूताख्यान आदि अर्थों के द्योत्य होने पर अभि को कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । **हरिम् अभिवर्तते**—जय हरि की ओर है । **भक्तो हरिम् अभि**—भक्त हरिविषयक भक्तिवाला है । **देवं देवम् अभिसिञ्चति**—प्रत्येक देव को स्नान कराता है (सींचता है) इनमें अभि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है । सूत्र में 'अभागे' न कहें तब क्या दोष होगा ? **यदत्र मम अभिष्यात् तद्दीयताम्**—(जो मेरा हिस्सा यहाँ है, वह दीजिए) । इस उदाहरण में भाग अर्थ में भी अभि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाएगी ।

व्याख्या—सूत्र में दो पद हैं—(1) अभि: (2) अभागे । इस सूत्र में भागरहित लक्षणेत्थम्भूताख्यानवीप्सासु इन पदों की अनुवृत्ति आती है । कर्मप्रवचनीया: का अधिकार है ।

सूत्रार्थ—भाग से भिन्न (भाग अर्थ को छोड़कर) लक्षण = ज्ञापक, इत्थम्भूताख्यान, एवं वीप्सा (अभिव्याप्ति) अर्थों के विषयीभूत होने पर 'अभि' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

यहाँ पर लक्ष्यभाव, अभि द्वारा द्योत्य द्वितीयार्थ है ।

इत्थम्भूताख्यान—**भक्तो हरिम् अभि**—(भक्त हरिविषयक भक्तिवाला है) इस उदाहरण में भक्त का प्रकार बतलाया गया है । अत: इत्थम्भूताख्यान अर्थ के द्योत्य होने पर 'अभिरभागे' से अभि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई, तथा उसके योग में 'हरि' से **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** से द्वितीया होती है । इस उदाहरण में 'विषयता-सम्बन्ध' अभि द्वारा द्योत्य द्वितीयार्थ है । 'हरिविषयक भक्तिमान्' यह वाक्यार्थ होता है ।

वीप्सा—**देवं देवम् अभिसिञ्चति**—(प्रत्येक देव को स्नान कराता है) इस वाक्य में सब के साथ सम्बन्ध की इच्छा के कारण वीप्सा (अभिव्याप्ति) अर्थ में अभि को "अभिरभागे' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है, तथा उसके योग में देव से द्वितीया होती है । 'नित्यवीप्सयो:' से देवम् को द्वित्व होता है ।

इसमें सम्पूर्ण सम्बन्ध वाली व्याप्ति द्वितीयार्थ है और वह अभि द्वारा द्योत्य है । कर्मप्रवचनीयसंज्ञा से उपसर्गसंज्ञा का बाध होने के कारण 'अभिसिञ्चति' में उपसर्गात् सुनोति से स् को षत्व नहीं होता है।

अभागे किम्—इस सूत्र में अभागे=(भाग अर्थ को छोड़कर) यह नहीं कहें तो क्या दोष होगा ? यह प्रश्न है ।

उत्तर—यदि 'अभागे' यह पद नहीं कहेंगे तब भाग-अर्थ में भी अभि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाएगी, जो इष्ट नहीं है ।

तब—**यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम्**—(जो यहाँ मेरा भाग है, वह दीजिए) इस उदाहरण में भाग अर्थ में अभि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाने पर मम के बदले द्वितीया (माम्) हो जाएगी, तथा उपसर्गसंज्ञा का बाध हो जाने के कारण अभिपूर्वक् अस्+विधिलिङ्=अभिष्यात् में **'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः'** सूत्र से उपसर्ग से परे होने वाला षत्व नहीं हो सकेगा । ये दोनों दोष न हों इसीलिए 'अभिरभागे' सूत्र में 'अभागे' पद रखकर 'भाग अर्थ को छोड़ कर' 'अभि' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा की जाती है ।

23. अधिपरी अनर्थकौ 1/4/93 ॥

उक्तसंज्ञौ स्तः । कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति । गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ' इति निघातो न ।

अर्थरहित अधि एवं परि कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हैं ।

कुतः अध्यागच्छति (कहाँ से आता है) । **कुतः पर्यागच्छति** (कहाँ से आता है) । इन दोनों में अधि एवं परि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है । गतिसंज्ञा का कर्मप्रवचनीयसंज्ञा से बाध हो जाने के कारण **'गतिर्गतौ'** सूत्र से अधि एवं परि को निघात=अनुदात्त नहीं होता है ।

व्याख्या—'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है । अधिश्च परिश्च इति 'अधिपरी' । द्वन्द्वसमास कर प्रथमाद्विवचन में बना है । 'अविद्यमानः अर्थः ययोः' = अविद्यमान हैं अर्थ जिन दोनों में, इस विग्रह में **'नञोऽस्त्यर्थानां'** वार्तिक से बहुव्रीहि कर प्रथमाद्विवचन में अनर्थकौ बना । यह अधिपरी का विशेषण है ।

सूत्रार्थ—विशेषार्थरहित अधि एवं परि कर्मप्रवचनीय संज्ञक होते हैं ।

24. सुःपूजायाम् 1/4/94 ॥

सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वान्न षः । पूजायाम् किम् ? सुषिक्तं, किं तवात्र क्षेपोऽयम् ।

—कर्मप्रवचनीय का अधिकार होने से सूत्र का अर्थ है—

पूजा अर्थ के द्योत्य होने पर सु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है । **सुसिक्तम्**—(अच्छी तरह सींचा) । **सुस्तुतम्**—(सुन्दर स्तुति की) इन दोनों उदाहरणों में 'सु' प्रशंसा=पूजा—अर्थ को प्रकट कर रहा है । अत एव सुःपूजायां से 'सु' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई । कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने से उपसर्गसंज्ञा नहीं हुई । अतः 'उपसर्गात् सुनोति' सूत्र से सु से परे सिक्तम् एवं स्तुतम् के स् को षत्व नहीं होता है ।

पूजायाम् किम—'सुःपूजायां' सूत्र में 'पूजायां पद क्यों कहते हैं ? अर्थात् इसका क्या प्रयोजन है?

उत्तर—'पूजायाम्' पद का प्रयोजन यह है कि पूजा के अतिरिक्त निन्दा—आदि अर्थों में सु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा नहीं हो । यदि **पूजायां** पद नहीं कहेंगे तब निन्दा-अर्थ में भी सु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाएगी । जैसे—**सुषिक्तं, किम् तवात्र**—तुमने खूब सींचा, किन्तु इसमें तुम्हारा क्या वैशिष्ट्य है ।

इस वाक्य से 'तुमने कुछ नहीं सींचा । यह निन्दा-अर्थ ध्वनित हो रहा है । अत: यहाँ सु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा नहीं होती है । अत एव 'सुषिक्तं' में स् को षत्व होता है । 'पूजायां' पद के नहीं रहने पर यहाँ भी कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाएगी, तथा उपसर्गसंज्ञा का बाध हो जाने पर 'सुषिक्तं' में षत्व नहीं हो सकेगा । यह दोष होगा । यह दोष न हो अत एव 'पूजायाम्' यह पद है ।

25. अतिरतिक्रमणे च 1/4/95 ॥

अतिक्रमणे पूजायां च अतिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अतिदेवान् कृष्णः ।

अति: अतिक्रमणे च यह पदच्छेद है । 'कर्मप्रवचनीया:' अर्थ अधिकारप्राप्त है । सूत्र में पठित 'च' से पूर्वसूत्रस्थ 'पूजायाम्' का समुच्चय होता है ।

सूत्रार्थ—अतिक्रमण और पूजा अर्थ में अति को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो ।

अति देवान् कृष्णः—(कृष्ण देवों के पूज्य हैं । या संसार के संरक्षण में कृष्ण देवों से बढ़कर हैं) इस वाक्य में अति का अर्थ अतिक्रमण=बढ़कर, एवं पूजा (प्रशंसा) दोनों परिलक्षित हो रहे हैं, अंत: '**अतिरतिक्रमणे च**' सूत्र से 'अति' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई, तथा '**कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया**' से देव-पद से द्वितीया हुई ।

यहाँ पर 'कुगतिप्रादय:' से समास नहीं हुआ क्योंकि उपसर्ग एवं गतिसंज्ञा का बाध हो गया है । दूसरी बात—'**स्वती पूजायाम्**' यह नियम है ।

26. अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासुच्चयेषु—1/4/96 ॥

एषु द्योत्येषु अपिरुक्तसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्गत्वान्न षः । सम्भावनायां लिङ् । तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बद्ध्यते । सर्पिषः इति षष्ठी त्वपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे । इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम । द्वितीया तु नेह प्रवर्तते । सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिना इत्युक्तत्त्वात् ।

अपि स्तुयाद् विष्णुम्—सम्भावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः ।

अपि स्तुहि—अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा ।

धिग्देवदत्तम्, अपि स्तुयाद् वृषलम्—गर्हा ।

अपि सिञ्च, अपि स्तुहि-समुच्चये ।

पदार्थ, सम्भावन, अन्ववसर्ग, गर्हा एवं समुच्चय अर्थों के द्योतित होने पर 'अपि' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है।

(1) **सर्पिषोऽपि स्यात्**—अपि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है । उपसर्गसंज्ञा न होने के कारण स्यात् के स् को ष् नहीं होता है । 'स्यात्' में सम्भावना अर्थ में लिङ्लकार आया है । सम्भावना का ही विषय बनी (भवने) 'होना क्रिया' में कर्ता की दुर्लभता के कारण पदार्थ की दुर्लभता को द्योतित करता हुआ 'अपि' शब्द 'स्यात्' इस क्रिया के साथ सम्बद्ध हो जाता है । 'सर्पिष:' पद में आयी हुई

षष्ठी 'अपि' शब्द के बल से प्रतीत हो रहे 'बिन्दु' के अवयवावयविभाव-सम्बन्ध के अर्थ में है, अपि के साथ नहीं । अत एव सर्पिष् से द्वितीया नहीं होती है ।

(2) अपि स्तुयात् विष्णुम्—(वह विष्णु की स्तुति कर सकता है) शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए की जाने वाली अत्युक्ति को 'सम्भावन' कहते हैं और यह सम्भावन का उदाहरण है ।

(3) अपि स्तुहि—(स्तुति करो या न करो तुम्हारी इच्छा) इच्छानुसार कार्य करने की अनुमति देना अन्ववसर्ग है । यह अन्ववसर्ग का उदाहरण है ।

(4) धिग्देवदत्तम्, अपि स्तुयाद् वृषलम्—(देवदत्त को धिक्कार है कि वह वृषल की स्तुति करता है) यह गर्हा का उदाहरण है ।

(5) अपि सिञ्च, अपि स्तुहि—(सीचों और स्तुति भी करो) यह समुच्चय का उदाहरण है ।

पाँचों उदाहरणों में अपि को उन उन अर्थों में कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है तथा सभी उदाहरणों में उपसर्गसंज्ञा न होने के कारण स् को ष् नहीं होता है ।

व्याख्या—पदार्थश्च सम्भावनञ्च अन्ववसर्गश्च गर्हा च समुच्चयश्च तेषु, इस विग्रह में इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास होता है । सप्तमीबहुवचन का रूप है । इन अर्थों में 'अपि' द्योतकरूप से विद्यमान है । कर्मप्रवचनीय का अधिकार है ।

पदार्थ—वाक्य में अप्रयुक्त किसी अन्य पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं ।

सम्भावन—शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए अत्युक्ति=बढ़ा चढ़ा कर कहना 'सम्भावन' का अर्थ है ।

अन्ववसर्ग—इच्छापूर्वक कार्य करने की अनुमति देना 'अन्ववसर्ग' कहलाता है ।

गर्हा—गर्हा का अर्थ निन्दा या तिरस्कार है ।

समुच्चय—अनेक पदार्थों के एकत्रीकरण को समुच्चय कहते हैं ।

सूत्रार्थ—पदार्थ सम्भावन अन्ववसर्ग गर्हा एवं समुच्चय इन अर्थों की द्योतकता में 'अपि' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

धिग्देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्—(देवदत्त को धिक्कार है जो वृषल=शूद्र की स्तुति करता है) इस वाक्य में निन्दा को अपि शब्द प्रकट करता है। अत: 'अपि: **पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हा**' इत्यादि सूत्र से अपि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई । कर्मप्रवचनीयसंज्ञा से उपसर्गसंज्ञा का बाध हो जाने के कारण 'स्तुयात्' में 'उपसर्गात् सुनोति' इत्यादि से स् को षत्व नहीं हुआ ।

इस वाक्य में '**गर्हायां लडपिजात्वो:**' सूत्र से स्तु-धातु से लट्लकार प्राप्त था, उसको परत्वात् और अन्तरङ्गत्वात् बाधकर सम्भावना-अर्थ में लिङ्-लकार आया है । यहाँ पर वृषल (देवपितृनिन्दक शूद्र) के निन्द्य होने से उसकी स्तुति करने में निन्दा अर्थ का बोध होता है, जिसे 'अपि' शब्द द्योतित करता है । 'देवदत्त को धिक्कार है' यह अपि-शब्दार्थ निन्दा का अनुवाद है ।

5. **समुच्चय**—(एकत्रीकरण)

अपि सिञ्च, अपि स्तुहि—(सींचो भी और स्तुति भी करो) यहाँ पर 'अपि शब्द समुच्चय-अर्थ को प्रकट करता है, अतः 'अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु' से अपि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई । इससे उपसर्गसंज्ञा का बाध हो गया । अत एव उपसर्ग से परे होने वाला षत्व सिञ्च एवं स्तुहि के स् को नहीं हुआ ।

विशेष—यहाँ पर कर्म प्रवचनीय संज्ञा का अधिकार समाप्त हो जाता है । पूर्व में कर्मप्रवचनीयसंज्ञा करने वाले 10 सूत्र बताए गए हैं । वे सूत्र उप प्रति परि अभि अधिष्ट परि सु अति और अपि को विभिन्न अर्थों के द्योतन में कर्म प्रवचनीयसंज्ञा करते हैं । जहाँ कर्मप्रवचनीय का सम्बन्ध किसी कारक से होता है, वहाँ उस कारक से द्वितीया विभक्ति आती है । जहाँ सकारादि धातु के साथ अन्वय होता है, वहाँ कर्मप्रवचनीय के द्वारा उपसर्गसंज्ञा एवं गतिसंज्ञा का बाध होने से षत्वाभाव एवं स्वराभाव होता है ।

---

27. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे 2/3/5 ।। इह द्वितीया स्यात् ।

मासं कल्याणी । मासमधीते । मासं गुडधानाः । क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशम् अधीते । क्रोशं गिरिः । अत्यन्तसंयोगे किम् ? मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ।

कालवाचक एवं मार्ग वाचक से अत्यन्त संयोग में द्वितीया होती है ।

मासं कल्याणी—मास तक कल्याणयुक्त । **मासम् अधीते**-मास भर निरन्तर पढ़ता है । **मासं गुडधानाः**— मास भर गुड़ और धान्य (उसके पास) रहते हैं । **क्रोशं कुटिला नदी**—नदी कोश तक टेढी (वक्र) है । **क्रोशम् अधीते**-कोश भर तक पढ़ता है । **क्रोशं गिरिः**—कोश भर तक पर्वत है । इन सभी उदाहरणों में अत्यन्त संयोग अर्थ में कालवाचक 'मास' एवं मार्गवाची 'क्रोश' से द्वितीया होती है ।

अत्यन्तसंयोगे किम्—सूत्र में 'अत्यन्त संयोगे' नहीं कहें तो क्या होगा ? **मासस्य द्विरधीते**—मास में दो दिन पढ़ता है । इस उदाहरण में अत्यन्त संयोग न होने पर भी मास से द्वितीया हो जाएगी और **क्रोशस्य एकदेशे पर्वतः**—कोश के एक भाग में पर्वत है । इस उदाहरण में भी अत्यन्त संयोग न होने पर भी क्रोश से द्वितीया हो जाएगी ।

सूत्रार्थ—गुण क्रिया एवं द्रव्य के साथ कालवाची तथा मार्गवाची का निरन्तर-संयोग होने पर कालवाची एवं मार्गवाची से द्वितीया होती है।

कालवाची का गुण के साथ अत्यन्तसंयोग का उदाहरण—

मासं कल्याणी—(मास तक निरन्तर मङ्गलवान् है) यहाँ पर गुण 'कल्याण' का कालवाचक 'मास' के साथ अत्यन्तसंयोग रहने से, '**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे**' से मास शब्द से द्वितीया होती है ।

मासम् अधीते—(मास भर निरन्तर पढ़ता है) यहाँ पर अध्ययन-क्रिया कालवाची मास के साथ अत्यन्तसंयोग है । अतः '**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे**' से मास-शब्द से द्वितीया होती है ।

मासं गुडधाना:—(मास भर निरन्तर गुड़ और धान है) यहाँ पर द्रव्य 'गुडधाना:' का कालवाचक के साथ निरन्तरसंयोग है, अत: उक्त सूत्र से मास से द्वितीया होती है । (तीस दिन का काल 'मास' कहलाता है)

NOTES

मार्गवाची का गुण क्रिया और द्रव्य के साथ अत्यन्त संयोग के उदाहरण—**क्रोशं कुटिला नदी**—(नदी कोश भर टेढी है) यहाँ पर गुण 'कुटिला' का मार्गवाचक क्रोश के साथ निरन्तरसंयोग है । अत: '**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे**' से क्रोश से द्वितीया होती है ।

क्रोशम् अधीते—(कोश भर निरन्तर पढ़ता है) अध्ययनक्रिया का मार्गवाचक 'क्रोश' से अत्यन्तसंयोग है । अत: '**कालाध्वनो:**' से द्वितीया होती है ।

क्रोशं गिरि:—(कोश तक पर्वत है) यहाँ द्रव्य-गिरि का क्रोश के साथ अत्यन्त संयोग है । अत: क्रोश से द्वितीया होती है ।

मासस्य द्वि: अधीते—मास में दो दिन ही पढ़ता है, **क्रोशस्य एकदेशे पर्वत:**—कोश के एक भाग में पहाड़ है । इन दोनों उदाहरणों में मास एवं कोश का क्रिया एवं द्रव्य के साथ अत्यन्तसंयोग न होने से द्वितीया नहीं होती है । द्वि: पद में द्वि शब्द से '**द्वित्रिचतुर्भ्य: सुच्**' से कृत्वोऽर्थ में सुच् हुआ । अत: 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे' से मास से षष्ठी होती है । क्रोशस्य में शेष में षष्ठी है ।

शिवरात्रौ जागृयात्—यहाँ पर अधिकरण की विवक्षा में सप्तमी है । उपपद विभक्तियाँ शेषत्व की विवक्षा में ही प्रवृत्त होती हैं । **इति द्वितीया ।**

करण कारक - तृतीया विभक्ति

28. स्वतन्त्र: कर्ता 1/4/54 ।।

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थ: कर्ता स्यात् ।

29. साधकतमं करणम् 1/4/42 ।।

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं कारकं करणसंज्ञं स्यात् । तमब्ग्रहणं किम्-गङ्गायां घोष: ।

28. क्रिया में स्वतन्त्र रूप से विवक्षित पदार्थ कर्ता होता है ।

29. क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक कारक करणसंज्ञक होता है ।

सूत्र में तमब् ग्रहण न करें तो क्या होगा ? '**गङ्गायां घोष:**' में गङ्गा-पद से **सप्तमी** नहीं हो पायेगी।

व्याख्या—'स्वतन्त्र: कर्ता' ये दो पद हैं । कारक का अधिकार है । कारक-पद यहाँ क्रिया का वाचक है, अत एव क्रिया की उत्पत्ति में स्वातन्त्र्य विवक्षित है । अर्थात् क्रियोत्पत्ति में जिसकी स्वतन्त्रता = प्रधानता विवक्षित हो वह पदार्थ कर्ता है । **भाष्यकार** ने भी इस सूत्र में स्वातन्त्र्य का अर्थ 'प्राधान्य' किया है । क्रिया की उत्पत्ति से सभी कारकों का हाथ रहता है किन्तु क्रिया के द्वारा जिस का व्यापार मुख्यरूप से व्यक्त होता है, वही धात्वर्थ व्यापाराश्रय, स्वतन्त्र कहलाता

है । वही स्वतन्त्र पदार्थ कर्ता होता है । अन्य सभी कारक कर्ता के अधीन होकर शक्तिलाभ करते हैं । अर्थात् अन्य कारक कर्ता की अधीनता में क्रियाशील होते हैं । कर्ता से प्रातिपकार्थ में प्रथमा होती है।

साधकतमं करणम्—इस सूत्र में कारके का अधिकार है । इसके अधिकार से 'क्रिया सिद्धि' में यह अर्थ प्राप्त होता है । 'अतिशयेन साधकम्' इस अर्थ में 'अतिशायने तमप्' से साधक शब्द से तमप् होता है । यह 'तमप्' अतिशायन अर्थात् 'प्रकृष्ट' अर्थ में होता है । 'साधकतमम्' शब्द का अर्थ है—कर्ता के द्वारा क्रिया की सिद्धि (उत्पत्ति) की जाने की दशा में जो सहायक है वही ''प्रकृष्ट उपकारक'' । अथवा—अतिशयित साधकं साधकतमम्—क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त साधक=उपकारक कारक, साधकतम है । जिसके व्यापार के बाद क्रिया की निष्पत्ति होती है, वह व्यापारवान् प्रकृष्ट होता है कर्त्ता के व्यापार के अधीन जिसके व्यापार के तुरन्त बाद में क्रिया की निष्पति होती है , वह कारक उस क्रिया में 'करण' होता है । **इस तरह सूत्रार्थ होता है**—'क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक कारक करणसंज्ञक होता है' ।

तमब्यहणं किम्? गङ्गायां घोषः

'साधकतमं करणम्' सूत्र में साधक पद में तमब् का ग्रहण न किया जाये तो क्या होगा **यह प्रश्न है** । अर्थात् 'साधकं करणम्' इतना ही सूत्र किया जाये । इतने से ही 'साधकतमं,' यह अर्थ प्राप्त हो जायेगा । क्योंकि यह कारक प्रकरण है, अतः 'कारक' का अधिकार आ जाता है । साधक-शब्द कारक का पर्यायवाची ही है । इस तरह कारक एवं साधक इन दोनों समानार्थकों का प्रयोग होने से साधक-कारक = 'प्रकृष्ट उपकारक कारक' इस अर्थ की प्रतीति हो ही जायेगी । फिर तमब्-ग्रहण की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—गङ्गायां घोषः (गङ्गा के तीर पर घर है) इस वाक्य में गङ्गा को अधिकरण संज्ञा कर उससे जो सप्तमी होती है, वह नहीं हो सकेगी । इसका आशय यह है—

कारक प्रकरण में 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः न तु गौणे' (गौण और मुख्य अर्थ में यदि कार्य की प्राप्ति हो तो मुख्य अर्थ में ही कार्य होना चाहिए, न कि गौण में) यह न्याय इस सूत्र से अन्यत्र कहीं भी कारक प्रकरण में प्रवृत्त नहीं होता है, इस बात के ज्ञापन के लिए तमप् का ग्रहण किया जाता है । तमप् के अभाव में ऐसा ज्ञापन नहीं हो सकेगा । तब, **'आधारोऽधिकरणम्'** इस सूत्र में अधिकरण-संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है, एवं महासंज्ञा भी । अन्वर्थमहासंज्ञा के बल से ही (अधिकरण संज्ञा के बल से ही) आधार अर्थ का लाभ हो जायेगा । पुनः सूत्र में पठित **आधार** पद अपने उच्चारण की सामर्थ्य से बतायेगा कि **जहां पर 'सम्पूर्ण अवयवों को व्याप्त करने वाला आधार हो'** (मुख्य आधार हो) उसे अधिकरण संज्ञा हो ।

---

30. कर्तृकरणयोस्तृतीया 2/3/18 ॥ अनभिहिते

कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो बाली ॥

अनुक्त कर्ता एवं करण में तृतीया होती है ।

रामेण बाणेन हतो बाली—(राम के द्वारा बाण से बाली मारा गया) इस कर्मवाच्य के वाक्य में अप्रधान (अनुक्त) कर्ता राम एवं करण कारक बाण से **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** से तृतीया विभक्ति हुई है ।

व्याख्या—कर्तृकरणयोस्तृतीया इस सूत्र में '**अनभिहिते**' का अधिकार आता है । कर्ता च करणं च तयोः, इस विग्रह में द्वन्द्वसमास कर सप्तमी-द्विवचन में 'कर्तृकरणयोः' बनता है, जिसका अर्थ कर्तरि, करणे होता है । इन दोनों के साथ अनभिहिते का अन्वय होता है ।

सूत्रार्थ—अनभिहित (अनुक्त) कर्ता एवं करण अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है ।

उदाहरण-**रामेण रामेण हतो बाली**—(राम के द्वारा बाण से बाली मारा गया) इस वाक्य में कर्मवाच्य में हन् धातु से क्त-प्रत्यय हुआ है । कर्म-अर्थ के उक्त हो जाने से 'अभिहिते तु कर्मणि प्रथमैव' के नियम से 'बाली' से प्रथमा विभक्ति आती है । 'स्वतन्त्रः कर्ता' से राम को कर्तृसंज्ञा होती है । किन्तु कर्म के मुख्य होने से कर्ता राम अनुक्त = अप्रधान है । '**साधकतमं करणं**' सूत्र से हनन-क्रिया में प्रकृष्ट-उपकारक 'बाण' को करण संज्ञा होती है । बाण कर्ता के व्यापार के अधीन है, अतः वह भी अप्रधान है । अप्रधान कर्ता एवं करण से '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' से तृतीया विभक्ति होती है । 'राम कर्तृकबाणकरणक' हनन-क्रिया का विषय 'बाली' यह वाक्यार्थ हुआ ।

उदाहरण—प्रकृत्या चारुः—(स्वभाव से सुन्दर) यहाँ पर 'प्रकृति' सुन्दरता का कारण या साधकतम है । अतः 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानं' से प्रकृति से तृतीया होती है ।

प्रायेण याज्ञिकः—(अधिकतर आचार से याज्ञिक प्रतीत होता है) यहाँ पर 'प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानं' से 'प्राय' शब्द से तृतीया होती है, तथा '**प्रायेण**' यह बनता है ।

गोत्रेण गार्ग्यः—(इस का गोत्र गार्ग्य है) यहाँ पर गोत्र से प्रथमा प्राप्त थी, उसको बाधकर '**प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्**' से गोत्र से तृतीया होती है ।

समेन एति—(सीधा चलता है) **विषमेण एति**—(टेढ़ा चलता है) सम और विषम क्रिया का विशेषण है अतः कर्म में द्वितीया प्राप्त थी, उसको बाधकर 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानं' से तृतीया होती है ।

यदि सम और विषम करण-मार्ग का विशेषण हो जाए '**समेन मार्गेण विषमेण मार्गेण वा एति**' तब करण में ही सम एवं विषम से तृतीया हो जायेगी ।

द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति—(दो द्रोण के भाव से अनाज खरीदता है) यहाँ पर तृतीयार्थ सम्बन्ध है । अतः द्विद्रोणसम्बन्धी धान्य खरीदता है, इस अर्थ में सम्बन्धार्थ में प्राप्त षष्ठी को बाधकर 'प्रकृत्यादिभ्यः' से 'द्विद्रोण' से तृतीया होती है ।

सुखेन याति, दुःखेन याति—(सुखपूर्वक जाता है, दुःखपूर्वक जाता है) इन दोनों उदाहरणों में सुख और दुःख क्रिया-विशेषण है । इन से द्वितीया प्राप्त थी, उसे बाधकर '**प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्**' से सुख एवं दुःख से तृतीया होती है ।

31. दिवः कर्म च 1/4/43 ।।

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्, चात्करणसंज्ञम् । अक्षैरक्षान् वा दीव्यति ।

दिव् धातु के साधकतम कारक को कर्मसंज्ञा एवं करण संज्ञा होती है । **अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति**-पासों से खेलता है । यहाँ पर इस सूत्र से कर्मसंज्ञा एवं करण-संज्ञा क्रमशः होती है ।

व्याख्या—इस सूत्र में दिवः, कर्म, च, ये तीन पद हैं। 'कारके' का अधिकार है। '**साधकतमं करणं**' की अनुवृत्ति आती है। **च**-पद से करणसंज्ञा का भी समावेश हो रहा है। अर्थात् कर्म एवं करणसंज्ञा दोनों का समावेश होने से पर्याय से द्वितीया एवं तृतीया होती है। साधकतम दिव्धात्वर्थ के प्रति होना चाहिए। इस तरह सूत्रार्थ हुआ—दिव् धात्वर्थ के प्रति साधकतम कारक को कर्मसंज्ञा एवं करण संज्ञा होती है।

पूर्वसूत्र से करणसंज्ञा प्राप्त थी ही, कर्मसंज्ञा का भी विधान करने के लिए यह सूत्र है। उदाहरण—

अक्षैः दीव्यंति—(पासों से खेलता है)। यहाँ पर दिव् धात्वर्थ क्रीडाव्यापार का साधकतम 'अक्ष' है। अतः **दिवः कर्म च** से करणसंज्ञा हुई। **कर्तृकरणयोः** से तृतीया कर अक्षैः। बना।

अक्षान् दीव्यति (पासों से खेलता है) यहाँ पर भी उक्त सूत्र से अक्ष-शब्द को कर्मसंज्ञा की जाती है तथा '**कर्मणि द्वितीया**' से द्वितीया कर 'अक्षान् बनता है।'

यदि इस सूत्र से कर्मसंज्ञा नहीं होती तब क्रीड़ा का साधन होने से अक्ष से करण में तृतीया ही होती।

32. अपवर्गे तृतीया 2/3/6 ।।

अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात्। अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः। अपवर्गे **किम्**–मासमधीतो नायातः।

अपवर्ग का अर्थ है फल की प्राप्ति। 'फल की प्राप्ति' अर्थ के द्योतित होने पर काल और मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त-संयोग में तृतीया हो।

अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः—यहाँ पर अहन् शब्द एवं क्रोश शब्द से तृतीया होती है। 'अपवर्गे' यह पद क्यों कहते हैं—**मासमधीतो नायातः** (मास भर पढ़ा फिर भी नहीं समझा) यहाँ मास से तृतीया रोकने हेतु 'अपवर्गे' यह पद है।

व्याख्या—'अपवर्गे तृतीया' इस सूत्र में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (2/3/5) इस सूत्र की अनुवृत्ति आती है। अपवर्ग शब्द का अर्थ 'फलप्राप्ति' है। सम्यक् आप्ति = समाप्ति भी अपवर्ग है। क्रिया की समाप्ति होने पर फलप्राप्ति होती है क्योंकि फलप्राप्ति-पर्यन्त ही क्रिया देखी जाती है। अतः अपवर्गे का अर्थ 'फल प्राप्ति होने पर' यह किया जाता है। यह सूत्र '**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे**' से की जाने वाली द्वितीया का अपवाद है। **सूत्रार्थ**—फल प्राप्ति (क्रियासिद्धि) अर्थ के द्योतित होने पर कालवाची एवं मार्गवाची शब्दों से अत्यन्तसंयोग (लगातार) अर्थ के गम्यमान होने पर तृतीया-विभक्ति होती है।

33. सहयुक्तेऽप्रधाने 2/3/19 ।।

सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकंसार्धंसंयोगेऽपि। विनाऽपि तद्योगं तृतीया। 'वृद्धो यूना' इत्यादिनिर्देशात्।

सह के अर्थ से युक्त अप्रधान में तृतीया होती है।

पुत्रेण सहागतः पिता—(पुत्र के साथ पिता आया) यहाँ पर पुत्र शब्द से तृतीया होती है । इसी प्रकार **साकं सार्धं समं** के योग में भी तृतीया होती है । **सह** इत्यादि के योग के बिना भी तृतीया हो जाती है । पाणिनि के '**वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदविशेषः**' इत्यादि के निर्देश से ।.

व्याख्या—सहयुक्ते, अप्रधाने ये दो पद हैं । कर्तृकरणयोस्तृतीया से 'तृतीया' की अनुवृत्ति आती है । 'सहयुक्ते' का अर्थ **सह** के अर्थ में आने वाले **साकम् सार्धं** इत्यादि भी है । क्योंकि 'पृथग्विनानानाभिः' के समान 'सहेन' इतना पढ़ने पर भी 'सह के योग से अप्रधान में तृतीया हो' यह अर्थ प्राप्त हो जाता । युक्तग्रहण की सामर्थ्य से सहार्थक शब्दों-**साकम् समम्** इत्यादि के योग में भी यह सूत्र तृतीया करता है ।

सूत्रार्थ—सह एवं सहार्थक शब्दों के योग में अप्रधान में तृतीया होती है ।

पुत्रेण सहागतः पिता—(पुत्र के साथ पिता आया) यहाँ आगतः इस क्रिया के साथ पिता का सम्बन्ध प्रधान है और पुत्र का 'आगतः' क्रिया में सम्बन्ध 'साथ आने से गम्य होने के कारण' अप्रधान है । अतः **सहयुक्तेऽप्रधाने** से अप्रधान पुत्र से तृतीया होती है ।

विनापि तद्योगे—सह आदि शब्दों के योग के बिना भी सह-आदि के अर्थ की प्रतीति होने पर तृतीया हो जाती है। इसमें पाणिनि का '**वृद्धोयूना तल्लक्षणश्चेदविशेषः**' यह सूत्र प्रमाण है । यहाँ पर 'यूना' में 'सह' शब्द के प्रयोग के बिना ही पाणिनि ने **सह** अर्थ की प्रतीति में 'तृतीया' का विधान किया है । अतः ऐसे स्थलों पर '**सह**' का अध्याहार किया जाता है ।

---

34. येनाङ्गविकारः 2/3/20 ।। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततः तृतीया स्यात् ।।

अक्ष्णा काणः । अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्टः इत्यर्थः । अङ्गविकारः किम् ? अक्षि काणमस्य।

जिस अङ्ग के विकारयुक्त होने से अङ्गी (व्यक्ति) का विकार दिखाई दे, उस अङ्ग से तृतीया होती है ।

अक्ष्णा काणः—(आँख से काना) यहाँ पर अक्षि से तृतीया होती है । 'अक्षि सम्बन्धी काणत्वविकार से युक्त है' यह अर्थ है । सूत्र में '**अङ्ग-विकारः**' का क्या प्रयोजन है—**अक्षि काणयस्य**—इसमें अक्षि में तृतीया रोकना ही प्रयोजन है ।

व्याख्या—येन अङ्गविकारः ये दो पद हैं । **कर्तृकरणयोस्तृतीया** से 'तृतीया' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गविकारः' इस पद में अङ्ग का अर्थ अङ्गी = 'शरीर' है । 'अङ्गानि सन्ति अस्य' = (अङ्ग हैं जिसके) इस अर्थ में **अर्श आदिभ्योऽच्** से अङ्ग से अच्-प्रत्यय होता है । अङ्गस्य = शरीरस्य, विकारः = अङ्गविकारः, (शरीर का विकार) षष्ठी तत्पुरुष है । 'येन' पद से प्रकृति का अर्थ 'अङ्ग' का बोध होता है क्योंकि अङ्ग के विकार के बिना अङ्गी विकृत नहीं होता है ।

सूत्रार्थ—'जिस अङ्ग के विकृत हो जाने से अङ्गी (शरीर) का विकार दिखाई दे उस अङ्ग से तृतीया-विभक्ति हो'।

अक्ष्णा काणः—(आँख से काना है, अर्थात् आँख सम्बन्धी काणत्व के विकार से युक्त है, यह अर्थ है) इस वाक्य में अङ्ग 'अक्षि' के विकृत होने से व्यक्ति का शरीर विकारयुक्त कहलाता है, अतः अङ्ग 'अक्षि' से **येनाङ्गविकारः** से तृतीया होती है ।

---

35. इत्थंभूतलक्षणे 2/3/21 ।।

कश्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात् । जटाभिस्तापसः । जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

36. संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि 2/3/22 ।।

सम्पूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात् । पित्रा पितरं वा सञ्जानीते ।।

---

35. किसी प्रकार-विशेष को (विशेष विधा को) प्राप्त किए हुए का लक्षण (ज्ञापक) वाचक से तृतीया होती है।

जटाभिस्तापसः—(जटाओं से तपस्वी ज्ञात होता है) यहाँ लक्षण 'जटा' से तृतीया होती है । जटाओं से बोध्य तापसत्वधर्म-युक्त, यह अर्थ है ।

36. सम्पूर्वक ज्ञा धातु के कर्म में विकल्प से तृतीया होती है ।

पित्रा पितरं वा सञ्जानीते (पिता को अच्छी तरह जानता है) यहाँ पर कर्म पितृ-पद से विकल्प से तृतीया होती है। पक्ष में 'पितरं' ही रहता है ।

व्याख्या—इत्थम्भूतलक्षणे—इस सूत्र में कर्तृकरणयोस्तृतीया से 'तृतीया' की अनुवृत्ति आती है। इत्थम्भूत—'अयं प्रकारः' इस अर्थ में इदम् से थम्-प्रत्यय कर इत्थम् बना । इत्थं = इमं प्रकारं, प्राप्तः इस अर्थ में भू-प्राप्तौ धातु से 'आधृषाद् वा' के नियम से णिच् के विकल्प पक्ष में 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादि सूत्र से कर्ता अर्थ में क्त-प्रत्यय कर **इत्थम्भूतः** बनता है । इसका अर्थ हुआ 'इस विधा को प्राप्त' । लक्षण का अर्थ है—ज्ञापक । इत्थम्भूतस्य लक्षणं, तस्मिन्, (प्रकार विशेष को प्राप्त किए का ज्ञापक अर्थ में) षष्ठीतत्पुरुष कर सप्तमी एकवचन में इत्थम्भूत-लक्षणे बना।

सूत्रार्थ—प्रकारविशेष को प्राप्त किए हुए के ज्ञापक में तृतीया विभक्ति होती है ।

जटाभिस्तापसः—(जटाओं से तपस्वी लगता है) इस उदाहरण में जटाओं से तपस्वी होना सूचित है । अर्थात् तपस्वित्व का ज्ञापक (लक्षण) जटा है । उससे तपस्वित्व इत्थम्भूत है । अतः 'जटा' शब्द से **इत्थम्भूतलक्षणे** से तृतीया होती है ।

---

37. हेतौ 2/3/23 ।।

हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणञ्च हेतुत्वम् । करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च । दण्डेन घटः । पुण्येन दृष्टो हरिः । फलमपीह हेतुः । अध्ययनेन वसति,

---

'हेतु' के अर्थ में तृतीया होती है । हेतु, द्रव्यादि = द्रव्य गुण एवं क्रिया का साधक, सव्यापार एवं व्यापार रहित भी होता है और जो क्रियामात्र का जनक और व्यापार = क्रिया की सिद्धि में सहायक होता है वह 'करण' होता है । जैसे (1) **दण्डेन घटः**- (घट का हेतु दण्ड है) यहाँ दण्ड द्रव्य है । (2) **पुण्येन दृष्टो हरिः**— (पुण्य के हेतु से हरि दिखा) यहाँ 'दृष्टः' क्रिया का हेतु पुण्य है। इसके

अलावा फल भी यहाँ हेतु माना जाता है । जैसे—**अध्ययनेन वसति**— (अध्ययनरूप फल के लिए रहता है) । यहाँ 'वसति' क्रिया का फल 'अध्ययन' हेतु है ।

NOTES

व्याख्या—हेतु-शब्द से सप्तमी एकवचन में 'हेतौ' बनता है । **कर्तृकरणयोस्तृतीया** से तृतीया की अनुवृत्ति आती है। हेतु-शब्द इस सूत्र में कारण का पर्यायवाची एवं लोकप्रसिद्ध अर्थ को देता है । तत्प्रयोजको हेतुश्च से जिसे हेतुसंज्ञा और चकारबल से कर्तृसंज्ञा होती है, वह हेतु कृत्रिम है । उसका ग्रहण इस सूत्र में नहीं है क्योंकि उस कृत्रिम हेतु को कर्तृसंज्ञा होने से कर्ता में 'कर्तृकरणयोः' से ही तृतीया-विभक्ति सिद्ध हो जाती है ।

क्रिया-हेतु का उदाहरण—**पुण्येन दृष्टो हरिः** (पुण्य के कारण हरि को देखा) यहाँ पर 'दृष्टः' क्रिया का हेतु 'पुण्य' है । यह पुण्य व्यापारहीन (निर्व्यापार) है क्योंकि यागादि के करने से जो अवान्तर फल मिलता है उसे अपूर्व अदृष्ट या पुण्य कहते हैं । यह पुण्य हरि-दर्शन का जनक होकर भी व्यापारवान् नहीं है । अतः यह प्रकृष्ट उपकारक कारक 'करण' नहीं है । दर्शन-क्रिया का हेतु ही है । हेतुभूत पुण्य से '**हेतौ**' सूत्र से तृतीया होती है ।

गुण के प्रति हेतु का उदाहरण—**पुण्येन सुन्दरः**—(पुण्य के कारण सुन्दर है) यहाँ पर सुन्दरत्व गुण है । सुन्दरता में कारण पुण्य है । यह पुण्य सुन्दरता की उत्पत्ति में प्रकृष्ट उपकारक कारक 'करण' नहीं है । क्योंकि पुण्य से सुन्दरता की उत्पत्ति नहीं है । पुण्य केवल उसमें हेतु है । अतः हेतौ से पुण्यशब्द में तृतीया होती है ।

फलमपीह हेतुः—

प्रश्न—'अध्ययेन वसति' (अध्ययन के लिए रहता है) इस वाक्य में गुरुकुलवास में अध्ययन निमित्त नहीं है, अपि तु अध्ययन वासक्रिया का साध्य = फल है, अतः इससे तृतीया कैसे हुई ?

उत्तर—इस सूत्र में फल का भी हेतु-शब्द से ग्रहण होता है । अतः हेतुरूप से फलवाचक का ग्रहण होने के कारण **अध्ययनेन** में तृतीया हो जाती है ।

वार्तिकम्—गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका ।। अलं श्रमेण ।

श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः । इह साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम् । शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः । शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः ।

वा. अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यें तृतीया ।। दास्या संयच्छते कामुकः । धर्म्ये तु-भार्यायै संयच्छति ।

वा. अर्थ से प्रतीत हो रही क्रिया भी कारक विभक्ति का साधक (प्रयोजक) होती है । जैसे—**अलं श्रमेण** = श्रम से साध्य नहीं है, यह वाक्यार्थ है । यहाँ पर साधन-क्रिया के प्रति श्रम करण है । अतः श्रम से करण में तृतीया होती है । **शतेन शतेनवत्सान् पाययति पयः**—सौ सौ में बाँटकर बछड़ों को दूध पिलाता है । यहाँ बाँटने की क्रिया का करण है 'शत' । अतः उससे तृतीया होती है ।

वा. अशिष्ट व्यवहार में दाण् धातु का प्रयोग होने पर चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है ।

दास्या संयच्छते कामुकः—(कामी पुरुष दासी को धन देता है) यहाँ पर धन देना अशिष्ट व्यवहार है । अतः चतुर्थी के अर्थ में दासी-शब्द से तृतीया-विभक्ति होती है । धर्मानुकूल-व्यवहार में

चतुर्थी ही होती है । अतः **भार्यायै संयच्छति** (पत्नी को धन देता है)-इस वाक्य में भार्या से सम्प्रदान में **चतुर्थी** हुई है ।

व्याख्या—'अलं श्रमेण' इत्यादि वाक्य में क्रिया का प्रयोग नहीं हुआ है, अतः श्रम-शब्द में करणत्व और हेतुत्व इन दोनों का अभाव होने से तृतीया विभक्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि—**गम्यमानापि क्रिया** इत्यादि । अर्थात्—

यदि वाक्य में क्रिया का शब्दतः प्रयोग नहीं किया गया हो, किन्तु वाक्यार्थ में उसकी प्रतीति हो रही हो तो वह प्रतीत हो रही (गम्यमाना) क्रिया भी कारक-विभक्ति का निमित्त (प्रयोजिका) बन जाती है । अर्थात् उसी क्रिया को निमित्त मानकर कारक विभक्तियाँ हो जाती हैं।

सारांश :

यह इकाई क्रमशः कर्ता, कर्म तथा करण कारक के प्रयोग के विभिन्न नियमों से आपको परिचित कराती है। आपने इस इकाई में सर्वप्रथम प्रथमा विभक्ति के प्रयोग के संदर्भ में प्रातिपदिकार्थ, लिंग, परिमाण एवं वचन (संख्या) का आशय समझा है। 'सम्बोधने च' सूत्र की व्याख्या द्वारा आपने सम्बोधन में भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग सीखा है। कर्ता कारक के प्रयोग के बाद कर्म कारक एवं द्वितीया विभक्ति के प्रयोग का अध्ययन भी आपने इस इकाई में किया है। कर्ता के इष्टतम कारक की ही कर्म संज्ञा होती है। कर्मसंज्ञक शब्दों में सदैव द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। 'कर्तुरीप्सिततमंकर्म' तथा 'कर्मणि द्वितीया' ये दोनों सूत्र कर्म कारक एवं द्वितीया विभक्ति के प्रयोग की सोदाहरण विशद व्याख्या करते हैं। इसी प्रकार 'साधकतमं करणम्' सूत्र की व्याख्या में आपने जाना कि क्रिया की सिद्धि में उपकारक (साधन भूत) कारक की 'करण' संज्ञा होती है, अर्थात् क्रिया को सफल बनाने में जो साधन या उपकरण सहायक हों वे करण-संज्ञक होते हैं और करण-संज्ञक शब्दों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है। कतिपय अन्य सूत्रों एवं उदाहरणों द्वारा आपने यह भी जाना है कि वैकल्पिक रूप से द्वितीया तथा तृतीया विभक्ति का प्रयोग कहाँ-कहाँ किया जाता है।

अभ्यास-प्रश्न :

1. प्रातिपदिकार्थ के विषय में विभिन्न पक्षों के मत स्पष्ट कीजिए।
2. 'सम्बोधने च' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
3. अधिकार-सूत्र 'कारके' की समुचित व्याख्या कीजिए।
4. 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
5. 'भक्षेरहिंसार्थस्य न' वार्तिक का आशय स्पष्ट कीजिए।
6. 'अन्तरान्तरेणयुक्ते' सूत्र पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
7. कर्मप्रवचनीय संज्ञा कहाँ-कहाँ होती है? स्पष्ट कीजिए।
8. 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र का सोदाहरण विवेचन कीजिए।
9. 'सहयुक्तेऽप्रधाने' तथा 'येनाङ्गविकारः' सूत्रों की व्याख्या कीजिए।
10. 'हेतु' के अर्थ में तृतीया क्यों होती है? 'हेतु' को सोदाहरण समझाइए।

NOTES

2 कारक एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- सम्प्रदान कारक (चतुर्थी विभक्ति) का विवेचन
- अपादान कारक (पंचमी विभक्ति) का विवेचन
- सम्बन्ध कारक (षष्ठी विभक्ति) का विवेचन
- अधिकरण कारक (सप्तमी विभक्ति) का विवेचन
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

यह इकाई भट्टोजिदीक्षित की 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' के 'कारक प्रकरण' के अंतर्गत सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध तथा अधिकरण कारक का विवेचन प्रस्तुत करती है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त छात्र :

- सम्प्रदान कारक के प्रयोग के विभिन्न नियमों से अवगत हो सकेंगे।
- चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग से सम्बन्धित सूत्रों से परिचित हो सकेंगे।
- अपादान कारक एवं पंचमी विभक्ति के प्रयोग के नियमों से अवगत हो सकेंगे।
- सम्बन्ध कारक एवं षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से सम्बन्धित सूत्रों की व्याख्या कर सकेंगे।
- अधिकरण कारक के प्रयोग से सम्बन्धित नियमों को समझ सकेंगे।
- सप्तमी विभक्ति-विधायक सूत्रों के विवेचन को समझ सकेंगे।

NOTES

प्रस्तावना :

किसी भी भाषा के ज्ञान हेतु उसके व्याकरण का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। व्याकरण ही भाषा के प्रवाह को गति देता है। व्याकरण ही भाषा में उत्पन्न होने वाले दोषों का निवारण करता है। भाषा की शुद्धता की रक्षा व्याकरण ही करता है। संस्कृत भाषा के व्याकरण की विशिष्टता एवं वैज्ञानिकता से सभी परिचित हैं। पाणिनि मुनि की 'अष्टाध्यायी' संस्कृत-व्याकरण की अनुपम कृति है, किन्तु इसकी जटिलता, विशालता एवं विषयों के क्रमबद्ध न होने के कारण इसके अध्येताओं को कुछ कठिनाइयों का अनुभव होता था। इन्हीं कठिनाइयों के निवारण हेतु भट्टोजिदीक्षित ने 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' की रचना की। इस कृति में भट्टोजिदीक्षित ने अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों को प्रकरणों के अनुसार क्रमबद्ध किया है। उन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों की सरल व्याख्या की है।

यह इकाई 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' के 'कारक प्रकरण' के अन्तर्गत सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध एवं अधिकरण कारकों के प्रयोग से सम्बन्धित सूत्रों की व्याख्या उदाहरणों सहित प्रस्तुत करती है। चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति के प्रयोग से सम्बन्धित सभी नियमों, उपनियमों तथा विकल्पों का सरल एवं सुबोध विवेचन इस प्रकरण में प्रस्तुत किया गया है। उपपद विभक्तियों का प्रयोग भी इस प्रकरण में विभिन्न उदाहरणों के साथ समझाया गया है। किस धातु के साथ आने पर किस शब्द के साथ कौन-सी विभक्ति का प्रयोग करना चाहिए, यह सब सम्बन्धित सूत्रों के उल्लेख सहित विभिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी : अथ कारकप्रकरणम् (2)

38. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् 1/4/32 ।।

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ।

39. चतुर्थी सम्प्रदाने 2/3/13 ।।

विप्राय गां ददाति । अनभिहित इत्येव । दीयते अस्मै दानीयो विप्रः

38. दान के कर्म के द्वारा जिसे भोक्ता बनाया जाये वह कारक सम्प्रदानसंज्ञक होता है ।

39. सम्प्रदान में चतुर्थी होती है ।

विप्राय गां ददाति—(ब्राह्मण को गाय देता है) यहाँ पर विप्र को सम्प्रदान-संज्ञा होती है, तथा विप्र से चतुर्थी सम्प्रदाने से चतुर्थी विभक्ति होती है । यह चतुर्थी अनुक्त सम्प्रदान में होती है । **'दीयते अस्मै दानीयो विप्रः'** में सम्प्रदान का अर्थ 'अनीयर्'-प्रत्यय से उक्त है, अतः चतुर्थी नहीं हुई ।

व्याख्या—तृतीया के बाद चतुर्थी-विभक्ति का विवेचन किया जा रहा है । **कर्मणा यम् अभिप्रैति सः सम्प्रदानम्,** यह पदच्छेद है । 'कारके' का अधिकार है । वह 'कारकम्' इस प्रथमान्तपद में

NOTES

परिवर्तित होता है । अभिप्रैति क्रिया है, इसका अर्थ है—शेषित्व = भोक्ता के रूप में चाहता है । अभि + प्र + इण् धातु से लट्-प्रथम पुरुष एकवचन में **अभिप्रैति** बनता है । अभि का अर्थ **सम्मुख**, एवं प्र उपसर्ग का **प्रकर्ष** अर्थ है ।

'कर्ता प्रकर्षरूप में किसी के सम्मुख जाता है' यह अभिप्रैति-पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है । कर्ता को दान क्रिया की सिद्धि के लिए किसी न किसी के सम्मुख जाना पड़ता है । **'(कर्ता) कर्मणा यम् अभिप्रैति स सम्प्रदानम्' यह अन्वय है** । कर्ता कर्म के द्वारा जिसे भोक्ता के रूप में चाहता है वह सम्प्रदान है, इस वाक्यार्थ में किसकी क्रिया के कर्म के द्वारा चाहता है ? इसकी आकाङ्क्षा होने पर **'दानस्य' = दान क्रिया के कर्म द्वारा,** यह अर्थ प्रतीत होता है । वस्तुतः सम्प्रदानसंज्ञा अन्वर्थसंज्ञा (अर्थ का अनुसरण करने वाली संज्ञा) है । **सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्** = जिसको कुछ सम्यक् दे दिया जाये वह, पदार्थ या व्यक्ति सम्प्रदान है । सम्प्रदान में सम् + प्र + दा धातु है । इसलिए भी 'दानस्य' यह अर्थ प्राप्त होता है । इस तरह सूत्रार्थ हुआ-कर्ता दानक्रिया के कर्म के द्वारा जिसको भोक्ता के रूप में चाहता है वह सम्प्रदान कारक है या दानक्रिया की सिद्धि के लिए जिसके सम्मुख प्रकर्ष रूप से जाता है, वह सम्प्रदान कारक है । देय-द्रव्य का उद्देश्यभूत कारक सम्प्रदानसंज्ञक है, यह निष्कर्ष हुआ ।

चतुर्थी सम्प्रदाने—अनभिहिते का अधिकार आता है ।

सूत्रार्थ—अनभिहित = अनुक्त, सम्प्रदान कारक में चतुर्थी-विभक्ति होती है ।

नृपः विप्राय गां ददाति—(राजा ब्राह्मण को गाय देता है) इस वाक्य में कर्ता राजा दान-क्रिया के कर्म गो के द्वारा विप्र को सन्तुष्ट करता है, तथा गाय पर अपना अधिकार छोड़कर ब्राह्मण का अधिकार स्थापित करता है । अतः विप्र (ब्राह्मण) को **'कर्मणा' यमभिप्रैति स सम्प्रदानं'** से सम्प्रदान संज्ञा होती है, तथा **चतुर्थी सम्प्रदाने** से विप्र से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः—(दान का उद्देश्य विप्र) यहाँ पर **'कृत्यल्युटो बहुलं'** से सम्प्रदान अर्थ में अनीयर्-प्रत्यय कर **दानीयः** बनता है । इस प्रत्यय के द्वारा सम्प्रदान कारक 'विप्र' उक्त हो गया, अतः उससे चतुर्थी नहीं हुई क्योंकि अनुक्त-सम्प्रदान में ही चतुर्थी होती है ।

वा. क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् । पत्ये शेते ।
वा. यजेः कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा ।।
पशुना रुद्रं यजते । पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः ।

वा. (कर्ता) क्रिया के द्वारा जिससे सम्बन्ध स्थापित करे वह भी सम्प्रदानसंज्ञक होता है ।

पत्ये शेते—(पति के लिए सोती है) शयनक्रिया द्वारा पति से सम्बन्ध स्थापित हो रहा है, अतः पति को सम्प्रदानसंज्ञा होती है । **वा.** एक ही वाक्य में यज् धातु के योग में यज् के कर्म को करणसंज्ञा एवं सम्प्रदान को कर्मसंज्ञा होती है ।

पशुना रुद्रं यजते—(रुद्र के लिए पशु को देता है) यहाँ पर सम्प्रदान रुद्र को कर्मसंज्ञा व कर्म 'पशु' को करणसंज्ञा होती है, तथा **कर्मणि द्वितीया** एवं **'कर्तृकरणयोः'** से रुद्र से द्वितीया एवं पशु से तृतीया होती है ।

व्याख्या—'कर्मणा यमभिप्रैति' सूत्र से दानक्रिया के कर्म का उद्देश्य सम्प्रदानसंज्ञक होता है । **पत्ये शेते** इत्यादि अकर्मक-धातुओं के स्थल में पति शयन-क्रिया का उद्देश्य है, अतः सम्प्रदान-संज्ञा प्राप्त नहीं है। इसके संग्रह के लिए '**क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम्**' यह वार्तिक किया गया है । उसी का अर्थ रूप में संग्रह कर '**क्रियेयायमभिप्रैति सोऽपिसम्प्रदानम्**' यह लिखा है । अर्थात् क्रिया के द्वारा जिससे सम्बन्ध इष्ट हो वह भी सम्प्रदान-संज्ञक है । क्रिया का उद्देश्यभूत कारक भी सम्प्रदान होता है, यह सारांश है । जैसे —

---

40. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः 1/4/33 ।।

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात् ।

हरये रोचते भक्तिः । अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः । हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री । प्रीयमाणः किम् ? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि ।

रुचि अर्थवाले धातुओं के प्रयोग में प्रीयमाण (प्रसन्न होने वाला) को सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

हरये रोचते भक्तिः—(हरि को भक्ति अच्छी लगती है) इस वाक्य में रुच् धातु के प्रयोग में प्रीयमाण हरि को सम्प्रदानसंज्ञा होती है, तथा **चतुर्थी सम्प्रदाने** से हरि से चतुर्थी होती है । अन्यकर्तृक = दूसरे कर्ता के द्वारा उत्पन्न किया गया अभिलाष 'रुचि' कहलाता है । '**हरये रोचते भक्तिः**' इस प्रयोग में भक्ति ने हरि के मन में स्वविषयक इच्छा उत्पन्न की है, और भक्ति से हरि प्रसन्न हो रहे हैं । अतः हरि में रहने वाली प्रीति का कर्ता भक्ति है और प्रीयमाण हरि है ।

यदि सूत्र में '**प्रीयमाणः**' पद न कहें तब '**देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि**' इस वाक्य में 'पथ' के प्रीयमाण नहीं रहने पर भी उसे सम्प्रदानसंज्ञा हो जायेगी ।

व्याख्या—रुच्यर्थानाम् प्रीयमाणः ये दो पद हैं । '**कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानं**' से 'सम्प्रदानं' की अनुवृत्ति आती है । 'कारके' का अधिकार है । रुच्यर्थानाम्— रुचिः अर्थः येषां, ते रुच्यर्थाः तेषाम्—(बहुब्रीहि-समास) रुचि है अर्थ जिन धातुओं के वे, उनको (रुचि अर्थ वालों के) । **प्रीयमाणः**— प्रीञ् तर्पणे से कर्मवाच्य में शानच्-प्रत्यय कर प्रीयमाणः बनता है। जिसका अर्थ है— प्रसन्न हो रहा, तृप्त हो रहा व्यक्ति, पदार्थ । समवायसम्बन्ध से प्रीति का आश्रय पदार्थ प्रीयमाण है। रुच्-धातु दीप्ति एवं अभिप्रीति अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ पर 'दीप्ति' अर्थ का ग्रहण नहीं होता है क्योंकि '**प्रीयमाण**' के साथ इस अर्थ का विरोध होता है । अतः यह यहाँ अभिप्रीति अर्थ का वाचक है । रुच्यर्थानाम् का सारार्थ है— 'प्रीतिजनक अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में' ।

सूत्रार्थ—रुचि = प्रीति, अर्थवाले धातुओं के प्रयोग में **प्रीयमाण** = प्रीति के आश्रय (प्रसन्न या सन्तुष्ट हो रहे व्यक्ति) कारक को सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

हरये रोचते भक्तिः—(हरि को भक्ति अच्छी लगती है) यहाँ पर रुच्-धातु का प्रयोग है । कर्ता भक्ति है । भक्ति से हरि प्रसन्न हो रहे हैं । अतः प्रीयमाण हरि है । '**रुच्यर्थानां प्रीयमाणः**' से प्रीयमाण 'हरि' को सम्प्रदानसंज्ञा होती है, तथा चतुर्थी सम्प्रदाने से 'हरि' से चतुर्थी होती है । (भक्ति स्वविषयक प्रीति को हरि में उत्पन्न करती है यह वाक्यार्थ है ।) यहाँ पर भक्तिनिष्ठ-व्यापार से उत्पन्न

प्रीति का आश्रय होने से 'हरि' को '**कर्तुरीप्सिततमं कर्म** से कर्मसंज्ञा प्राप्त थी, उसको अपवादत्वात् बाधकर '**रुच्यर्थानां**' से सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

41. श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः 1/4/34 ।।

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात् ।।

गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा ।

ज्ञीप्स्यमानः किम्—देवदत्ताय श्लाघते पथि ।

श्लाघ ह्नुङ् स्था एवं शप् धातुओं के प्रयोग में ज्ञीप्स्यमान की (जिसे अपना आशय समझाना अभीष्ट है, उसकी) सम्प्रदानसंज्ञा होती है । **गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा**—इस वाक्य में इन धातुओं के प्रयोग में कृष्ण को सम्प्रदानसंज्ञा की जाती है और '**सम्प्रदाने चतुर्थी**' से चतुर्थी होती है ।

ज्ञीपस्यमानः किम्— सूत्र में 'ज्ञीप्स्यमानः' पद न रखें तो क्या होगा ? '**देवदत्तस्य श्लाघते पथि**' इस वाक्य में पथिन् को भी सम्प्रदानसंज्ञा हो जाएगी और उससे चतुर्थी होने लगेगी ।

व्याख्या—श्लाघ कत्थने, ह्नुङ् अपनयने, स्था गतिनिवृत्तौ और शप् उपालम्भे, इन धातुओं का द्वन्द्व-समास कर षष्ठी-बहुवचन में '**श्लाघह्नुङ्स्थाशपां**' बनता है । श्लाघ-धातु प्रशंसा अर्थ में है, ह्नुङ् का अर्थ छिपाना है । स्था का अर्थ गति-निवृत्ति (स्थिर होना) है, एवं शप् का अर्थ 'शपथ लेना' उपालम्भ देना है । 'सम्प्रदानम्' की अनुवृत्ति आती है । कारके का अधिकार है । 'प्रयोगे' पद का अध्यहार किया जाता है । **ज्ञीप्स्यमानः**— ज्ञापनार्थक ज्ञप् धातु से सन् कर ज्ञीप्स बनता है । '**ज्ञीप्स**' धातु से कर्मवाच्य में शानच्-प्रत्यय कर 'ज्ञीप्स्यमानः' बनता है इसका अर्थ है—बोधयितुम् इष्टः । स्तुति इत्यादि द्वारा जिसे समझाना इष्ट हो वह '**ज्ञीप्स्यमान**' हुआ ।

सूत्रार्थ—श्लाघ इत्यादि धातुओं का प्रयोग होने पर, प्रशंसा, छिपाना, ठहराना और उपालम्भ देना इत्यादि के द्वारा जिसे समझाना इष्ट हो उस कारक को सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

42. धारेरुत्तमर्णः 1/4/35 ।।

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात् भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः । उत्तमर्णः किम्—देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे ।

ण्यन्त धारि-धातु के प्रयोग में उत्तमर्ण (ऋणदाता) की सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः—(भक्त के लिए हरि मोक्ष को धारण करते हैं) इस वाक्य में उत्तमर्ण भक्त को सम्प्रदानसंज्ञा होती है और **चतुर्थी सम्प्रदाने** से भक्त से चतुर्थी विभक्ति आती है ।

उत्तमर्ण नहीं कहें तो क्या होगा ? यदि सूत्र में '**उत्तमर्ण**' नहीं कहेंगे तब धारि-धातु के प्रयोग में ग्राम को भी सम्प्रदानसंज्ञा हो जायेगी ।

व्याख्या—'धारेः उत्तमर्णः' ये दो पद हैं । **कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानं** से 'सम्प्रदानं' पद की अनुवृत्ति आती है। 'कारके' का अधिकार है । धृङ् अवस्थाने से णिच्-प्रत्यय कर धारि का षष्ठी एकवचन में 'धारेः' बनता है । **उत्तमर्णः**—प्रतिमासम् अशीतिभागादि वृद्ध्या उत्तमम् = अधिकतां, प्राप्तम् ऋणम् यस्य स उत्तमर्णः— प्रतिमास अस्सी प्रतिशत की वृद्धि के द्वारा अधिकता को प्राप्त है ऋण जिसका, वह उत्तमर्ण है । किसी के द्रव्य को निर्धारित समय में वापस करने की बुद्धि से यदि लिया जाता है तो वह 'ऋण' कहलाता है । ऋण लेने वाला **अधमर्ण** कहलाता है । ऋण देने वाला धन का स्वामी '**उत्तमर्ण**' कहलाता है ।

सूत्रार्थ—ण्यन्त धृ-धातु का प्रयोग होने पर उत्तमर्ण = ऋणदाता, कारक होते हुए सम्प्रदानसंज्ञा को प्राप्त करता है ।

---

43. स्पृहेरीप्सितः 1/4/36 ।।

स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात् ।। पुष्पेभ्यः स्पृहयति । ईप्सितः किम्-पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति । ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायान्तु परत्वात् कर्मसंज्ञा । पुष्पाणि स्पृहयति ।

स्पृह्-धातु के प्रयोग में ईप्सित (इष्ट वस्तु) को सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

पुष्पेभ्यः स्पृहयति—(पुष्पों को चाहता है) इस वाक्य में इष्ट-पुष्प को सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

ईप्सितः किम्—सूत्र में 'ईप्सित' क्यों कहते हैं ? 'ईप्सितः' नहीं कहने पर '**वने पुष्पेभ्यः स्पृहयति**' इस वाक्य में वन को भी सम्प्रदानसंज्ञा हो जाएगी ।

इस सूत्र से ईप्सितमात्र को सम्प्रदानसंज्ञा होती है । प्रकर्षविवक्षा में = ईप्सिततम की विवक्षा में परत्वात् कर्मसंज्ञा होती है ।

पुष्पाणि स्पृहयति—(फूलों को अतिशय चाहता है) यहाँ पर अतिशत इच्छा (ईप्सिततम) अर्थ में पुष्प को '**कुर्तरीप्सिततमं कर्म**' से कर्मसंज्ञा होती है ।

व्याख्या—'स्पृहेः ईप्सितः' ये दो पद हैं । 'सम्प्रदानं' की अनुवृत्ति आती है । कारके का अधिकार है । स्पृह ईप्सायाम् (अदन्त चुरादिगणस्थ) धातु से स्वार्थ में णिच्-प्रत्यय कर स्पृहि के षष्ठी एकवचन में 'स्पृहेः' रूप है । इसके अनन्तर 'प्रयोगे' का अध्याहार किया जाता है । ईप्सितः—आप्-धातु से सन्-प्रत्यय कर ईप्स बनता है । ईप्स से वर्तमान में क्त-प्रत्यय कर **ईप्सितः** बनता है ।

सूत्रार्थः—स्पृह् धातु के प्रयोग में ईप्सित (चाही जा रही) वस्तु को सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

---

44. क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः 1/4/37 ।।

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात् ।। हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रति कोपः किम्—भार्यामीर्ष्यति। मैनामन्योऽद्राक्षीदिति । क्रोधोऽमर्षः । द्रोहोऽपकारः । ईर्ष्या अक्षमा । असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रुहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते । अतो विशेषणं सामान्येन 'यं प्रति कोपः' इति ।

NOTES

क्रुध् द्रुह् ईर्ष्य एवं असूय् धातुओं तथा इनके समानार्थक धातुओं के प्रयोग में जिसके प्रति कोप किया जाये उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

हरये क्रुध्यति इत्यादि वाक्यों में हरि की सम्प्रदानसंज्ञा होती है । **'यं प्रति कोपः'** यह पद न रखें तो 'भार्यामीर्ष्यति' में ईर्ष्य के प्रयोग में भार्या को सम्प्रदानसंज्ञा हो जाएगी । यहाँ पर भार्या के प्रति कोप नहीं है । अपि तु यह ईर्ष्या है कि 'कोई इसे देखे नहीं' । क्रोध अमर्ष को कहते हैं । द्रोह अपकार को कहते हैं । ईर्ष्या का अर्थ 'अक्षमा' है । गुणों में दोष ढूँढना असूया है । द्रोह आदि भी कोप से उत्पन्न होते हैं, और उन्हीं का ग्रहण होता है। अतः **'यं प्रति कोपः'** यह सामान्यरूप से विशेषण है ।

व्याख्या—'क्रुधश्च द्रुहश्च ईर्ष्यश्च असूयश्च' इस विग्रह में द्वन्द्व-समास कर **'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाः'** बनता है । तेषामर्थाः, इस विग्रह में षष्ठी-तत्पुरुष कर 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः' बनता है । 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः एव अर्थाः येषाम्' इस विग्रह में बहुव्रीहि-समास होता है । 'सम्प्रदानम्' की अनुवृत्ति आती है प्रयोगे पद का अध्याहार किया जाता है। **यं प्रति कोपः** (जिस पर कोप हो) यह सभी का सामान्यरूप से विशेषण है और **कारके** का अधिकार है । क्रुध् धातु क्रोध अर्थ में है । क्रोध का अर्थ अमर्ष, अर्थात् असहनशीलता है । द्रुह्-धातु का अर्थ अपकार, अर्थात् किसी का अनिष्ट करना है । ईर्ष्या का अर्थ अक्षमा, अर्थात् सहन न करना है। असूय का अर्थ दूसरे के गुणों में दोष का अन्वेषण करना है । इस तरह सूत्रार्थ होता है—क्रोध द्रोह ईर्ष्या एवं असूया अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में जिस पर कोप किया जाये उस कारक को सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

---

45. क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म 1/4/38 ।।

सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपः तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । क्रूरमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति वा ।

46. राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः 1/4/39 ।।

एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात्, यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते ।

कृष्णाय राध्यति, ईक्षते वा । पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः ।

उपसर्ग युक्त क्रुध् एवं द्रुह् धातु का प्रयोग होने पर जिसके प्रति कोप किया जाये उस कारक को कर्मसंज्ञा होती है ।

क्रूरमभिक्रुध्यति—अभिद्रुह्यति वा—(क्रूर के प्रति क्रोध करता है, या द्रोह करता है) इस वाक्य में 'क्रूर' को कर्मसंज्ञा होती है । कर्म में द्वितीया होती है ।

राध् एवं ईक्ष् धातु के योग में जिसके विषय में विविध प्रश्न पूछा जाता है, उस कारक को 'सम्प्रदानसंज्ञा' होती है ।

कृष्णाय राध्यति, ईक्षते वा—(कृष्ण के विषय में पूछे गए प्रश्नों पर विचार करता है) इस प्रयोग में राध् ओर ईक्ष् धातु का प्रयोग होने के कारण कृष्ण को सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

कृष्ण के विषय में पूछे जाने पर गर्ग जी शुभाशुभ का पर्यालोचन (पूर्ण विचार) करते हैं, यह वाक्यार्थ है ।

व्याख्या—'क्रुधद्रुहोः उपसृष्टयोः कर्म' ये तीन पद हैं । 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' से यं प्रतिकोपः की अनुवृत्ति आती है । 'कारके' का अधिकार है । यह सूत्र '**क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां**' का अपवाद है ।

सूत्रार्थः—उपसर्गसहित क्रुध् एवं द्रुह् धातुओं के योग में जिसके प्रति कोप हो उस कारक को कर्मसंज्ञा होती है ।

---

47. प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता—1/4/40 ।।

आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनारूपस्य व्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात् । विप्राय गां प्रतिशृणोति, आशृणोति वा । विप्रेण मह्यं देहि, इति प्रवर्तितस्तत्प्रतिजानीते इत्यर्थः ।

प्रति अथवा आङ् से पर श्रु-धातु के योग में प्रेरणारूप पूर्व के व्यापार (क्रिया) के कर्ता की सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा—(विप्र को गाय देने की स्वीकृति देता है) । यहाँ पर विप्र को सम्प्रदानं संज्ञा कर उससे चतुर्थी विभक्ति आती है ।

विप्र के द्वारा ' 'मुझे गाय दो' इस प्रकार से प्रेरित किए जाने पर 'तुझे गाय देतां हूँ' इसकी स्वीकृति कर्ता देता है, यह अर्थ है ।

व्याख्या—'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' ये चार पद हैं । 'कारके' का अधिकार है तथा 'सम्प्रदानं' पद की अनुवृत्ति आती है । 'परस्य' का अध्याहार कर उसे **श्रुवः** का विशेषण बनाते हैं । प्रति और आङ् का द्वन्द्व-समास कर दिग्वाचक परस्य के योग में 'अन्यारादितरर्ते' से पञ्चमी-विभक्ति हुई है । द्विवचन का रूप है । 'श्रुवः' में श्रु श्रवणे धातु है । इसका अर्थ प्रेरणापूर्वक स्वीकार करना' है । **पूर्वस्य** का पूर्वपद पूर्व के व्यापार प्रेरणा = अनुनय, को बताता है । 'प्रत्याङ्भ्यां परस्य श्रुवः पूर्वस्य कर्ता कारकं सत् सम्प्रदानम्' इस प्रकार से अन्वय कर सूत्रार्थ होता है—प्रति तथा आ उपसर्ग से पर श्रु धातु का अर्थ प्रेरणा-रूप क्रिया का पूर्वकर्ता कारक सम्प्रदान होता है ।

---

48. अनुप्रतिगृणश्च—1/4/41 ।।

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणाति वा । होता प्रथमं शंसति, तमध्वर्युः प्रोत्साहयति इत्यर्थः ।

अनुपूर्वक गृ धातु तथा प्रतिपूर्वक गृ धातु के योग में पूर्वव्यापार के कर्तृभूत कारक को सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणाति वा—(होता को प्रोत्साहित करता है) इस वाक्य में पूर्व व्यापार के कर्ता होता को सम्प्रदानसंज्ञा कर 'होत्रे' बनता है । **होता** पहले (मन्त्र) बोलता है, '**अध्वर्यु** उसे मन्त्र बोलने के लिए प्रोत्साहित करता है' यह अर्थ है ।

व्याख्या—अनुप्रति गृणश्च ये दो पद हैं । '**अनुप्रति**' यह पञ्चम्यन्त पद है । पञ्चमी (भ्याम्) का लोप होने से यह लुप्तपञ्चम्यन्त पद है । प्रत्याङ्भ्यां से 'पूर्वस्य कर्ता' इन पदों की अनुवृत्ति आती है ।

सम्प्रदानम् की भी **अनुवृत्ति** आती है । 'कारके' का अधिकार है । **गृणश्च**—गृ शब्दे धातु से श्ना-प्रत्यय कर 'गृणः' यह षष्ठ्यन्त का अनुकरण है । गृ धातु यहाँ पर शंसितृकर्मक शंसनविषय—प्रोत्साहन अर्थ में है । (पूर्व में मन्त्र बोलने वाला कर्ता कर्म है जिस शंसन विषयक प्रोत्साहन का वह ।) इस तरह पूर्व के शंसनव्यापार के कर्ता को सम्प्रदानसंज्ञा करने के लिए यह सूत्र है । अनु और प्रति इन दोनों का गृ धातु से पृथक् पृथक् सम्बन्ध रहने पर यह सूत्र प्रवृत्त होगा, दोनों का एक साथ धातु के साथ सम्बन्ध रहने पर सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

सूत्रार्थ—अनुपूर्वक गृ धातु एवं प्रतिपूर्वक गृ धातु के योग में धात्वर्थ व्यापार के पूर्व कर्ता को सम्प्रदानसंज्ञा हो ।

---

49. परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् 1/4/44 ।।

नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं, तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात् ।

शतेन शताय वा परिक्रीतः ।

निश्चित समय तक वेतन देकर किसी को नौकर रखना 'परिक्रयण' कहलाता है । परिक्रयण अर्थ में साधकतम कारक की सम्प्रदानसंज्ञा होती है, विकल्प से ।

शतेन शताय वा परिक्रीतः—(सौ रुपये पर नौकर रखा है) यहाँ पर **शत** को सम्प्रदानसंज्ञा होने पर उससे चतुर्थी कर 'शताय' बनता है । विकल्प में **शत** साधकतम कारक है । अतः करणसंज्ञा कर तृतीया की जाती है । **शतेन भी** बनता है ।

व्याख्या—परिक्रयणे सम्प्रदानम् अन्यतरस्याम् ये तीन पद हैं । **'साधकतमं करणम्'** से साधकतमं पद की अनुवृत्ति आती है । कारके का अधिकार है ही । परिक्रयण— 'तुम्हें इतना वेतन दिया जाएगा, उसे स्वीकार करते हुए तुम इतने समय तक मेरा कर्मकर (काम करने वाला) बनो' इस कथन को सीमित समय के लिए पारिश्रमिक लेते हुए स्वीकार करना **'परिक्रयण'** कहलाता है । अन्यतरस्याम् का अर्थ 'विकल्प' होता है ।

सूत्रार्थ—नियत समय के लिए नौकरी स्वीकार करने में (परिक्रयण में)साधकतम कारक को विकल्प से सम्प्रदानसंज्ञा होती है ।

वा. तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या ।। मुक्तये हरिं भजति ।

वा. क्लृपि सम्पद्यमाने च ।। भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, सम्पद्यते, जायते इत्यादि ।

वा. उत्पातेन ज्ञापिते च ।। वाताय कपिला विद्युत् ।

वा; हितयोगे च ।। ब्राह्मणाय हितम् ।

वा. जिस प्रयोजन के लिए कोई क्रिया की जाए, उसमें चतुर्थी होती है । **'मुक्तये हरिं भजति'** में मुक्ति से चतुर्थी होती है ।

व्याख्या—तादर्थ्ये—तस्मै इदं तदर्थम्, **'अर्थेन नित्यसमासः'** से समास, (उसके लिए यह) । तदर्थस्य भावः इस विग्रह में **'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यश्च'** से ष्यञ् कर 'तादर्थ्यम्' बनता है ।

NOTES

सप्तमी-एकवचन का रूप है । तदर्थ का भाव तादर्थ्य है । तादर्थ्य का अर्थ यहाँ पर उपकार्य एवं उपकारकभाव रूप सम्बन्ध है । जिसमें उपकार्य से ही चतुर्थी होती है । भाष्य में **'चतुर्थी सम्प्रदाने'** सूत्र में यह वार्तिक पठित है । वहाँ पर यूपाय दारु, कुण्डलाय हिरण्यम् इत्यादि उदाहरण दिये गये हैं ।

मुक्तये हरिं भजति—मुक्ति के लिए हरि को भजता है । यहाँ पर भजनक्रिया का प्रयोजन है—मुक्ति । उससे **'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या'** से चतुर्थी होती है, मुक्ति ङे=मुक्तये बनता है ।

उपकार्यत्व के अनेक प्रकार हैं । जन्यत्व, प्राप्यत्व आदि भी उपकार्यत्व हैं । जैसे—'मुक्तये हरिं भजति' भजन से मुक्ति जन्य है या प्राप्य है, यह अर्थ निकलता है । 'ब्राह्मणाय दधि' इसमें ब्राह्मण उपकार्य है । सभी में **'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या'** से चतुर्थी होती है ।

प्रश्न—तादर्थ्य मानकर ही सर्वत्र चतुर्थी हो सकती है; चतुर्थी सम्प्रदाने एवं सम्प्रदानसंज्ञा के विधान की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—हरये रोचते भक्तिः इत्यादि में रुच्यर्थानां प्रीयमाणः इत्यादि के लिए **चतुर्थी सम्प्रदाने** की आवश्यकता है ।

क्लृपि सम्पद्यमाने—क्लृप्-धातु का प्रयोग होने पर समपद्यमान अर्थ में उत्पन्न होने वाले या परिणत होने वाले से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

वार्तिकार्थ—क्लृप् धातु या तदर्थक धातुओं का प्रयोग होने पर सम्पद्यमान अर्थ में (उत्पन्न होने वाला या परिणत होने वाला) विद्यमान से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते वा—(भक्ति से ज्ञान उत्पन्न होता है, या भक्ति ज्ञान के लिए परिणत होती है) इस वाक्य में क्लृप् एवं तदर्थक धातुओं का प्रयोग हुआ है । सम्पद्यमान अर्थ में विद्यमान 'ज्ञान' है, जो भक्ति से उत्पन्न अथवा परिणत हो रहा है । अतः **'क्लृपि सम्पद्यमाने च'** से ज्ञान से चतुर्थी विभक्ति आती है, **'ज्ञानाय'** बनता है ।

उत्पातेन ज्ञापिते च—उत्पात (अशुभसूचक आकस्मिक भूतविकार) से सूचित अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

वाताय कपिला विद्युत्—(भूरे रंग की बिजली वात (आँधी) की सूचक है ।) यहाँ पर 'कपिला विद्युत्' उत्पात है । उससे **वात** की सूचना प्राप्त होती है । अतः उत्पात से ज्ञापित 'वात' शब्द से **'उत्पातेन ज्ञापिते च'** वार्तिक से चतुर्थी-विभक्ति होती है ।

हितयोगे च—हित-शब्द के योग में भी जिसका हित होता है उससे चतुर्थी होती है । 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' से हित-शब्द के साथ चतुर्थ्यन्त पद का समास होना ही हित-शब्द के योग में चतुर्थी करने में प्रमाण है ।

ब्राह्मणाय हितम्—(ब्राह्मण के लिए हितकारी) इस उदाहरण में हित के योग में जिसका हित हो रहा है, वह ब्राह्मण है । अतः **'हितयोग च'** से **'ब्राह्मणाय'** में चतुर्थी होती है ।

50. क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः 2/3/14 ।।

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात् ।

फलेभ्यो याति । फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः । नमस्कुर्मो नृसिंहाय । नृसिंहमनुकूलयितुम् इत्यर्थः । एवं 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादावपि ।

क्रियार्थक क्रिया जिसका उपपद हो, उस तुमुन्-प्रत्ययान्त का प्रयोग न हुआ हो तो उस तुमुन्नन्त के कर्म में चतुर्थी-विभक्ति होती है।

फलेभ्यो याति—(फल लाने के लिए जाता है) । यहाँ पर 'लाने के लिए' इस तुमुन्-प्रत्ययान्त का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु उसका कर्म **फल** है । उस फल से चतुर्थी-विभक्ति होती है ।

नमस्कुर्मो नृसिंहाय—(नृसिंह को अनुकूल करने के लिए नमस्कार करता है) यहाँ पर 'अनुकूल करने के लिए' = **अनुकूलयितुम्** का कर्म नृसिंह है । उससे चतुर्थी होती है । इसी प्रकार '**स्वयम्भुवे नमस्कृत्य**' इत्यादि में भी समझना चाहिए ।

व्याख्या—'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इस सूत्र में चतुर्थी सम्प्रदाने से चतुर्थी की अनुवृत्ति आती है । **अनभिहिते** का अधिकार है । क्रिया अर्थः = प्रयोजनं यस्याः सा क्रियार्था—'क्रिया है अर्थ = प्रयोजन जिसकी वह क्रिया, 'क्रियार्था' होती है' । यह पद विशेषण है । इसका विशेष्य 'क्रिया' पद अध्याहार से प्राप्त होता है । उपपद का अर्थ है—'उप = समीप में, उच्चरित पद' (उपोच्चरितं पदम्) । क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य = क्रिया फलक क्रियावाची उपपद है जिसका) इस विग्रह में समास कर षष्ठी-एकवचन में **क्रियार्थोपपदस्य** बनता है । इस विग्रह में प्रयुक्त **यस्य** = (जिसका) का विशेष्य है— 'तुमुनन्नन्त' पद । 'स्थानिनः' पद तुमुन्नन्त (तुमुन्-प्रत्यय है, अन्त में जिसके वह) पद का विशेषण है, । स्थानी का अर्थ है—'अप्रयुज्यमान' (स्थानं =प्रसक्तिः अस्ति अस्य इतिस्थानी, तस्य = अप्रयुज्यमानस्येत्यर्थः) । इस अप्रयुज्यमान तुमुन्नन्त पद के कर्म में चतुर्थी हो, यह फलितार्थ है ।

सूत्रार्थ—क्रियाफलक क्रिया जिस तुमन्-प्रत्यायान्त पद का उपपद हो तथा तुमुन्-प्रत्ययान्त पद का प्रयोग न हुआ हो, किन्तु अप्रयुज्यमान तुमुन् प्रत्ययान्त के कर्म में चतुर्थी-विभक्ति होती है ।

यह चतुर्थी **कर्मणि द्वितीया** का अपवाद है । '**तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायां**' सूत्र से तुमुन्-विधान की महिमा से क्रियाफलक उपपद क्रियावाची ही होता है, यह अर्थ प्राप्त होता है ।

51. तुमर्थाच्च भाववचनात् 2/3/15 ।।

भाववचनाश्चेति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात् ।। यागाय याति । यष्टुं यातीत्यर्थः ।

भाववचनाश्च सूत्र से तुमुन्-प्रत्यय के अर्थ के समान अर्थ में विहित जो घञ्-आदि प्रत्यय, तदन्त शब्द से चतुर्थी होती है ।

यागाय याति—(याग के लिए जाता है) इसमें याग शब्द में तुमुन् के अर्थ के समान अर्थवाला घञ्-प्रत्यय है । अतः तदन्त = घञ्प्रत्ययान्त-याग से '**तुमर्थाच्च भाववचनात्**' से चतुर्थी होती है ।

व्याख्या—तुमर्थात् च भाववचनात् ये तीन पद हैं । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' की अनुवृत्ति आती है । 'चतुर्थी' की भी अनुवृत्ति आती है । तुमर्थात्—क्रियार्थक-क्रिया के उपपद होने पर भविष्यत् काल में तुमुन्-प्रत्यय होता है । उस तुमुन् के अर्थ के समान अर्थ है जिसका, उससे (तुमुनः अर्थ इव अर्थो यस्य, तस्मात् = तुमर्थात्) यह अर्थ 'तुमर्थात्' पद का है । यह **भाववचनात्** का विशेषण है । **भाववचनात्**—भावः = क्रिया, उच्यते अनेन इति वचनः । भावस्य वचनः भाव वचनः तस्मात् । भाव का अर्थ है क्रिया जिससे कहा जाय वह हुआ '**वचन**' । भाव का वचन = भाववचन, उससे । अर्थात् 'क्रियावाचक-प्रत्यय' से यह अर्थ हुआ । सूत्र में 'भाववचनात्' पद का अर्थ 'तुमर्थात्' पद से ही आ जाता, क्योंकि **अव्ययकृतो भावे** के नियम से तुमुन्-भाव में ही होता है । पुनः इस सूत्र में भाववचनात् पद की क्या जरूरत थी ? इस जिज्ञासा की शांति के लिए इस सूत्र में उक्त भाववचनात् पद की सामर्थ्य से '**भाववचनाश्च**' सूत्र का भी ग्रहण होता है । **भाववचनाश्च का अर्थ**—'भावे' इसका अधिकार कर जो घञ्-आदि प्रत्यय विहित हों, वे क्रियार्थक-क्रिया के उपपद होने पर भविष्यकाल में हों, यह है । इस अर्थ की प्राप्ति इस सूत्र में भी होती है । इस तरह सूत्रार्थ हुआ— तुमुन्-प्रत्यय के अर्थ के समान अर्थ वाले, भाववचनाश्च से विहित जो प्रत्यय, तदन्त-क्रियावाचक शब्द से क्रियार्थक क्रिया के उपपद होने पर चतुर्थी विभक्ति होती है ।

---

52. नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च 2/3/16 ।।

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः ।

परिभाषा—उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी ।।

नमस्करोति देवान् । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा ।

वा. अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् ।। तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः, शक्तः इत्यादि । प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः । तस्मै प्रभवति, 'स एषां ग्रामणीः' इति निर्देशात् । तेन 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम् । वषडिन्द्राय । चकारः पुनर्विधानार्थः । तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषि' इति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति । स्वस्ति गोभ्यो भूयात् ।

नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलं एवं वषट् के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

हरये नमः—नमः के योग में हरि से चतुर्थी कर हरये बनता है ।

परि.—उपपद विभक्ति से कारक-विभक्ति बलवती होती है ।

नमस्करोति देवान्—यहाँ पर नमः इस को लेकर **नमः स्वस्ति** से देव से चतुर्थी प्राप्त थी, और 'नमस्करोति' क्रिया पद के योग से **कर्मणि द्वितीया** प्राप्त थी, इस परिभाषा के नियम से चतुर्थी को बाधकर देव से द्वितीया विभक्ति आती है।

प्रजाभ्यः स्वस्ति, अग्नये स्वाहा, पितृभ्यः स्वधा इन तीनों उदाहरणों में स्वस्ति आदि के योग में प्रजा, अग्नि एवं पितृ-शब्द से चतुर्थी होती है ।

वा. इस सूत्र में 'अलम्' यह शब्द पर्याप्ति-अर्थ-बोधक है, तथा पर्याप्ति-अर्थवाचक अन्य शब्दों का भी ग्राहक है । इस कारण से दैत्येभ्यो **हरिः अलं, प्रभुः, समर्थः, शक्तः,** इन में से किसी का भी प्रयोग होने पर दैत्य से चतुर्थी होती है ।

प्रभु आदि के योग में षष्ठी भी ठीक (साधु) है । 'तस्मै प्रभवति' तथा 'स एषां ग्रामणीः' इन दोनों सूत्रों में पाणिनि ने चतुर्थी एवं षष्ठी दोनों का निर्देश किया है । इससे 'प्रभुः बुभूषुः भुवनत्रयस्य' में षष्ठी सिद्ध हुई ।

वषडिन्द्राय—इन्द्र से वषट् के योग में चतुर्थी होती है । सूत्र में पठित च-शब्द चतुर्थी के पुनः विधान के लिए है । अतः आशीर्वाद की विवक्षा में पर होने के कारण 'चतुर्थी चाशिषि' से प्राप्त षष्ठी को बाधकर चतुर्थी ही होती है । इसलिए **स्वस्ति गोभ्यो भूयात्**—यहाँ पर आशीर्वाद अर्थ में 'गो' से चतुर्थी होती है ।

व्याख्या—नमः (नमस्कार), **स्वस्ति** (कल्याण) **स्वाहा** (देव को उद्देश्य कर देना) **स्वधा** (पितरों को उद्देश्य कर देना) **अलम्** (पर्याप्त, समर्थ) **वषट्** (इन्द्र को उद्देश्य कर देना) इन अव्ययों का समास, अव्यय होने से विभक्ति का लुक् होता है । 'युज्यते' इस अर्थ में युज् से कर्म में घञ्-प्रत्यय कर **योगः** बनता है । सभी अव्ययों का योग के साथ समास कर पञ्चमी-एकवचन में योगात् बनता है । 'च'-शब्द चतुर्थी के पुनर्विधान के लिए है । अर्थात् आशीर्वाद अर्थ में **नमःस्वस्ति** सूत्र से पर सूत्र **'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्र कुशलसुखार्थहितैः'** से षष्ठी एवं चतुर्थी दोनों विकल्प से होते हैं परन्तु यहाँ पर च का पाठ कर नमःस्वस्ति आदि के योग में 'चतुर्थी ही हो' अन्य विभक्ति नहीं, यह पुनर्विधान (चतुर्थी का) है । यही पुनर्विधान परत्वात् प्राप्त-षष्ठी का बाध करता है । यही 'च' का अर्थ है । **'चतुर्थी सम्प्रदाने'** से चतुर्थी की अनुवृत्ति आती ही है ।

सूत्रार्थ—नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलं एवं वषट् से युक्त शब्दों से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

इस सूत्र को **तादर्थ्ये चतुर्थी से** गतार्थ नहीं मानना चाहिए । तादर्थ्य कहते हैं—**उपकार्योपकारकभाव** को । जब तादर्थ्य का सम्बन्ध के रूप में भान होता है तब षष्ठी होती है, और जब तादर्थ्य की शेषत्वरूप से विवक्षा होती है, तब तादर्थ्य में चतुर्थी षष्ठी को रोकने हेतु है । किन्तु **नमः स्वस्ति** इत्यादि के योग में तादर्थ्य की शेषत्व-रूप से विवक्षा होने पर भी 'चतुर्थी ही हो' इसलिए यह सूत्र है ।

कारक विभक्ति—क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध सूचित करने के लिए कारक से उत्पन्न हुई विभक्ति **कारक-विभक्ति** कहलाती है । क्रिया और कारक का सम्बन्ध अन्तरङ्ग होता है । अत एव उपपद-विभक्ति से कारकविभक्ति बलवती होती है । अन्य बात यह है कि कारकविभक्ति के द्वारा कर्मत्व आदि सम्बन्ध-विशेष का शीघ्र ही बोध हो जाता है । इसलिए भी यह उपपद-विभक्ति से बलवती है, और उपपद विभक्ति को बाधती है । उदाहरण—

नमस्करोति देवान्—(देवों को नमस्कार करता है) इस वाक्य में नमः इस पद के योग में देव से **'नमःस्वस्ति'** सूत्र से चतुर्थी प्राप्त हुई, और **नमस्करोति** इस क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से देव से कर्म में द्वितीया भी प्राप्त है । इस स्थिति में **'उपपद विभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी'** इस परिभाषा द्वारा कारकविभक्ति द्वितीया को बलवती बता दिए जाने के कारण चतुर्थी का **कर्मणि द्वितीया** से बाधा करके देव-शब्द से द्वितीया करके 'देवान्' बनता है ।

कर और शिर के संयोगादि द्वारा देवों को प्रसन्न करता है । (करशिरस्संयोगादिना तोषयतीत्यर्थ:), यह वाक्यार्थ है । **'नमस्कृ'** का अर्थ 'करशिरस्संयोग' मात्र करने पर यह अकर्मक हो जाता, अत: **'करशिरस्संयोगादिजन्यतोष'** अर्थ किया गया है ।

प्रजाभ्य: स्वस्ति—(प्रजाओं का कल्याण हो) यहाँ पर 'स्वस्ति' के योग में 'नम: स्वस्ति' से प्रजा से चतुर्थी होती है । **'प्रजासम्बन्धिकुशल या कल्याण'** यह वाक्यार्थ है ।

अग्नेय स्वाहा—(अग्नि को आहुति दी जाती है) यहाँ पर भी स्वाहा के योग में अग्नि से चतुर्थी होती है । **'अग्नि-उद्देश्यक द्रव्य-दान'** यह अर्थ है ।

पितृभ्य: स्वधा—(पितरों को कव्य दिया जाता है) पितृ-उद्देश्यक द्रव्यदान होता है, यह अर्थ है । यहाँ पर पितृ-शब्द से चतुर्थी होती है।

अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्—'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' के नियम से **'नम: स्वस्ति'** इस सूत्र-पठित अलं शब्द का ही यदि ग्रहण किया जाये तब **'कुमारीणाम् अलङ्कार:'** इस प्रयोग में कुमारी से चतुर्थी होने लगेगी, एवं दैत्येभ्यो हरि: प्रभु: समर्थ: इत्यादि में चतुर्थी नहीं हो सकेगी । अत एव यह वार्तिक किया गया है । यद्यपि 'अलं' अव्यय के भूषण वारण, पर्याप्ति आदि अनेक अर्थ हैं, फिर भी इस सूत्र में—**'अलं' यह पद पर्याप्ति-मात्र अर्थ का वाचक है ।**

---

53. मन्येकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु 2/3/17 ।।

प्राणिवर्जे मन्यते: कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे ।

न त्वां तृणं मन्ये, तृणाय वा, श्यना निर्देशात्तनादिकयोगे न । न त्वां तृणं मन्वे ।

वा. अप्राणिष्वित्यपनीय नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम् ।। तेन 'न त्वां नावम् अन्नं वा मन्ये' इत्यत्र अप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न । 'न त्वां शुने मन्ये' इत्यत्र च प्राणित्वेऽपि भवत्येव ।

अनादर अर्थ के गम्यमान होने पर दिवादिगण पठित मन् धातु के प्राणिभिन्न कर्म में विकल्प से चतुर्थी होती है । **न त्वा तृणं मन्ये, तृणाय वा**-(मैं तुझे तिनका भी नहीं समझता) इस वाक्य में तृण से चतुर्थी करने पर 'तृणाय', पक्ष में द्वितीया करने पर **'तृणं'** बनता है ।

श्यन् के द्वारा मन्य का निर्देश होने के कारण तनादिगणीय-धातु के योग में चतुर्थी नहीं होती है । अत: **'न त्वां तृणं मन्वे'** इस प्रयोग में तृण से चतुर्थी नहीं होती है ।

वा. 'मन्यकर्मणि' इस सूत्र से 'अप्राणिषु' इस पद को हटाकर नौ काक अन्न शुक शृंगाल-शब्दों से भिन्न में चतुर्थी होती है, तिरस्कार अर्थ में, ऐसा कहना चाहिए ।

अत: 'न त्वां नावम् अन्नं वा मन्ये' यहाँ पर प्राणिभिन्न का प्रयोग होने पर भी वार्तिक के कारण चतुर्थी नहीं होती है और 'न त्वा शुने मन्ये' यहाँ पर प्राणी के होने पर भी चतुर्थी होती ही है ।

व्याख्या—'मन्यकर्मणि अनादरे विभाषा अप्राणिषु' यह पदच्छेद है । इस सूत्र में चतुर्थी सम्प्रदाने से चतुर्थी की अनुवृत्ति आती है । **'अनभिहिते'** का अधिकार है । **मन्यकर्मणि**—मन् धातु के कर्म में

(मन्यस्य कर्म, तस्मिन्) यह अर्थ है । मन्य में श्यन्-प्रत्यय का निर्देश किया गया है । अतः दिवादिगण-पठित 'मन ज्ञाने' का यहाँ पर ग्रहण होता है । तनादि-गण में पठित 'मनु अवबोधने' का ग्रहण नहीं होता है । अनादरे = तिरस्कार अर्थ में । अप्राणिषु = प्राणियों से भिन्न में यह पद मन्यकर्मणि के साथ अन्वित होता है ।

सूत्रार्थः—प्राणियों से भिन्न मन्य-धातु के अनभिहित कर्म में विकल्प से चतुर्थी होती है, अनादर अर्थ की प्रतीति होने पर ।

वार्तिक का फल

न त्वां नावम् अन्नं वा मन्ये—पुरानी नाव के लिए एवं कुत्सित अन्न के लिए इस वाक्य का प्रयोग हुआ है । 'तुम्हें नाव नहीं मानता', 'तुम्हें अन्न नहीं मानता' । यहाँ पर तिरस्कार अर्थ की प्रतीति हो रही है तथा नौ व अन्न अप्राणी भी हैं, फिर भी इस वार्तिक के कारण यहाँ चतुर्थी नहीं हुई है, द्वितीया ही हुई है ।

न त्वां शुने मन्ये—(तुम्हें कुत्ता भी नहीं मानता हूँ) इस वाक्य में भी तिरस्कार अर्थ प्रतीत हो रहा है, तथा तिरस्कार का कर्म श्वा है, जो प्राणी है, फिर भी इस वार्तिक के कारण यहाँ पर चतुर्थी हो जाती है ।

इसी प्रकार 'न त्वां काकं मन्ये', न त्वां शुकं मन्ये, न त्वां शृगालं मन्ये, इन उदाहरणों में वार्तिक के कारण चतुर्थी नहीं होकर '**कर्मणि द्वितीया**' से द्वितीया ही होती है ।

---

54. गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि 2/3/12 ।।

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मण्येते स्तश्चेष्टायाम् । ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति । चेष्टायां किम् ? मनसा हरिं व्रजति । अनध्वनि किम् ? पन्थानं गच्छति । गन्त्राधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः । यदा तूत्पथात् पन्था एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव । उत्पथेन पथे गच्छति ।

गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी दोनों होती हैं, यदि गति में शारीरिक चेष्टा हो और गत्यर्थक धातुओं का कर्म अध्वा = मार्गवाची न हो तब ।

ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति—यहाँ पर गत्यर्थक गम्-धातु का कर्म ग्राम है, उससे द्वितीया और चतुर्थी क्रमशः होती है।

सूत्र में 'चेष्टायां' यह पद न रखें तो **मनसा हरिं व्रजति** इस प्रयोग में शारीरिक-स्पन्द के अभाव में भी चतुर्थी हो जायेगी । '**अनध्वनि**' यह पद न रखें तब '**पन्थानं गच्छति**' इस प्रयोग में पथिन् से भी चतुर्थी हो जाएगी । गन्ता से अधिष्ठित मार्ग से कर्म में ही यह निषेध है, अर्थात् मार्ग पर चलने के अर्थ में ही निषेध है । जब कोई कुमार्ग से (उत्पथेन) सुमार्ग पर ही आना चाहता है तब मार्ग-वाचक से भी चतुर्थी होती ही है । जैसे—**उत्पथेन पथे गच्छति**—यहाँ पर 'पथे' में चतुर्थी होती ही है ।

व्याख्या—गत्यर्थकर्मणि द्वितीया चतुर्थौ चेष्टायाम् अनध्वनि, यह पद-विच्छेद है । अनभिहिते का अधिकार है । गत्यर्थानां कर्म = गत्यर्थकर्म, तस्मिन्, गत्यर्थकर्मणि = गत्यर्थक धातुओं के कर्म में,

द्वितीया-चतुर्थ्यौ = द्वितीया और चतुर्थी हो । चेष्टायाम् = शारीरिक-परिस्पन्द (शरीर का हिलना डुलना)होने पर, **अनध्वनि** = न अध्वा अनध्वा, तस्मिन् अनध्वनि । यह पद 'गत्यर्थकर्मणि' का विशेषण हे । 'मार्गवाचक से भिन्न में' (गत्यर्थकर्म में) यह अर्थ होता है ।

सूत्रार्थ—गत्यर्थक-धातुओं के कर्म में द्वितीया एवं चतुर्थी दोनों विभक्तियाँ होती हैं, यदि गति में शारीरिक-क्रिया हो रही हो, और गत्यर्थकधातुओं का कर्म 'मार्ग' न हो तब ।

ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति—(गांव को जाता है) इस वाक्य में ग्राम-शब्द 'गच्छति' क्रिया का कर्म है । यह 'ग्राम' मार्ग नहीं है, और गमन-क्रिया में शरीर में चेष्टा (क्रिया) हो रही है । 'ग्राम' से **कर्मणि द्वितीया** से प्राप्त द्वितीया को बाधकर '**गर्त्थकर्मणि द्वितीया चतुर्थ्यौ**' से चतुर्थी करने पर '**ग्रामाय**' बनता है । पक्ष में द्वितीया करने पर '**ग्रामं**' भी बनता है।

चेष्टायाम् किम् ? मनसा हरिं व्रजति—उक्त सूत्र में 'चेष्टायां' यह पद न रखें तो क्या दोष होगा ?

उत्तर—यदि सूत्र में उक्त पद नहीं होगा तब सूत्र का अर्थ होगा—'गत्यर्थक धातुओं के मार्ग-भिन्न कर्म में द्वितीया एवं चतुर्थी होती है' । इस अर्थ के होने पर—**मनसा हरिं व्रजति**—(मन से हरि के समीप जाता है) इस वाक्य में हरि कर्म है और वह मार्ग भी नहीं है । सूत्र की प्रवृत्ति हो जायेगी तथा हरि से चतुर्थी भी हो जाएगी । यह चतुर्थी इष्ट नहीं है । इसको रोकने के लिए '**चेष्टायाम्**' यह पद है । 'मनसा हरिं व्रजति' में शारीरिक-व्यापार नहीं हो रहा है, केवल मानसिकव्यापार है, अत एव '**गत्यर्थकर्मणि**' की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

अनध्वनि किम्-पन्थानं गच्छति—इस सूत्र में यदि 'अनध्वनि' यह पद न रखें तब 'गत्यर्थक ध ातुओं' के मार्ग या मार्ग भिन्न किसी भी कर्म में द्वितीया व चतुर्थी होने लगेगी । ऐसी स्थिति में **पन्थानं गच्छति**—(मार्ग पर चलता है) इस उदाहरण में मार्गवाचक पथिन् से भी चतुर्थी होने लगेगी । इसको रोकने के लिए सूत्र में 'अनध्वनि' यह पद है । इस उदाहरण में 'पन्थानं' यह पद 'मार्ग' ही है । अत: सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है । **गन्ता** (गमनकर्ता) के मार्ग पर अवस्थित (स्थित) होने पर ही 'अनध्वनि' यह निषेध है । अर्थात् गमनकर्ता यदि मार्ग पर चल रहा हो और **मार्ग** कर्म हो, तभी यह निषेध होगा । जैसे—'**पन्थानं गच्छति** = रास्ते पर चलता है' । यहाँ पर गमनकर्ता मार्ग पर स्थित है, और मार्ग-पथिन् कर्म है । अत: यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु जब कोई गन्ता बुरे मार्ग से सही मार्ग पर आने की चेष्टा कर रहा है, तब मार्गवाचक-कर्म से भी चतुर्थी होती ही है । जैसे- **उत्पथेन पथे गच्छति** (बुरे मार्ग पर चलने में अशक्त होकर सही मार्ग पर चलता है) इस उदाहरण में 'व्यक्ति' (गन्ता) मार्ग पर अवस्थित नहीं है, किन्तु आने की चेष्टा करता है, यह व्यक्त होता है । अत: पथिन् से '**गत्यर्थ कर्मणि**' से चतुर्थी कर '**पथे**' बनता है । पक्ष में द्वितीया करने पर '**उत्पथेन पन्थानं गच्छति**' भी बनता है ।

इतिचतुर्थी-विभक्तिः ।

अपादान कारक - पञ्चमी विभक्ति

55. ध्रुवमपायेऽपादानम् 1/4/24 ।।

अपायो विश्लेषः तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकम् अपादानं स्यात् ।

56. अपादाने पञ्चमी 2/3/28 ।।

ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात् पतति । कारकं किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति ।

55. विभाग के साध्य होने पर ध्रुव = अवधिभूत कारक को अपादान-संज्ञा होती है ।

56. अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

ग्रामात् आयाति—यहाँ पर ग्राम अवधिभूत है । उसे '**ध्रुवमपायेऽपादानम्**' से अपादानसंज्ञा होती है, तथा **अपादाने पञ्चमी** से ग्राम से पञ्चमी-विभक्ति की जाती है ।

धावतोऽश्वात् पतति—यहाँ पर पतनक्रिया में अवधिभूत **अश्व** है । उसे अपादानसंज्ञा होती है, तथा **अपादाने पञ्चमी** से पञ्चमी आती है।

कारकं किम्—सूत्र में 'कारकं' का अधिकार न लाया जाये तो 'वृक्षस्य पत्रं पतति' यहाँ पर वृक्ष कारक नहीं है, फिर भी उसे अपादान-संज्ञा हो जाएगी, तथा अपादान में पञ्चमी हो जाएगी, षष्ठी नहीं हो सकेगी । यह दोष होगा । अतः '**कारकं**' यह पद कहा गया है ।

व्याख्या—'ध्रुवम् अपाये अपादानम्' ये तीन पद हैं । कारके का अधिकार है । 'अपाये ध्रुवम्' यह संज्ञी है, तथा 'अपादानम्' यह संज्ञा है । सूत्र में 'अपाय' पद का अर्थ है—विश्लेष, विभाग, वियोग, पार्थक्य आदि । 'ध्रुवम्'–'**ध्रु गतिस्थैर्ये**' धातु से क-प्रत्यय कर 'ध्रुव' बनता है। इसका अर्थ है—स्थिर, अवधिभूत । अर्थात् दो संयुक्त पदार्थों में एक के चलने से विभाग होता है । इसमें जो बस्तु अपनी जगह स्थिर रहती है वह 'ध्रुव' कहलाती है । वही यहाँ पर अवधिभूत कहा जाता है ।

इस तरह सूत्रार्थ हुआ—विभाग या पार्थक्य के साध्य होने पर ध्रुव या अवधिभूत कारक को अपादानसंज्ञा होती है।

इस सूत्र में 'ध्रुव' पद स्थिर या अचल-मात्र का बोधक नहीं है, अर्थात् 'विश्लेष के अनुकूल चलनव्ययापार का अनाश्रय' ही ध्रुव नहीं कहलाता है, किन्तु 'कस्मात्' = कहाँ से, इस आकाङ्क्षा-विषयक लक्षण वाला अवधित्व भी ध्रुव है । **वाक्यप्रदीय** में इसे स्पष्ट करते हुए अपादान को चल एवं अचल के भेद से दो प्रकार का माना है ।

अपादानं द्विधा प्रोक्तं चल वाऽचलमेव च ।
अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम् ।
ध्रुवमेवाऽतदावेशात् तदपादानमुच्यते ।

अपायक्रिया में जो उदासीन है (अपायजनक क्रिया का आश्रय नहीं है) वह चल हो या अचल, वह ध्रुव ही कहलाता है क्योंकि वह वियोग करने वाली क्रिया का आश्रय नहीं होता है, अतः अपादान कहलाता है ।

उदाहरण—ग्रामात् आयाति—(गाँव से आता है) गाँव से विभाग क्रिया हुई, किन्तु ग्राम स्थिर रहा, अचल रहा, अतः वह अवधिभूत बना । अवधिभूत (ध्रुव) को **ध्रुवमपायेऽपादानम्** से अपादानसंज्ञा होती है । **'अपादाने पञ्चमी'** से 'ग्राम' से पञ्चमी विभक्ति आती है ।

धावतोऽश्वात् पतति—(दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है) यहाँ पर अश्व चल-अपादान है क्योंकि सवार के गिरने पर भी घोड़ा दौड़ता रहता है । वह चलनव्यापार का आश्रय रहता ही है । किन्तु **'कस्मात्'** इस आकाङ्क्षा का विषय दौड़ता अश्व भी चल-ध्रुव माना जाता है । उसे अपादान संज्ञा होती है ।

वा. जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् ।। पापाज्जुगुप्सते । पापात् विरमति । धर्मात् प्रमाद्यति।

---

57. भीत्रार्थानां भयहेतुः 1/4/25 ।।

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे हेतुरपादानं स्यात् । चोराद् बिभेति । चोरात् त्रायते । भयहेतुः किम् ? अरण्ये बिभेति, त्रायते वा ।।

वा. जुगुप्सा विराम एवं प्रमादार्थक-धातुओं के कारक की अपादानसंज्ञा होती है ।

पापाज्जुगुप्सते—(पाप से घृणा करता है) यहाँ पर 'जुगुप्सते' के योग में कारक 'पाप' की अपादानसंज्ञा कर **अपादाने पञ्चमी** से पञ्चमी की जाती है ।

पापात् विरमति—(पाप करने से रुकता है) यहाँ पर भी 'विरमति' के योग में पाप को अपादानसंज्ञा कर उससे पञ्चमी की जाती है ।

धर्मात् प्रमाद्यति—(धर्म के विषय में प्रमाद करता है) यहाँ पर 'प्रमाद्यति' के योग में धर्म की अपादानसंज्ञा होती है तथा **अपादाने पञ्चमी** करने पर 'धर्मात्' बनता है ।

57. भयार्थक धातु एवं रक्षणार्थक धातुओं के योग में भय के हेतु की अपादान-संज्ञा होती है ।

चोराद् बिभेति—(चोर से डरता है) यहाँ पर चोर को अपादानसंज्ञा कर **अपादाने पञ्चमी** से चोर से पञ्चमी विभक्ति आती है ।

चोरात् त्रायते—(चोर से रक्षा करता है) यहाँ पर रक्षणार्थक त्रा-धातु के योग में चोर की अपादानसंज्ञा होती है । **अपादाने पञ्चमी** से पन्चमी विभक्ति आती है ।

'भय हेतुः'—यह पद सूत्र में न रखें तो क्या होगा ? अरण्ये बिभेति, त्रायते वा—(जंगल में डरता है, या रक्षा करता है) इस उदाहरण में जंगल भय का हेतु नहीं है, फिर भी उसे अपादानसंज्ञा होने लगेगी । यह दोष होगा । इसे दूर करने के लिए 'भयहेतुः' यह पद आवश्यक है ।

व्याख्या—जुगुप्सा (घृणा) विराम = कार्य से रुकना या हटना, एवं प्रमाद (भूल करना) इन अर्थ वाले धातुओं के योग में घृणा, विराम, एवं प्रमाद के विषय-भूत कारक की अपादानसंज्ञा होती है ।

(वास्तविक संयोग एवं विश्लेष के अभाव के ध्रुवत्व सिद्ध नहीं होने से '**ध्रुवमपायेऽपादानं**' की प्राप्ति नहीं थी । अत: यह वार्तिक लिखा गया है । जब जुगुप्सते का अर्थ 'जुगुप्सादि से निवृत्त होता है', यह स्वीकार किया जाएगा, तब बुद्धिकृत विश्लेष = विभाग का अवधित्व पाप इत्यादि में मानकर '**ध्रुवमपायेऽपादानं**' की प्रवृत्ति होगी । उस स्थिति में भाष्य मे यह वार्तिक खण्डित हो चुका है ।)

सूत्रप्रत्याख्यान—भाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान इस प्रकार किया है । जब 'चोराद् बिभेति' का अर्थ चोर के भय से भागता है, चोरात् त्रायते = चोर से अपनी रक्षा हेतु भागता है, यह स्वीकार किया जायेगा, तब बुद्धिकल्पित विश्लेष का अवधि-भूत चोर हो ही जाएगा। उसे '**ध्रुवमपायेऽपादानं**' से ही अपादानसंज्ञा हो जाएगी । इस सूत्र की आवश्यकता नहीं होगी ।

---

58. पराजेरसोढः 1/4/26 ।।

पराजे: प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात् ।

अध्ययनात् पराजयते । ग्लायतीत्यर्थ: । 'असोढ़:' किम्-शत्रून् पराजयते ।

अभिभवतीत्यर्थ: ।

परा उपसर्गयुक्त 'जि' धातु के प्रयोग में असह्य अर्थ को अपादानसंज्ञा होती है ।

अध्ययनात् पराजयते—(अध्ययन से खिन्न होता है या कष्ट अनुभव करता है) यहाँ असह्य अध ययन को अपादान-संज्ञा की जाती है, तथा **अपादाने पञ्चमी** से पञ्चमी होती है ।

सूत्र में 'असोढ:' यह पद नहीं रखें तो क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि '**शत्रून् पराजयते**' (शत्रु को परास्त करता है) इस वाक्य में कर्म के बदले शत्रु को अपादान संज्ञा करके पञ्चमी होने लगेगी । इसे रोकने के लिए 'असोढ:' यह पद है ।

व्याख्या - सूत्र में 'पराजे:, असोढ:' ये दो पद हैं । 'अपादान' की अनुवृत्ति आती है, तथा 'कारके' का अधिकार है । परा पूर्वक 'जि' धातु का षष्ठी-एकवचन में 'पराजे:' बना है । 'प्रयोगे' पद का अध्याहार किया जाता है । इसका अर्थ हुआ—परापूर्वक जि धातु का प्रयोग होने पर । **असोढ़**:- सह धातु से क्त प्रत्यय 'ह्' को 'ढ' क्त के 'त' को ध ष्टुत्व ढ-लोप एवं 'सहिवहोरोदवर्णस्य' से स के अ को ओ कर **सोढः** बना । न सोढ: '**असोढः**,' नञ्-समास । क्त-प्रत्यय का अर्थ भूतकाल नहीं है । असोढः का अर्थ हुआ—सहने के अयोग्य । हेतु-तृतीया का यह सूत्र अपवाद है। पराजि का अर्थ है—हारना और हराना । हारने के अर्थ में यह धातु अकर्मक है और हराने के अर्थ में सकर्मक है । अकर्मक 'पराजि' के रहने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । सकर्मक 'पराजि' के प्रयोग में नहीं।

सूत्रार्थ—परापूर्वक जि-धातु के प्रयोग में असह्य (जिसे सहन न किया जा सके) कारक को अपादानसंज्ञा होती है।

59. वरणार्थानामीप्सितः 1/4/27 ।।

प्रवृत्तिविघातो वारणम् । वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात् ।

यवेभ्यो गां वारयति । ईप्सितः किम्—यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे ।

वारण अर्थ वाले धातुओं का प्रयोग होने पर ईप्सित-अर्थ को अपादानसंज्ञा होती है ।

यवेभ्यो गां वारयति—(गाय को यवों से हटाता है) यहाँ पर 'वारयति' के योग में ईप्सित 'यव' को अपादान संज्ञा हुई तथा **अपादने पञ्चमी** से पञ्चमी कर बहुवचन में 'यवेभ्यः' बनता है ।

ईप्सितः किम्— सूत्र में यदि 'ईप्सितः' पद न कहें तब वारणार्थक-धातु का प्रयोग होने पर ईप्सित एवं अनीप्सित सभी को अपादानसंज्ञा हो जाएगी । ऐसा होने पर **'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे'** इस प्रयोग में 'क्षेत्र' शब्द को भी अपादन संज्ञा हो जाएगी । यह दोष होगा ।

व्याख्या—वारणार्थनाम्, ईप्सितः ये दो पद हैं । **'ध्रुवमपायेऽपादानम्'** से 'अपादानं' की अनुवृत्ति आती है । 'कारके' का अधिकार है । 'वारणम्' अर्थः येषां ते, वारणार्थाः, तेषां इस विग्रह के अनुसार 'वारण है अर्थ जिन धातुओं के उनके' यह अर्थ 'वारणार्थानाम्' पद का है । इसमें वारण का अर्थ है प्रवृत्तिविघात = प्रवृत्ति से विमुख करना । 'प्रयोगे' पद का अध्याहार किया जाता है । ईप्सित का अर्थ है 'इष्ट' ।

सूत्रार्थ—वारणार्थक धातुओं के प्रयोग में ईप्सित कारक की अपादानसंज्ञा होती है । **यवेभ्यो गां वारयति**—(जौ से गाय को हटाता है) 'जौ में प्रवृत्त हो रही गाय को प्रवृत्ति से विमुख करता है' इस अर्थ में 'यव' 'रक्षा किए जाने के कारण' ईप्सित है । अतः उसे अपादानसंज्ञा होती है । **अपादाने पञ्चमी** से **यव** से पञ्चमी कर 'यवेभ्यः' बनता है । गाय दूसरे की है, अतः वह हटाई जाती है । वह अनीप्सित है । अनीप्सित गो को **तथायुक्तं चानीप्सितं** में कर्मसंज्ञा कर 'गां' बनता है ।

इस प्रयोग में संयोगपूर्वक विभाग का अभाव होने से **'ध्रुवमायेऽपादानं'** सूत्र की प्राप्ति नहीं हो रही थी । अतः यह सूत्र बनाया गया है । भाष्यकार ने बुद्धिकल्पित संयोग-विश्लेषभाव के द्वारा 'यव' में ध्रुवत्व-प्रयुक्त अपादानत्व का आश्रयण कर इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है ।

बालमनोरमाकार का कहना है— "यव स्वकीय होने से रक्षणीय हैं, अतः ईप्सित हैं । उन्हें अपादनसंज्ञा होती है । गाय परकीय होने से अनीप्सित है । अतः **'तथायुक्तं चानीप्सितं'** से कर्मसंज्ञा कर **कर्मणि द्वितीया** से 'गाम्' में द्वितीया है । जब यव परकीय होंगे तथा गो स्वकीय होगी, तब वारण असम्भावित है । वस्तुतः जौ के परकीय होने पर भी उसके विनाश से अधर्म होगा या जौ का स्वामी गाय को पकड़कर बांध देगा और और गाय के स्वामी को दण्ड देगा । इसलिए यव की रक्षा करना ईप्सित है । इतः वह ईप्सित होने से अपादान है । गाय स्वकीय होने पर भी बाधक की निवृत्ति के लिए वारण में इष्टतम (ईप्सिततम) होने से कर्म है ।"

अग्नि को अपादानसंज्ञा कर 'वारणार्थानाम्' सूत्र चरितार्थ है, अतः यह अपवाद नहीं होगा, यह भी कहना उचित नहीं है । क्योंकि यहाँ पर 'वारि' धातु का अर्थ—'स्पर्शफलक-प्रवृत्ति का विघटन' है ।

वह विघटन हुआ—अग्नि से अन्यत्र ले जाना । अन्यत्र ले जाने के व्यापार से उत्पन्न फल हुआ—'माणवक का अग्नि-स्पर्श-रूप फल में प्रवृत्ति का अभाव' । इस अर्थ में 'संस्पर्श' अग्नि में भी है, माणवक में भी क्योंकि संयोगरूप स्पर्श दोनों में रहता है । 'प्रवृत्ति का अभाव' विषयता-सम्बन्ध से अग्नि में है, तथा आश्रयता-सम्बन्ध से माणवक में । इस तरह कर्ता के व्यापार से जन्य फल का आश्रयतारूप कर्मत्व परत्वात् अग्नि एवं माणवक दोनों में प्राप्त है । इस स्थिति में '**वारणार्थानाम्**' से होने वाली अपादनसंज्ञा निरवकाश होकर अपवाद हो जाएगी, और माणवक को भी अपादानसंज्ञा के कारण पञ्चमी हो जाएगी । इस को बाधने के लिए '**कर्तुरीप्सिततमं कर्म**' यह सूत्र बनाना ही होगा ।

इस सूत्र के बनने से ईप्सितमात्र-अग्नि को अपादानसंज्ञा पर चरितार्थ हुए **वारणार्थानां** सूत्र का ईप्सिततम-कारक माणवक में कर्मसंज्ञा द्वारा बाध सिद्ध होता है । '**कर्तुरीप्सिततमं**' सूत्र बनाने के बाद द्वेष्य एवं उदासीन कर्मों का संग्रह करने के लिए '**तथायुक्तं चानीप्सितं**' सूत्र भी आरम्भ करना ही होगा ।

ईप्सितः किम्—'वारणार्थानाम् ईप्सितः' सूत्र में 'ईप्सितः' पद नहीं रखें तो क्या हो ? इस प्रश्न के **उत्तर** में कहा गया है कि—यदि यह पद सूत्र में नहीं होगा तब '**यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे**' (खेत में गाय को जौ से हटाता है) इस वाक्य में 'क्षेत्र' शब्द से भी वारयति, के प्रयोग में अपादानसंज्ञा के कारण पञ्चमी होने लगेगी । इसे रोकने के लिए 'ईप्सितः' यह पद है । चूँकी निवारण-क्रिया तक 'क्षेत्र' ईप्सित नहीं है, अतः उसे अपादानसंज्ञा नहीं होती है । वह आधार है । अतः उसे अधिकरणसंज्ञा की जाती है, और अधिकरण में सप्तमी कर क्षेत्रे बनता है ।

---

60. अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति 1/4/28 ।।

व्यवधाने सति यत्-कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात् ।

मातुर्निलीयते कृष्णः । अन्तर्धौ किम् ? चौरान् न दिदृक्षते । इच्छतिग्रहणं किम् ? अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् । देवदत्ताद् यज्ञदत्तो निलीयते ।

व्यवधान रहने पर जिससे अपने को छिपाना चाहता है (या जिसके द्वारा अपने दर्शन का अभाव चाहता है) उस कारक को अपादानसंज्ञा होती है ।

मातुर्निलीयते कृष्णः—(कृष्ण माता से छिपता है) यहाँ पर माता के द्वारा न देखा जाना (छिपना) अभीप्सित है । अतः मातृ-शब्द को अपादानसंज्ञा की जाती है और **अपादाने पञ्चमी** से पञ्चमी करके मातुः बनता है ।

अन्तर्धौ किम्—सूत्र में '**अन्तर्धौ**' पद न दें तो '**चौरान् न दिदृक्षते**' इस प्रयोग में दर्शनाभाव में चौर को भी अपादानसंज्ञा हो जाएगी । यह दोष होगा । अपादानसंज्ञा के वारण के लिए '**अन्तर्धौ**' पद है।

इच्छतिग्रहणं किम्— सूत्र में 'इच्छति' के ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? अदर्शन की इच्छा रहने पर दर्शन हो जाने पर भी जिससे अदर्शन की इच्छा हो उसे अपादानसंज्ञा हो जाए इसलिए 'इच्छति' पद आवश्यक है । जैसे—**देवदत्ताद् यज्ञदत्तो निलीयते**—इस वाक्य में (यज्ञदत्त के दिखाई पड़ने पर भी) देवदत्त को अपादानसंज्ञा हो जाती है ।

व्याख्या—'अन्तर्धौ येन अदर्शनम् इच्छति' ये चार पद हैं । यहाँ पर भी 'अपादानं' पद की अनुवृत्ति आती है, तथा 'कारके' का अधिकार है । **अन्तर्धौ**—अन्तःपूर्वक धा-धातु से **कि**-प्रत्यय कर **अन्तर्धि** बनता है । सप्तमी का एकवचन है । इसका अर्थ है "आँखों से अगोचर हो जाना या छिप जाना ।" अर्थात् 'व्यवधान होने पर' । 'येन' में कर्ता में तृतीया विभक्ति है । इसका अर्थ है—जिससे । 'आत्मनः' इस पद का अध्याहार किया जाता है और इस '**आत्मनः**' पद में कर्म में षष्ठी है । '**अदर्शनम्**' के दर्शन-शब्द के योग में कर्तृकर्मणोः से षष्ठी होती है । अदर्शनम् का अर्थ होता है—दर्शन का अभाव । आत्मनः के आत्मन्-शब्द से 'इच्छति' इस क्रिया का कर्ता विवक्षित है । **अन्वयः**—'व्यवधाने सति येन आत्मनः दर्शनाभावम् इच्छति तत् कारकम् अपादानं स्यात्' ।

सूत्रार्थ—व्यवधान रहने पर (व्यवधान = आड़ के कारण से) जिसके द्वारा अपना अदर्शन चाहता है, उस कारक को अपादानसंज्ञा होती है ।

अर्थात् जब कोई द्रष्टा अपने को किसी से छिपाना चाहता है तब वह अपने को जिससे छिपाने की इच्छा करे उस कारक को अपादानसंज्ञा हो जाती है ।

---

61. आख्यातोपयोगे 1/4/29 ।।

नियमपूर्वक विद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात् ।

उपाध्यायादधीते । उपयोगे किम् ? नटस्य (गाथा) शृणोति ।

नियमपूर्वक विद्या स्वीकार करने में वक्ता (पढ़ाने वाले) की अपादानसंज्ञा होती है ।

उपाध्यायाद् अधीते—(उपाध्याय से पढ़ता है) यहाँ पर पढ़ने वाला उपाध्याय से विद्या स्वीकार करता है । इस अर्थ की प्रतीति होती है । अतः उपाध्याय को अपादानसंज्ञा कर उससे पञ्चमी होती है।

सूत्र में 'उपयोगे' पद नहीं कहें तो क्या होगा ? यदि यह पद नहीं कहेंगे तब '**नटस्य (गाथा) शृणोति**' में नट को भी अपादानसंज्ञा हो जाएगी।

व्याख्या- आख्याता, उपयोगे, ये दो पद हैं । '**ध्रुवमपायेऽपादानम्**' इन सूत्र से 'अपादानम्' की अनुवृत्ति आती है। 'कारके' का अधिकार है । **आख्याता**-आङ् पूर्वक् **ख्या** धातु से तृच् प्रत्यय कर प्रथमा के एकवचन में 'आख्याता' पद है । इसका अर्थ है—उपदेश करने वाला, वक्ता, प्रकृष्ट कथन करने वाला । **उपयोगे**—उप+युज्+घञ् = उपयोग शब्द का सप्तमी-एकवचन में **उपयोगे** बनता है । यह शब्द 'नियमपूर्वक अध्ययन' अर्थ में रूढ है । अत एव आख्याता का अर्थ—वक्ता, अध्यापन करने वाला यह लिया जाता है ।

सूत्रार्थ—(ब्रह्मचर्यादि) नियमों का पालन करते हुए विद्याध्ययन करने में अध्यापयिता (पढ़ाने वाले) की अपादानसंज्ञा होती है ।

---

62. जनिकर्तुः प्रकृतिः [illegible]/30 ।।

जायमानस्य हेतुरपादान[illegible]। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ।

जनि के कर्ता की प्रकृति अर्थात् जायमान पदार्थ का हेतुभूत कारक अपादान संज्ञक होता है ।

ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते—(ब्रह्म से प्रजा उत्पन्न होती हैं) जायमान प्रजा की उत्पत्ति का हेतु ब्रह्म है । उसे जनिकर्तुः से अपादानसंज्ञा होती है । '**अपादाने पञ्चमी**' से पञ्चमी कर ब्रह्मणः बना ।

व्याख्या—जनिकर्तुः प्रकृतिः ये दो पद हैं । 'अपादानं' पद की अनुवृत्ति आती है तथा 'कारके' का अधिकार है । **जनिकर्तुः**—जनी प्रादुर्भावे से इण्-प्रत्यय कर जनिः बनता है । '**जनिवध्योश्च**' से उपधावृद्धि का निषेध होता है । जनि का अर्थ है—उत्पत्ति, जनन, उद्भव, जन्म आदि । 'जनेः कर्ता' इस विग्रह में शेषषष्ठ्यन्त का समास कर जनिकर्ता का षष्ठी एकवचन में 'जनिकर्तुः' बनता है । जनिकर्ता का अर्थ है—उत्पत्ति का आश्रय । अर्थात् जायमान पदार्थ । 'प्रकृतिः' पद का अर्थ है— हेतु या कारण ।

सूत्रार्थ—जायमान पदार्थ (उत्पत्ति के आश्रय भूत) के हेतु या कारण को अपादानसंज्ञा होती है ।

---

63. भुवः प्रभवः 1/4/31 ।।

भवनं भूः । भूकर्तुः प्रभवस्तथा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति । तत्र प्रकाशते इत्यर्थः ।

भू-धातु के कर्ता के उद्गम (प्रथम-प्रकाशन) स्थल को अपादानसंज्ञा होती है ।

भू का अर्थ—प्रकट होना है ।

हिमवतो गङ्गा प्रभवति—(हिमालय से गङ्गा प्रथमतः प्रकट होती है) इस वाक्य में गङ्गा के उद्गमस्थल हिमवत् को अपादानसंज्ञा होती है तथा '**अपादाने पञ्चमी**' से पञ्चमी करने पर 'हिमवतः' बनता है ।

व्याख्या—'भुवः प्रभवः' इस सूत्र में '**ध्रुवमपायेऽपादानं**' से 'अपादानम्' की अनुवृत्ति आती है । 'कारके' का अधिकार है । '**जनिकिर्तुः प्रकृतिः**' से जनिकर्तुः इस समास-निर्दिष्ट-पद का एक भाग 'कर्तुः' पद स्वरितत्त्व की प्रतिज्ञा से इस सूत्र में अनुवृत्त होकर आता है । इस 'कर्तुः' पद का अन्वय 'भुवः' के साथ होता है । भवनं = 'होना' को 'भूः' कहते हैं । भू-धातु से क्विप् प्रत्यय कर भू-शब्द के षष्ठी-एकवचन में भुवः बना है । **प्रभवः** प्रभवति = प्रथमं प्रकाशते अस्मिन्—जहाँ पर प्रथमतः प्रकाशित होता है, वह स्थान 'प्रभव' है अर्थात् प्रथमप्रकाशन-स्थल को 'प्रभव' कहते हैं ।

सूत्रार्थ—भू-धातु के कर्ता के प्रथम उद्गमस्थल (प्रकाशन-स्थान) को अपादानसंज्ञा होती है ।

वा. ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च ।। प्रासादात् प्रेक्षते । आसनात् प्रेक्षते । प्रसादामारुह्य, आसने उपविश्व प्रेक्षते इत्यर्थः । श्वशुराज्जिह्रेति। श्वसुरं वीक्ष्येत्यर्थः ।

वा. गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम् ।। कस्मात् त्वम् ? नद्याः ।

व्याख्या—वा. ल्यप् का लोप ल्यब्लोप, सप्तमी एकवचन में **ल्यब्लोपे** बना । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' इस परिभाषा के कारण ल्यप् का अर्थ है—ल्यबन्त या ल्यप्-प्रत्ययान्त । लोप का अर्थ है—अदर्शन या अप्रयोग ।

वार्तिकार्थ— ल्यप्-प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग न करने पर (लोप होने पर) उसके प्रतीयमान अर्थ के प्रति कर्म और अधिकरण में पञ्चमी-विभक्ति होती है ।

प्रासादात् प्रेक्षते— (महल पर चढ़कर देखता है) इस वाक्य में ल्यप्-प्रत्ययान्त 'आरुह्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु उसका अर्थ प्रतीत हो रहा है । प्रतीयमान आरुह्य के प्रति प्रासाद कर्म है । **'ल्यब्लोपे'** से प्रासाद से पञ्चमी-विभक्ति कर **'प्रासादात्'** बनता है।

आसनात् प्रेक्षते— (आसन पर बैठकर देखता है) इस वाक्य में भी ल्यबन्त 'आरुह्य' का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु उसके गम्यमान अर्थ के प्रति **आसन** अधिकरण है । अधिकरण में **'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च'** से पञ्चमी कर 'आसनात्' बना ।

कस्मात् त्वम्— (कस्मात् त्वम् आगतोऽसि) 'कहाँ से तुम' इतना कहते ही 'आए हो', इस क्रियार्थ की प्रतीति होती है ।

आगतोऽसि—इस प्रतीयमान-क्रिया का उत्तर **नद्याः** (नद्याः आगतोऽस्मि) 'नदी से आया हूँ' यह दिया जाता है । इस गम्यमान-क्रिया की अपेक्षा से 'नदी' में अवधित्व सिद्ध होता है । इस तरह 'कस्मात् त्वम्' कहते ही 'त्वम्' पद का विश्लेष कस्मात् से सिद्ध होता है । अतः 'किम्' के अर्थ में भी अवधित्व सिद्ध होता है तथा अवधिभूत किम् एवं नदी को अपादानसंज्ञा कर उससे **अपादाने पञ्चमी** से पञ्चमी-विभक्ति करने पर **कस्मात्** एवं **नद्याः** बनता है ।

वा. यतश्चाध्वकालनिर्माणं ततः पञ्चमी ।।

वा. तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ ।।

वा. कालात् सप्तमी च वक्तव्या ।।

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे ।

वा. जिस अवधि के द्वारा मार्ग और काल को मापा जाये उससे पञ्चमी-विभक्ति होती है ।

वा. पञ्चम्यन्त से युक्त मार्गवाची से प्रथमा एवं सप्तमी-विभक्ति होती है ।

वा. पञ्चम्यन्त से अन्वित कालवाची से सप्तमी-विभक्ति होती है ।

व्याख्या—यतश्चेति— 'यतः' इस पद में तृतीया के अर्थ में तसि-प्रत्यय है । इसका अर्थ—'जिस अवधि से' यह है । 'निर्माणम्' पद का अर्थ परिच्छेद = माप, या इयत्ता है ।

वार्तिकार्थ— जिस अवधि से अध्वा = मार्ग एवं काल का माप या इयत्ता ज्ञात हो उस अवधि-वाचक से पञ्चमी होती है ।

तद्युक्तादिति— तेन = पञ्चम्यन्तेन युक्तः 'तस्मात्' इस विग्रह के अनुसार पूर्व-वार्तिकोक्त-पञ्चम्यन्त से युक्त अध्वा = मार्ग एवं कालवाची से प्रथमा एवं सप्तमी-विभक्तियाँ होती हैं ।

कालादिति— इस वार्तिक में भी 'तद्युक्तात्' पद जोड़ना चाहिए ।

वार्तिकार्थ—मार्ग एवं काल की इयत्ता बताने वाले अवधिभूत पञ्चम्यन्त से युक्त कालवाची से सप्तमी होती है । (ये तीनों वाक्य परस्परान्वित होते हुए अर्थ को पूर्ण करते हैं ।)

वनात् ग्रामः योजनं योजने वा—वन से गाँव एक योजन है । (एक योजन = चार कोस) यहाँ पर योजनरूप मार्ग का माप, वन को पूर्व अवधि मानकर किया गया है । इसलिए मार्ग का माप वनरूप अवधि से हुआ । अतः इससे '**यतश्चाध्वकालनिर्माणं ततः पञ्चमी**' से पञ्चमी होती है । इस पञ्चम्यन्त 'वनात्' से युक्त मार्गवाचक योजन से '**तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ**' से प्रथमा एवं सप्तमी करने पर '**योजनं, योजने वा**' यह बनता है ।

इस वाक्य में प्रथमा एवं सप्तमी का अर्थ है—'वन से उत्तर अव्यवहित देश में विद्यमानता' । **वाक्यार्थ**—'वनरूप पूर्व अवधि से अव्यवहित एक योजन उत्तर में ग्राम है' । इस वाक्यार्थ में वन में यद्यपि अवधित्व है, किन्तु विभाग की प्रतीति न होने के कारण '**ध्रुवमपायेऽपादानम्**' से अपादानसंज्ञा नहीं हो सकती थी । अतः यह वार्तिक बनाना पड़ा ।

कार्तिक्याः आग्रहायणी मासे—(कार्तिक पूर्णिमा से एक मास में अग्रहण मास की पूर्णिमा होती है) । यहाँ पर मासरूप काल का परिणाम (माप) कार्तिक से है । अर्थात् माप में पूर्व-अवधि कार्तिक है । उससे **यतश्चाध्वकालपरिमाणं** से पञ्चमी होती है । कार्तिक्याः बनता है । पञ्चम्यन्त 'कार्तिक्याः' पद से युक्त कालवाचक-मास शब्द से '**कालात् सप्तमी च वक्तव्या**' इस वार्तिक से सप्तमी करने पर 'कार्तिक्याः आग्रहायणी मासे' यह बनता है ।

---

64. अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते 2/2/29

एतैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अन्येत्यर्थग्रहणम् । इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् । अराद वनात् । ऋते कृष्णात् पूर्वो ग्रामात् । **दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः** । तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति । चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः । अवयववाचियोगे तु न । 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य ।

अन्य आरात् इतर ऋते इत्यादि के योग में पञ्चमी-विभक्ति होती है ।

अन्य शब्द अन्य के अर्थ में आने वाले इतर पर इत्यादि का भी बोधक है । इतर-ग्रहण विस्तार के लिए है ।

अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्—यहाँ पर अन्य आदि के योग में कृष्ण से पञ्चमी होती है ।

आराद वनात्—में वन से आराद् के योग में पञ्चमी होती है । **ऋते कृष्णात्**—कृष्ण से ऋते के योग में 'अन्यारात' से पञ्चमी होती है । **पूर्वो ग्रामत्**-पूर्व के योग में ग्राम से पञ्चमी होती है ।

सूत्र में 'दिक्शब्दः' का अर्थ है—दिशा के अर्थ में प्रयुक्त (दृष्ट) शब्द । इसलिए सम्प्रति देश काल आदि अर्थों में रहने वाले पूर्व आदि शब्द के योग में भी पञ्चमी-विभक्ति होती है । जैसे—

चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः—इसमें पूर्व-शब्द काल वाचक है, फिर भी दिक्शब्द मानकर उसके योग में चैत्र से पञ्चमी-विभक्ति होती है । जहाँ पर पूर्व आदि शब्द अवयव का वाचक होगा, वहाँ पर इस

NOTES

सूत्र से पञ्चमी नहीं होती है । इसमें प्रमाण है **'तस्य परमाम्रेडितम्'** सूत्र । **पूर्वं कायस्य**—यहाँ पर पूर्व-शब्द अवयव वाचक है । अतः उसके योग में **'काय'** से पञ्चमी-विभक्ति नहीं होती है ।

व्याख्या—'अन्यश्च आरात् इतरश्च ऋते च दिक्शब्दश्च अञ्चूत्तरपदश्च आच् च आहिश्च' इस विग्रह में द्वन्द्वसमास का अन्यारादितरर्ते .... जाहयः, बनता है। अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहिभिः युक्तः, तस्मिन् इस विग्रह में तृतीया-तत्पुरुष कर 'अन्यारा .... जाहियुक्ते' बनता है । युक्ते-युज् ध ातु से भाव में क्त-प्रत्यय है । इसका अर्थ है—योगे (योग में) । **अपादाने पञ्चमी** से 'पञ्चमी' पद की अनुवृत्ति आती है । **अन्य**-शब्द अन्य के अर्थ में आने वाले इतर भिन्न आदि का भी बोधक है । अत एव सूत्र में इतर शब्द का पृथक् प्रयोग केवल विस्तार के लिए है । **दिक्शब्दः**—दिशि दृष्टः शब्दः (दिशा के अर्थ में प्रयोग में आने वाला शब्द) इस विग्रह में मध्यमपदलोपी समास किया जाता है । अञ्चूत्तरपद-अञ्चू-धातुः उत्तरपदं यस्य सः अञ्चूत्तरपदः (अञ्चु धातु है, उत्तर पद जिस शब्द का, वह शब्द हुआ 'अञ्चूत्तरपद') । जैसे प्राक्, प्रत्यङ् आदि । यहाँ पर दिक्-शब्द के साहचर्य से सध्र्यङ् आदि का ग्रहण नहीं होता है । आच् प्रत्यय है । अदूर अर्थ में आच्-प्रत्यय होता है (दक्षिणादाच् 2/3/36) इसका अर्थ 'आच्-प्रत्ययान्त' है । 'आहि' भी प्रत्यय हैं । (आहि च दूरे) । दूर अर्थ में **आहि** होता है । इसका अर्थ है—आहि-प्रत्ययान्त ।

सूत्रार्थ—अन्य आरात् इतर ऋते दिशा के अर्थ में रूढ शब्द, अञ्चु उत्तरपद वाले शब्द, आच्प्रत्ययान्त एवं आहि-प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी-विभक्ति होती है ।

अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थ' इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम् । प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात् आच्-दक्षिणा ग्रामात् । आहि—दक्षिणाहि ग्रामात् । अपादाने पञ्चमीति सूत्रे 'कार्तिक्याः प्रभृति' इति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी। भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः । 'अपपरिबहिः' इति समासविधानाज्ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी । ग्रामाद् बहिः ।

व्याख्या—

प्रश्न—**'अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते'** सूत्र से दिग्-वाचक के योग में पञ्चमी विधान किया जा रहा है । प्राक् प्रत्यक् इत्यादि शब्द, जिसमें अञ्चु धातु उत्तर पद में है, वे दिग्-वाचक ही हैं । (प्र + अंञ्च् + क्विन् = प्राक्, प्रति + अञ्चू + क्विन् = प्रत्यक्) अतः प्राक् प्रत्यक् आदि को दिग्-वाचक मानकर ही इनके योग में **'प्राक् प्रत्यक् वा ग्रामात्'** इसमें पञ्चमी सिद्ध हो जाएगी । पुनः सूत्र में अञ्चूत्तर-पद का ग्रहण किस लिए है ?

उत्तर—**अन्यारादितरर्ते 2/3/29** से उत्तर **'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' 2/3/30** है । दिशा देश एवं कालवाचक के योग में 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' से षष्ठी का विधान है । यह सूत्र 'अन्यारादितरर्ते' सूत्र से असतर्थप्रत्यय के अर्थवाले दिक्-वाचक के योग में प्राप्त पञ्चमी का अपवादत्वात् बाध करता है । अञ्चूत्तरपद वाले शब्द दिशावाचक हैं । अतः उनके योग में प्राप्त पञ्चमी का यह बाध कर लेता तो प्राक् प्रत्यक् वा ग्रामात् में षष्ठी हो जाती । **'अन्यारादितरर्ते'** सूत्र में 'दिक्शब्द' से पृथक् 'अञ्चूत्तरपद' का ग्रहण करने की सामर्थ्य से यह सूत्र उक्त प्रयोग में **'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन'** से प्राप्त षष्ठी का बाध करता है । यही **'अञ्चूत्तरपद'** पद के पृथक् ग्रहण का प्रयोजन है ।

NOTES

प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात्—प्राक् या प्रत्यक् (अञ्चूत्तरपद) के योग में '**अन्यारादितरर्ते**' से ग्रामशब्द से पञ्चमी-विभक्ति होती है ।

विशेष—'प्राच्यां दिशि, प्रतीच्यां दिशि' इस विग्रह में प्राची एवं प्रतीची-शब्द से '**दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः**' सूत्र से अस्ताति-प्रत्यय होता है । उसका '**अञ्चेर्लुक्**' से लुक् हो जाता है । और '**लुक् तद्धितलुकि**' से 'ङीप्' का भी लुक् हो जाने पर प्राक् एवं प्रत्यक् बनता है ।

दक्षिणा ग्रामात्—(गाँव से समीप दक्षिण की ओर) इस वाक्य में दक्षिण + आच् = 'दक्षिणा' इस आच्-प्रत्ययान्त के योग में ग्राम-शब्द से 'अन्यारादितरर्ते' सूत्रसे पञ्चमी-विभक्ति कर 'ग्रामात्' बनता है ।

विशेष—'दक्षिणस्यां दिशि अदूरे' इस अर्थ में '**दक्षिणादाच्**' सूत्र से दक्षिण शब्द से आच्-प्रत्यय कर दक्षिणा शब्द बनता है ।

दक्षिणाहि ग्रामात्—(गाँव से दूर दक्षिण दिशा में) इस वाक्य में आहिप्रत्यायान्त (दक्षिण + आहि =) दक्षिणाहि शब्द के योग में ग्राम से '**अन्यारादितरर्ते**' सूत्र से पञ्चमी करने से 'ग्रामात्' बनता है ।

विशेष—'दक्षिणस्यां दिशि दूरे' इस विग्रह में '**आहि च दूरे**' सूत्र से दक्षिण-शब्द से आहि-प्रत्यय कर '**दक्षिणाहि**' बनता है ।

आच्-प्रत्यान्त एवं आहि-प्रत्ययान्त दिक्-शब्द हैं । इनके योग में '**षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन**' से प्राप्त षष्ठी को बाधने के लिए दोनों का पृथक् निर्देश किया गया है ।

प्रश्न—'भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः' इस प्रयोग में अन्य आदि शब्दों के योग का अभाव होने पर भी 'भवात्' पद में पञ्चमी कैसे होती है ?

उत्तर—अपादाने पञ्चमी इस सूत्र के भाष्य में '**कार्तिक्याः प्रभृति**' इस भाष्य के प्रयोग से प्रभृति एवं प्रभृति के अर्थ वाले शब्दों के योग में भी पञ्चमी होती है । अत एव,

भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः—(उत्पत्ति से लेकर या आरम्भ कर हरि की सेवा करनी चाहिए) इस वाक्य मे 'प्रभृति' के योग में या प्रभृत्यर्थक आरभ्य के योग में **भव** से पञ्चमी विभक्ति होती है ।

प्रभृति-शब्द के योग में 'आरभ्य' का अर्थ रहने पर कभी भी द्वितीया नहीं होगी क्योंकि प्रभृति-शब्द का अर्थ 'अवधिं परिगृह्य' में क्रियात्व का अभाव है ।

'**अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या**' सूत्र से पञ्चम्यन्त के साथ 'बहिः' पद का समास किया जाता है । इस समास विधान से यह ज्ञापित होता है कि 'बहिः' के योग में भी पञ्चमी होती है । अन्यथा समासविधान व्यर्थ हो जाता । अत एव **ग्रामद बहिः**— (ग्राम के बाहर) यहाँ पर ग्राम से 'बहिः' के योग में पञ्चमी होती है ।

65. अपपरी वर्जने 1/4/88 ।।

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः ।

66. आङ मर्यादावचने 1/4/89 ।।

आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात् । वचनग्रहणादभिविधावपि ।।

67. पञ्चम्यपाङ्परिभिः 2/3/10 ।।

एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् ।। अप हरेः, परि हरेः संसारः । परिरत्र वर्जने । लक्षणादौ तु हरिं परि । आ मुक्तेः संसारः । आ सकलाद् ब्रह्म ।

65. अप और परि वर्जन-अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञक हों ।

66. मर्यादा-अर्थ में आङ् को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

मर्यादा 'वचने' के वचनग्रहण से अभिविधि अर्थ में भी आङ् को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

67. अप आङ् एवं परि इन कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी हो ।

अप हरेः, परि हरेः संसारः—(हरि को छोड़कर संसार है) यहाँ पर अप और परि को '**अपपरी वर्जने**' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई तथा इनके योग में '**पञ्चम्यपाङ्परिभिः**' से हरि से पञ्चमी-विभक्ति हुई । इसमें 'परि' शब्द वर्जन अर्थ में है । लक्षण आदि अर्थ में तो परि के योग में द्वितीया कर 'हरिं परि' बनता है ।

आ मुक्तेः संसारः—(मुक्ति तक संसार है) यहाँ पर '**आङ् मर्यादावचने**' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा कर उसके योग में '**पञ्चम्यपाङ्परिभः**' से मुक्ति से पञ्चमी होती है । उसी प्रकार **आ सकलाद् ब्रह्म**—(सब में ब्रह्म है) इस प्रयोग में 'आ' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा कर उसके योग में 'सकल' से पञ्चमी हुई ।

व्याख्या—'अपपरी वर्जने' इस सूत्र में 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार आता है, और वह यहाँ द्विवचनान्त रूप में परिवर्तित होता है । आप और परि का द्वन्द्वसमास कर 'अपपरी' प्रथमाद्विवचन का रूप है । अप और परि ये निपात हैं।

सूत्रार्थ—वर्जन अर्थ में अप एवं परि कर्मप्रवचनीय-संज्ञक होते हैं ।

यदि सूत्र में 'वर्जने' यह पद नहीं हो तब 'परिषिञ्चति' = सर्वतः सिञ्चति, अर्थ में परि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाने पर उपसर्गसंज्ञा का बाध हो जाएगा तथा '**उपसर्गात् सुनोति**' सूत्र से षत्व नहीं हो सकेगा । अतः '**वर्जने**' यह पद आवश्यक है ।

आङ् मर्यादावचने—**मर्यादायाः** वचनम्, तस्मिन् मर्यादावचने = मयार्दा वचन में, यह अर्थ है । कर्मप्रवचनीयाः का अधिकार है । मर्यादा का अर्थ है—सीमा, अवधि । वचन-ग्रहण करने से अभिविधि अर्थ की भी प्राप्ति होती है क्योंकि मर्यादा-शब्द जहाँ कहा जाये वह मर्यादावचन कहलाता है

। मर्यादा का अर्थ अभिविधि भी है । मर्यादा और अभिविधि में थोड़ा अन्तर है । जहाँ से किसी की अवधि निश्चित की जाये उसको लेकर अभिविधि होती है, और मर्यादा उस अवधि से पूर्व तक होती है । जैसे—**'आ प्रयागात् वृष्टिः'** इस वाक्य का मर्यादा-अर्थ करने पर व्यक्त होता है कि 'प्रयाग से पूर्व तक वृष्टि' । अभिविधि अर्थ मानने पर अर्थ होता है—प्रयाग को लेकर 'वृष्टि' ।

सूत्रार्थ—मर्यादा एवं अभिविधि अर्थ में दृष्ट आङ् कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है ।

पञ्चम्यपाङ्परिभिः—पञ्चमी अपाङ्परिभिः यह सन्धिविच्छेद है । **'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'** से 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' की अनुवृत्ति आती है । अप च आङ् च परि च इस विग्रह में द्वन्द्वसमास कर तृतीया-बहुवचन में **'अपाङ्परिभिः'** बना । इनका सम्बन्ध कर्मप्रवचनीयैः युक्ते = कर्मप्रवचनीययुक्ते के 'कर्मप्रवचनीयैः' के साथ होता है ।

सूत्रार्थ—अप आङ एवं परि इन कर्मप्रवचनीयों के योग में पञ्चमी-विभक्ति होती है ।

अप हरेः, परि हरेः संसारः—(हरि को छोड़कर संसार है) अर्थात् हरि को छोड़कर जन्ममृत्युचक्ररूपी संसार है। इस वाक्य में अप एवं परि को 'अपपरी वर्जने' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई, तथा कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया को बाधकर **'पञ्चम्यपाङ्परिभिः'** से हरि से पञ्चमी होती है । 'हरेः' बनता है।

उक्त उदाहरण वर्जन-अर्थ में है । जब परि का अर्थ लक्षण-आदि होगा, तब **'लक्षणेत्थंभूताख्यान'** सूत्र से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होगी, तथा **'कर्मप्रवचनीययुक्ते'** से द्वितीया होगी । जैसे—**हरिं परि**—(हरिविषयक भक्ति से युक्त) इस वाक्य में हरि से द्वितीया होती है ।

आ मुक्तेः संसारः—(मुक्ति तक संसार है) इस वाक्य में आङ् मर्यादा-अर्थ में है । अतः **'आङ् मर्यादावचने'** से आङ् को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है, तथा उसके योग में **'पञ्चम्यपाङ्परिभिः'** से मुक्ति से पञ्चमी-विभक्ति कर 'मुक्तेः' बनता है । मुक्ति संसार की मर्यादा है, इस में मुक्ति का समावेश नहीं हुआ है, अर्थात् मुक्ति से पूर्व तक संसार है, यह अर्थ होता है ।

आ सकलाद् ब्रह्म—(सब में ब्रह्म अभिव्याप्त है) इस वाक्य में आङ् 'अभिविधि' अर्थ में है क्योंकि ब्रह्म में 'सकल' समाहित है । **'आङ् मर्यादावचने'** से **कर्मप्रवचनीयसंज्ञा कर 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः'** से 'सकल' से पञ्चमी-विभक्ति होती है, **'सकलात्'** बनता है ।

---

68. प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः 1/4/92 ।।

एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात् ।

69. प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् 2/3/11 ।।

अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् ।

---

68. प्रतिनिधि एवं प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

जिससे सम्बन्धित प्रतिनिधि एवं प्रतिदान हो, उससे कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी-विभक्ति होती है ।

प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति—(प्रद्युम्न कृष्ण का प्रतिनिधि है) इस वाक्य में प्रति को '**प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः**' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है, तथा '**प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्**' से कृष्ण से पञ्चमी-विभक्ति की जाती है ।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्—(तिलों के बदले माष देता है) यहाँ पर प्रति को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है । उसके योग में 'तिल' से पञ्चमी-विभक्ति होती है ।

व्याख्या—प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः—इस सूत्र में 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है । 'प्रति' निपात है । प्रतिनिधिश्च प्रतिदानञ्च इस विग्रह में द्वन्द्वसमास कर सप्तमी-द्विवचन में 'प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' बनता है । प्रतिनिधि का अर्थ है—सदृश । अर्थात् मुख्य के समान गुणवाला व्यक्ति 'प्रतिनिधि' कहलाता है । **प्रतिदान**—प्राप्त वस्तु के बदले में अन्य वस्तु को देना प्रतिदान है । अर्थात् वस्तुओं का विनिमय 'प्रतिदान' होता है ।

सूत्रार्थ—प्रतिनिधि एवं प्रतिदान अर्थ में प्रति को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

---

70 अकर्तर्यृणे पञ्चमी 2/3/24।।

कर्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः **पञ्चमी** स्यात् ।। शताद् बद्धः । अकर्तरि किम् ? शतेन बन्धितः ।

कर्तृ संज्ञा से रहित जो हेतुभूत ऋण, उससे पञ्चमी-विभक्ति होती है ।

शताद् बद्धः—(सौ के ऋण से बन्धा हुआ) यहाँ पर ऋणवाचक 'शत'-शब्द बन्धन का कारण है, और वह कर्ता भी नहीं है । अतः '**अकर्तर्यृणे पञ्चमी**' से 'शत' से पञ्चमी होती है ।

अकर्तरि—सूत्र में 'अकर्तरि' पद नहीं रखें तो क्या होगा ? यदि 'अकर्तरि' पद न रखें तब **शतेन बन्धितः** (सौ रुपये के द्वारा बन्धवा दिया) इसमें प्रयोजक-कर्त्ता 'शत' से भी पञ्चमी होने लगेगी, जो अनिष्ट है ।

व्याख्या—'अकर्तरि', 'ऋणे', 'पञ्चमी' ये तीन पद हैं । '**हेतौ**' सूत्र की अनुवृत्ति आती है । अकर्तरि का अर्थ-कर्तृभिन्न है । यह **ऋणे** का विशेषण है । 'हेतौ' का अन्वय 'ऋणे' के साथ है ।

सूत्रार्थ—कर्तृसंज्ञा से रहित ऋण के हेतुभूत रहने पर हेतुभूत ऋणवाचक शब्द से पञ्चमी होती है ।

शताद् बद्धः—(सौ रुपये के ऋण से बन्धा हुआ या कैद) इस वाक्य में शत संख्या-पद ऋण की राशि बताता है । सौ रुपये या सौ मोहरें । यह ऋणवाचक शत-शब्द कर्ता नहीं है, अपि तु बन्धन का हेतु है । इसमें '**हेतौ**' से तृतीया प्राप्त थी, उसको बाधकर '**अकर्तर्यृणे पञ्चमी**' से शत से पञ्चमी कर 'शतात्' बनता है ।

नियतसमय में लिया गया ऋण (शत) लौटाया नहीं गया । अतः इस ऋण के कारण ऋणदाता ने ऋणग्रहीता को बन्धवाया । बन्धन में कारणीभूत 'शत' हुआ है । यह शत-शब्द कर्ता से भिन्न भी है और ऋणवाचक भी है ।

अकर्तरि किम् ? शतेन बन्धितः—यदि सूत्र में 'अकर्तरि' यह पद नहीं रखें तो सूत्र का अर्थ होगा—'ऋण के हेतुभूत रहने पर, ऋण-वाचक से पञ्चमी होती है'। इस अर्थ के होने पर शतेन बन्धि

ात: (सौ रुपये ने ऋणदाता के द्वारा ऋणग्रहीता को बंधवा दिया) इस वाक्य में शतशब्द ऋणवाचक भी है, बंधन का हेतुभूत भी है, और प्रयोजक कर्ता भी है। **अकर्तरि** पद के अभाव में '**ऋणे पञ्चमी**' की प्रवृत्ति हो जाने पर 'शत' से पञ्चमी होने लगेगी । इसको रोकने के लिए 'अकर्तरि' पद आवश्यक है । **शतेन बन्धित:** में 'शत' शब्द प्रयोजककर्ता है, अत: पञ्चमी नहीं होती है । अपि तु प्रयोजककर्ता 'शत-शब्द' अप्रधान है, अत: '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' से तृतीया होती है ।

---

71. विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् 2/3/35।।

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् ।। जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः । गुणे किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियाम् किम् ? बुद्ध्या मुक्त: । विभाषा इति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित् । धूमादग्निमान् । नास्ति घटोऽनुपलब्धे: ।

जो गुणवाचक-शब्द किसी कार्य का हेतु भी हो तथा स्त्रीलिङ्ग में न हो तो उससे विकल्प से पञ्चमी होती है ।

जाड्यात जाड्येन वा बद्धः—(मूर्खता के कारण बन्ध गया) यहाँ पर जाड्य-शब्द गुणवाचक है तथा बन्धन का हेतु भी है । '**विभाषागुणे**' से पञ्चमी कर 'जाड्यात्' बना । विकल्प में हेतौ से तृतीया कर 'जाड्येन' बनता है ।

सूत्र में 'गुणे' यह पद नहीं कहें तो 'धनेन कुलम्' में हेतुवाचक धन से भी पञ्चमी हो जाएगी । यदि सूत्र में '**अस्त्रियाम्**' यह पद नहीं कहेंगे तब '**बुद्ध्या मुक्त:**' (बुद्धि से मुक्त हुआ) में गुणवाचक हेतु बुद्धि जो स्त्रीलिङ्ग में है, इससे भी पञ्चमी हो जाएगी । '**अस्त्रियाम्**' कहने पर पञ्चमी नहीं होती है ।

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् इस सूत्र में 'विभाषा' इस योगविभाग के करने से गुणभिन्न हेतु और स्त्रीलिङ्ग में रहने वाले से भी कहीं कहीं पञ्चमी हो जाती है । जैसे—**धूमात् अग्निमान्**—(धुएँ के कारण पर्वत अग्नि युक्त है) इस में धूम—गुणवाचक नहीं है, फिर भी इससे पञ्चमी होती हैं । एवम्—**नास्ति घटोऽनुपलब्धे:**—(अनुपलब्धि के कारण घट नहीं है) इसमें स्त्रीलिङ्गवाची 'अनुपलब्धि' हेतु है । फिर भी अनुपलब्धि से पञ्चमी-विभक्ति की गई है ।

व्याख्या—विभाषा, गुणे, अस्त्रियाम, ये तीन पद हैं । इस सूत्र में 'हेतौ' सूत्र से 'हेतौ' की अनुवृत्ति आती है, तथा 'अकर्तर्यृणे पञ्चमी'-से पञ्चमी पद की अनुवृत्ति आती है । 'विद्यमानात्' पद का अध्याहार किया जाता है । गुणे और अस्त्रियाम् हेतौ का विशेषण है । गुणवाचक किन्तु स्त्रीलिङ्ग से भिन्न=पुंल्लिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग 'हेतु' में यह अर्थ होता है ।

सूत्रार्थ—स्त्रीलिंङ्ग भिन्न गुणबोधक हेतु=कारण, अर्थ में विद्यमान शब्द से पञ्चमी-विभक्ति होती है, विकल्प से ।

---

72. पृथग् विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् 2/3/32।।

एभिर्योगे तृतीया स्यात् पञ्चमीद्वितीये च । अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चयार्थम् । पञ्चमी द्वितीये चानुवर्तेते । पृथग् रामेण रामात् रामं वा । एवं नाना।

NOTES

पृथक् विना एवं नाना के योग में तृतीया होती है, विकल्प से पक्ष में पञ्चमी और द्वितीया भी होती है।

'अन्यतरस्यां' यह पद समुच्चय के लिए है । अत एव पञ्चमी एवं द्वितीया की अनुवृत्ति आती है।

पृथग् रामेण रामात् रामं वा—(राम से भिन्न) यहाँ पर '**पृथग् विनानानाभिस्तृतीयाऽन्य तरस्यां**' से राम-शब्द से तृतीया करने पर 'रामेण' होता है । पक्ष में पञ्चमी करने पर 'रामात्' तथा द्वितीया करने पर 'रामं' भी होता है ।

व्याख्या—पृथग्विनानानाभिः, तृतीया, अन्यतरस्याम्, ये तीन पद हैं । इस सूत्र में 'अन्यतरस्यां' पद का अर्थ समुच्चय माना है । अतः मण्डूकप्लुति से '**अपादाने पञ्चमी**' से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति आती है, तथा '**एनपा द्वितीया**' से द्वितीया' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ-पृथक् विना एवं नाना के योग में तृतीया पञ्चमी एवं द्वितीया विभक्तियाँ होती हैं । विकल्प से ।

प्रस्तुत-सूत्र से मुख्यतः तृतीया का विधान होता है, जिसका सूत्र में निर्देश है । '**अन्यतरस्यां**' पद के कारण यह विकल्प से विधान करता है । पाक्षिक होने से अन्यविभक्तियाँ समीपस्थ सूत्रों—'**अपादाने पञ्चमी**' एवं '**एनपा द्वितीया**' से अनुवृत्त होती हैं ।

सूत्र में 'तृतीया च' इतना कहने पर भी विकल्प की प्राप्ति हो जाती । '**अन्यतरस्यां**' इस बड़े पद का पाठ करने से यह शब्द विकल्प-अर्थ के साथ समुच्चय अर्थ को भी देता है । इसी समुच्चय के कारण व्यवहित पञ्चमी की अनुवृत्ति **मण्डूक-प्लुति** से होती है । 'एनपा द्वितीया' से द्वितीया की अनुवृत्ति स्वाभाविक है क्योंकि वह इससे अव्यवहित पूर्व में पठित है । **मण्डकप्लुति** के कारण **अपादाने पञ्चमी** के बाद पठित सूत्र 'षष्ठ्यतसर्थ प्रत्ययेन' से पञ्चमी की अनुवृत्ति नहीं आती है ।

---

73. करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य 2/3/33।।

एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीया पञ्चम्यौ स्तः ।

स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः । द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः ।

74 दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च 2/3/35।।

एभ्यो द्वितीया स्याच्चात् पञ्चमी-तृतीये च । प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम् । ग्रामस्य दूरम्, दूरात्, दूरेण वा, अन्तिकम्, अन्तिकात् अन्तिकेन वा । असत्त्ववचनस्य इत्यनुवृत्तेर्नेह—दूरः पन्थाः ।

---

73. अद्रव्य के वाचक स्तोक अल्प कृच्छ्र एवं कतिपय शब्द जब करण (साधकतम साधन) के रूप में प्रयुक्त हों तब इनसे करण में तृतीया एवं पञ्चमी विभक्तियाँ होती हैं ।

स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः—(थोड़े से प्रयास से मुक्त हुआ) यहाँ पर स्तोक से '**करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्र**' इत्यादि सूत्र से पञ्चमी करने पर स्तोकात् बना । पक्ष में तृतीया करने पर स्तोकेन बना। द्रव्य अर्थ में स्तोक का प्रयोग होने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी । **कर्तृकरणयोस्तृतीया से** तृतीया करके '**स्तोकेन विषेण हतः**' (थोड़े से विष से मर गया) बनता है ।

74. दूरार्थक एवं अन्तिकार्थक शब्दों से द्वितीया-पञ्चमी एवं तृतीया विभक्तियाँ होती हैं ।

यह सूत्र प्रातिपदिकार्थमात्र में तीनों विभक्तियों का विधान करता है । ग्रामस्य दूरम्, दूरात् दूरेण वा, तथा **ग्रामस्य अन्तिकम्, अन्तिकात्, अन्तिकेन वा,** इन दोनों वाक्यों में दूर शब्द से तथा अन्तिक शब्द से '**दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च**' सूत्र से क्रमशः द्वितीया-पञ्चमी एवं तृतीया करने पर दूरं, दूरात्, दूरेण तथा अन्तिकम्, अन्तिकात्, अन्तिकेन ये रूप बनते हैं ।

इस सूत्र में असत्त्ववचनस्य की अनुवृत्ति आती है । अतः 'दूरः पन्थाः' इस प्रयोग में दूर शब्द के द्रव्यवाचक होने से सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

व्याख्या—करणे चेति—स्तोकश्च अल्पश्च कृच्छ्रश्च कतिपयश्च' इस विग्रह में समाहारद्वन्द्व करने पर षष्ठी-एकवचन में 'स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्य' यह बनता है । यहाँ पर पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी-विभक्ति है । **असत्ववचनस्य** का अर्थ है—अद्रव्यवाचक । यह स्तोकादि का विशेषण है । 'च' के कारण मण्डूकप्लुति से '**अपादाने पञ्चमी**' से **पञ्चमी** की अनुवृत्ति आती है, तथा '**पृथग्विनानानाभिः**' से 'अन्यतरस्यां' की अनुवृत्ति आती है । **करणे**-पद के घटक करण का अर्थ 'साधकतम-साधन' है ।

सूत्रार्थ—द्रव्य से भिन्न वाचक स्तोक (स्वल्प) अल्प, कृच्छ्र, (कठिनाई), कतिपय (कुछ) शब्द से करण अर्थ में (जब ये करण के रूप में प्रयुक्त हों तब) पञ्चमी विभक्ति होती है, विकल्प से । जब पञ्चमी नहीं होगी तब करण में तृतीया हो ही जाएगी । वृत्ति में 'तृतीया'-पद फलितार्थकथन मात्र है, व्याख्यान लभ्य नहीं ।

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च—दूर और अन्तिक का **द्वन्द्व-समास कर** 'दूरान्तिक' बनता है । पुनः इसका दूरान्तिके अर्थौ येषां, ते, इस विग्रह में बहुव्रीहि-समास करने पर पञ्चमी-बहुवचन में 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' बनता है । अर्थ शब्द का सम्बन्ध दूर के साथ भी होगा । "दूर और दूर अर्थ वाले, अन्तिक एवं अन्तिक (समीप) अर्थवाले से", यह इस पद का अर्थ है । 'च' के ग्रहण से व्यवहित होने पर भी तृतीया एवं पञ्चमी की अनुवृत्ति आती है । यह सूत्र केवल प्रातिपदिकार्थ में इन विभक्तियों का विधान करता है । अतः यह प्रातिपदिकार्थ-मात्र में होने वाली प्रथमा का बाधक है ।

सूत्रार्थ—दूर एवं दूर अर्थ वाले तथा अन्तिक (समीप) एवं समीप अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया तृतीया एवं पञ्चमी विभक्तियाँ होतीं हैं ।

'**दूरादावस्थान्मूत्रं दूरात्पादावनेजनम्**' इस भाष्य के प्रयोग से सप्तम्यर्थ-अधिकरण में भी यह सूत्र प्रवृत्त होता है।

ग्रामस्य दूरम्, दूरेण, दूरात् वा—यहाँ पर प्रातिपदिकार्थ-मात्र में दूर शब्द से 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' से द्वितीया करने पर **दूरम्** 'तृतीया करने पर दूरेण' तथा पञ्चमी करने पर **दूरात्** बनता है । इसी प्रकार **ग्रामस्य अन्तिकम्, अन्तिकेन, अन्तिकात्**—इस वाक्य में अन्तिक से द्वितीया तृतीया एवं पञ्चमी होती है ।

इस सूत्र में 'करणे च स्तोकाल्प' सूत्र से **असत्त्ववचनस्य** की अनुवृत्ति मानी जाती है । अतः यह द्रव्यवाचक में प्रवृत्त नहीं होता । तथा इसके फलस्वरूप दूरः पन्थाः इस वाक्य में दूर-शब्द से

प्रातिपदिकार्थ-मात्र में प्रथमा ही हुई । **'दूरान्तिकार्थिकेभ्यो द्वितीया च'** की प्रवृत्ति ही नहीं हुई । क्योंकि 'दूर: पन्था:'=मार्ग दूर है, इसमें दूर-शब्द 'पन्था: का विशेषण होने से द्रव्यवाची है ।

सम्बन्ध कारक-षष्ठी विभक्ति

75. षष्ठी शेषे 2/3/50 ।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्त: स्वस्वामिभावादिसम्बन्ध: शेष: । तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञ: पुरुष: । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातु: स्मरति । एधोदकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयो:। फलानां तृप्त: ।

कारक एवं प्रातिपदिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध 'शेष' है । शेष अर्थ में षष्ठी-विभक्ति होती है।

राज्ञ: पुरुष:—(राजा का पुरुष) इस वाक्य में राजा स्वामी है तथा पुरुष सेवक है । स्वस्वामिभाव सम्बन्ध के होने से राजन् से **'षष्ठी शेषे'** से षष्ठी करने पर 'राज्ञ:' बनता है । कर्म आदि कारकों के सम्बन्ध-अर्थ मात्र की विवक्षा होने पर भी षष्ठी ही होती है । जैसे—**सतां गतम्**—(सज्जन सम्बन्धी गमन) यहाँ कर्तृत्व की अविवक्षा में 'सत्' से शेषे षष्ठी से षष्ठी होती है ।

सर्पिषो जानीते—(घी के द्वारा प्रवृत्त होता है) यहाँ पर करणत्व की अविवक्षा करने पर 'सर्पिष्' से 'शेषे षष्ठी' से षष्ठी होती है ।

मातु: स्मरति—(माता को स्मरण करता है) यहाँ पर कर्मत्व की अविवक्षा करने पर मातृ-शब्द से **षष्ठी शेषे** से षष्ठी करने पर 'मातु:' बनता है । **एधोदकस्योपस्कुरुते**—(लकड़ी व जल को परिशुद्ध करता है) यहाँ पर कर्मत्व की अविवक्षा होने से, सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा होने पर 'एधोदक' शब्द से षष्ठी होती है । **भजे शम्भोश्चरणयो:**—(शिव के चरणों को भजता है) यहाँ पर चरण में कर्मत्व की अविवक्षा होने से सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा कर षष्ठी होती है ।

फलानां तृप्त:—(फलों से तृप्त) यहाँ पर फल में करणत्व की अविवक्षा होने से शेषत्व की विवक्षा हुई । अत एव फल से **'षष्ठी शेषे'** से षष्ठी होती है ।

व्याख्या—षष्ठी-विभक्ति का विधान करने वाला सूत्र **'षष्ठी शेषे'** है । षष्ठी कारक-विभक्ति नहीं है । सम्बन्ध-सामान्य अर्थ में इसका विधान किया जाता है । किन सम्बन्धों को षष्ठी प्रकट करती है, इसे बताने हेतु सूत्र में 'शेषे' पद है । उक्तादन्य: शेष:=अब तक कहे जा चुके से अतिरिक्त को शेष कहते हैं । **कर्मणि द्वितीया** इत्यादि सूत्रों में द्वितीया तृतीया चतुर्थी पञ्चमी एवं सप्तमी के विधान में कर्म करण सम्प्रदान अपादान एवं अधिकरण कारक कहे जा चुके हैं । प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा भी कही जा चुकी है । इन सभी अर्थों से भिन्न 'स्वस्वामिभावादि-सम्बन्ध" शेष पद का अर्थ है । ये सम्बन्ध सौ प्रकार के =.अनेक हैं । अत एव **सूत्रार्थ** हुआ—कारक और प्रातिपदिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभावादि-सम्बन्ध अर्थ में षष्ठी होती है ।

यह सम्बन्ध बाधक के अभाव में सामान्य और विशेष रूप से भासित होता है । नियम है—**नहि निर्विशेषं सामान्यम्** (सामान्य विशेषरहित नहीं होता है) बाधक के रहने पर मातु: स्मरति इत्यादि में

सम्बन्धत्व सम्बन्धसामान्य रूप से ही प्रतीत होता है । कर्मत्वादि-विशेष रूप से भासित होने पर द्वितीया आदि हो जाएगी । जब कर्म करण आदि कारकों का क्रिया के साथ सम्बन्ध-मात्र विवक्षित हो, सम्बन्ध ा का प्रकार विशेष-ईप्सिततमत्व, साधकतमत्व आदि बताना इष्ट न हो तब कर्म करण आदि संज्ञाएँ नहीं होती हैं । तब सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी होती है । इस बात **'को कर्मादीनामपि सबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव** के द्वारा बताया गया है ।

यद्यपि सम्बन्ध अनेक हैं, फिर भी चार प्रसिद्ध सम्बन्ध, अधोलिखित कारिका में बताये गए हैं ।

(i) स्वस्वामिभाव सम्बन्ध, (ii) जन्यजनकभाव सम्बन्ध, (iii) अवयवावयविभाव सम्बन्ध, (iv) स्थानी-आदेश सम्बन्ध ।

स्वस्वामिजन्यजनकावयवाङ्गी तृतीयकः । स्थान्यादेशश्च विज्ञेयः सम्बन्धोऽसौ चतुर्विधः ।।
साधोर्धनं पितुः पुत्रः पशोः पादो ब्रुवो वचिः । उदाहृतश्चतुर्धा यः कविभिः परिपालितः ।।

साधोः धनम्—(साधु का धन) यहाँ पर स्व-धन एवं स्वामी साधु है । इन दोनों का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है । साधु का सम्बन्ध धन से बताया जा रहा है । अतः शेषे षष्ठी से 'साधु' से षष्ठी होती है ।

पितुः पुत्रः—(पिता का पुत्र), यहाँ पर जन्य=उत्पन्न होने वाला, पुत्र है । जनक=उत्पादक, पिता है । इन दोनों में जन्यजनकभाव सम्बन्ध है । **पशोः पादः**—(पशु का पैर) यहाँ पर पाद अवयव=अङ्गी है । अतः पशु एवं पाद का अङ्गाङ्गिभाव=अवयवावयविभाव सम्बन्ध है । **ब्रुवो वचिः**—(ब्रू को वच् आदेश होता है) यहाँ ब्रू ''स्थानी है, तथा वच् आदेश है । इन दोनों का स्थानी-आदेशभाव सम्बन्ध है ।

इन सभी सम्बन्धों के रहने पर जिनका सम्बन्ध बताया जायेगा उससे षष्ठी होगी । जिससे सम्बन्ध ा बताया जायेगा, उससे नहीं ।

---

76. षष्ठी हेतुप्रयोगे 2/3/26।।

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति ।

77. सर्वनाम्नस्तृतीया च 2/3/27।।

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात्, षष्ठी च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोः।

हेतु-शब्द का प्रयोग होने पर हेतु द्योत्य हो तो षष्ठी-विभक्ति होती है ।

अन्नस्य हेतोर्वसति—(अन्न के कारण रहता है) यहाँ पर हेतु-शब्द का प्रयोग होने पर अन्न-शब्द से 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' से षष्ठी होती है।

77. सर्वनाम और हेतु-शब्द का प्रयोग होने पर तथा हेतु द्योत्य होने पर सर्वनाम एवं हेतु से तृतीया और षष्ठी होती है।

केन हेतुना वसति, कस्य हेतोः—(किस हेतु से रहता है) यहाँ पर सर्वनाम किम् शब्द से तृतीया करने पर **केन** तथा षष्ठी करने पर **'कस्य'** बनता है । सामानाधिकरण्य होने से हेतु से भी तृतीया-षष्ठी होती है ।

व्याख्या—'षष्ठी हेतुप्रयोगे' यह सूत्र हेतु-तृतीया का अपवाद है । इस सूत्र में 'हेतौ' की अनुवृत्ति आती है । हेतु-शब्द का प्रयोग 'हेतुप्रयोग' होता है ।

सूत्रार्थ—हेतु-शब्द के प्रयोग में तथा हेतु अर्थ द्योत्य होने पर हेतुवाचक से षष्ठी-विभक्ति होती है।

यदि सूत्र में 'हेतुप्रयोगे' शब्द न रखें तब '**अन्नेन वसति**' इस प्रयोग में भी हेतौ से प्राप्त-तृतीया का बाध हो जाएगा । हेतु-शब्द के न होने से '**षष्ठी हेतुप्रयोगे**' की प्रवृत्ति नहीं होती है तथा 'हेतौ' से तृतीया होती है । यदि सूत्र में 'हेतौ द्योत्ये' यह अर्थ न कहें तब '**अन्नस्य हेतोस्तुभ्यं नमः**' = अन्न के कारण तुम्हें नमस्कार है, इस वाक्य में युष्मद् शब्द से भी षष्ठी हो जाएगी ।

अन्नस्य हेतोर्वसति—(अन्न के हेतु से रहता है) इस वाक्य में वास का कारण अन्न है । अतः अन्न से हेतु द्योत्य है । साथ ही हेतु-शब्द का भी प्रयोग है । '**हेतौ**' से प्राप्त तृतीया का बाध कर '**षष्ठी हेतुप्रयोगे**' से 'अन्न' से षष्ठी होती है । अन्न के साथ सामानाधिकरण्य होने के कारण हेतु-शब्द से भी षष्ठी होती है ।

सर्वनाम्नः—इस सूत्र में 'हेतौ' की, तथा षष्ठी हेतुप्रयोगे की अनुवृत्ति आती है । 'सर्वनाम्नः' पद में षष्ठी-विभक्ति है ।

सूत्रार्थ—सर्वनाम और हेतु-शब्द का प्रयोग होने पर यदि हेतु-अर्थ द्योत्य हो तो सर्वनाम एवं हेतुवाचक शब्द से तृतीया एवं **षष्ठी-विभक्ति** होती है । यह पूर्वसूत्र का अपवाद है ।

केन हेतुना वसति-कस्य हेतोः—(किस हेतु से रहता है) इस वाक्य में किम्-शब्द हेतुवाचक है, तथा हेतु-शब्द का प्रयोग भी हुआ है, अतः '**सर्वनाम्नस्तृतीया च**' से किम्-सर्वनाम से तृतीया-विभक्ति होती है । सामानाधिकरण्य होने के कारण हेतु-शब्द से भी तृतीया होती है । षष्ठी होने पर '**कस्य हेतोः**' बनता है ।

वा. निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् ।।

किं निमित्तं वसति, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय इत्यादि । एवं किं कारणं, को हेतुः, किं प्रयोजनम् इत्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्ताय इत्यादि ।

वा. निमित्तार्थक शब्दों के प्रयोग में प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं ।

निमित्त या निमित्त के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले कारण, हेतु, प्रयोजन इत्यादि शब्दों का प्रयोग होने पर प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं । अत एव—**किं निमित्तं वसति**—(किस कारण रह रहा है) **केन निमित्तेन वसति**—(किस कारण से रह रहा है) **कस्मै निमित्ताय वसति**—किस लिए रह रहा है, **कस्मात् निमित्तात् वसति, कस्य निमित्तस्य वसति और कस्मिन् निमित्ते वसति,** ये सभी प्रयोग शुद्ध हैं । सभी वाक्यों में किम् शब्द से तथा तत्समानाधिकरण निमित्त-शब्द से भी प्रथमा द्वितीया तृतीया चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति क्रमशः हुई हैं । इसी प्रकार—**किं कारणं** 'को हेतुः' **किं प्रयोजनम्** इत्यादि वाक्यों में कारण हेतु एवं प्रयोजन के प्रयोग में सभी विभक्तियाँ हो सकती हैं।

NOTES

78. षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन 2/3/30 ।।

एतद्योगे षष्ठी स्यात् । दिक्शब्द इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात् ।

अतसुच्-प्रत्ययान्त एवं अतसुच् अर्थवाले-प्रत्यय जिनके अन्त में हों, उनके योग में षष्ठी होती है।

यह सूत्र '**अन्यारादितरर्ते**' से होने वाली दिग्योगलक्षणा पञ्चमी का अपवाद है ।

ग्रामस्य दक्षिणतः—(गाँव से दक्षिण की ओर) यहाँ पर '**अन्यारात्**' सूत्र को बाधकर दक्षिणतः के योग में ग्राम शब्द से '**षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन**' से षष्ठी होती है । इसी प्रकार ग्रामस्य पुरस्तात्, ग्रामस्य उपरिष्टात् आदि बनेंगे ।

व्याख्या—'षष्ठी अतसर्थप्रत्ययेन' ये दो पद हैं । अतस्-प्रत्यय से 'अतसुच्-प्रत्यय' का ग्रहणं होता है' । अतस् का अर्थ **अतसर्थ** हुआ । पुनः अतसर्थः अर्थो यस्य, इस विग्रह में मध्य के अर्थ का लोप करने पर '**अतसर्थ**' बनता है। **अतसर्थः-प्रत्ययः** इस विग्रह में कर्मधारय समास कर तृतीया-एकवचन में '**अतसर्थप्रत्ययेन**' बनता है । **अर्थ**—अतसुच्-प्रत्यय के अर्थ में आने वाले प्रत्यय के योग में षष्ठी होती है । अर्थात् '**दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः**' इस सूत्र से आरम्भ कर '**उत्तराच्च**' इस सूत्र तक के सूत्रों द्वारा **दिक् देश** एवं **काल** अर्थ में विद्यमान-शब्दों से स्वार्थ में प्रत्यय होते हैं । इन्हीं के मध्य पढ़े गए '**दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्**' इस सूत्र से 'अतसुच्-प्रत्यय' का विधान होता है । इस **अतसुच्**-प्रत्यय का **अर्थ**—'दिक् देश एवं काल' होता है । यही दिक् देश एवं काल अर्थ जिस अतसुच् (अतस्) का अर्थ है, उस अतस्-प्रत्ययान्त के प्रयोग में इस सूत्र से षष्ठी होती है ।

अतसर्थ-प्रत्ययों में **अस्ताति**-प्रत्यय का प्रथम निर्देश है, अतः इस सूत्र में 'अस्तात्यर्थ-प्रत्ययेन' यह पाठ होना चाहिए था, किन्तु लाघव के कारण 'अतसर्थ-प्रत्ययेन' पढ़ा गया है ।

दिक्शब्द इति—'**अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते**' सूत्र से दिग्वाचक शब्दों के योग में पञ्चमी का विधान किया गया है । उस दिग्योगलक्षणा पञ्चमी का अपवाद यह षष्ठी-विधान है।

79 एनपा द्वितीया 2/3/31 ॥

एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । 'एनपा' इति योगविभागात् षष्ठ्यपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण ।

एनप्-प्रत्ययान्त के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

'एनपा' इस योग विभाग से एनप्-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी भी होती है ।

दक्षिणेन ग्रामम्, ग्रामस्य वा—(गाँव के दक्षिण की ओर) यहाँ पर **एनपा द्वितीया** से दक्षिणेन शब्द के योग में 'ग्राम' से द्वितीया करने पर 'ग्रामं' बनता है । 'एनपा' इस योग-विभाग से षष्ठी करने पर 'ग्रामस्य दक्षिणेन' यह भी बनता है ।

व्याख्या—एनपा द्वितीया—इस सूत्र में 'एनप्'-प्रत्यय का निर्देश है । तृतीया-एकवचन में 'एनपा' बना है । '**प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्या**' से तदन्त की उपस्थिति होने से सूत्र का **अर्थ होता है**—एनबन्त शब्द के योग में द्वितीया होती है ।

यह सूत्र **षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन** का बाधक है । एनप्-प्रत्यय भी अतसर्थ-प्रत्ययों के अन्तर्गत आता है । (एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः) । अतः 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' से प्राप्त षष्ठी का बाध करने वाला 'एनपा द्वितीया' है । यह बाध नित्य प्राप्त था । अतः कहा गया कि—**एनपा इति योगविभागात् षष्ठ्यपि** । अर्थात् **एनपा** एवं **द्वितीया** ये दो विभाजन किए जाते हैं । 'एनपा' इस योगविभाग में षष्ठ्यतसर्थ-प्रत्ययेन से षष्ठी की अनुवृत्ति आती है, तथा **सूत्रार्थ होता है**—एनबन्त शब्द के योग में षष्ठी होती है । '**द्वितीया**' इस दूसरे योग में 'एनपा' की अनुवृत्ति लाकर **अर्थ किया जाता है**—एनबन्त-शब्द के योग में द्वितीया होती है । इस तरह षष्ठी का विकल्प से बाध होता है । षष्ठी एवं द्वितीया दोनों विभक्तियाँ होती हैं ।

---

80. दूरन्तिकार्थैः षष्ठ्यन्तरस्याम् 2/3/34 ॥

एतैर्योगे षष्ठी स्यात् पञ्चमी च । दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामद् वा ।

81. ज्ञोऽविदर्थस्य करणे 2/3/51 ॥

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात् । सर्पिषो ज्ञानम् ।

दूर और समीप अर्थ के वाचक शब्दों के योग में षष्ठी होती है, विकल्प से !

दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामद् वा—(गाँव से दूर या समीप) यहाँ पर '**दूरान्तिकार्थैः**' से दूर और निकट के योग में ग्राम से षष्ठी होती है । पक्ष में पञ्चमी करने पर 'ग्रामाद्' भी बनता है ।

ज्ञानार्थक से भिन्न ज्ञा-धातु के करण में सम्बन्ध की विवक्षा होने पर षष्ठी होती है ।

सर्पिषो ज्ञानम्—(घी द्वारा कार्य में प्रवृत्ति) यहाँ पर अज्ञानार्थक ज्ञा-धातु के योग में करण 'सर्पिष्' शब्द से षष्ठी होती है ।

व्याख्या—दूर और अन्तिक का द्वन्द्व-समास करने के बाद अर्थ-शब्द के साथ बहुव्रीहि समास कर तृतीया-बहुवचन में '**दूरान्तिकार्थैः**' बनता है । (दूरं च अन्तिकञ्चेति दूरान्तिके, दूरान्तिके अर्थः येषां ते, तैः) अर्थ का सम्बन्ध द्वन्द्वसमासघटक दूर और अन्तिक के साथ होता है । 'षष्ठी अन्यतरस्याम्' यह पदच्छेद है । **दूर अर्थ वाले तथा अन्तिक=समीप, अर्थवाले शब्दों के योग में जिससे दूरी या समीपता ज्ञात होगी, उससे षष्ठी होती है** । षष्ठी के अभाव में '**अपादाने पञ्चमी**' होती है । अर्थात् यह षष्ठी अपादान अर्थ में होती है । अत एव यहाँ **अपादाने पञ्चमी** से पञ्चमी की अनुवृत्ति मानी जाती है । समीपस्थ 'पृथग्विना' सूत्र से तृतीया की, या **एनपा द्वितीया** से द्वितीया की अनुवृत्ति नहीं आती है, ऐसा व्याख्यान से समझना चाहिए । अत एव वृत्ति में 'पञ्चमी च' भी लिखा गया है ।

ग्रामस्य दूरम्, ग्रामस्य निकटम्—(गाँव से दूर गाँव से समीप) यहाँ पर दूर तथा समीपवाची **निकट** के योग में ग्रामशब्द से '**दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्तरस्याम्**' से षष्ठी करने पर 'ग्रामस्य' बनता है । पक्ष में पञ्चमी करने पर ग्रामात् दूरं, ग्रामात् निकटम्, भी बनेगा ।

ज्ञोऽविदर्थस्य—ज्ञः अविदर्थस्य करणे, यह पदच्छेद है । ज्ञा-धातु का अनुकरण कर 'ज्ञः' षष्ठी-एकवचन में है । **अविदर्थस्य**—विद् (ज्ञान) है अर्थ जिसका वह हुआ विदर्थ । न विदर्थः अविदर्थः तस्य (नञ्समास) यह ज्ञः का विशेषण है । 'ज्ञानार्थक से भिन्न ज्ञा-धातु के' यह अर्थ हुआ । '**षष्ठी शेषे**' की अनुवृत्ति आती है । शेषे का अर्थ है—"सम्बन्ध के रूप में विवक्षा ।"

सूत्रार्थ—ज्ञानार्थक से भिन्न ज्ञा-धातु के करण में सम्बन्धत्व की विवक्षा होने पर षष्ठी-विभक्ति होती है ।

सर्पिषो ज्ञानम्—(घी के कारण प्रवृत्ति) प्रवृत्ति में साधकतम 'घी' करण कारक है । परन्तु करण की अविवक्षा एवं उसमें सम्बन्ध अर्थ की विवक्षा करने पर '**ज्ञोऽविदर्थस्य करणे**' सूत्र से सर्पिष् शब्द से षष्ठी होती है । यहाँ पर ज्ञा-धातु प्रवृत्ति अर्थ में है, न कि अवबोध=ज्ञान अर्थ में । इस अर्थ में प्रमाण पाणिनि का 'अविदर्थस्य' शब्द का प्रयोग ही है ।

वस्तुतः 'करणीभूत जो सर्पि, उससे सम्बन्धित प्रवृत्ति' यह वाक्यार्थ है क्योंकि घी का ज्ञान होने पर ही प्रवृत्ति होती है । प्रवत्ति में सर्पि=घी, करण है । यह सूत्र षष्ठी का प्रतिपद विधान करती है । अतः प्रतिपदविधाना षष्ठी है । करणत्व आदि की अविवक्षा होने पर '**षष्ठी शेषे**' सूत्र से ही षष्ठी-विभक्ति की जा सकती है । फिर प्रतिपदविधाना षष्ठी के लिए **ज्ञोऽविदर्थस्य करणे** इत्यादि ग्यारह सूत्रों की आवश्यकता नहीं रह जाती है । ये व्यर्थ हो जाते हैं, और व्यर्थ होकर नियम बनाते हैं कि—'जहाँ पर करणत्व कर्मत्व इत्यादि की अविवक्षा करने पर किसी पद को लेकर षष्ठी होती है, वहाँ समास नहीं होता है' । इस नियम के कारण **सर्पिषः ज्ञानम्** इत्यादि में षष्ठीसमास नहीं होता है, तथा समास के कारण होने वाला सुप् का लुक् (सुपोधातुप्रातिपदिकयोः) भी नहीं होता है । कहा गया है—

प्रोक्ता प्रतिपदं षष्ठीसमासस्य निवृत्तये ।

ज्ञोऽविदर्थस्य करणे इत्यादि सूत्र से **ज्ञः** इत्यादि पद को लेकर की जाने वाली षष्ठी समास की निवृत्ति के लिए है । समास-निवृत्ति का फल-सुप् का श्रवण, या लुक् न होना है ।

---

82. अधीगर्थदयेशां कर्मणि 2/3/52 ॥

एषां कर्मणि षष्ठी स्यात् । मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम्, ईशनं वा ।

अधिपूर्वक इक् धातु के अर्थसदृश अर्थ वाले धातु, दय-धातु एवं ईश-धातु के कर्म में सम्बन्धार्थ की विवक्षा में षष्ठी होती है ।

मातुः स्मरणम्—(माता का स्मरण) यहाँ पर स्मृ-धातु के कर्म मातृ-शब्द से सम्बन्ध अर्थ में '**अधीगर्थदयेशां कर्मणि**' से षष्ठी होती है ।

सर्पिषो दयनम् ईशनं वा—(घी सम्बन्धी दान, या घी सम्बन्धी उपयोग) यहाँ पर भी सर्पिष् शब्द से 'अधीगर्थ' सूत्र से षष्ठी होती है ।

व्याख्या—अधिपूर्वक इक् स्मरणे धातु नित्य अधिपूर्वक ही रहता है । अधिपूर्वक इक् धातु के अर्थ के समान अर्थ वाला धातु 'अधीगर्थ' हुआ । अर्थात्—स्मरणार्थक धातु, दय (दानगतिरक्षणहिंसादानेषु)

धातु एवं ईश-धातु का द्वन्द्वसमास कर षष्ठी-बहुवचन में 'अधीगर्थदयेशां' बनता है । 'षष्ठी शेषे' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ—अधिपूर्वक इक् धातु के समानार्थक धातु, दय (दान गति रक्षण) धातु, एवं ईश्-धातु के कर्म में सम्बन्ध अर्थ की विवक्षा होने पर षष्ठी-विभक्ति होती है । इससे भी प्रतिपदषष्ठी का विधान समासाभाव के लिए ही है ।

---

83. कृञः प्रतियत्ने 2/3/53 ॥

प्रतियत्नो गुणाधानम् । कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् गुणाधाने । एधोदकस्योपस्करणम् ।

गुणाधान अर्थ में कृञ्-धातु के कर्म में सम्बन्धमात्रविवक्षा होने पर षष्ठी-विभक्ति होती है ।

एधोदकस्योपस्करणम्—(ईंधन और उदक को परिष्कृत करना) यहाँ पर 'एधोदक' शब्द में कर्मत्व की अविवक्षा कर सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा करने पर 'कृञः प्रतियत्ने' से षष्ठी होती है ।

व्याख्या—'कृञः प्रतियत्ने' इस सूत्र में **अधीगर्थदयेशां कर्मणि** से 'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति आती है । 'शेषे षष्ठी' की भी अनुवृत्ति आती है ।

प्रतियत्न शब्द का अर्थ—गुणाधान = नवीन गुण को धारण करना है ।

सूत्रार्थ—कृ-धातु के कर्म में सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी होती है, गुणाधान अर्थ में ।

---

84. रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः 2/3/54 ॥

भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् ।

चौरस्य रोगस्य रुजा ।

वा. अज्वरिसन्ताप्योरिति वाच्यम् ॥ रोगस्य चौरज्वरः, चौरसन्तापो वा । रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः।

ज्वर धातु से भिन्न रोगवाचक धातुओं के कर्म में सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी होती है।

चौरस्य रोगस्य रुजा—(चोर के रोग की पीड़ा) यहाँ पर कर्म चौर में सम्बन्ध-मात्र अर्थ की विवक्षा होने पर '**रुजार्थानां**' से षष्ठी होती है ।

वा. 'रुजार्थानां' सूत्र में 'ज्वर और सन्ताप धातु को छोड़कर' ऐसा कहना चाहिए । अर्थात् ज्वर् और सन्ताप् धातु को छोड़कर रोगवाचक धातुओं के कर्म में सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी हो, यह कहना चाहिए ।

रोगस्य चौरज्वरः, चौरसन्तापो वा—(रोगकर्तृक चोरसम्बन्धी ज्वर या सन्ताप) यहाँ पर चौरज्वर या चौरसन्ताप में चौर शब्द कर्म है । उसमें सम्बन्ध की विवक्षा होने पर **रुजार्थानां** से प्राप्त षष्ठी का इस वार्तिक से निषेध हो गया । तब **'षष्ठी शेषे'** से षष्ठी करने पर 'चौरस्य' बना । इस **चौरस्य** पद का ज्वर या सन्ताप के साथ षष्ठीसमास करने पर चौरज्वरः या **चौरसन्तापः** बना ।

व्याख्या—'रुजार्थानाम् भाववचनानाम् अज्वरेः' यह पदच्छेद है । '**अधीगर्थदयेशां कर्मणि**' से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है, तथा '**षष्ठी शेषे**' सूत्र भी अनुवृत्ति-लभ्य है । रुजा = पीड़ा या रोग है, अर्थ जिन धातुओं के (रुजा अर्थः येषां, ते, तेषाम्) वे हुए—रुजार्थ । भाववचनानाम्—भाव =धात्वर्थ है, वचन=कर्ता जिनका वे (भावः वचनं येषां, ते तेषाम्) यह पद 'रुजार्थानां' का विशेषण है । 'वक्तीति' इस विग्रह में कर्ता अर्थ में ब्रू से ल्युट्, धातु को वच्-आदेश कर 'वचन' बनता है । इसमें प्रकृति (धातु) का अर्थ विवक्षित नहीं है । अतः 'वचन' का अर्थ—कर्तामात्र लिया जाता है । **अज्वरेः**—न ज्वरिः अज्वरिः, तस्य अज्वरेः—ज्वरधातु वर्जित' यह अर्थ है ।

इस तरह सूत्रार्थ हुआ—ज्वर धातु को छोड़कर धात्वर्थकर्ता वाले रोगार्थक धातुओं के कर्म में सम्बन्धत्व की विवक्षा होने पर षष्ठी-विभक्ति होती है ।

---

85. आशिषि नाथः 2/3/55 ॥

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् ॥ सर्पिषो नाथनम् । आशिषि इति किम् ? माणवकनाथनम् । तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः।

आशीर्वाद अर्थ में नाथ्-धातु के कर्म में शेषत्व की विवक्षा करने पर षष्ठी होती है ।

सर्पिषो नाथनम्—(घी मिल जाये ऐसी इच्छा) यहाँ पर नाथ-धातु (नाथनम्) के कर्म 'सर्पिष्' में शेषत्व की विवक्षा होने से '**आशिषि नाथः**' से षष्ठी हुई ।

आशिषि किम्—सूत्र में यह पद न कहें तब **माणवकनाथनम् में भी** माणवक से षष्ठी हो जाएगी, तथा समास नहीं होगा । 'माणवकसम्बन्धी याचना' यह अर्थ है ।

व्याख्या—'**आशिषि नाथः**' इस सूत्र में आशिष् का अर्थ—"मेरा यह हो जाये इस प्रकार की इच्छा" है । यही इच्छा नाथ का अर्थ है । '**अधीगर्थदयेशां कर्मणि**' से कर्मणि की, तथा षष्ठी शेषे की अनुवृत्ति आती है । '**आशीर्वचन अर्थ में नाथ-धातु** के कर्म में शेषत्व की विवक्षा होने पर षष्ठी हो' **यह सूत्रार्थ हुआ ।**

---

86. जासिनिप्रहणनाटनाथक्राथपिषां हिंसायाम् 2/3/56 ॥

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहणनम्-प्रनिहननम्-निहननं-प्रहणनं वा । 'नट अवस्कन्दने' चुरादिः । चौरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् । वृषलस्य पेषणम् । हिंसायां किम्—धानापेषणम् ।

हिंसार्थक जासि-धातु, निप्रपूर्वक हन्, नाट, नाथ, क्राथ एवं पिष्-धातु के कर्म में शेषत्व की विवक्षा होने पर षष्ठी होती है ।

चौरस्योज्जासनम्—(चोरसम्बन्धी ताड़न) यहाँ पर उक्त सूत्र से चौर से षष्ठी होती है ।

'नि-प्र' मिले हों या विपर्यस्त-प्रणि हों, या पृथक्-पृथक् हन् के साथ हों तो भी षष्ठी होती है । जैसे—**चौरस्य निप्रहणनम्, प्रणिहननम्, निहननम्-प्रहणनम् वा**—(चोर को मारना) यहाँ पर 'जासिनिप्रहण' सूत्र से चौर से षष्ठी होती है । **चौरस्योन्नाटनम्**—(चोरसम्बन्धी हिंसा) यहाँ पर भी

चौर से षष्ठी होती है । **चौरस्य क्राथनम्, वृषलस्य पेषणम्—**इन दोनों प्रयोगों में चौर एवं 'वृषल से षष्ठी' होती है ।

व्याख्या—'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्' इस सूत्र में 'अधीगर्थ सूत्र से 'कर्मणि' पद की, तथा **षष्ठी शेषे** की अनुवृत्ति आती है । जस् ताडने एवं जस् हिंसायाम् (चुरादि) का जासि-निर्देश है । जसु मोक्षणे का नहीं है । निप्रपूर्वक हन् धातु भी हिंसार्थक है । 'निप्र' ये दोनों साथ साथ हन् के साथ रहें, या विपरीत क्रम से 'प्रनि' रहें, या प्र और नि अलग अलग हन् के साथ रहें तब भी षष्ठी होगी । 'नाट' यह पद **नट अवस्कन्दने** चुरादि का ग्राहक है, नट नृत्तौ का नहीं । क्रथहिंसायां का क्राथ निर्देश है । यह घटादिगण में पठित है । **मितां ह्रस्वः** से इस की उपधा को ह्रस्व होना चाहिए, किन्तु दीर्घ-निपातन के कारण ह्रस्व नहीं होता है । **पिष् धातु** पीसने के अर्थ में है । यह भी हिंसा ही है । 'हिंसा अर्थ में उक्त धातुओं के कर्म में सम्बन्ध-सामान्य की विवक्षा होने पर षष्ठी हो' **यह सूत्रार्थ है ।** समासाभाव के लिए यह प्रतिपदविधाना षष्ठी है ।

हिंसायां किम्—धानापेषणम्—यदि इस सूत्र में 'हिंसायाम्' यह पद न रखें तब हिंसाभिन्न अर्थ में भी यह षष्ठी-विधान करेगा । इस स्थिति में **धानापेषणम्**-(धान का कूटना या पीसना, जो हिंसा नहीं है) इसमें भी **धाना** से प्रतिपदविधाना-षष्ठी इस सूत्र से हो जाएगी, तथा समास नहीं होगा । 'हिंसायां' पद के कारण यहाँ धाना से '**कर्तृकर्मणोः कृति**' से कर्म में षष्ठी होती है । शेषषष्ठी न होने से समास हो जाता है।

---

87. व्यवहृपणोः समर्थयोः 2/3/57 ॥

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता । शतस्य व्यवहरणम् पणनं वा । समर्थयोः किम् ? शलाकाव्यवहारः। गणनेत्यर्थः । ब्राह्मणपणं स्तुतिरित्यर्थः ।

समान अर्थ वाले वि और अव उपसर्गपूर्वक हृ एवं पण-धातु के कर्म में शेषत्व की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है । द्यूत = जुआ, और क्रयविक्रय = खरीदना-बेचना, अर्थों में व्यवहृ-धातु एवं पण-धातु तुल्य अर्थ वाले हैं ।

'**समर्थयोः**' यह पद यदि सूत्र में न रखें तब 'शलाकाव्यवहारः' = शलाका की गिनती, यहाँ पर गणना अर्थ में **व्यवहृ**-धातु के रहने पर भी शलाका से षष्ठी हो जाएगी । और ब्राह्मणपणनम् = ब्राह्मण की स्तुति, यहाँ पर स्तुति अर्थ में पण के रहने पर भी ब्राह्मण से षष्ठी हो जाएगी।

व्याख्या—यह सूत्र भी प्रतिपदविधाना षष्ठी के लिए है । समासाभाव इसका प्रयोजन है । सूत्र में 'अधीगर्थ दयेशां कर्मणि' से कर्मणि की अनुवृत्ति आती है, तथा '**षष्ठी शेषे**' सूत्र भी अनुवृत्तिलभ्य है । समर्थयोः—समौ = समानौ, अर्थौ ययोः=समान हैं अर्थ जिनके वे, उनके । यह पद 'व्यवहृपणोः' का विशेषण है । सम + अर्थ का 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यं' से पररूप कर समर्थ बनता है ।

सूत्रार्थ—समानार्थक वि अव उपसर्ग पूर्वक हृ-धातु एवं पण धातु के कर्म में शेषत्व=सम्बन्ध सामान्य अर्थ की विवक्षा में षष्ठी होती है ।

द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे—पण-धातु स्तुति एवं व्यवहार अर्थ में है, न केवल व्यवहार अर्थ में । अतः वि अव पूर्व हृ-धतु के समान अर्थ वाला कैसे हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया गया है

कि द्यूत=जुआ खेलने के अर्थ में, एवं क्रय-विक्रय व्यवहार में दोनों धातु समानार्थक हैं । इन दोनों अर्थों में प्रयोग होने पर कर्म में शेषत्व-विवक्षा होने पर षष्ठी होगी । अन्यत्र नहीं ।

शतस्य व्यवहरणम्, पणनं वा—(सौ रुपये की द्यूतक्रीड़ा या क्रयविक्रय करना) यहाँ पर व्यवहरण या पणन का कर्म 'शत' है । इसमें सम्बन्धसामान्य अर्थ की विवक्षा करने पर षष्ठी होती है । **शतस्य** बनता है । इसका समास **व्यवहरणं** या **पणनम्** के साथ नहीं होता है । 'द्यूतक्रीड़ा से या क्रयविक्रय से सौ रुपये लेता है' यह वाक्यार्थ है ।

---

88. दिवस्तदर्थस्य 2/3/58।।

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात् । शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति । स्तौतीत्यर्थः।

89. विभाषोपसर्गे 2/3/59।।

पूर्वयोगापवादः । शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति ।

द्यूतार्थक एवं क्रयविक्रयरूपव्यवहार अर्थवाले दिव्-धातु के कर्म में षष्ठी होती है ।

शतस्य दीव्यति—(सौ रुपये का क्रयविक्रय करता है या जुआ खेलता है) यहाँ पर '**दिवस्तदर्थस्य**' से कर्म 'शत' शब्द से षष्ठी कर 'शतस्य' बनता है ।

सूत्र में '**तदर्थस्य**' यह पद नहीं कहें तो **ब्राह्मणं दीव्यति** = ब्राह्मण की स्तुति करता है, यहाँ पर तदर्थ के अभाव में दिव् का प्रयोग होने से कर्म में षष्ठी होने लगेगी ।

द्यूतार्थक एवं व्यवहारार्थक दिव-धातु के उपसर्गयुक्त होने पर उसके कर्म में विकल्प से षष्ठी होती है ।

यह सूत्र '**दिवस्तदर्थस्य**' का अपवाद है ।

शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति—(सौ रुपये दाव पर लगाता है) यहाँ पर शत से '**विभाषोपसर्गे**' सूत्र से विकल्प से षष्ठी होती है । पक्ष में कर्मणि द्वितीया से द्वितीया करने पर 'शतं' भी बनता है ।

व्याख्या—दिवः, तदर्थस्य, ये दो पद हैं । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' से **कर्मणि** की अनुवृत्ति आती है । तथा 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी-पद की अनुवृत्ति आती है । **तदर्थस्य**—सः अर्थः यस्य, सः तदर्थः, तस्य । यह पद दिवः का विशेषण है । तदर्थस्य में 'तद्' से 'व्यवहृपणोः समर्थयोः' इस सूत्र के व्यवहृ एवं पण का ग्रहण होता है । अर्थात् 'व्यवहृ एवं पण-धातु का अर्थ है जिस दिव-धातु का' यह अर्थ है । पूर्व सूत्र में व्यवहृ एवं पण का अर्थ द्यूत-क्रीडा एवं क्रयविक्रय व्यवहार है । अतः दिव का वही अर्थ होने पर यह सूत्र प्रवृत्त होगा ।

सूत्रार्थ—द्यूत अर्थवाले एवं क्रयविक्रय-व्यवहार अर्थ वाले दिव्-धातु के कर्म में षष्ठी होती है ।

विभाषोपसर्गे—इस सूत्र में विभाषा, उपसर्गे ये दो पद हैं । 'दिवस्तदर्थस्य', 'कर्मणि' एवं षष्ठी की अनुवृत्ति आती है । अनभिहिते का अधिकार है ।

सूत्रार्थ—उपसर्ग के रहने पर व्यवहृ एवं पण-धातु के अर्थ वाले दिव्-धातु के अनभिहित कर्म में षष्ठी होती है, विकल्प से । (द्यूत एवं क्रयविक्रयव्यवहार में ही यह प्रवृत्त होगा । यह सूत्र '**दिवस्तदर्थस्य**' का अपवाद है ।)

शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति—(सौ रुपये द्यूत में लगाता है, या सौ रुपये का लेन देन करता है) यहाँ पर प्रति उपसर्गसहित दिव् धातु का कर्म 'शत' है । 'विभाषोपसर्गे' से शत-शब्द से षष्ठी करने पर 'शतस्य' बना । पक्ष में '**कर्मणि द्वितीया**' से द्वितीया करने पर 'शतं' बनता है ।

---

90. प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने 2/3/61।।

देवतासम्प्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणोर्हविषो वाचकाच्छब्दात् षष्ठी स्यात । अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा ।

'देवताओं का देना' अर्थ में विद्यमान प्र + इष् धातु एवं ब्रू-धातु के कर्म में हविर्विशेष के वाचक शब्द से 'षष्ठी' होती है ।

अग्नेय छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा—यहाँ पर वपा-नामक मेदस् शब्द से कर्म में षष्ठी होती है ।

व्याख्या—'प्रेष्यब्रुवोः हविषः देवतासम्प्रदाने' ये तीन पद हैं । प्रेष्यश्च ब्रूश्च तयोः 'प्रेष्यब्रुवोः' यह षष्ठी का द्विवचन है । प्र + इष् गतौ, दिवादिगणीय श्यन्-प्रत्ययान्त का 'प्रेष्य' द्वारा निर्देश है । उपसर्ग के कारण इसका अर्थ 'प्रेरणा' है । हविष् शब्द स्वरूपपरक नहीं है, अपि तु 'हविष् विशेष' का वाचक है । **देवतासम्प्रदाने**-देवता सम्प्रदानं यस्य तस्मिन्=देवता है सम्प्रदान जिसका, उस अर्थ में । अर्थात् देवता को देने के अर्थ में । 'अधीगर्थ' सूत्र से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति आती है । 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी की अनुवृत्ति आती है । हविषः के साथ अन्वय के लिए 'कर्मणि' पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित होता है । अन्वय—देवतासम्प्रदाने प्रेष्यब्रुवोः कर्मणः हविषो वाचकात् षष्ठी ।

सूत्रार्थ—देवता को दान देने के अर्थ में प्र+इष् धातु एवं ब्रू-धातु के कर्म-हविर्विशेष के वाचक से षष्ठी होती है । अर्थात् प्रेष्य एवं ब्रू-धातु का कर्म 'हविर्विशेष' ही होगा । यह सूत्र कर्मणि द्वितीया का अपवाद है ।

सूत्र में प्रेष्य और ब्रू के पाठ का फल—अग्नये छागस्य हविर्वपां मेदो जुहुधि—(अग्नि को छाग की वपा और मेद-रूप हवि की आहुति दो) यहाँ पर प्रेष्य या ब्रूहि क्रिया का प्रयोग न होने से 'प्रेष्यब्रुवोः' की प्रवृत्ति नहीं होती है । तथा वपा एवं मेदस् से कर्मणि द्वितीया से द्वितीया होती है । यदि 'प्रेष्यब्रुवोः' न पढ़ें तब उक्त वाक्य में भी षष्ठी हो जाएगी ।

'**हविषः**' यह पद न हो तो '**अग्नये गोमयानि प्रेष्य**'—(अग्नि के लिए गोबर प्रेषित करो) यहाँ पर भी गोमय से कर्म में षष्ठी होने लगेगी । 'हविषः' के पढ़ने पर यहाँ षष्ठी नहीं होती है, क्योंकि 'गोमय' हवि नहीं है ।

'देवतासम्प्रदाने' यह पद यदि न पढ़ें तब—माणवकाय पुरोडाश प्रेष्य (माणवक को पुरोडाश प्रेषित करो) यहाँ पर माणवक को पुरोडाश दिया जा रहा है । माणवक देवता नहीं है, फिर भी यहाँ

पुरोडाश से कर्म में षष्ठी की आपत्ति हो जाएगी । **'देवतासम्प्रदाने'** पद के रखने पर यहाँ पर षष्ठी की प्राप्ति नहीं होती है । **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया ही होती है ।

NOTES

---

91 कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे 2/3/64।।

कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात् । पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम् । द्विरह्नो भोजनम् । शेषे किम् ? द्विरहन्यध्ययनम् ।

कृत्वसुच्-प्रत्यय के अर्थ में विद्यमान जो-प्रत्यय, तदन्त प्रादिपदिक के योग में कालवाचक-अधिकरण में शेषत्व की विवक्षा होने पर षष्ठी होती है ।

पञ्चकृत्वः अह्नः भोजनम्—(दिन में पाँच बार भोजन) यहाँ पर पञ्चकृत्वः के योग में अहन्-शब्द में सम्बन्ध अर्थ की विवक्षा में **'कृत्वोऽर्थप्रयोगे'** से षष्ठी होती है ।

द्विः अह्नः भोजनम्—(दिन में दो बार भोजन) यहाँ पर **द्विः** के योग में अहन् शब्द से षष्ठी होती है।

शेषे किम्-द्विरहनि अध्ययनम्—सूत्र में यदि 'शेषे' पद की अनुवृत्ति न लावें तब शेष-अर्थ के बिना भी अधिकरण में षष्ठी होने लगेगी, और 'द्विः अहनि भोजनम्' इस वाक्य में अहन्-शब्द से सप्तमी नहीं हो सकेगी । यह दोष होगा । इसे रोकने के लिए **'शेषे'** पद है ।

व्याख्या—कृत्वोऽर्थप्रयोगे, काले अधिकरणे, यह पदच्छेद है । **'षष्ठी शेषे'** सूत्र की 'मण्डूकप्लुति' से अनुवृत्ति आती है । कृत्वोऽर्थप्रयोगे—कृत्वसुच्-प्रत्यय का अनुबन्धरहितरूप 'कृत्वस्' है । 'कृत्वसः अर्थः' (षष्ठी तत्पुरुष) कृत्वोऽर्थः । 'कृत्वोऽर्थः=कृत्वसुच्प्रत्ययस्यार्थः एव अर्थः येषां ते, इस बहुव्रीहि के करने पर 'कृत्वोऽर्थाः' बनता है । कृत्वोऽर्थानां प्रयोगः=कृत्वोऽर्थप्रयोगः, तस्मिन् । यहाँ पर बहुव्रीहिगर्भित तत्पुरुषसमास के बाद पद का अर्थ इस प्रकार होता है—कृत्वसुच्-प्रत्यय का अर्थ ही है, अर्थ जिन-प्रत्ययों के, तदन्त के प्रयोग में । 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' से क्रिया की आवृत्ति-गणना अर्थ में संख्यावाचक से कृत्वसुच् होता है, और इसी अर्थ में **'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्'** से सुच्-प्रत्यय भी होता है । कृत्वोऽर्थ से इनका ग्रहण होता है ।

सूत्रार्थ—कृत्वसुच्-प्रत्यय का अर्थ है जिन-प्रत्ययों के, तदन्त-शब्द के योग में कालवाचक-शब्द से अधिकरण में सम्बन्धसामान्य-अर्थ की विवक्षा होने पर षष्ठी होती है ।

---

92. कर्तृकर्मणोः कृति 2/3/65।।

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्ता कृष्णः ।

वा. गुणकर्मणि वेष्यते ।। नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा । कृति किम् ? तद्धिते मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् ।

कृत्प्रत्ययान्त के योग में अनुक्त कर्ता एवं कर्म में षष्ठी हो ।

कृष्णस्य कृतिः—(कृष्ण की रचना) यहाँ पर 'कृतिः' (कृदन्त) के योग में कर्ता कृष्ण से षष्ठी होती है ।

जगतः कर्ता कृष्णः—(संसार को बनाने वाले कृष्ण हैं) इस वाक्य में कृदन्त (कर्ता) के योग में कर्म-जगत् से षष्ठी होती है ।

वा. कृदन्तद्विकर्मक धातु के योग में अप्रधान (गुण) कर्म में षष्ठी होती है, विकल्प से ।

नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा—(स्रुघ्न देश में घोड़े को ले जाने वाला) इस वाक्य में 'नेता' पद कृदन्त है, और द्विकर्मक नी-धातु भी है । इसके गौण कर्म 'स्रुघ्न' से 'गुणकर्मणि वेष्यते' से विकल्प से षष्ठी हुई, और प्रधान कर्म **अश्व** से 'कर्तृकर्मणोः कृति' से नित्य षष्ठी हुई ।

कृति किम्—'कर्तृकर्मणोः कृति' इस सूत्र में 'कृति' पद क्यों कहते हैं ? तद्धित में षष्ठी न हो जाये इसलिए कृति पद है । अत एव **कृतपूर्वी कटम्** इस वाक्य में तद्धितान्त कृतपूर्वी के योग में कर्म 'कट' से षष्ठी नहीं होती है ।

व्याख्या—कर्तृकर्मणोः कृति इस सूत्र में **'अनभिहिते'** का अधिकार है । **'शेषे षष्ठी'** से षष्ठी की अनुवृत्ति आती है । कृति-पद में सति सप्तमी है । 'कृत्-प्रत्यय का प्रयोग होने पर' यह अर्थ है । केवल-प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता है । अतः 'कृदन्त के योग में' यह अर्थ लिया जाता है ।

सूत्रार्थ—कृत्प्रत्ययान्त शब्दों के योग में उनके अनुक्त-कर्ता एवं कर्म में षष्ठी-विभक्ति होती है ।

---

93. उभयप्राप्तौ कर्मणि 2/3/66 ॥

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन ।

वा. स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः ॥ भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः ।

वा. शेषे विभाषा ॥ स्त्रीप्रत्यय इत्येके । विचित्रा जगतः कृतिः हरेः-हरिणा वा । केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति । शब्दानामनुशासनम् आचार्येण आचार्यस्य वा ।

एक कृदन्त के योग में कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त होने पर कर्म में ही षष्ठी होती है ।

आश्चार्यो गवां दोहोऽगोपेन—(गोपभिन्न गायों को दुह रहा है यह आश्चर्य है) यहाँ पर 'दोहः' (कृदन्त) के योग में कर्म **गो** एव कर्ता **अगोप** से 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी प्राप्त थी, परन्तु 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इस नियम से कर्म 'गो' से षष्ठी होती है ।

वा. कृद् अक एवं अप्रत्ययान्त शब्द यदि स्त्रीलिंग में हों तो उनके योग में कर्म में ही षष्ठी हो, कर्ता में नहीं, यह नियम नहीं लगता है ।

भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः—(रुद्र की जगत् को भेदने की इच्छा) यहाँ पर कर्ता 'रुद्र' एवं कर्म 'जगत्' है । भेदिका या विभित्सा कृदन्त है । 'स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः' से उभयप्राप्तौ कर्मणि का निषेध होने पर 'कर्तृकर्मणोः' से रुद्र एवं जगत् से षष्ठी होती है ।

वा. अक और अ-प्रत्यय से भिन्न (शेष) स्त्रीप्रत्ययाधिकारस्थ कृत्प्रत्ययान्त के योग में कर्ता मे विकल्प से षष्ठी होती है।

विचित्र जगतः कृतिः हरेः हरिणा वा—(हरि की संसार की रचना विचित्र है) यहाँ पर कृतिः (कृदन्त स्त्रीलिंग) के योग में 'जगत्' (कर्म) एवं अनुक्तकर्ता 'हरि' से '**कर्तृकर्मणोः कृति**' से षष्ठी प्राप्त थी किन्तु '**उभयप्राप्तौ कर्मणि**' से कर्म- 'जगत' से षष्ठी हुई । तथा '**शेषे विभाषा, स्त्री-प्रत्यय इत्येके**' इस वार्तिक से हरि (कर्ता) से विकल्प से **षष्ठी** हुई । पक्ष में अनुक्त कर्ता से तृतीया करने पर **हरेः हरिणा** ये दोनों बनते हैं ।

केचिदविशेषण—कुछ आचार्यों का मानना है कि अक एवं अ-प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग कृदन्त को छोड़कर अन्य सभी कृत्प्रत्ययान्तों के योग में कर्ता मे विकल्प से षष्ठी होती है । अतएव

शब्दानामनुशासनम् आचार्येण-आचार्यस्य वा-(आचार्य द्वारा शब्दों का अनुशासन) यहाँ पर अनुशासनम् (कृत्प्रत्ययान्त) के योग में **उभयप्राप्तौ** से 'शब्द' (कर्म) से नित्य षष्ठी हुई । तथा '**केचिदविशेषेण**' के नियम से आचार्य (कर्ता) से विकल्प से षष्ठी हुई । पक्ष में अनुक्तकर्ता से तृतीया कर 'आचार्येण' भी बनता है ।

व्याख्या—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इस सूत्र में **षष्ठी शेषे** से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति आती है । '**कर्तृकर्मणोः** कृति' से 'कृति' की अनुवृत्ति आती है । अनभिहिते का अधिकार है । यह नियमसूत्र है । **उभयप्राप्तौ**—'उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति,' इस विग्रह में बहुव्रीहि-समास कर सप्तमी-एकवचन में 'उभयःप्राप्तौ' बना है । उभय=कर्ता एवं कर्म । 'जिस कृत्-प्रत्ययान्त के योग में कर्ता एवं कर्म में षष्ठी प्राप्त हो वहाँ केवल अनभिहित कर्म में ही षष्ठी हो, कर्ता में नहीं', यह सूत्रार्थ है । अर्थात् जब एक वाक्य में कर्ता और कर्म दोनों में कृत्-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी प्राप्त हो तब केवल कर्म में ही षष्ठी होगी ।

---

94. क्तस्य च वर्तमाने 2/3/67 ॥

वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । **न लोक** (2/3/69) इति निषेधस्यापवादः राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ।

वर्तमानार्थक **क्तप्रत्यय के योग में षष्ठी होती है** ।

यह सूत्र आगे आने वाले '**न लोकाव्ययनिष्ठा**' सूत्र से होने वाले षष्ठी के निषेध का अपवाद है।

राज्ञां मतो बुद्धःपूजितो वा—(राजा की इच्छा का विषय, राजा के ज्ञान का विषय, या राजा की पूजा का आश्रय) इस वाक्य में 'मतः' बुद्धः, पूजितः, इन वर्तमानार्थक क्तप्रत्ययान्तों में से प्रत्येक के योग में राजन् शब्द से षष्ठी होती है।

व्याख्या—'कर्तृकर्मणोः कृति' से क्तप्रत्यय के योग में भी षष्ठी प्राप्त थी, किन्तु '**न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्**' यह सूत्र निष्ठा = क्तप्रत्यय के योग में प्राप्त कृद्-योग षष्ठी का निषेध करता है । '**क्तस्य च वर्तमाने**' सूत्र 'न लोकाव्यय' से क्तप्रत्यय (निष्ठा) के योग में प्राप्त षष्ठी-निषेध का भी अपवाद है । इसे बाधने के लिए ही यह सूत्र बनाया गया है।

'**क्तस्य च वर्तमाने**' सूत्र में '**षष्ठी शेषे**' से षष्ठी की अनुवृत्ति आती है । '**कर्तृकर्मणोः**' की अनुवृत्ति भी है, तथा '**अनभिहिते**' की भी अनुवृत्ति है। वर्तमाने पद का अर्थ है—वर्तमानकाल में विहित ।

NOTES

सूत्रार्थ—वर्तमानकाल में विहित क्तप्रत्यय के योग में अनभिहित कर्ता एवं कर्म में षष्ठी होती है ।

95. अधिकरणवाचिनश्च—2/3/68 ॥

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषाम् आसितं शयितं गतं भुक्तं वा ।

अधिकरण अर्थ में विहित क्तप्रत्यय के योग में अनभिहित कर्ता एवं कर्म में षष्ठी होती है ।

इदमेषाम् आसितम्, शयितं, गतं भुक्तं वा—(यह इनका आसन है, शय्या है, मार्ग है या भोजनपात्र है) इस वाक्य में आसित इत्यादि क्तप्रत्ययान्त के योग में अनुक्त कर्ता **इदम्** से **'अधिकरणवाचिनश्च'** से षष्ठी करने पर **'एषाम्'** बनता है ।

व्याख्या - अधिकरणवाचिनः च' यह पदच्छेद है । **क्तस्य च वर्तमाने** से 'क्तस्य' की अनुवृत्ति आती है । चकार से 'षष्ठी' की भी अनुवृत्ति आती है । 'योगे' का अध्याहार किया जाता है । अनभिहिते की भी अनुवृत्ति आती है । (क्तोऽधिकरणे ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' से अधिकरण में क्त-प्रत्यय का विधान होता है ।)

सूत्रार्थ—अधिकरणवाची क्तप्रत्ययान्त के योग में षष्ठी होती है।

यह सूत्र **'न लोकाव्ययनिष्ठा'** से किये जाने वाले षष्ठी-निषेध का अपवाद है ।

96. न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम 2/3/69 ॥

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् । लादेश-कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टि हरिः । उ-हरिं दिदृक्षुः, अलङ्करिष्णुर्वा । उक-दैत्यान् घातुको हरिः ।

वा. कमेरनिषेधः ॥ लक्ष्म्या कामुको हरिः । अव्ययम्-जगत् सृष्ट्वा । सुखं कर्तुम् । निष्ठा-विष्णुना हता दैत्याः । दैत्यान् हतवान् विष्णुः। खलर्थाः-ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा ।

लादेश, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खल्-प्रत्यय के अर्थ वाले-प्रत्यय एवं तृ न्-प्रत्यय के योग में षष्ठी नहीं होती है।

कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः—(सृष्टि को रचता हुआ हरि), यहाँ पर 'सृष्टि' से **'कर्तृकर्मणोः कृति'** से षष्ठी प्राप्त थी, किन्तु लादेश—कुर्वन् या कुर्वाणः के योग में कर्म में षष्ठी का **'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'** से निषेध हो गया । **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया कर 'सृष्टिं' ही रहा ।

हरिं दिदृक्षुः, अलङ्करिष्णुर्वा—(हरि को देखने का इच्छुक, या हरि को अलङ्कृत करने वाला) यहाँ पर कर्म-हरि से 'कर्तृकर्मणोः कृति' से प्राप्त षष्ठी का उ-प्रत्ययान्त 'दिदृक्षुः' एवं 'अलंकरिष्णुः' के योग में **'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'** से निषेध हो गया । अतः **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया करने पर 'हरिं' बना ।

दैत्यान् घातुको हरिः—(दैत्यों को मारने वाला हरि) यहाँ पर भी कर्म में **'कर्तृकर्मणोः कृति'** से षष्ठी प्राप्त थी । परन्तु उक-प्रत्ययान्त 'घातुक' के योग में **'न लोकाव्यय'** से षष्ठी का निषेध हो गया । **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया करने पर 'दैत्यान्' बनता है ।

वार्तिकार्थ—उकप्रत्ययान्त **कमधातु** के प्रयोग में षष्ठी का निषेध नहीं होता है । **लक्ष्म्याः कामुको हरिः**—(लक्ष्मी को चाहने वाले हरि) यहाँ पर लक्ष्मी कर्म है । उकप्रत्ययान्त 'कामुक' के योग में '**कमेरनिषेधः**' से '**न लोकाव्यय**' सूत्र का निषेध कर दिया गया । अतः 'कर्तृकर्मणोः कृति' से लक्ष्मी से षष्ठी हो गई ।

जगत् सृष्ट्वा (संसार को रचकर) यहाँ पर कृत्प्रत्ययान्त 'सृष्ट्वा' पद अव्यय है । 'कर्तृकर्मणोः' से प्राप्त षष्ठी का अव्यय के योग में '**न लोकाव्यय**' से निषेध हो गया । अतः 'जगत्' से **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया ही हुई ।

सुखं कर्तुम् (सुख करने के लिए) यहाँ पर 'कर्तुम्-पद कृत्-प्रत्ययान्त अव्यय है । इसके योग में कर्म में '**न लोकाव्यय**' से षष्ठी का निषेध हो गया । अतः सुख से '**कर्मणि द्वितीया**' से द्वितीया हुई ।

विष्णुना हताः दैत्याः—(विष्णु के द्वारा दैत्य मारे गए) यहाँ पर कृदन्त-हताः के योग में कर्ता में विष्णु से षष्ठी प्राप्त थी परन्तु निष्ठा (हताः) के योग में 'न लोकाव्यय' से षष्ठी का निषेध हो गया । अनुक्त-कर्ता से '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' से तृतीया हो गई ।

दैत्यान् हतवान् विष्णुः—(विष्णु ने दैत्यों को मारा) यहाँ पर कृदन्त 'हतवान्' के योग में कर्म-दैत्य से षष्ठी प्राप्त थी, परन्तु 'न लोकाव्ययनिष्ठा' से षष्ठी का निषेध होने पर '**कर्मणि द्वितीया**' से द्वितीया होती है ।

ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा—(हरि के लिए संसार रचना सरल है) यहाँ पर '**कर्तृकर्मणोः**' से कर्ता में षष्ठी प्राप्त थी, किन्तु खलर्थ-प्रत्ययान्त 'ईषत्करः' के योग में षष्ठी का '**न लोकाव्यय**' से निषेध हो गया । अतः अनुक्तकर्ता से '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' से तृतीया हुई ।

व्याख्या—'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इस सूत्र में '**षष्ठी शेषे**' सूत्र से षष्ठी की अनुवृत्ति आती है । 'अनभिहिते' की भी अनुवृत्ति है । न का अर्थ है—**निषेध** । ल उ उक अव्यय निष्ठा खलर्थ एवं तृन् का द्वन्द्वसमास कर षष्ठी बहुवचन में '**लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्**' है । ल का अर्थ है—लादेश = ल् के स्थान में आने वाले शतृ शानच् कानच् क्वसु कि किन् आदि कृत्-प्रत्यय । **उ** कृत् का विशेषण है अतः इसका अर्थ होता है उ-प्रत्ययान्त । **यथा**—**सनाशंसभिक्ष उः**, 'इष्णुच्' आदि । उक से उकञ्-प्रत्यय का ग्रहण होता है । अव्यय से कृदन्त-अव्यय का ग्रहण होता है । मान्त एजन्त क्त्वा तोसुन् कसुन्-प्रत्ययान्त शब्द अव्यय हैं । निष्ठा से क्त एवं क्तवतु-प्रत्यय का ग्रहण होता है । **खलर्थ-खल्** एवं खल् के अर्थ में आने वाले 'युच्' आदि-प्रत्यय को खलर्थ कहते हैं । तृन् से तृन्-प्रत्याहार का ग्रहण होता है । **लटः शतृशानचौ** के तृ से लेकर 'तृन्' के न् तक तृन्-प्रत्याहार है । इसके मध्य आने वाले शानन् चानश् एवं शतृ-प्रत्यय तृन् से गृहीत होते हैं । 'प्रयोगे' पद अध्याहार द्वारा लाकर **सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया जाता है**—

लादेश अव्यय निष्ठा खलर्थ एवं तृन्-प्रत्ययान्तों का प्रयोग होने पर इनके योग में अनभिहित कर्ता या कर्म में षष्ठी नहीं होती है ।

तृन् इति प्रत्याहारः '**शतृशानचौ**' इति तृशब्दादारभ्य आ तृनो नकारात् । **शानन्-सोमं पवमानः** । चानश्-आत्मानं मण्डयमानः । **शतृ**—वेदमधीयन् । तृन्—कर्ता लोकान् ।

वा. द्विष: शतुर्वा ॥ मुरस्य मुरं वा द्विषन् । सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेध: । शेषे षष्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णु:।

व्याख्या—'तृन्' यह प्रत्याहार का ग्रहण है । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इस सूत्र में पठित तृन्-'लट: शतृशानचौ' के तृ' शब्द से आरम्भ कर 'तृन्' सूत्र के नकार तक प्रत्याहार है । इस प्रत्याहार में, सम्बोधने च, तौ सत्, पूङ्यजोश्शानन्, ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्, इङ्धार्योश्शत्रकृच्छ्रिणि, द्विषोऽमित्रे, सुञो यज्ञसंयोगे, अर्ह: प्रशंसायाम्, आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, और तृन्, इन सूत्रों से विधान किए गए शतृ, शानन् चानश् एवं तृन् का ग्रहण किया जाता है । ये लादेश नहीं है । अत: तृन्-प्रत्याहार का आश्रयण किया गया है ।

शानन् का उदाहरण—**सोमं पवमान:**—(सोम को पवित्र करता है) यहाँ पूङ् धातु से शानन् करने पर पवमान: बना है । सोम कर्म है । इससे प्राप्त षष्ठी का 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' तृन्प्रत्ययान्त 'पवमान:, के योग में निषेध करता है । **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया कर '**सोम**' बनता है ।

चानश्—**आत्मानं मण्डयमान:**—(अपने को भूषित करता हुआ) मडिभूषायां धातु से 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु' से चानश्-प्रत्यय कर **मण्डयमान: बनता है** । आत्मन् 'कर्म' है । इससे **कर्तृकर्मणो:** से प्राप्त षष्ठी का '**न लोकाव्यय**' से '**मण्डयमान:**' इस तृनन्त का प्रयोग होने पर निषेध हो गया । कर्मणि **द्वितीया** से द्वितीया कर **आत्मानं** बना ।

वेदमधीयन्—(वेद को पढ़ता हुआ) अधिपूर्वक इङ् धातु से 'इङ्धार्यो:' से शतृ-प्रत्यय कर 'अधीयन् बनता है । यह भी तृन्-प्रत्याहार के अन्तर्गत है, अत: तृनन्त है । 'कर्तृकर्मणो:' से प्राप्त षष्ठी का निषेध हो गया । कर्म में द्वितीया हुई । **वेदम्** बना ।

तृन्-कर्ता लोकान्—(संसार को बनाने वाला) कृ-धातु से तृन्-प्रत्यय करने पर कर्ता बना । इसके योग में कर्म 'लोक' से षष्ठी प्राप्त थी, किन्तु इसका '**न लोकाव्यय**' से निषेध हो गया । **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया करने पर '**लोकान्**' बना ।

द्विष: शतुर्वा—शतृ-प्रत्ययान्त द्विष्-धातु का प्रयोग होने पर षष्ठी का निषेध विकल्प से होता है ।

मुरस्य मुरं वा द्विषन्—(मुर नामक राक्षस का शत्रु) द्विष्-धातु से '**द्विषोऽमित्रे**' से शतृ-प्रत्यय करने पर द्विषन् बना । इसके योग में कर्म 'मुर' से प्राप्त षष्ठी की '**द्विष: शतुर्वा**' वार्तिक से विकल्प से प्रतिषेध हो गया । प्रतिषेध होने पर द्वितीया करने पर 'मुरं' बना । प्रतिषेध न होने पर '**कर्तृकर्मणो:**' से कर्म में षष्ठी होने पर '**मुरस्य**' बनता है ।

सर्वोऽयम्—'न लोकाव्यय' सूत्र से जो षष्ठी का निषेध होता है, वह निषेध कारक षष्ठी का निषेध है, शेष षष्ठी का नहीं । अर्थात् कर्ता और कर्म में विहित षष्ठी का ही निषेध होता है । क्योंकि '**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा**' (समीपस्थ का ही विधि या निषेध होता है) इस परिभाषा के कारण 'कर्तृकर्मणो: कृति' से प्राप्त कारक षष्ठी का निषेध होता है । दूरस्थ '**षष्ठी शेषे**' का नहीं । शेष-अर्थ में तो षष्ठी होगी ही ।

अत: **ब्राह्मणस्य कुर्वन्**—ब्राह्मण को बनाता हुआ (हरि), **या नरकस्य जिष्णु:**—(नरक:असुर को जीतने वाला) इन दोनों उदाहरणों में शतृ-प्रत्ययान्त एवं स्नु-प्रत्ययान्त के योग में कर्तृकर्मणो: का

'न लोकाव्यय' से तो निषेध हो गया, किन्तु शेषत्व विवक्षा में षष्ठी हो ही गई । 'मुख से ब्राह्मणसम्बन्धी सृष्ट्यनुकूलव्यापारवान् हरि' यह वाक्यार्थ 'ब्राह्मणस्य कुर्वन्' का है । और 'नरकसम्बन्धी जयवान्' यह वाक्यार्थ द्वितीय वाक्य का है ।

NOTES

97. अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः 2/3/70 ।।

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात् ।

सतः पालकोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी ।

भविष्यत् अर्थ में विहित अक-प्रत्यय तथा भविष्यत् एवं आधमर्ण्य (ऋणी होने का भाव) अर्थ में विहित 'इन्'-प्रत्यय के योग में षष्ठी नहीं होती है ।

सतः पालकोऽवतरति—(सज्जनों को पालने वाला अवतार लेता है) यहाँ पर अक-प्रत्ययान्त 'पालक' के योग में **'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' सूत्र द्वारा कर्तृकर्मणोः कृति** से 'सत्' शब्द से प्राप्त षष्ठी का निषेध हो गया । तब कर्मणि द्वितीया से द्वितीया करने पर बहुवचन में 'सतः' बनता है।

व्रजं गामी—(व्रज को जाने वाला) यहाँ पर 'गामी' इन्-प्रत्ययान्त है । व्रज से कर्म में षष्ठी प्राप्त थी, किन्तु इन्-प्रत्यान्त के योग में उसका **'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः'** से निषेध होने पर **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया होती है ।

शंत दायी—(ऋण के रूप में स्वीकृत सौ रुपये अर्पित करने वाला है) यहाँ पर शत-शब्द से कर्तृकर्मणोः से षष्ठी प्राप्त थी, किन्तु इन्-प्रत्ययान्त 'दायी' के योग में षष्ठी का निषेध हो गया । **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया करने पर 'शतम्' बना ।

व्याख्या—अकेनोः भविष्यदाधमर्ण्ययोः, यह पदच्छेद है । 'न लोकाव्यय' से 'न' की अनुवृत्ति आती है । **'षष्ठी शेषे'** से षष्ठी की अनुवृत्ति आती है । अनभिहिते का अधिकार है । 'अकश्च इन् च' इस विग्रह में द्वन्द्वसमास, षष्ठी द्विवचन के रूप—'अनेकोः' है । 'भविष्यच्च आधमर्ण्यञ्च इस विग्रह में द्वन्द्वसमास कर सप्तमी-द्विवचन में **'भविष्यदाधमर्ण्ययोः'** बनता है । भविष्यत् एवं आधमर्ण्य का अक एवं इन् के साथ यथासंख्य नहीं होता है । भविष्यत् पद 'अक' के साथ ही अन्वित होता है । तथा 'इन्' के साथ भविष्यत् एवं आधमर्ण्य (ऋण लेने का भाव, कर्जदार) दोनों पदों का अन्वय होता है । **'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः'** से आधमर्ण्य अर्थ में णिनि के होने से आधमर्ण्य अंश 'अक' के साथ अन्वित नहीं होता है ।

इस तरह सूत्रार्थ हुआ— भविष्यत् अर्थ में विद्यमान अक् के योग में तथा भविष्यत एवं आधमर्ण्य अर्थ में विद्यमान इन के योग में षष्ठी नहीं होती है । इस सूत्र में अक प्रत्यय का मूलभूत-प्रत्यय 'ण्वुल्' है । इसके वु को 'अक' हो जाता है । **'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्'** में 'भविष्यति' की अनुवृत्ति आती है । अतः इस सूत्र से विहित ण्वुल् (अक) का यहाँ ग्रहण होता है । ण्वुल्तृचौ का नहीं । इसी प्रकार 'इन' का मूल 'णिनि'-प्रत्यय है ।

98. कृत्यानां कर्तरि वा 2/3/71 ।।

षष्ठी वा स्यात् । मया मम वा सेव्यो हरिः । कर्तरि इति किम्? गेयो माणवकः साम्नाम् । 'भव्यगेय' इति कर्तरि यद्विधानाद् अनभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते । कृत्यानाम् । 'उभयप्राप्तौ इति, 'न' इति चानुवर्तते । तेन-नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन । ततः 'कर्तरि वा' उक्तोऽर्थः ।

कृत्यप्रत्ययों के योग में कर्ता में षष्ठी हो विकल्प से ।

मया मम वा सेव्यो हरिः—(मेरे द्वारा हरि की सेवा की जानी चाहिए) यहाँ पर कृत्यप्रत्ययान्त सेव्यः के योग में अनुक्त-कर्ता अस्मद् से '**कृत्यानां कर्तरि वा**' से विकल्प से षष्ठी करने पर 'मम' बना ।

पक्ष में अनुक्तकर्ता से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया करने पर 'मया' बना । सूत्र में 'कर्तरि' पद न कहें तो क्या हो! यदि सूत्र में 'कर्तरि' पद न कहें तब अनुक्त-कर्म में भी विकल्प से षष्ठी होने लगेगी । तथा 'गेयो माणवकः साम्नाम्' में अनुक्त-कर्म 'सामन् शब्द' से विकल्प से षष्ठी होने लगेगी । जबकि यहाँ कर्तृकर्मणोः से नित्य षष्ठी होती है । अतः 'कर्तरि' पद आवश्यक है ।

'गेय' में 'भव्यगेय' इत्यादि से कर्ता में यत्-प्रत्यय का विधान होने से कर्म अनुक्त है ।

इस सूत्र का **योगविभाग** किया जाता है । 'कृत्यानां' तथा कर्तरि वा । 'कृत्यानां' इस योग में 'उभयप्राप्तौ' की, तथा 'न' की अनुवृत्ति आती है । इससे कर्ता एवं कर्म दोनों में प्राप्त षष्ठी का निषेध होगा । **उदाहरण— नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन**—(कृष्ण को व्रज में गायें ले जानी चाहिये) यहाँ पर कर्म में व्रज से तथा अनुक्त-कर्ता में 'कृष्ण' से '**कतृकर्मणोः कृति**' से षष्ठी प्राप्त थी, उसका 'कृत्यानां' इस योग-विभाग से निषेध हो गया । तब अनुक्त-कर्म में **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया, तथा अनुक्त-कर्ता से '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' से तृतीया होती है ।

इस के बाद द्वितीय योग 'कर्तरि वा' होगा । इस का अर्थ कहा जा चुका है । अर्थात् संयुक्त सूत्र का जो अर्थ है, वही इसका अर्थ होगा।

व्याख्या—'कृत्यानां कर्तरि वा' यह सूत्र '**कर्तृकर्मणोः कृति**' से कर्ता में नित्य प्राप्त षष्ठी का विकल्प से विधान करने वाला है । कृत्यःशब्द से 'कृत्याः' के अधिकार में विहित कृत्प्रत्ययों का ग्रहण होता है । '**षष्ठी शेषे**' से षष्ठी की अनुवृत्ति आती है, तथा '**अनभिहिते**' का अधिकार आता है । 'योगे' पद का अध्याहार किया जाता है ।

सूत्रार्थ—कृत्यप्रत्यान्तों के योग में अनभिहित कर्ता में विकल्प से षष्ठी होती है ।

अथ उपपदषष्ठीविभक्तिः

99. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् 2/3/72 ।।

तुल्यार्थैयोगे तृतीया वा स्यात् पक्षे षष्ठी । तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा । अतुलोपमाभ्यां किम? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।

तुला एवं उपमा शब्द को छोड़कर अन्य तुल्य अर्थवाले शब्दों के योग में तृतीया और षष्ठी होती है।

NOTES

तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा—(कृष्ण के समान) यहाँ पर तुल्य एवं तुल्यार्थक सदृशः तथा सम के योग में कृष्ण-शब्द से '**तुल्यर्थैरतुलोपमाभ्यां**' से तृतीया करने पर '**कृष्णेन**' बनता । पक्ष में षष्ठी करने पर '**कृष्णस्य**' बनता है ।

सूत्र में '**अतुलोपमाभ्यां**' पद नहीं कहें तो क्या होगा ? यदि ये पद न हों तब ''तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति'' इस वाक्य में भी तुला एवं उपमा का प्रयोग होने से कृष्ण से तृतीया भी होने लगेगी । इसे रोकने हेतु ही '**अतुलोपमाभ्यां**' कहा गया है ।

व्याख्या—तुल्यार्थैः अतुलोपमाभ्याम् तृतीया अन्यतरस्याम, यह पदच्छेद है । यह उपपदषष्ठी का विधायक है । यद्यपि सूत्र में तृतीया ही कही गई। फिर भी षष्ठी के प्रकरण में सूत्र का निर्देश होने से पक्ष में यह सूत्र षष्ठी-विधायक भी है । अतः '**षष्ठी शेषे**' से षष्ठी की अनुवृत्ति आती है । **तुल्यार्थैः**-तुल्यम् अर्थः येषाम्, ते तुल्यार्थाः-(बहुव्रीहि) ''तुल्य और तुल्य अर्थवाले शब्द के साथ'' । **अतुलोपमाभ्याम्**—तुला च उपमा च इति तुलोपमे, न तुलोपमे, अतुलोपमे, ताभ्याम् (योगे)—तुला और उपमा से भिन्न शब्द तुल्यार्थक-शब्द होने चाहिये । अन्यतरस्याम् का अर्थ है 'विकल्प' ।

सूत्रार्थ—तुला और उपमा शब्द से भिन्न तुल्य एवं तुल्यार्थक शब्दों के योग में तृतीया होती है, विकल्प से, और पक्ष में षष्ठी भी होती है।

सूत्र में 'तुल्यार्थैः' के बदले 'तुल्यैः' इस बहुवचनान्त का प्रयोग करने पर तुल्य के पर्यायवाची का ग्रहण सिद्ध हो जाता है । अर्थ-पद की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर है कि 'पदान्तर की अपेक्षा से रहित तुल्यार्थक का प्रयोग होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त हो' इस बात को द्योतित करने हेतु अर्थ-पद को रखा गया है । अत एव 'गौः इव गवयः' इस वाक्य में यद्यपि 'इव' तुल्यार्थक है फिर भी गो से तृतीया या षष्ठी नहीं होती है । क्योंकि पदान्तर—गवय की अपेक्षा से इव का प्रयोग हुआ है ।

कुछ विद्वान मानते हैं कि '**अतुलोपमाभ्याम्**' पद में प्रयुक्त 'नञ्' पर्युदासार्थक है । अतः तुला एवं उपमाभिन्न किन्तु तत्सदृश अनव्यय तुल्यार्थक का ही ग्रहण होगा 'इव' आदि अव्ययों का नहीं ।

---

100. चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः 2/6/63 ॥

एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात् पक्षे षष्ठी ।

आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् । एवं मद्रं भद्रं कुशलं

निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हित पथ्यं वा भूयात् । आशिषि किम् ?

देवदत्तस्यायुष्यमस्ति । व्याख्यानात् सर्वत्रार्थग्रहणम् । मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः ।

आशीर्वाद अर्थ में आयुष्य मद्र भद्र कुशल सुख अर्थ और हित शब्दों के योग में और तदर्थक योग में चतुर्थी होती है विकल्प से, और पक्ष में षष्ठी होती है ।

आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् (कृष्ण की आयु बढ़े या कृष्ण दीर्घायु हों) यहाँ पर आशीर्वाद अर्थ में आयुष्य तथा चिरञ्जीवित शब्द के योग में कृष्ण से चतुर्थी करने पर 'कृष्णाय' बनता है । विकल्प-पक्ष में षष्ठी करने पर 'कृष्णस्य' आयुष्यं भूयात्' भी बनेगा ।

इसी प्रकार—मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा कृष्णाय कृष्णस्य भूयात्' बनेगा । प्रत्येक के योग में कृष्ण से चतुर्थी तथा पक्ष में षष्ठी होगी ।

सूत्र में **'अशिषि-पद'** न कहें तब क्या होगा? यदि सूत्र में उक्त पद न रखें तब ''देवदत्तस्य आयुष्यमस्ति'' (देवदत्त दीर्घायु है) इस वाक्य में भी देवदत्त से चतुर्थी होने लगेगी । व्याख्यान से सूत्र में पठित सभी शब्दों के समान-अर्थ वालों का ग्रहण होता है । मद्रं एवं भद्र पर्यायवाची हैं, अतः एक को नहीं पढ़ना चाहिये ।

व्याख्या—चतुर्थी च् आशिषि आयुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः 'यह पदच्छेद है ।' **'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्'** सूत्र से **'अन्यतरस्याम्'** पद की अनुवृत्ति आती है । सूत्रोक्त 'च' पद से **'षष्ठी शेषे'** की भी अनुवृत्ति की जाती है । आयुष्य का अर्थ दीर्घजीवित्व । मद्र एवं भद्र का अर्थ है—शुभ एवं कल्याण, कुशल-आरोग्य, सुख, अर्थ = प्रयोजन, और हित =पथ्य लाभ।

सूत्रार्थ— आशीर्वाद अर्थ में आयुष्य आदि शब्दों का प्रयोग होने पर या इनके पर्यायवाचियों का प्रयोग होने पर चतुर्थी-विभिक्त होती है । विकल्प से पक्ष में षष्ठी भी होती है ।

अधिकरण कारक-सप्तमी विभक्ति

101. आधारोऽधिकरणम् 1/4/45 ।।

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकम् अधिकरणसंज्ञः स्यात् ।

कर्त्ता और कर्म के द्वारा कर्तृनिष्ठ एवं कर्मनिष्ठ क्रिया के आधार को अधिकरण-संज्ञा होती है ।

व्याख्या—'आधारः अधिकरणम्' ये दो पद हैं । 'कारके' का अधिकार है । यह प्रथमान्त के रूप में परिणत आधार का विशेषण बनता है । 'क्रियान्वयि' को कारक कहते हैं । आध्रियते अस्मिन्—जिस पर कुछ रखा जाये उसे **आधार** कहते हैं । यह आधार किसका हो ? इस आकाङ्क्षा में क्रिया का **आधार-कारक** लिया जाता है । क्रिया का आधार साक्षात् नहीं लिया जाता है, अपितु परम्परया लिया जाता है । क्रिया कर्तृगता एवं कर्मगता होती है । अर्थात् क्रिया के साक्षात् आधार तो कर्ता और कर्म ही होते हैं । परन्तु उनके आधार को भी परम्परा से क्रिया का आधार मान लिया जाता है । अर्थात् कर्ता एवं कर्म का आधार ही परम्परासम्बन्ध से क्रिया का आधार कहा जाता है । अत एव 'आधार कारकम्' का अर्थ किया जाता है —

''कर्ता और कर्म के द्वारा कर्तृनिष्ठ एवं कर्मनिष्ठ क्रिया के आधार कारक को अधिकरण-संज्ञा होती है ।'' फलतः अधिकरणसंज्ञक वह होता है जो कर्ता या कर्म का आधार होता है । वह क्रिया का आधार तो परम्परया ही होता है ।

NOTES

102. सप्तम्यधिकरणे च 2/3/36 ।।

अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकारात् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा । 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः ।

अनभिहित अधिकरण में सप्तमी होती है , और दूरार्थक तथा समीपार्थक शब्दों से भी सप्तमी होती है।

आधार तीन प्रकार का होता है– (1)औपश्लेषिक (2) वैषयिक (3) अभिव्यापक ।

कटे आस्ते – (चटाई पर बैठता है) यहाँ पर कर्ता की आसनक्रिया का आधार 'कट' है । इसे **'आधारोऽ-धिकरणं'** से अधिकरण-संज्ञा होती है, तथा **'सप्तम्यधिकरणे च'** से कट से सप्तमी की जाती है । यह औपश्लेषि-आधार का उदाहरण है ।

स्थाल्यं पचति–(पतीली (बटलोई) में पकाता है ।) यहाँ पर कर्म में विद्यमान पाकक्रिया का आधार स्थाली है। इसे **'आधारो अधिकरणम्'** से अधिकरण संज्ञा होती है । तथा **'सप्तम्यधिकरणे च'** से स्थाली से सप्तमी आती है।

मोझे इच्छास्ति–(मोक्ष-विषयक इच्छा है) यहाँ पर इच्छा में विद्यमान सत्ता-क्रिया का आधार मोक्ष विषय है । अतः अधिकरण-संज्ञा होती है । तथा मोक्ष-शब्द से **'सप्तम्यधिकरणे च'** से सप्तमी की जाती है ।

सर्वस्मिन्नात्मास्ति (सब में आत्मा है) यहाँ पर आत्मा का आधार 'सर्व' है । वह अभिव्यापक है। 'आधारोऽधिकरणं' से सर्व को अधिकरण-संज्ञा होती है, तथा 'सप्तम्यधिकरणे च' से सर्व से सप्तमी की जाती है ।

वनस्य दूरे अन्तिके वा–(वन से दूर और समीप) दूर और अन्तिक-शब्द से, **'सप्तम्यधिकरणे च'** से सप्तमी विभक्ति होती है ।

दूरान्तिकार्थेभ्यः 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' से दूरार्थक एवं समीपार्थक शब्द से, विहित द्वितीया तृतीया एवं पञ्चमी-विभक्ति के साथ सूत्र से सप्तमी भी की जाती है, अतः चार विभक्तियाँ फलित हुईं।

व्याख्या–'सप्तमी अधिकरणे च' यह पदच्छेद है । 'अनभिहिते' का अधिकार है । चकार के बल से **'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च'** सूत्र से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति आती है । इस तरह सूत्र का अर्थ होता है – ''अनुक्त अधिकरण-कारक में सप्तमी विभक्ति होती है, तथा दूरार्थक एवं अन्तिक (समीप)अर्थवाले शब्दों से भी सप्तमी होती है ।

आधारस्त्रिधा–आधार तीन प्रकार का होता है । औपश्लेषिक, वैषयिक एवं अभिव्यापक ।

औपश्लेषिक– उपश्लेष का अर्थ है संयोगादि-सम्बन्ध । उप=समीपे, श्लेषः=सम्बन्धः उपश्लेषः, उपश्लेषकृतम् = औपश्लेषिकम्–समीप में सम्बन्ध के कारण बना आधार । जहाँ आधार और आधेय का संयोग है, या जिसके साथ आधेय का भौतिक संयोग हो वह आधार 'औपश्लेषिक आधार' होता है।

भाष्यकार तो सामीपिक– आधार को ही औपश्लेषिक मानते हैं क्योंकि उप = समीपे, श्लेषः सम्बन्ध, यह व्युत्पति है । शब्द का शब्द के साथ '**इको यणचि**', इत्यादि में उपश्लेष = समीपादि — सम्बन्ध ही है अत एव **अच्युषश्लिष्टस्य** इस भाष्य पर कैयट ने कहा—अचि उपश्लिष्टस्य = अच्यसमीपोच्चारितस्येत्यर्थः अत एव **मासे अतिक्रान्ते दीयते** यहाँ पर मास में औपश्लेषिक–अधिकरण है, यह भाष्य भी संगत होता है । 'एकादश माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते'—यहाँ पर एकादश अधिक का शत अधिकरण किस प्रकार है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया कि यहाँ पर भी औपश्लेषिक–अधिकरण है । यथा—**कटे आस्ते** ।

वैषयिक— विषय से सम्बन्ध रखने वाला आधार वैषयिक आधार है। विषयः=प्रतिपाद्योऽर्थः। विषय एव वैषयिकः। विषयतासम्बन्धकृत आधार, या आधेय का जिसके साथ बौद्धिक सम्बन्ध हो वह, वैषयिक आधार है । संयोग एवं समवाय से अतिरिक्त सम्बन्ध से जो अधिकरण होगा, वह वैषयिक होगा । यथा—**मोक्षे इच्छास्ति** ।

अभिव्यापक—आधेय का जिसके कारण सर्वावयव–सम्बन्ध हो वह अभिव्यापक आधार होता है । अर्थात् सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त रहने वाला आधार । अभि = समन्तात्, व्यापकः अभिव्यापकः सर्वात्मना संयोगः, अथवा सकलावयवव्याप्तिकृत–आधार अभिव्यापक आधार है । यथा —**सर्वस्मिन् आत्मा अस्ति ।**

वार्तिकम्–क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् ।।

अधीती व्याकरणे । अधीतमनेनेति विग्रहे 'इष्टादिभ्यश्च' इति कर्तरि इनिः ।

वार्तिक साध्वसाधुप्रयोगे च ।। साधुः कृष्णो मातरि असाधुर्मातुले ।

वार्तिक क्तप्रत्ययान्त शब्दों से विहित जो इन्–प्रत्यय, उन इन्प्रत्ययान्त शब्दों के कर्म में सप्तमी होती है ।

अधीती व्याकरणे—अधीत क्तप्रत्ययान्त है । उससे 'इन्' प्रत्यय करने पर 'अधीती' बना । इसका कर्म व्याकरण है । ''क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्'' से व्याकरण से सप्तमी होती है ।

'अधीतम् अनेन' इस विग्रह में 'इष्टादिभ्यश्च' से कर्ता में 'इनि'– प्रत्यय होता है । वार्तिक—साधु एवं असाधुशब्दों के प्रयोग में सप्तमी होती है ।

साधुःकृष्णो मातरि—यहाँ पर **साध्वसाधुप्रयोगे च** से साधु–शब्द का प्रयोग होने पर मातृ–शब्द से सप्तमी होती है।

असाधुःकृष्णो मातुले —यहाँ पर असाधु का प्रयोग होने के कारण मातुल–शब्द से सप्तमी हुई ।

व्याख्या—क्तस्येन्विषयस्येति—इन् विषयः यस्य = इन् है विषय जिसका, वह 'इन्–विषयस्य' होता है । यह 'क्तस्य' का विशेषण है । 'इन्–विषय वाले क्तप्रत्ययान्त के कर्म में सप्तमी कहनी चाहिए' यह वार्तिकार्थ है । अर्थात् क्तप्रत्ययान्त से इन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुए शब्द के कर्म में सप्तमी कहनी चाहिए ।

वा. निमित्तात् कर्मयोगे ।। निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ।।

हेतो तृतीयाऽत्र प्राप्ता, तन्निवारणार्थमिदम् । सीमा अण्डकोशः । पुष्कलको गन्धमृगः । योगविशेषे किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति ।

वार्तिक– कर्मयोग में निमित्तवाचक शब्द से सप्तमी होती है ।

निमित्तमिहेति– इस वार्तिक में निमित्त का अर्थ है फल और योग का अर्थ-संयोग या समवाय सम्बन्ध है । निमित्त का अर्थ सामान्यतः निमित्त या हेतु ही किया जाये, तब 'जाड्येन बद्धः' इस प्रयोग में भी 'जाड्य से सप्तमी होने लगेगी । अतः निमित्त -शब्द से यहाँ पर 'फल' अभिप्रेत है । फल अर्थात् 'क्रिया का फल'। ''अर्थात् जिस निमित्त या प्रयोजन से क्रिया की जाती है , वह निमित्त या प्रयोजन यदि उस क्रिया के कर्म से युक्त हो जाए, तब उस निमित्तवाचक से सप्तमी होती है '' ।

प्रयोजन या निमित्त वाचक का कर्म के साथ जो योग होगा वह संयोग या समवाय होगा ।

इस सूत्र के चार उदाहरण मूलस्थ कारिका में हैं ।

कारिकार्थ–चमड़े के लिए बाघ को मारता है । दाँतों के लिए हाथी को मारता है, केशों के लिए चमरी-मृग को मारता है, और अण्डकोश के लिए कस्तूरीमृग को मारता है ।

1. **चर्मणि द्वीपिनं हन्ति**–(चमड़े के लिए बाघ को मारता है) इस उदाहरण में हनन-क्रिया का फल चर्म है और वही प्रयोजनवाचक है, निमित्तवाचक है । चर्म का हनन-क्रिया के कर्म 'द्वीपी' के साथ समवाय सम्बन्ध भी है अतः **'निमित्तात् कर्मयोगे'** से चर्मन् से सप्तमी कर **चर्मणि** बनता है ।

2. **दन्तयोः कुञ्जरं हन्ति**–(दातों के लिए हाथी को मारता है) कर्म 'कुञ्जरं' के साथ दन्त (निमित्त) का समवाय सम्बन्ध है । कुञ्जर को मारने की क्रिया का फल 'दन्त' ही है । अतः **'निमित्तात कर्मयोगे'** से दन्त से सप्तमी करने पर दन्तयोः बनता है ।

3. **केशेषु चमरीं हन्ति** (केशों के लिए चमरी मृग को मारता है) यहाँ पर हनन-क्रिया का फल-केश, निमित्त भी है। उसका कर्म 'चमरी' के साथ समवाय सम्बन्ध है । अतः **निमित्तात कर्मयोगे** से केश से सप्तमी होती है ।

सीम्नि पुष्कलको हतः– (अण्डकोष के लिए कस्तूरी-मृग मारा गया) यहाँ पर हनन-क्रिया कर्म 'पुष्कलक' के साथ **सीमन्** का समवाय-सम्बन्ध है । अतः सीमन् से **'निमित्तात् कर्मयोगे'** से सप्तमी कर **सीम्नि** बनता है ।

विशेष–चारों उदाहरणों में **'हैतौ'** सूत्र से तृतीया प्राप्त थी, उसको बाधकर सप्तमी करने के लिए यह वार्तिक है, तथा **'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या'** से तादर्थ्य में चतुर्थी भी प्राप्त थी, उसे बाधने के लिए भी भी यह वार्तिक है ।

NOTES

हरदत्त ने 'सीमन्' का अर्थ 'ग्रामादि की मर्यादा' माना है । उस मर्यादा के ज्ञान के लिए पुष्कल = 'शङ्कु, चुभोया गया' यह वाक्यार्थ मानते हैं । तथा पुष्कलक (कर्म) के साथ सीमन् का संयोग-सम्बन्ध माना है । परन्तु यह अर्थ युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता है ।

योगविशेषे किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति—

इस वार्तिक में 'कर्मयोगे' इस पद में योग-शब्द योगविशेष का वाचक है । इस के अनुसार फलवाचक शब्द का कर्म के साथ समवाय या संयोग आवश्यक है । यदि वार्तिक में 'कर्मयोगे' पद नहीं कहा जाये तब क्या होगा ?

उत्तर—यदि उक्त पद वार्तिक में न हो तब—**वेतनेन धान्यं लुनाति**—(वेतन के लिए धान्य को काटता है) यहाँ पर हेतुतृतीया होती है । वह नहीं हो पाएगी । क्योंकि वेतन और धान्य में तादर्थ्य-सम्बन्ध है, समवाय या संयोग नहीं । '**कर्मयोगे**' न कहने पर तादर्थ्य सम्बन्ध में भी सप्तमी की आपत्ति होने लगेगी । अतः कर्मयोगे पद आवश्यक है ।

---

103. यस्य च भावेन भावलक्षणम् 2/3/37 ।।

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते, ततः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः ।

वार्तिकम्—अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च ।। सत्सु तरत्सु असन्त आसते । असत्सु तिष्ठत्सु सन्तः तरन्ति । सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति । असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति ।

जिसकी क्रिया से कोई दूसरी क्रिया लक्षित हो, उससे सप्तमी-विभक्ति होती है ।

यथा—गोषु दुह्यमानासु गतः—(जब गायें दुही जा रही थीं तब गया) यहाँ पर गोदोहन की क्रिया से दूसरी क्रिया 'गमन' लक्षित हो रही है । इसलिए '**यस्य च भावेन भावलक्षणम्**' से गो एवं दुह्यमाना से सप्तमी होती है ।

वार्तिक—योग्य के कर्तृत्व बतलाने में एवं अयोग्य के अकर्तृत्व बतलाने में तथा इसके विपरीत बतलाने में कर्ता और तद्बोधक क्रिया से सप्तमी होती है ।

सत्सु तरत्सु असन्त आसते—(सज्जनों के तर जाने पर असज्जन बैठे रहते हैं)यहाँ पर सत् एवं तरत् शब्द से ''**अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च**'' से सप्तमी होती है ।

असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति—(असज्जनों के रहते हुए सज्जन तर जाते हैं) यहाँ पर असत् एवं उसकी क्रिया तिष्ठत् से 'अर्हाणां कर्तृत्वेडनहीणां से' सप्तमी होती है ।

सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति —(असज्जनों के तरने पर सज्जन रह जाते हैं) यहाँ पर 'असत्' और 'तरत्' शब्दों से सप्तमी होती है ।

व्याख्या—'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इस सूत्र में 'सप्तम्यधिकरणे च' से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति आती है । सूत्र में दो भाव पद हैं । उनका अर्थ है—'क्रिया' । क्रिया, कर्ता और कर्म पर आश्रित होती है । अर्थात् कर्त्राश्रया और कर्माश्रया होती है । इस तरह

सूत्रार्थ होता है— जिसकी क्रिया से (जिस कर्तृनिष्ठ और कर्मनिष्ठ क्रिया से—) किसी अन्य क्रिया का होना सूचित होता हो वहाँ कर्तृनिष्ठ एवं कर्मनिष्ठ क्रिया में तथा उस क्रिया के कर्ता एवं कर्म में सप्तमी होती है ।

यह सूत्र शेष-षष्ठी का अपवाद है । इस सप्तमी को 'सति सप्तमी' या 'भावे सप्तमी' भी कहते हैं ।

---

104. षष्ठी चानादरे 2/3/38।।

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् ।

रुदन्तं पुत्रादिकम् अनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः ।

अनादर की अधिकता होने पर जिसकी क्रिया से क्रियान्तर लक्षित हो, उससे षष्ठी एवं सप्तमी होती है ।

रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् —(रोते हुए को छोड़कर चला गया) यहाँ पर रोदन-क्रिया से प्रव्रजनक्रिया परलक्षित हुई, और अनादर भी प्रकट हो गया, अतः रुदत् शब्द से 'षष्ठी चानादरे' से षष्ठी एवं सप्तमी दोनों करने पर 'रुदतः रुदति वा' बनता है । रोते हुए पुत्रादि का अनादर करके संन्यासी हो गया ।

व्याख्या—**'षष्ठी च अनादरे'** यह पदच्छेद है । 'अनादरे' पद में विषय अर्थ में सप्तमी है । अनादर के विषय में पूर्वसूत्रोक्त अर्थ को लक्षित कर यह सूत्र षष्ठी एवं सप्तमी करता है । अतः 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' की अनुवृत्ति आती है । **'सप्तम्यधिकरणे च'** से सप्तमी की भी चकार के कारण अनुवृत्ति आती है ।

इस तरह सूत्रार्थ होता है—"अनादर प्रतीत होने पर जिसकी क्रिया से क्रियान्तर लक्षित हो, उससे षष्ठी एवं सप्तमी होती है ।"

यहाँ पर षष्ठी एवं सप्तमी का अर्थ 'लक्षकत्व है' । धातु अर्थ है—'अनादरविशिष्ट प्रव्रजन' । षष्ठी और सप्तमी तात्पर्य के ग्राहक हैं । लक्षकक्रिया का आश्रय 'पुत्र' आदि के विषय में अनादर है । "वर्तमानरोदनव्यापारयुक्त पुत्रादि से ज्ञाप्य, अनादरविशिष्ट प्रव्रजन" यह वाक्यार्थ है । इसी का फलितार्थ मूल में है—'रोते हुए पुत्रादि का अनादर कर संन्यासी हो गया' ।

---

105. स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च-2/3/39।।

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम् । गवां गोषु वा स्वामी । गवां गोषु वा प्रसूतः । गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः ।

स्वामी ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू एवं प्रसूत इन सातों के योग में षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं।

षष्ठी ही प्राप्त थी, पक्ष में सप्तमी विधान के लिए यह सूत्र बनाया गया है ।

गवां गोषु वा स्वामी—(गायों का स्वामी = मालिक) यहाँ पर स्वामी के योग में 'स्वामीश्वराधिपति' से गो शब्द-से षष्ठी करने पर 'गवां' तथा पक्ष में सप्तमी करने पर 'गोषु' बना है ।

गवां गोषु वा प्रसूतः —(गायों के मध्य उत्पन्न) यहाँ पर गो-शब्द से प्रसूतः के योग में षष्ठी एवं सप्तमी होती है।

गाः एवेति—'गायों का उपयोग करने के लिए ही उत्पन्न हुआ,' यह अर्थ है ।

व्याख्या—यह सूत्र भी षष्ठी एवं सप्तमी का विधायक है । स्वामी (प्रभु) ईश्वर, अधिपति दायाद (पिता द्वारा अर्जित धनांश को स्वीकार करने वाला, अंशहर) साक्षी (गवाह), प्रतिभू (जमानत), प्रसूत (उत्पन्न) इनका द्वन्द्वसमास कर तृतीया-बहुवचन में **स्वामीश्वरा........ प्रसूतैः** बना । 'च' से सप्तमी एवं षष्ठी का अनुकर्षण होता है । 'योगे' का अध्याहार कर सूत्र का अर्थ होता है —स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू एवं प्रसूत के योग में षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति होती है ।

---

106. आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् 2/3/40 ।।

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे। आयुक्तो व्यापारितः ।

आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । ईषद्युक्त इत्यर्थः ।

आयुक्त एवं कुशल-शब्द के योग में षष्ठी एवं सप्तमी हो, तात्पर्य अर्थ में ।

आयुक्त का अर्थ है— व्यापारित = नियुक्त, कार्य में लगाया हुआ । **आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा**—(हरिपूजन में लगाया हुआ, या संलग्न) यहाँ पर 'आयुक्त' तथा 'कुशल' के योग में 'हरिपूजन' शब्द से '**आयुक्तकुशलाभ्यां**' से सप्तमी एवं षष्ठी दोनों विभक्तियाँ आती हैं ।

सूत्र में '**आसेवायाम्**' पद न कहें तो क्या होगा ? यदि यह पद न कहें तब आसेवा से भिन्न अर्थ में भी आयुक्त-शब्द का प्रयोग होने पर षष्ठी व सप्तमी होने लगेगी । तथा **आयुक्तो गौः शकटे**—(गाड़ी में थोड़ा जुता बैल) यहाँ पर भी शकट से षष्ठी सप्तमी, दोनों होने लगेंगी । इसे रोकने हेतु 'आसेवायां' पद है ।

व्याख्या—'आयुक्तकुशलाभ्यां च आसेवायाम्' यह पदच्छेद है । **चकारबल** से 'षष्ठी शेषे' एवं '**सप्तम्यधिकरणे च**' से षष्ठी एवं सप्तमी की अनुवृत्ति आती है । **आसेवा** का अर्थ है, औत्सुक्य,तत्पर, व्यापारित, प्रवर्तित आदि । '**तत्परे प्रसितासक्ताविष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः**' (अमरकोष) । अधिकरणत्व की विवक्षा में सप्तमी-मात्र प्राप्त होने पर, तथा सम्बन्ध-मात्र विवक्षा में षष्ठी के ही प्राप्त होने पर सप्तमी एवं षष्ठी विधान के लिए यह सूत्र है ।

सूत्रार्थ—आयुक्त एवं कुशलशब्द के योग में तात्पर्य या औत्सयुक्यादि अर्थ प्रतीत होने पर सप्तमी एवं षष्ठी विभिक्त होती है ।

NOTES

---

107. यतश्च निर्धारणम् 2/3/41 ।।

जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य प्रथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः

षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठ : । गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा । गच्छतां गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्रः । छात्राणां- छात्रेषु वा मैत्रः पटुः।

जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञा द्वारा जिस समुदाय से एक भाग को पृथक् (अलग) किया जाता है, उस समुदायवाचक शब्द से षष्ठी एवं सप्तमी होती है ।

नृणा नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः—(मनुष्यों में द्विज श्रेष्ठ है) यहाँ समुदाय 'नृ' है । उससे द्विजजातिविशिष्ट को श्रेष्ठ बतलाकर उसे पृथक् किया गया है । अतः नृ-शब्द से **'यतश्च निर्धारणं'** से षष्ठी करने पर **'नृणाम्'** एवं सप्तमी करने पर **'नृषु'** बनता है ।

गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा— (गायों में काली गाय बहुत दूध देती है ।) यहाँ पर गुणवाचक 'कृष्णा' शब्द द्वारा गोसमुदाय से एक को पृथक् किया जाता है, अतः **'यतश्च निर्धारणम्'** से समुदायवाचक गो-शब्द से षष्ठी करने पर गवां तथा सप्तमी करने पर गोषु बनता है ।

गच्छतां-गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्रः— (चलते हुओं में दौड़ने वाला शीघ्र पहुँचता है) यहाँ पर क्रिया-शब्द द्वारा दौड़ने वाले को चलने वाले के समुदाय से पृथक् किया जाता है, अतः समुदायवाचक 'गच्छत्' शब्द से षष्ठी एवं सप्तमी करने पर 'गच्छतां' गच्छत्सु वा' बनता है ।

छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः— (छात्रों में मैत्र निपुण है) यहाँ पर समुदाय-छात्र है, मैत्र संज्ञाशब्द है । इसके द्वारा समुदाय से पृथक्करण हो रहा है । अतः समुदायवाचक 'छात्र' से **'यतश्चनिर्धारणम्'** से षष्ठी एवं सप्तमी करने पर **'छात्राणां छात्रेषु'** बनता है ।

व्याख्या—'यतः च निर्धारणम्' यह पदच्छेद है । इस सूत्र में भी पूर्व सूत्रों से षष्ठी एवं सप्तमी की अनुवृत्ति आती है । **यतः** यत् शब्द से पञ्चमी के अर्थ में तसि-प्रत्यय कर 'यतः' बनता है । यत् एवं तत् पद सापेक्ष हैं । यतः का प्रयोग होने के कारण 'ततः' पद का भी अध्याहार किया जाता है । **यतः निर्धारणम् ततः षष्ठीसप्तम्यौ** = 'जिससे निर्धारण किया जाए, उससे षष्ठी एवं सप्तमी होती है,' यह अर्थ निकलता है । किसी समुदाय से एकदेश का पृथक्करण 'निर्धारण' है । समुदाय से किसी को अलग करने पर वह वस्तु समुदाय की अपेक्षा न्यून होगी । निर्धार्यमाण समुदाय चार प्रकार का होता है— जातिविशिष्ट, गुणविशिष्ट, क्रियाविशिष्ट, एवं संज्ञाविशिष्ट । इस तरह-जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञा द्वारा निर्धार्यमाण समुदाय से एक को जब पृथक् किया जाएगा तब समुदायवाचक से षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ होंगी । इसी की वृत्ति में बताते हुए **'जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः'** इत्यादि के द्वारा बताया गया है ।

NOTES

सूत्रार्थ— जाति गुण क्रिया एवं संज्ञा द्वारा जिस समुदाय से एक को अलग बताया जाये, उस समुदायवाचक से षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियाँ होतीं हैं ।

108. पञ्चमी विभक्ते—2/3/42 ।।

विभागो विभक्तम् । निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद तत्र पञ्चमी स्यात् । माथुरा: पाटलिपुत्रकेभ्य: आढ्यतरा:।

विभक्त का अर्थ विभाग है । निर्धार्यमाण का जहाँ पर भेद ही हो वहाँ, उससे पञ्चमी-विभिक्त होती है ।

माथुरा: पाटलिपुत्रकेभ्य: आढ्यतरा:— (मथुरावासी पाटलिपुत्रवासियों से अधिक धनवान् हैं) यहाँ पर निर्धार्यमाण माथुर है । माथुर और पाटलिपुत्रक दोनों में भेद ही है, समानता नहीं है । अत: निर्धारणावधि 'पाटलिपुत्रक' से 'पञ्चमी विभक्ते' से पञ्चमी होती है । 'पाटलिपुत्रकेभ्य:' बनता है ।

व्याख्या—'पञ्चमी विभक्ते' सूत्र में 'वि' पूर्वक भज् धातु से भाव में क्तप्रत्यय करने पर सप्तमी के एकवचन में 'विभक्ते' बनता है । इसका अर्थ है—'विभाग'। **'यतश्चनिर्धारणम्'** सूत्र की अनुवृत्ति आती है । निर्धारण में समुदाय से अभिन्नता होने पर **'यतश्च निर्धारणं'** की प्रवृत्ति होगी, किन्तु निर्धारण में जहाँ दो समुदायों में भेद होगा, वही **'पञ्चमी विभक्ते'** सूत्र प्रवृत्त होगा । अर्थात् निर्धारणावधि और निर्धार्यमाण में जहाँ भेद ही हो वहाँ इसकी प्रवृत्ति होगी ।

सूत्रार्थ—'जिस समुदाय से निर्धारण किया जाता है, उससे निर्धार्यमाण और निर्धारणावधि में विभाग = भेद, होने पर निर्धारणावधिवाचक से पञ्चमी होती है । ('समुदाय से एकदेश का' यह अंश इस सूत्र में विवक्षित नहीं है क्योंकि यहाँ पर यह सम्भव नहीं है ।)

109. साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रते: 2/3/43 ।।

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायां न तु प्रते: प्रयोगे । मातरि साधुर्निपुणो वा । अर्चायां किम्? निपुणो राज्ञो भृत्य: । इह तत्त्वकथने तात्पर्यम् ।

वा. अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् । साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा ।

पूजा अर्थ में साधु और निपुण शब्दों के योग में सप्तमी हो, किन्तु प्रति के प्रयोग में सप्तमी नहीं हो।

मातरि साधुर्निपुणो वा— (माता के प्रति सज्जन, या माता की सेवा में कुशल) यहाँ प्रशंसार्थक साधु एवं निपुण के योग में मातृशब्द से सप्तमी होती है ।

अर्चायां किम्? निपुणो राज्ञो भृत्य: —(राजा का सेवक निपुण है) इस सूत्र में 'अचार्यां' यह पद यदि नहीं कहें तब साधु और निपुण का जहाँ तत्त्वकथन में तात्पर्य होगा, अर्चा में तात्पर्य नहीं होगा, वहाँ भी उनके योग में सप्तमी होने लगेगी । तब 'निपुणो राज्ञो भृत्य:' इस प्रयोग में भी, जहाँ तत्त्वकथन में तात्पर्य है, राजन् में सप्तमी की आपत्ति होने लगेगी । इसे रोकने हेतु 'अर्चायां' पद आवश्यक है ।

NOTES

विशेष— यह सूत्र शेषषष्ठी का अपवाद है । साधु-शब्द का प्रयोग करने पर अर्चा-अर्थ के अभाव में भी **'साध्वसाधुप्रयोगे च'** वार्तिक से सप्तमी होती ही है । इस सूत्र में साधु-शब्द का पाठ इसलिए किया गया है कि अर्चा-अर्थ में प्रति आदि के योग में सप्तमी न हो । अत एव वार्तिक हुआ—**'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्'** ।

वार्तिकार्थ— प्रति परि अनु इनका प्रयोग होने पर साधु एवं निपुण का योग होने पर भी सप्तमी नहीं होती है ।

साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा—(माता के प्रति सज्जन) यहाँ पर मातृ-शब्द से साधु एवं निपुण के योग में प्राप्त सप्तमी का 'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्' वार्तिक से निषेध हो गया है । तब 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' से प्रति परि अनु को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई तथा **'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'** से मातृ-शब्द से द्वितीया होती है । **'मातरं'** बनता है ।

---

110. प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च 2/3/44 ।।

आभ्यां योगे तृतीया स्यात् चात् सप्तमी । प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा ।

प्रसित एवं उत्सुक-शब्दों के योग में तृतीया होती है और सप्तमी भी ।

प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा— (हरि के लिए तत्पर) यहाँ पर प्रसित एवं उत्सुक-शब्दों के योग में हरि-शब्द से तृतीया करने पर 'हरिण' एवं सप्तमी करने पर 'हरौ' बनता है ।

व्याख्या—'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' सूत्र में चकार के बल से 'साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः' से सप्तमी की अनुवृत्ति आती है । प्रसित एवं उत्सुक का अर्थ है—'तत्पर' । वैषयिक-अधिकरण में सप्तमी ही प्राप्त थी, यहाँ तृतीया करने के लिए भी यह सूत्र है ।

सूत्रार्थ—प्रसित एवं उत्सुक शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति होती है और सप्तमी भी होती है ।

---

111. नक्षत्रे च लुपि 2/3/45 ।।

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात्तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे । मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् । मूले श्रवणे इति वा । 'लुपि' किम् ? पुष्ये शनिः ।

जब प्रकृतिवाचक शब्द का अर्थ नक्षत्र हो, तथा प्रत्यय का लुप् शब्द से लोप हुआ हो, किन्तु उसका अर्थ यदि प्रकृति प्रकट कर रही हो तब प्रत्यय के अर्थ में विद्यमान उस नक्षत्रवाचक शब्द से अधिकरण में तृतीया और सप्तमी होती है ।

मूलेन आवाहयेद् देवीम्—(मूलनक्षत्र से युक्त काल में देवी का आवाहन करें) यहाँ पर मूल प्रकृतिवाचक है, नक्षत्र है । अण् प्रत्यय का लुप् भी हुआ है। फिर भी प्रत्यय का अर्थ विद्यमान है । अतः मूल शब्द से **'नक्षत्रे च लुपि'** से तृतीया करने पर मूलेन' बनता है । सप्तमी करने पर 'मूले' भी बनेगा ।

NOTES

श्रवणेन विसर्जयेत्—(श्रवण नक्षत्र से युक्त काल में देवी का विसर्जन करें) यहाँ पर, 'श्रवण' शब्द प्रकृतिवाची एवं नक्षत्रवाचक है उससे आये 'अण' प्रत्यय का लोप हुआ है किन्तु प्रत्ययार्थ विद्यमान है । अत: श्रवण-शब्द से 'नक्षत्रे च लुपि' से तृतीया करने पर 'श्रवणेन' बनता है, और सप्तमी करने पर 'श्रवणे' भी बनेगा ।

सूत्र में 'लुपि' यह पद नहीं पढ़ें तो क्या दोष होगा ? सूत्र में यदि उक्त पद न पढ़े तब नक्षत्रवाचक-शब्द से अधिकरण में तृतीया होने लगेगी । ऐसी स्थिति में '**पुष्ये शनि:**' इस प्रयोग में लुप् न होने पर भी पुष्य (नक्षत्र वाचक) से तृतीया की आपत्ति हो जाएगी ।

व्याख्या—'नक्षत्रे' च लुपि' इस सूत्र में 'साधुनिपुणाभ्यामचार्याम्' से सप्तमी की, '**प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च**' से तृतीया की , तथा '**सप्तम्यधिकरणे च**' से मण्डूकप्लुति से 'अधिकरणे' की अनुवृत्ति आती है । 'नक्षत्रे' पद के बाद '**प्रकृत्यर्थे सति**' इतना जोड़ना पड़ता है । 'लुपि' का अर्थ है = 'लुप् शब्द से प्रत्यय का लोप होने पर' । जहाँ पर नक्षत्र-वाचक से तद्युक्त काल अर्थ में तद्धित अण्-आदि के विधान के बाद उस प्रत्यय का '**लुबविशेषे**' से लुप् हो जाता है तथा **प्रकृति** शेष रह जाती है, वहीं पर इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

सूत्रार्थ—प्रकृति का अर्थ नक्षत्र हो तथा लुप्संज्ञा के द्वारा लोप किए गए प्रत्यय का अर्थ भी नक्षत्रवाचक प्रकृति से ज्ञात हो रहा हो तो नक्षत्र-वाचक शब्द से अधिकरण में तृतीया एवं सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं ।

---

112. सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये 2/3/7।।

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्त: । अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता । कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं काल: । इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् । कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देश: । अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविष्येते। तदस्मिन्नधिकम् इति 'यस्मादधिकम्-इति च सूत्रनिर्देशात्' । लोके लोकाद् वा अधिको हरि: ।

दो शक्तियों (कारकों) के मध्य जो कालवाचक शब्द एवं मार्गवाचक शब्द हैं उनसे सप्तमी एवं पञ्चमी विभक्तियाँ होती हैं ।

अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता—(आज खाकर यह दो दिन, अथवा दो दिन के बाद खाएगा) यहाँ एक ही कर्ता की दो शक्तियों के मध्य कालवाचक शब्द '**द्व्यह**' है । उससे 'सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये' से पञ्चमी एवं सप्तमी आती है । **द्व्यहे, द्व्यहाद्** बनता है।

कर्ता की दो शक्तियों के मध्य यह काल है ।

इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत्—(यहाँ पर स्थित यह एक कोस पर या एक कोस के बाद लक्ष्य वेध सकता है) यहाँ पर कर्ता **इहस्थ** और कर्म-**लक्ष्य** इन दोनों की शक्तियों के मध्य

मार्गवाचक शब्द 'क्रोश' है । इससे 'सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये' से सप्तमी एवं पञ्चमी करने पर **'क्रोशे क्रोशाद्वा'** बनता है ।

कर्ता और कर्मशक्तियों के मध्य यह देश है । **'अधिकशब्द** के साथ योग होने पर सप्तमी एवं पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ इष्ट हैं ।' तदस्मिन्नधिकम् तथा यस्मादधिकम् इन सूत्रों में सप्तमी एवं पञ्चमी निर्देश इनके प्रमाण हैं ।

लोके लोकाद् वा अधिको हरिः–(हरि लोक से बढ़कर हैं) यहाँ पर अधिक-शब्द के योग में लोक-शब्द से सप्तमी एवं पञ्चमी दोनों होती हैं ।

व्याख्या–'सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये' इस सूत्र का अर्थ पूर्ण करने के लिए 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्र से **कालाध्वनोः** की अनुवृत्ति आती है । **कालाध्वनोः** की सप्तमी का पञ्चमी विभक्ति के रूप में विपरिणाम कर दिया जाता है । 'कारकमध्ये' इस पद में प्रयुक्त कारक-शब्द कर्तृत्व-आदि शक्तिपरक लिया गया है, न कि केवल कर्ता-आदि के रूप में गृहीत है । शक्ति और शक्तिमान् में अभेद मानकर 'कारकमध्ये' का अर्थ-'कारकों' के मध्य या दो 'कारकशक्तियों के मध्य' यह किया जाता है । इस तरह **सूत्रार्थ होता है**–दो कारक-शक्तियों के मध्य जो कालवाची एवं देश (अध्वा) वाची शब्द आवें, उनके वाचक शब्दों से सप्तमी एवं पञ्चमी विभक्तियाँ आती हैं ।

---

113. अधिरीश्वरे 1/4/97।।

स्वस्वामिसम्बन्धे अधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् ।

114. यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी 2/3/9।।

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात उप परार्धे हरेर्गुणाः । परार्धादधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी । अधि भुवि रामः । अधि रामे भूः । सप्तमी शौण्डैः इति समासपक्षे तु रामाधीना । अषडक्ष–इत्यादिना खः।

---

113. स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध अर्थ में **अधि** को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

114. जिससे अधिक हो, तथा जिसका ईश्वरत्व कहा जाये, उन शब्दों से कर्म प्रवचनीय के योग में सप्तमी-विभक्ति होती है ।

उप परार्धे हरेर्गुणाः–(हरि के गुण परार्ध संख्या से भी अधिक हैं) यहाँ पर अधिक-अर्थ में **'उपोऽधिके च'** से उप को कर्मप्रवचनीय-संज्ञा होती है, तथा उप के योग में परार्ध शब्द से **'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी'** सूत्र से सप्तमी करने पर 'परार्धे' बनता है ।

ऐश्वर्य-अर्थ (ईश्वरत्व) में स्व एवं स्वामी दोनों से क्रम से सप्तमी होती है ।

अधि भुवि रामः–(राम पृथ्वी के स्वामी हैं) यहाँ पर 'अधि' को 'अधिरीश्वरे' से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । स्व- भूशब्द से कर्मप्रवचनीय 'अधि' के योग में 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं' से सप्तमी करने पर **'भुवि'** बनता है।

अधि रामे भूः—(पृथ्वी राम के अधिकार में है) यहाँ पर अधि को 'अधिरीश्वरे' से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है, तथा स्वामी-राम से 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' से सप्तमी करने पर 'रामे' बनता है । **सप्तमी शौण्डैः** इस सूत्र से सप्तमी-समास के पक्ष में '**रामाधीना**' बनेगा । अर्थात् 'रामाधि' से 'अषडक्षाशित' इत्यादि से ख-प्रत्यय, एवं ख को 'ईन' करने पर रामाधीना भूः' यह प्रयोग होगा ।'

व्याख्या—अधिः ईश्वरे, यह पदच्छेद है । इस सूत्र में 'कर्मप्रवचनीयाः' की अनुवृत्ति आती है और वह एकवचनान्त में परिवर्तित होकर अधि के साथ अन्वित होता है । कर्मप्रवचनीय संज्ञा है, अधिः संज्ञी है । **ईश्वरे**-ईश्वर शब्द से ईश्वरत्व=स्व-स्वामि भाव सम्बन्ध अर्थ विवक्षित है । 'स्व' = जिस वस्तु या व्यक्ति पर अधिकार हो, तथा स्वामी = जिसका वस्तु या व्यक्ति पर अधिकार हो । **ईश्वरे अधिः कर्मप्रवचनीयः** यह सूत्र का स्वरूप बना ।

सूत्रार्थ—ईश्वर = स्वस्वामिभावसम्बन्ध अर्थ में अधि को कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

यस्मादधिकम्—'यस्मात् अधिकं यस्य च ईश्वरवचनं तत्र सप्तमी' यह पदच्छेद है । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया इस सूत्र से 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' की अनुवृत्ति आती है । कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी का विधायक यह सूत्र है । यहाँ पर जिससे सम्बन्धित ईश्वर कहा जाये, उससे सप्तमी हो, यह एक अर्थ है । यस्य के यत् पद से स्व = वस्तु का ग्रहण होता है । ईश्वरशब्द भावप्रधान है । अतः जिसका ईश्वरत्व कहा जाये, उससे भी सप्तमी हो, यह दूसरा अर्थ है । अर्थात् जिसमें ईश्वरत्व रहे, उससे सप्तमी हो, यह अर्थ है ।

सूत्रार्थ—'जिससे अधिक हो' और 'जिसका ईश्वरत्व (स्वामित्व) कहा जाये' इस स्थिति में कर्मप्रवचनीय के योग में उन शब्दों से सप्तमी होती है ।

(यह शेष-षष्ठी का अपवाद है ।)

---

115. विभाषा कृञि 1/4/98 ।।

अधिः करौतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे । यदत्र मामधिकरिष्यति । विनियोक्ष्यत इत्यर्थः । इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते । अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति' इति निघातो न इति सप्तमी विभक्तिः ।।

ईश्वर अर्थ होने पर कृ-धातु के योग में **अधि** को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो, विकल्प से।

यदत्र मामधिकरिष्यति—(जो मुझे इसमें नियुक्त करेगा) यहाँ पर अधि को 'विभाषा कृञि' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया से अधि के योग में 'अस्मद्' शब्द से द्वितीया करने पर 'माम्' बनता है ।

अधिकरिष्यति का अर्थ है—'नियुक्त करेगा' अधि को कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने के कारण गतिसंज्ञा नहीं होती । अत एव 'तिङि चोदात्तवति' सूत्र से अधि को निघात=सर्वानुदात्त नहीं होता है ।

व्याख्या—'विभाषा कृञि' सूत्र में 'अधिरीश्वरे' सूत्र की अनुवृत्ति आती है । 'कर्मप्रवचनीया:' का अधिकार है, और वह एकवचनान्त के रूप में परिणत होता है । कृञि का अर्थ है—'कृ-धातु के पर में रहने पर' ।

सूत्रार्थ—कृञ् धातु के पर रहने पर ईश्वर (स्वस्वामिभाव) अर्थ में अधि की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है ।

सप्तमी-विभक्ति का विवेचन पूर्ण ।

श्री शिवार्पणमस्तु । शाण्डिल्यगोत्रोत्पन्न चौधर्युपाह्व अर्कनाथकृत सिद्धान्तकौमुदी के कारकप्रकरण की 'अर्थप्रकाशिका' व्याख्या पूर्ण ।

श्रीशिवार्पणमस्तु ।

सारांश :

प्रस्तुत इकाई में आपने सम्प्रदान कारक एवं चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग का अध्ययन किया है। दान के कर्म द्वारा जिसे भोक्ता बनाया जाये, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा- 'विप्राय गां ददाति' इस वाक्य से स्पष्ट है कि गाय विप्र को दी जाती है, अत: विप्र की सम्प्रदाय संज्ञा होती है और सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति आती है। इस प्रकार 'विप्राय' शब्द-रूप का प्रयोग होता है। इसी प्रकार अपादान कारक (पंचमी विभक्ति) का प्रयोग विविध उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'षष्ठी शेषे' सूत्र के अनुसार कारक और प्रातिपादिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभावादि-सम्बन्ध के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। हेतु के प्रयोग में भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे-अन्नस्य हेतोर्वसति। 'आधारोऽधिकरणम्' सूत्र के अनुसार आधार की अधिकरण संज्ञा होती है तथा 'सप्तम्यिधिकरणे च' यह सूत्र निर्देश करता है कि अधिकरण में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आपने इस इकाई में अपादान से लेकर अधिकरण कारक का ज्ञान एवं इन कारकों में क्रमश: चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति के प्रयोग से सम्बन्धित सभी सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या का अध्ययन किया है।

अभ्यास-प्रश्न :

1. सम्प्रदान संज्ञा-विधायक के किन्हीं दो सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
2. चतुर्थी विभक्ति के विविध प्रयोग उदाहरणों सहित समझाइए।
3. 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण:' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
4. अपादान संज्ञा-विधाक किन्हीं दो सूत्रों का विवेचन कीजिए।
5. पंचमी विभक्ति के प्रयोग के प्रमुख नियम समझाइए।

NOTES

6. दूरार्थक एवं अन्तिकार्थक शब्दों में द्वितीया, तृतीया एवं पंचमी विभक्तियाँ क्यों होती हैं? स्पष्ट कीजिए।

7. सम्बन्ध कारक से सम्बन्धित किन्हीं दो सूत्रों का विवेचन कीजिए।

8. षष्ठी विभक्ति के विभिन्न वैकल्पिक प्रयोगों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

9. अधिकरण कारक से सम्बन्धित किन्हीं दो सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

10. सप्तमी विभक्ति के प्रयोग हेतु किन्हीं पाँच नियमों का विवेचन कीजिए।

✤ ✤ ✤

NOTES

3 कृत्य एवं कृदन्त प्रक्रिया

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- कृत्य प्रकरण का विवेचन
- पूर्वकृदन्त प्रकरण का विवेचन
- उणादि प्रकरण का विवेचन
- उत्तरकृदन्त प्रकरण का विवेचन
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के पूर्व कृदन्त तथा उत्तर कृदन्त प्रकरणों का विवेचन किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त छात्र :

- कृत् एवं कृत्य प्रत्ययों के प्रयोग से अवगत हो सकेंगे।
- क्त, तव्यत्, अनीयर्, ण्वुल्, तृच् आदि प्रत्ययों का प्रयोग जान सकेंगे।
- वनिप्, क्विप्, णिनि, शतृ, शानच्, तुमुन आदि प्रत्ययों का प्रयोग सीख सकेंगे।
- उपर्युक्त सभी प्रत्ययों के विधायक सूत्रों की व्याख्या से अवगत हो सकेंगे।
- उपर्युक्त सभी प्रत्ययों से बने विभिन्न शब्दों की रूप-सिद्धि से परिचित हो सकेंगे।

NOTES

प्रस्तावना :

संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा है। यह भाषा समस्त भाषाओं की आधार-भूमि मानी जाती है। यह पूर्णतः वैज्ञानिक एवं दोषरहित भाषा है। ज्ञान एवं विज्ञान की समस्त शाखाएँ संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हैं। संश्लेषण एवं विश्लेषण की विशिष्टता के कारण संस्कृत भाषा अत्युन्नत कम्प्यूटरों के लिए आज भी अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक उपयोगी है, ऐसी वैज्ञानिकों की मान्यता है। संस्कृत भाषा का व्याकरण भी पूर्णतः वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। संस्कृत व्याकरण की समस्त पद्धतियों में पाणिनीय व्याकरण का सर्वोच्च स्थान है। पाणिनि-कृत 'अष्टाध्यायी' संस्कृत व्याकरण की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना है। इस ग्रन्थ में 3995 सूत्रों के माध्यम से संस्कृत व्याकरण के सभी प्रकरणों का विवेचन किया है। अष्टाध्यायी की विषय-बहुलता को भट्टोजिदीक्षित ने अपनी वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में व्यवस्थित क्रम देकर सरल एवं सुबोध बनाया है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति किसी न किसी धातु से हुई है, और प्रत्येक धातु का अपना स्वतंत्र अर्थ होता है। धातुओं में ही विभिन्न प्रत्यय जोड़कर असंख्य शब्दों की रचना की जाती है। संस्कृत में धातुओं से बने क्रिया शब्द 'तिङ्' प्रत्ययों से बने होते हैं। इन प्रत्ययों से बने शब्द-रूपों को 'तिङन्त' कहा जाता है। तिङ् प्रत्यय से भिन्न प्रत्ययों की कृत् संज्ञा होती है। कृत् प्रत्यय कर्ता के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कृत्य प्रत्यय भाव एवं कर्म के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यह इकाई वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में वर्णित कृत्य एवं कृदन्त प्रक्रिया का विवेचन प्रस्तुत करती है। इसमें आप अनेक प्रत्ययों तथा उनसे निर्मित शब्दों का अध्ययन करेंगे।

कृदन्ते कृत्यप्रक्रिया

770. धातोः 3/1/91।।

आतृतीयाध्यायसमाप्तेर्ये प्रत्यास्ते धातोः परे स्युः । कृदतिङिति कृत्संज्ञा ।

सूत्रार्थ 770. तृतीयाध्याय की समाप्ति तक जो प्रत्यय विधान किये जायेंगे वे धातु से पर में हों ।

कृदतिङिति— धातु से विहित तिङ्भिन्न प्रत्यय की '**कृदतिङ्**' सूत्र से 'कृत्' संज्ञा होती है ।

771. वासरूपोऽस्त्रियाम् 3/1/94।।

अस्मिन् धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात्, स्त्र्यधिकारोक्तं बिना ।

सूत्रार्थ 771. इस धातु के अधिकार में असरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है, स्त्री अधिकार में उक्त प्रत्ययों को छोड़कर ।

विशेषः— यह सूत्र परिभाषासूत्र है । 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा' यह लक्षण है । ज्ञातव्य है कि अपवाद नियम से उत्सर्ग (सामान्य) नियम का नित्य बाध होता है । परन्तु धातु के अधिकार में

असरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग का विकल्प से बाध करेगा । किन्तु जो प्रत्यय सरूप अपवाद होगा वह नित्यबाधक होगा । स्त्र्यधिकार में यह नियम लागू नहीं होता है । अतः स्त्री-अधिकारस्थ असरूप, अपवाद प्रत्यय भी उत्सर्ग का नित्य बाध करेगा ।

772. **कृत्याः 3/1/95।।**

ण्वुल्तृचावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः ।

773. **कर्तरि कृत् 3/4/67।।**

कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात् । इति प्राप्ते ।

सूत्रार्थ 772. ण्वुल्तृचौ (3/1/133) सूत्र से पूर्व तक के सूत्रों द्वारा विहित प्रत्यय कृत्संज्ञक हैं । (यह अधिकार सूत्र है) ।

सूत्रार्थ-773 - कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्ता अर्थ में होता है ।

इति प्राप्ते—धातु से विहित तिङभिन्न प्रत्यय कृत् हैं । वे इस सूत्र के नियम से कर्ता अर्थ में ही प्राप्त होते हैं, किन्तु आगे का नियम कुछ प्रत्ययों को कृत्य नाम देता है, तथा वे कृत्य प्रत्ययों को भाव एवं कर्म अर्थ में करने का निर्देश देता है । अतः कत में प्राप्त प्रत्यय का आगे के नियम से बाध हो जाता है । यही आशय है- **'इति प्राप्ते'** पद का ।

774. **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः 3/4/70।।**

एते भावकर्मणोरेव स्युः ।

तयोरेव-तयोः एव कृत्यक्तखलर्थाः यह पदच्छेद है । सूत्र में 'तयोः' इस पद **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** सूत्र में उक्त 'भावे' ओर कर्मणि' ये दोनों पद लिये जाते हैं । 'एव' पद कर्ता को पृथक् करता है ।

सूत्रार्थ 774. कृत्य, क्त एवं खलर्थक प्रत्यय भाव एवं कर्म में ही होते हैं ।

774. **तव्यत्तव्यानीयरः 3/1/96।।**

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः । एधितव्यम्, एधनीयं त्वया । भावे औत्सरि कमेकवचनं क्लीबत्वञ्च । चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया ।

तव्यत्तव्यानीयरः—तव्यत् तव्य एवं अनीयर् का द्वन्द्वसमास कर प्रथमा बहुव में सूत्र हैं । 'धातोः' का अधिकार है । तव्यत् में तव्य ही शेष रहता है किन्तु 'तित्स्वरित से तित् स्वर करने हेतु 'तव्यत्' का पृथक् विधान किया गया है । अनीयर में र् की इत्य होती है । **उपोत्तमं रिति** से मध्योदात्त करने के लिए अनीयर् में र् लगाया गया है ।

सूत्रार्थ 775. धातु से तव्यत् तव्य एवं अनीयर् प्रत्यय होते हैं ।

एधितव्यम्—एध् धातु से तव्यत्तव्यानीयरः से तव्यत् हुआ यह तव्यत् कर्तरि से कर्ता में प्राप्त था किन्तु तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः के नियम से यहाँ भाव में आया अनुबन्धलोप । आर्धधातुकं शेषः से

तव्य को आर्धधातुकसंज्ञा, आर्धधातुकस्येड् वल से इट् । एधितव्य को कृतद्धितसमासाश्च से प्रतिपदिकसंज्ञा, स्वौजर प्रौट् इत्यादि से विभक्ति आयी, आतोऽम् से सु को अम् । अमि पूर्वः से पूर्वरूप कर **एधितव्यम्** ब कर्ता युष्मद के अनुक्त होने से उससे तृतीया कर 'त्वया' बनता है ।

एधनीयम्—एध् से भाववाच्य में तव्यत्तव्यानीयरः से अनीयर् प्रत्यय आया । हलन्त से र् की इत्संज्ञा हुई । एशनीय को कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । सु आ अतोऽम् से सु को अम् । **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप कर **एधनीयम्** बना ।

भावे औत्सर्गिकम्—भाववाच्य में स्वाभाविक एकवचन एवं नपुंसकता होती है । उपर्युक्त उदाहरणों में भाव में प्रत्यय होने से नपुंसकलिङ्ग एवं एकवचन है ।

चेतव्यः धर्मस्त्वया—चि धातु से कर्म में 'तव्यत्तव्यानीयरः' से कर्मवाच्य में तव्यत् प्रत्यय हुआ, अनुबन्धलोप कर चि तव्य बना । "आर्धधातुकं शेषः" से तव्य को आर्धधातुकसंज्ञा कर "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" चि के इ को गुण कर चेतव्य बना । "कृत्तद्धितसमासाश्च" से प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया । अनुबन्धलोप कर स् को 'ससजुषो रुः' से रुत्व । र् को खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग कर **चेतव्यः** बना ।

(कर्म अर्थ के उक्त हो जाने के कारण धर्मः में प्रथमा तथा त्वया में अनुक्तकर्ता होने के कारण तृतीया होती है)।

चयनीयः—चि से 'तयोरेव' की सहायता से कर्म में तव्यत्तव्यानीयरः से अनीयर् प्रत्यय हुआ । आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः से चि के इ को गुण ए, चे अनीय बना अय् कर चयनीय बना। प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया । सु को रुत्व एवं विसर्ग कर **चयनीयः** बना ।

वा. केलिमर् उपसंख्यानम् ।। पचेलिमाः माषाः । पक्तव्या इत्यर्थः ।

भिदेलिमाः सरलाः भेत्तव्या इत्यर्थः । कर्मणि प्रत्ययः ।

वा. धातु से भाव व कर्म में केलिमर् प्रत्यय होते हैं ।

(केलिमर् में क् की लशक्वतद्धिते से, व र् की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा होने पर 'एलिम' शेष रहता है)।

पचेलिमाः-माषाः—पच् से कर्म में 'केलिमर् उपसंख्यानम्' से केलिमर् प्रत्यय आया । लाशक्वतद्धिते से क् की तथा र् की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा कर पच् एलिम = पचेलिम बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा । प्रथमाबहुवचन जस् में **पचेलिमाः** बनता है ।

भिदेलिमाः—भिद् धातु से कर्म में 'केलिमर् उपसख्यानम्' से केलिमर् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । भिद् एलिम बना । आर्धधातुकसंज्ञा हुई । पुगन्तलघूपधस्य च से भिद् के इ को प्राप्त गुण का क्ङिति च से निषेध हुआ । भिदेलम को प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । जस् विभक्ति, पूर्वसवर्णदीर्घ, स् को रूत्व, र् को विसर्ग कर **भिदेलिमाः** बना ।

776. कृत्यल्युटो बहुलम् 3/3/113।।

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ।।
स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम् । दीयते अस्मै दानीयो विप्रः ।

कृत्यु प्रत्यय एवं ल्युट् प्रत्यय बहुल प्रकार से होते हैं (बहुल को ही बाहुलक कहते हैं ।) बाहुलक चार प्रकार के हैं–

क्वचित्—कहीं (अप्राप्तस्थल में भी) प्राप्त हो जाना, कहीं अप्रवृत्ति = (प्राप्त में भी) प्राप्त न होना, कहीं विकल्प से प्राप्त होना, और कहीं इन तीनों से ही भिन्न प्रकार से प्राप्त हो जाना (विकल्प में भी नित्य प्राप्त होना) । इस तरह विधिसूत्र का कार्य अनेक प्रकार का देखकर बाहुलक को चार प्रकार का बताते हैं ।

स्नानीयम्—'स्नाति अनेन' इस अर्थ में स्ना धातु से कृत्यल्युटो बहुलम् से करण में अनीयर् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । स्ना+अनीय बना । सवर्णदीर्घ । प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया । अतोऽम् से सु को अम् । अमि पूर्वः से पूर्वरूप कर **स्नानीयम्** बना ।

दानीयः—दीयते अस्मै इस विग्रह में "कृत्यल्युटो बहुलम्" से चतुर्थी में अनीयर् प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप, दा अनीय बना । सवर्णदीर्घ कर दानीय बना । प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया । रूत्वविसर्ग कर **दानीयः** बना ।

777. अचो यत् 3/1/97।।

अजन्ताद्धातोर्यत् स्यात् । चेयम् ।

अचो यत्-अचः यत् यह पदच्छेद है । धातोः का अधिकार है । अचः पद धातोः का विशेषण है, अतः विशेषण से तदन्तविधि कर अजन्तात् अर्थ किया जाता है ।

सूत्रार्थ 777. अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है ।

चेयम्—चि धातु से कर्म में 'अचो यत्' से यत् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर चि य बना। आर्धधातुकं शेषः ये यत् को आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः से इ को गुण ए । चेय को प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया । सु को अम्, 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप कर **चेयम्** बना ।

778. ईद्यति 6/4/65।।

यति परे आत ईत् स्यात् । देयम् । ग्लेयम् ।

ईद्यति—इस सूत्र में 'आतो लोप इटि च' से आतः की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 778. यत् प्रत्यय परे आत् (आ) को ईत् आदेश होता है ।

देयम्—दा धातु से "अचो यत्" ये यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप कर दा य बना।

NOTES

आर्धधातुकसंज्ञा हुई । ''ईद्यति'' से दा के आ को ई कर दी य बना ''सार्वधातुकार्ध.'' से गुण कर देय बना । प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । सु आया । सु को ''अतोऽम्'' से अम् एवं ''अमि पूर्वः'' से पूर्वरूप कर **देयम्** बना ।

ग्लेयम्—ग्लै धातु के ऐ को आदेच उपदेशेऽशिति से आत्व कर ग्ला बना । अचो यत् से कर्म में यत् प्रत्यय आया। आर्धधातुकसंज्ञा हुई । ईद् यति से ग्ला के आ को ईत् कर ग्ली य बना । सार्वध ातुकार्धधातुकयोः से ई को गुण ए। ग्लेय को प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, सु को अम्, पूर्वरूप कर **ग्लेयम्** बना ।

779. पोरदुपधात् 3/1/98।।

पवर्गान्ताददुपधाद् यत् स्यात् । ण्यतोऽपवादः । शप्यम् । लभ्यम् ।

पोरदुपधात्—पोः अदुपधात् यह पदच्छेद है । पु का पञ्चमी एकवचन में 'पोः' यह रूप है । 'अत् उपधा यस्य सः' इस विग्रह में बहुव्रीहि कर अदुपध बनता है । पञ्चमी एकवचन में 'अदुपधात्' यह रूप है । 'पोः' धातोः का विशेषण है । इससे तदन्तविधि कर 'पवर्गान्तात्' अर्थ होता है । अचो यत् से 'यत्' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 779. पवर्गान्त अदुपध धातु से यत् प्रत्यय होता है।

(यह यत् प्रत्यय ऋहलोर्ण्यत् से विहित ण्यत् का अपवाद है)

शप्यम्-लभ्यम्-शप् एवं लभ् धातु से प्राप्त ण्यत् को बाधकर 'पोरदुपधात्' से यत् प्रत्यय हुआ शप्य, लभ्य बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य कर **शप्यम्** एवं **लभ्यम्** बना।

780. एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् 3/1/109।।

एभ्यः क्यप् स्यात् ।

781. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् 6/1/71।।

इत्यः । स्तुत्यः ।

सूत्रार्थ 780. इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ एवं जुष् धातु से 'क्यप्' प्रत्यय होता है ।

(क्यप् में 'क्' की लशक्वतद्धिते से व 'प्' की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा होने पर 'य' बचता है) ।

सूत्रार्थ 781. ह्रस्व को पित् कृत् प्रत्यय परे तुक् आगम होता है ।

(तुक् में उ, क् की इत्संज्ञा होने पर 'त्' बचता है)।

इत्यः—(इण्) इ धातु से ''एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्'' से क्यप् प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर इय बना । य के कित् होने से गुण नहीं हुआ ''ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्,'' से 'तुक', अनुबन्धलोप कर इत्य बना । प्रातिपदिकत्वात् सु को रुत्वविसर्ग कर **इत्यः** बना ।

शासु अनुशिष्टौ ।

NOTES

782. शास इदङ्हलोः 6/4/34।।

शास उपधाया इत् स्यादङि हलादौ क्ङिति । शिष्यः । वृत्यः । आदृत्यः । जुष्यः।

शासः—शासः इत् अङहलोः यह पदच्छेद है । अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति सूत्र से 'उपधायाः' और क्ङिति की अनुवृत्ति आती है । शासः के साथ उपधायाः का तथा हल् के साथ 'क्ङिति' का अन्वय होता है । यस्मिन् विधिस्तदादौ. से विशेषण हल् से तदादि विधि कर 'हलादौ' अर्थ किया जाता है।

सूत्रार्थ 782. शास् धातु की उपधा को 'इत्' आदेश होता है, अङ् परे तथा हलादि कित्-ङित् प्रत्यय परे ।

शिष्यः—शास् धातु से ''एतिस्तुशास्वृ.'' से क्यप् हुआ अनुबन्धलोप कर शास् य बना । ''शास इदङ्हलोः'' से शा के आ को इत्व कर शिस् य बना । ''शासिवसिघसीनां च'' से स् को ष कर शिष्य बना । प्रातिपदिकसंज्ञा कर स्वादिकार्य कर **शिष्यः** बना ।

वृत्यः—वृञ् धातु से एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप से क्यप् आया । अनुबन्धलोप । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् से तुक् । अनुबन्धलोप कर वृत्य बना । प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य कर **वृत्यः** बना ।

आदृत्यः—आङपूर्वक दृ से एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् से क्यप् । तुक् । प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य करने पर **आदृत्यः** बनेगा ।

जुष्यः—जुष् से एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् से क्यप् । कित्वात् क्ङिति च से लघूपध गुण का निषेध । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **जुष्यः** बना ।

783. मृजेर्विभाषा 6/1/113।।

मृजेः क्यब् वा स्यात् । मृज्यः ।

मृजेर्विभाषा 'एतिस्तु' से क्यप् की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 783. मृज् धातु से 'क्यप्' होता है, विकल्प से ।

मृज्यः—मृज् धातु से मृजेर्विभाषा से कर्म में क्यप् प्रत्यय हुआ । अनुबन्ध्लोप कर मृज् य बना । 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का क्ङिति च से निषेध । प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । स्वादिकार्य कर **मृज्यः** बनता है ।

784. ऋहलोर्ण्यत् 3/1/124।।

ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत् । कार्यम् । हार्यम् । धार्यम् ।

सूत्रार्थ 784. ऋवर्णान्त एवं हलन्त धातुओं से 'ण्यत्' प्रत्यय होता है ।

(ण् की चुटू से तथा 'त्' की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा हो जाती है । 'य' बचता है, और यह णित् माना जाता है)।

कार्यम्—कृ धातु से "ऋहलोर्ण्यत्" से ण्यत्, अनुबन्धलोप कर कृ य बना । "अचो ञ्णिति" से ऋ को वृद्धि आ एवं रपर कर 'कार्य' बना । प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया । सु को अम्, पूर्वरूप कर **कार्यम्** बना ।

धार्यम्-हार्यम्—धृ धातु एवं हृ धातु से ऋहलोर्ण्यत् से ण्यत् कर धृ + य, हृ + य बना । अचो ञ्णिति से वृद्धि आ, रपर कर धार्य, हार्य बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य करने पर **धार्यम्, हार्यम्** बनेंगे ।

785. चजोः कु घिण्ण्यतोः 7/3/52।।

चजोः कुत्वं स्याद् घिति ण्यति च परे ।

चजोः कुः—घित् च ण्यत् च इति घिण्ण्यतौ, तयोः "घण्ण्यतोः" बनता है । त् को जश्त्व द्, तथा द् को अनुनासिक न्, न् को ष्टुत्व ण् होता है । कु का अर्थ है—कवर्ग या कुत्व । यह लुप्तप्रथमान्त है।

सूत्रार्थ 785. च् तथा ज् को कुत्व होता है, घित् प्रत्यय परे व ण्यत् प्रत्यय परे ।

786. मृजेर्वृद्धिः 7/2/114।।

मृजेरिको वृद्धिः स्यात् सार्वधातुकार्धधातुकयोः । मार्ग्यः ।

787. भौज्यं भक्ष्ये 7/3/69।।

भोग्यमन्यत् ।

मृजेर्वृद्धिः—इकोगुणवृद्धी से 'इकः' पद की उपस्थिति होती है, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 786. मृज् धातु के इक् को वृद्धि होती है, सार्वधातुक व आर्धधातुक प्रत्यय परे ।

सूत्रार्थ 787. भक्ष्य अर्थ में भोज्य निपातन होता है ।

मार्ग्यः—मृज् धातु से क्यप् के अभाव पक्ष में 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप हुआ । आर्धधातुकसंज्ञा हुई । मृज् य बना "मृजेर्वृद्धिः" से मृज् के उपधा ऋ को वृद्धि कर रपर कर मार्ज्य बना । "चजोः कु घिण्ण्यतोः" से ज् को कुत्व ग् कर मार्ग्य बना। प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया। रूत्वविसर्ग कर **मार्ग्यः** बना ।

भोज्यम्—भोक्तुम् योग्यम् इस अर्थ में भुज् धातु से "ऋहलोर्ण्यत्" से ण्यत्, अनुबन्धलोप हुआ । आर्धधातुकसंज्ञा कर 'पुगन्तलघूपधस्य च' से भु के उ को गुणकर भोज्य बना । 'चजोः कु' से कुत्व प्राप्त था, किन्तु 'भोज्यं भक्ष्ये' से कुत्व का अभाव निपातन हो गया । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । सु को अम्, पूर्वरूप, **भोज्यम्** बना ।

भोग्यम् अन्यत्—भक्ष्य से भिन्न अर्थ में **भोग्यम्** बनता है ।

।। इति कृत्यप्रकरणम् ।।

अथ पूर्वकृदन्तप्रकरणम्

NOTES

788. **ण्वुल्तृचौ 3/1/133।।**

धातोरेतौ स्त: । कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे ।

789. **युवोरनाकौ 7/1/1।।**

यु वु एतयोरनाकौ स्त: । कारक: । कर्ता ।

सूत्रार्थ 788. धातु से कर्ता में ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं ।

(ण्वुल् में ण् व ल् की इत्संज्ञा होती है । 'वु' शेष रहता है । उसको भी 'अक' हो जाता है)।

सूत्रार्थ 789. यु और वु को 'अन' एवं 'अक' आदेश होते हैं ।

कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे—कर्तरि कृत् सूत्र से ण्वुल् एवं तृच् प्रत्यय का विधान कर्ता अर्थ में होता है।

कारक:—कृ धातु से कर्ता में "ण्वुल्तृचौ" से ण्वुल् प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर कृ वु बना । "युवोरनाकौ" से वु को अक कर कृ अक बना "अचो ञ्णिति" से वृद्धि आ, रपर कर कारक बना। प्रातिपदिकत्वात् सु, रुत्वविसर्ग कर **कारक:** बना ।

कर्ता—कृ से "ण्वुल्तृचौ" से तृच् प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकसंज्ञा कर "सार्वधातुकार्धधातुकयो:" से गुण, रपर कर कर्तृ बना । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । अनुबन्धलोप । कर्तृ स् इस स्थिति में "ऋदुशनसपुरुदंशो." से ऋ को अनङ्, अनुबन्धलोप कर कर्तन् स् बना । "अप्तृन्तृच्" से उपधादीर्घ कर "हलङ्याब्भ्यो." से सु का लोप कर कर्तान् बना । "नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य" से नलोप कर **कर्ता** बना ।

790. **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच: 3/1/134।।**

नन्द्यादेर्ल्यु:, ग्रह्यादेर्णिनि:, पचादेरच् स्यात् । नन्दयतीति-नन्दन: ।

जन्मर्दयतीति जनार्दन: । लवण: । ग्राही । स्थायी । मन्त्री । पचादिरा- कृतिगण: । पच:।

नन्दिग्रहि—नन्दिश्च ग्रहिश्च पच् च इति द्वन्द्व:, नन्दिग्रहिपचा: आदि: येषां ते 'नन्दिग्रहिपचादय:' तेभ्य:, यह व्युत्पत्ति है । ल्युश्च णिनिश्च अच् चेति द्वन्द्व: । 'ल्युणिन्यच:' का क्रमश: नन्दि ग्रहि व पचादि से अन्वय होता है । धातो: का अधिकार है ।

सूत्रार्थ 790. नन्द्यादि धातुओं से ल्यु प्रत्यय, ग्रह्यादि धातुओं से 'णिनि' तथा पचादि से 'अच्' प्रत्यय होते हैं, कर्ता में ।

नन्दनः—नन्दयति यः इस अर्थ में 'नन्दि' धातु (ण्यन्त) से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' से ल्युप्रत्यय होता है। लशक्वतद्धिते से ल् की इत्संज्ञा होती है । नन्दि यु बना । युवोरनाकौ से यु को अन आदेश होता है । आर्धधातुकसंज्ञा । 'णेरनिटि' से णि का लोप कर नन्दन बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय आया सु को रुत्व विसर्ग कर **नन्दनः** बना ।

जनार्दनः—जनम् अर्दयति इस विग्रह में जनअम् उपपद पूर्वक ण्यन्त अर्दि धातु से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यः" से ल्यु-प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर "युवोरनाकौ" से यु को अन कर जन अम् अर्दि अन बना । आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" से अर्दि के इ का लोप कर जन अम् अर्दन बना 'कर्तृकर्मणोः कृति' से द्वितीया अम् को षष्ठी कर जन् अस् (ङस्) अर्दन बना। उपपद समास कर प्रातिपदिकसंज्ञा हुई "सुपो धातु." से विभक्ति लोप कर जन अर्दन बना । सवर्ण दीर्घ कर जनार्दन । एकदेशविकृत न्याय की सहायता से सु आया रुत्वविसर्ग कर **जनार्दनः** बना ।

लवणः—'लूनाति' इस अर्थ में लूञ् धातु से नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः से ल्युप्रत्यय, अनुबन्धलोप। युवोरनाकौ से यु को अन । आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः से लू के ऊ को गुण ओ, लो अन बना अवादेश । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य, निपातनात् न को ण कर लवणः बनता है।

ग्राही—'गृह्णति इति' इस अर्थ में ग्रह धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' से णिनि-प्रत्यय आया । ण् एवं इ की चुटू तथा उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा कर ग्रह् इन बना । अतः उपधायाः से उपधा वृद्धि कर ग्राहिन् बना । प्रातिपदिकत्वात् सु आया। सौ च से उपधादीर्घ । सु का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् से लोप । ग्राहीन् बना । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से न् का लोप कर **ग्राही** बना ।

स्थायी—स्था धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः" से णिनि प्रत्यय, अनुबन्धलोप कर स्था इन् बना "आतो युक्, चिण्कृतोः" से युक् अनुबन्धलोप कर स्थायिन् बना प्रातिपदिकत्वात् सु आया । "सौ च" से उपधादीर्घ कर स्थायीन्स् बना । स् का हल्ङ्यादिलोप, एवं न् का 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" से लोप कर **स्थायी** बना ।

मन्त्री—'मन्त्रयति इति' इस अर्थ में मन्त्रि धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः' से णिनि प्रत्यय । अनुबन्धलोप कर मन्त्रि इन् बना । आर्धधातुकसंज्ञा, णेरनिटि से णिलोप । प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय आया 'सौ च' से उपधादीर्घ कर मन्त्रीन् स् बना । स का 'हल्ङ्याब्भ्यः' से लोप, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से न् का लोप कर **मन्त्री** बना ।

पचादिराकृतिगणः—सूत्र में पचादि आकृतिगण है । 'शिवशमरिष्टस्य करे' तथा कर्मणि घटोऽच् सूत्र से अच् का विधान देखा जाता है, जिससे पता चलता है कि भ्वादि-स्थ पच् आदि आकृति गण है । पच् आदि से अच् होता है ।

पचः—'पचति' इस अर्थ में पच् धातु से नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः से अच् प्रत्यय हुआ पच् + अ = पच बना। प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **पचः** बना ।

791. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः 3/1/135 ॥

एभ्यः कः स्यात् । बुधः । कृशः । ज्ञः । प्रियः । किरः ।

NOTES

सूत्रार्थ 791. इगुपध (जिसकी उपधा में इक् हो वह इगुपध है) धातु, ज्ञा, प्री एवं कृ धातु से 'क' प्रत्यय होता है ।

बुधः-कृशः—बुध् धातु एवं कृश् धातु से कर्ता अर्थ में 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' से क-प्रत्यय होता है । लशक्कतद्धिते से क् की इत्संज्ञा कर बुध् + अ, कृश् + अ बना । आर्धधातुकं शेषः से क को आर्धधातुकसंज्ञा हुई । पुगन्तलघूपधस्य च से प्राप्त लघूपधगुण का क्ङिति च से निषेध । प्रातिपदिकसंज्ञा, सु विभक्ति । सु को रुत्व एवं विसर्ग कर **बुधः, कृशः** बना ।

ज्ञः—ज्ञा धातु से "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" से क प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर ज्ञा अ बना । "आतो लोप इटि च" से ज्ञा के आ का लोपकर ज्ञ बना । प्रातिपदिकत्वात् सु, और सु को रुत्वविसर्ग कर **ज्ञः** बना ।

किरः—कृ से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' से 'क' । अनुबन्धलोप । ऋत इद्धातोः से ऋ को इत्व, रपर कर किर् + अ = किर बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य करने पर **किरः** बना।

प्रियः—प्री से इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः से 'क' प्रत्यय । अनुबन्धलोप । प्री अ बना । आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकगुण का क्ङिति च से निषेध । 'अचि श्नुधातु' से ई को इयङ् कर प्रिय बना । स्वादिकार्य करने पर **प्रियः** बनेगा ।

792. आतश्चोपसर्गे 3/1/136 ॥

प्रज्ञः । सुग्लः ।

आतश्च—आतः च उपसर्गे यह पदच्छेद है । इगुपधज्ञा. सूत्र से 'कः' की अनुवृत्ति आती है । धातोः का अधिकार है । 'आतः' पद धातोः का विशेषण है, येन विधिस्तदन्तस्य से विशेषण 'आतः' से तदन्तविधि कर 'आदन्तात्' अर्थ किया जाता है ।

सूत्रार्थ 792. उपसर्ग उपपद रहने पर आदन्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है ।

प्रज्ञः—प्रजानाति इति अर्थ में प्रपूर्वक ज्ञा धातु से आतश्चोपसर्गे से क-प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । प्रज्ञा + अ बना । 'आतो लोप इटि च' से ज्ञा के आ का लोप । प्रातिपदिकत्वात् सुप्रत्यय, सु का रुत्व विसर्ग कर **प्रज्ञः** बना ।

सुग्लः—सु पूर्वक ग्लै धातु के ऐ को आदेच उपदेशेऽशिति से आत्व । आतश्चोपसर्गे से क-प्रत्यय । अनुबन्धलोप। सुग्ला अ बना । आतो लोप इटि च से आलोप । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **सुग्लः** बना ।

793. गेहे कः 3/1/144 ॥

गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात् । गृहम् ।

गेहे कः—सूत्र में 'गेहे' यह पद उपपद नहीं है । यह 'कः' इस प्रत्ययार्थ कर्ता का विशेषण है । 'विभाषा ग्रहः' से 'ग्रहः' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 793. गेह के कर्ता होने पर ग्रह धातु से 'क' प्रत्यय होता है। (क-प्रत्यय में क् की इत्संज्ञा होने पर 'अ' शेष रहता है)

गृहम्—ग्रह् से 'गेहे कः' से क-प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर ग्रह अ बना । "ग्रहिज्यावयिव्यधि." से ग्रह के र् को सम्प्रसारण ऋ कर गृ अह् अ बना । **"सम्प्रसारणाच्च"** से पूर्वरूप हुआ । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **गृहम्** बना ।

794. कर्मण्यण् 3/2/1 ॥

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

सूत्रार्थ 794. कर्म उपपद रहने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है ।

कुम्भकारः—कुम्भं करोति विग्रह में तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् से कुम्भ अम् को उपपदसंज्ञा हुई । कुम्भ अम् उपपद पूर्वक कृ धातु से "कर्मण्यण्" से अण् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर "अचो ञ्णिति" से कृ के ऋ को वृद्धि आ, रपर कर कुम्भ अम्‌कार बना। "कर्तृकर्मणोःकृति" से कर्म को षष्ठी कर 'उपपदमतिङ्' से उपपद-समास हुआ । कृत्तद्धित, से प्रातिपदिक संज्ञा कर सुप् का लुक् कर कुम्भकार बना । सु प्रत्यय आया । रूत्व विसर्ग कर **कुम्भकारः** बना ।

795. आतोऽनुपसर्गे कः 3/2/3 ॥

आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात् कर्मण्युपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः । आतो लोप इटि च । गोदः । धनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् गोसन्दायः ।

आतोऽनुपसर्गे कः—यह सूत्र कर्मण्यण् से विहित अण् का अपवाद है । आतः अनुपसर्गे कः यह पदच्छेद है । 'धातोः' का अधिकार है । इसका विशेषण 'आतः' पद है । विशेषण आतः से तदन्तविधि ा कर 'आदन्तात्' अर्थ किया जाता है । 'कर्मणि' की अनुवृत्ति कर्मण्यण् सूत्र से आती है । 'अनुपसर्गे' यह सप्तम्यन्त 'धातोः' के अनुसार पञ्चम्यन्त में बदल जाता है ।

सूत्रार्थ 795. उपसर्गरहित आदन्त धातु से कर्म उपपद रहने पर 'क' प्रत्यय होता है ।

गोदः—गां ददाति इस विग्रह में गो अम् को उपपद संज्ञा, गो अम् उपपदपूर्वक दा धातु से कर्मण्यण् से प्राप्त अण् को बाधकर "आतोऽनुपसर्गे क;" से क प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर आध ाधातुकसंज्ञा हुई । "आतो लोप इटि च" से दा के आ लोप कर गो अम् द् अ बना । कर्तृकर्मणो से षष्ठी कर कृति उपपद समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक् कर गोद बना । स्वादिकार्य कर **गोदः** बना ।

धनदः कम्बलदः—धनं ददाति 'इस अर्थ में तथा कम्बलं ददाति, इस अर्थ में धन अम्, कम्बल अम् को उपपद संज्ञा हुई । कर्मण्यण् को बाधकर 'आतोऽनुपसर्गे कः' से कप्रत्यय कर धन अम् दा अ, कम्बल अम् दा अ बना । 'आतो लोप इटि च' से दा के आ का लोप । कर्तृकर्मणोः कृति से षष्ठी कर धन अस् द, कम्बल अस् द बना । उपपदमतिङ् से समास, कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु, से अस् का लुक् । पुनः धनद, कम्बलद से स्वादिकार्यकर **धनदः कम्बलदः** बना ।

अनुपसर्गे किम्—यदि 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र में 'अनुपसर्गे' नहीं हो तब उपसर्गसहित में इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाएगी । तथा गोसन्दायः में गो अम् सम् पूर्वक दा से अण्, युक् कर जो गोसन्दायः बनता है, वह नहीं बनेगा । क्योंकि सम् उपसर्ग रहने पर भी यह सूत्र- 'आतः कः' अण् को बाधकर क प्रत्यय कर देगा, तब 'गोसन्दः' यह अनिष्ट रूप बन जाएगा । इस उदाहरण में सूत्र की प्रवृत्ति रोकने के लिए अनुपसर्गे पद है । 'अनुपसर्गे' इस पद के कारण 'गोसन्दायः' में यह सूत्र 'क' नहीं करता है । कर्मण्यण् से अण् ही होता है ।

वा. मूलविभुजादिभ्यः कः । मूलानि विभुजति-मूलविभुजो रथः आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः । कुध्रः ।

वा. मूलविभुजादिगण पठित से 'क' प्रत्यय होता है ।

मूलविभुजः—मूलानि विभुजति इस अर्थ में मूलोपपद पूर्वक वि पूर्वक भुज् धातु से 'कर्मण्यण्' को बाधकर 'मूलविभुजादिभ्यः कः' से 'क'। अनुबन्धलोप । कित्वात् 'क्ङिति च' से लघूपधगुण निषेध । उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक्, स्वादिकार्य ।

महीध्रः—महीं धरति इस विग्रह में मही अम् उपपद पूर्वक धृ से 'क', कित्वाद् गुणनिषेध । ऋ को यण् र्, उपपदसमास, सुब्लुक् आदि पूर्ववत् ।

कुध्रः—कुं धरति इस अर्थ में कु अम् उपपदपूर्वक् धृ धातु से मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् से क-प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप । कित्वात् गुणनिषेध । धृ के ऋ को यण् र् । कर्तृकर्मणोः कृति से द्वितीया को षष्ठी में बदला । कु अस् ध्र का उपपदसमास । प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक्, कर कुध्र से स्वादिकार्य कर कुध्रः बना ।

796. चरेष्टः 3/2/16 ॥

अधिकरणे उपपदे । कुरुचरः ।

चरेष्टः—अधिकरणे शेतेः से 'अधिकरणे' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 796. अधिकरण उपपद रहने पर चर् धातु से 'ट' प्रत्यय हो ।

कुरूचरः—'कुरूषु चरति' इस अर्थ में कुरू सुप् उपपद पूर्वक चर् धातु से 'चरेष्टः' से ट प्रत्यय । चुटू से ट् की इत्संज्ञा, उपपद समास, कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु, से सुब्लुक्, स्वादिकार्य ।

797. भिक्षासेनादायेषु च 3/2/17 ॥

भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायेति ल्यबन्तम् । आदायचरः ।

सूत्रार्थ 797. चरेष्टः अधिकरण उपपद रहने पर लगता है, किन्तु यह सूत्र कर्म उपपद रहने पर लगता है ।

भिक्षासेना—भिक्षा सेना और आदाय उपपद रहने पर चर् धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ।

NOTES

798. कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु 3/2/20॥

एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात् ।

कृञोहेतु—हेतु का अर्थ है कारण, आनुलोम्य का अर्थ है "आराध्य के चित्त का अनुवर्तन" ।

ताच्छील्य—उसका स्वभाव चरेष्टः से इस सूत्र में ट की अनुवृत्ति आती है।

सूत्रार्थ 798. हेतु ताच्छील्य एवं आनुलोम्य अर्थ के द्योतित होने पर कृञ् धातु से 'ट' प्रत्यय होता है।

799. अतः कृकमिकंसकुम्भ पात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य 8/3/46॥

आदुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः स्यात् करोत्या-दिषु परेषु॥ यशस्करी विद्या । श्राद्धकरी। वचनकरः।

सूत्रार्थ 799. अत् से उत्तर अनव्यय सम्बन्धी (अव्ययभिन्नसम्बन्धी) विसर्ग को नित्य 'स्' आदेश होता है, समास में, कृ कम् कंस आदि के परे रहते ।

यशस्करी-विद्या—यशः करोति विग्रह में यशस् अम् पूर्वक कृ से "कृञोहेतुताच्छील्यानु." से ट प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर आर्धधातुकसंज्ञा कर "सार्वधातुकार्ध." से गुण अ, रपर कर यशस् अम् कर बना । कर्तृकर्मणोः से षष्ठी हुई । उपपद समास हुआ । प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् लुक् कर यशस्कर् अ बना । स् को रुत्वविसर्ग कर यशः कर बना । "अतः कृकमिकंस." सूत्र से विसर्ग को स् । यशस्कर से स्त्रीत्वविवक्षा में टिड्ढाणञ्. से ङीप्, अनुबन्धलोप कर "यस्येति च" से कर के अन्त 'अ' का लोप, स्वादिकार्य कर **यशस्करी** बना ।

श्राद्धकरी—श्राद्धं करोति तच्छीलः इस अर्थ में श्राद्ध अम् उपपदपूर्वक कृ धातु से कृञो हेतु ताच्छील्यानुलोम्येषु से ट-प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः से ऋ को गुण अ, रपर कर कर्तृकर्मणोः कृति से कर्म में षष्ठी कर श्राद्ध अस् कर बना । उपपद समास हुआ । प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक् कर बना । स्त्रीत्व विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्द्वयसच्.' से ङीप्, अनुबन्धलोप । भसंज्ञा कर यस्येति च से अ का लोप । श्राद्धकरी से सु आया । हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्. से सुलोप ।

वचनकरः—वचनं करोति = पालयति इस अर्थ में वचन अम् उपपदपूर्वक कृ से 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु कृञः' से ट-प्रत्यय । सार्वधातुकार्धधातुकयोः से ऋ को गुण अ, रपर कर्तृकर्मणोः कृति से कर्म में षष्ठी कर वचन अस् कर का उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक् कर 'वचनकर' बना । विभक्ति कार्य कर **वचनकरः** बना ।

800. एजेः खश् 3/2/28॥

ण्यन्तादेजेः खश् स्यात् ।

एजेः खश्—'एजेः' यह पद ण्यन्त 'एजृ' धातु का निर्देश करता है ।

खश् में ख् व श् की इत्संज्ञा होने पर 'अ' शेष रहता है, तथा इसे शित् प्रयुक्त कार्य भी होते हैं ।

सूत्रार्थ 800. कर्म उपपद होने पर ण्यन्त एज् धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है ।

801. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् 6/3/67।।

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुमागमः स्यात् खिदन्ते परे, नत्वव्ययस्य ।

शित्त्वाच्छबादिः । जनमेजयतीति जनमेजयः ।

अरुर्द्विषद्—सूत्र में खित्यनव्ययस्य से 'खिति' की व 'अलुगुत्तरपदे' से 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति आती है । अरुः न द्विषत् च अजन्तश्च इति एषां समाहारद्वन्द्वः 'तस्य अरुर्द्विषदजन्तस्य' यह व्युत्पत्ति हुई ।

सूत्रार्थ 801. अरुष् द्विषत् तथा अजन्त को 'मुम्' आगम होता है, खिदन्त उत्तरपद परे ।

जनमेजयः—जनमेजयति विग्रह में जनम् उपपदपूर्वक ण्यन्त एजि धातु से "एजेः खश्" से खश् प्रत्यय, अनुबन्धलोप हुआ । सार्वधातुकसंज्ञा, कर्तरि शप् से शप्, अनुबन्धलोप हुआ । जनम् एजिअ अ बना । सार्वधातुकार्ध–धातुकयोः से इ को गुण, अय् कर पररूप कर कर्म को षष्ठी कर 'जन अस् एजय' बना । उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु. से सुप् का लुक् कर जन एजय बना । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" से मुम्, अनुबन्धलोप कर जनमेजय बना । स्वादिकार्य कर **जनमेजयः** बना।

802. प्रियवशे वदः खच् 3/2/38॥

प्रियंवदः । वशंवदः ।

सूत्रार्थ 802. प्रिय और वश कर्मोपपदक 'वद्' धातु से खच् प्रत्यय होता है । (खच् में ख् की लशक्वतद्धिते से तथा च् की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा होती है । 'अ' शेष रहता है)

प्रियंवदः, वंशवदः—प्रियं वदति, वशं वदति इस विग्रह में प्रिय अम् वद् से व वश अम् वद् से 'प्रियवशे वदः खच्' से खच् हुआ । अनुबन्धलोप, कर्म की षष्ठी करे उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से सुब्लुक् प्रियवद्अ, वश वद् अ अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् से मुम् आगम । अनुबन्धलोप कर प्रियम् वद, वशम् वद बना । म् को अनुस्वार, स्वादिकार्य ।

803. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते 3/2/75॥

मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः ।

अन्येभ्यः—आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च के अधिकार में यह सूत्र है । अतः अन्येभ्यः का अर्थ 'आदन्तधातु से भिन्न' यह गृहीत होता है, तथा मनिन् कनिप् वनिप् एवं विच् प्रत्यय विधेय हैं, इसका भी बोध होता है ।

सूत्रार्थ 803 – आदन्त धातु से भिन्न से भी मनिन, क्वनिप् एवं वनिप् प्रत्यय होते हैं ।

804. नेड्वशि कृति 7/2/8॥

वशादेः कृत इण्न स्यात् । शृ हिंसायाम् । सुशर्मा । प्रातरित्वा ।

नेड्वशि कृति—न इट् वशि कृति यह पदच्छेद है । वशि 'कृति' पद का विशेषण है । अत: यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे से तदादि-विधि कर वशादि अर्थ किया जाता है । वशि कृति में सप्तमी षष्ठी के अर्थ में है ।

सूत्रार्थ 804. वशादि कृत् प्रत्यय को इट् नहीं होता है ।

सुशर्मा—सुपूर्वक शृ से अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते से मनिन्, आर्धधातुकं शेष:, आर्धधातुकस्येड् बलादे: से प्राप्त इट् का 'नेड्वशि कृति' से निषेध । सार्वधातुक गुण, सुशर्मन् से प्रातिपदिकत्वात् सु, सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ से उपधा दीर्घ । सुलोप, नलोप ।

प्रातरित्वा—प्रातर् पूर्वक इण् धातु से अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते से कनिप् प्रत्यय आया । अनुबन्ध लोप, प्रातर इ वन् बना। ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् से तुक् । अनुबन्धलोप । उपपदसमास कर प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । प्रातरित्वन् से सु आया। सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ से उपधादीर्घ । स् का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् से लोप । प्रातरित्वान् बना । नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य से न् का लोप कर **प्रातरित्वा** बना ।

805. विड्वनोरनुनासिकस्यात् 6/4/41 ॥

अनुनासिकस्याऽऽत् स्यात् । विजायते इति विजावा । ओणृ अपनयने । अवावा । विच् रुष् रिष् हिंसायाम् । रोट् । रेट् । सुगण् ।

विड्वनो:—विड्वनो: अनुनासिकस्य आत् यह पदच्छेद है ।

सूत्रार्थ 805. विट् एवं वन् के परे अनुनासिक को 'आत्' होता है ।

विजावा—विपूर्वक जन् धातु से अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते सूत्र से वनिप् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर विजन् वन बना। आर्धधातुकत्वात् इट् का नेड्वशि कृति से निषेध हुआ । विड्वनोरनुनासिकस्यात् से जन् के न् को आ, सवर्णदीर्घ कर विजावन् बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय । सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ से उपधादीर्घ कर विजावान् स् बना । सु का हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् से लोप । नलोप: प्रातिपदिकानस्य से न् का लोप कर विजावा बना ।

रोट्-रेट्—रुष् एवं रिष्धातु से अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते से विच् आया । हलन्त्यम् से च् की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इ की इत्संज्ञा हुई । आर्धधातुकसंज्ञा हुई । पुगन्तलघूपधस्य च से रु के उ को एवं रि के इ को गुण ओ एवं 'ए' कर रोष् व्, रेषु व् बना । वेरपृक्तस्य से व् का लोप हुआ । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । सु का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात. से लोप ।

झलां जशोऽन्ते से ष् को जश् 'ड्' । वाऽवसाने से ड् को चर्त्व ट् कर **रोट् रेट्** बना ।

अवावा—ओण् धातु से "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते" से वनिप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप कर 'ओण् वन्' बना । 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' से ण् को आ, ओ को अव् कर अवावन् बना । प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया । उपधादीर्घ कर सु का हल्ङ्यादि लोप एवं "नलोप:" से नलोप कर **अवावा** बना ।

NOTES

806. क्विप् च् 3/2/76 ॥

अयमपि दृश्यते । उखास्रत । पर्णध्वत् । वाहभ्रट् ।

सूत्रार्थ 806. सामान्यत: सभी धातुओं से क्विप् प्रत्यय देखा जाता है ।

(क्विप् प्रत्यय में कुछ भी-शेष नहीं रहता है । अत: 'सर्वापहारिलोप' लिखा जायेगा) ।

उखास्रत्—उखाया: स्रंसते इस अर्थ में उखाङसि पूर्वक स्रंस्धातु से 'क्विप् च' से क्विप् प्रत्यय आया । क् की लशक्वतद्धिते से, प् की हलन्त्यम् तथा इ की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा होती है । अनिदितां हल उपधाया: क्ङिति से स्रंस् के न् का लोप कर वेरपृक्तस्य से व् का लोप कर उखा ङसि स्रस् बना । उपपदमतिङ् से समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु. से ङसि का लोप कर उखास्रस् बना । सुप्रत्यय आया । सु का हल्ङ्याब्भ्य: से लोप । वसुस्रंसुध्वंस्वनुडुहां द: से स् को द् । वाऽवसाने से द् को चर्त्व त् कर **उखास्रत्** बनता है ।

पर्णध्वत्—पर्णात् ध्वंसते इस अर्थ में 'क्विप् च' से क्विप् । क्विप् का सर्वापहारिलोप, अनिदितां हल उपधाया: से ध्वंस् के न् का लोप । उपपदसमासादि । पर्णध्वस् से सु. हलङ्यादि लोप । वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां द: से स् को द् । वाऽवसाने से द् को त् ।

वाहभ्रट्—वाहात् भ्रश्यति इस अर्थ में वाह ङसि उपपदपूर्वक भ्रंश्धातु से 'क्विप् च' से क्विप् प्रत्यय आया । क्विप् का सर्वापहारी लोप हुआ । अनिदितां हल उपधाया: से न् का लोप । उपपदसमास, कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु, से ङसि का लुक् । वाहभ्रश् से सु आया । सु का हल्ङ्यादिलोप । व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराज्. इत्यादि से श् को ष् । ष् को झलां जशोऽन्ते से जश्–ड् । वाऽवसाने से ड् को ट् कर–**वाहभ्रट्** बनता है ।

807. सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये 3/2/78 ॥

अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिस्ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी ।

सुप्यजातौ—सुपि अजातौ णिनि: ताच्छील्ये यह पदच्छेद है । 'सुपि' पद उपपद का विशेषण है । सुपि से तदन्तविधि कर 'सुबन्ते' अर्थ किया जाता है । न जाति: अजाति:, तस्मिन्=अजातौ यह व्युत्पत्ति है । इसका अर्थ- 'जात्यर्थकभिन्न' है । ताच्छील्य का अर्थ है– 'उसका स्वभाव' ।

सूत्रार्थ 807. अजात्यर्थक सुबन्त उपपद होने पर ताच्छील्य अर्थ में धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है।

(**णिनि प्रत्यय में ण्** की चुटू से तथा इ की उपदेशऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा होती है । 'इन्' शेष रहता है) ।

उष्णभोजी–'उष्णं' भुङ्क्ते तच्छील:' इस अर्थ में उष्ण अम् पूर्वक भुज् से 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' से 'णिनि' । अनुबन्धलोप । पुगन्तघूपधस्य च से गुण । उष्ण अम् भोज् इन् बना । उपपदसमास, कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु से सुप् का लुक् । उष्णभोजिन् से सु प्रत्यय । 'सौ च' से उपधादीर्घ । हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्, से सुलोप, नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य से नलोप।

808. **मनः 3/2/82 ॥**

सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात् । दर्शनीयमानी ।

मनः—'सुप्यजातौ णिनिः' से 'सुपि' तथा 'णिनिः' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 808. सुबन्त उपपद होने पर मन् धातु से णिनि प्रत्यय होता है ।

दर्शनीयमानी—'दर्शनीयं मन्यते' इस अर्थ में मन् से णिनि प्रत्यय । चुटू से ण् की इत्संज्ञा, 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इ की इत्संज्ञा । 'अत उपधायाः' से मन् के अ को वृद्धि । उपपदसमास, सुब्लुक् । दर्शनीयमानिन् से स्वादिकार्य कर **दर्शनीयमानी** बना।

809. **आत्ममाने खश्च 3/2/83 ॥**

स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात्, चाण्णिनिः ।

पण्डितमात्मानं मन्यते पण्डितम्मन्यः । पण्डितमानी ।

आत्ममाने—मननं मानः (मन् से घञ्) आत्मनः मानः=आत्ममानः, तस्मिन् (कर्म में षष्ठी कर षष्ठीसमास) । आत्मा का अर्थ यहाँ 'स्व' है । 'खश् च' यह पदच्छेद है, सुप्यजातौ से 'सुपि' की तथा च के बल से 'णिनि' की अनुवृत्ति आती है । 'मनः' की भी अनुवृत्ति आती है । खश् प्रत्यय एवं णिनि प्रत्यय का यह विधान करता है । खश् में ख् एवं श् की इत्संज्ञा होती है । 'अ' शेष रहता है । यह शित् है । अतः शित्वप्रयुक्त कार्य शप्, श्यन्, श्नम् आदि भी (खश्प्रत्यय करने पर) होते है।

सूत्रार्थ 809. स्वकर्मक मनन अर्थ में वर्तमान मन् धातु से सुबन्त उपपद होने पर 'खश्' प्रत्यय तथा 'णिनि' प्रत्यय होते हैं ।

पण्डितम्मन्यः-पण्डितमानी पण्डित अम् उपपद पूर्वक मन् धातु से "आत्माने खश् च" से खश् प्रत्यय, अनुबन्धलोप कर सार्वधातुकसंज्ञा कर श्यन् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर पण्डित अम् मन्य अ बना । पररूप हुआ । उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक्, पण्डित मन्य बना । अरुर्द्विषत्. से मुम् अनुबन्धलोप कर पण्डितम्मन्य। स्वादिकार्य कर **पण्डितम्मन्यः** ।

खश् के विकल्प में णिनि होने पर अनुबन्धलोप कर पण्डितमन् इन् बना । उपधावृद्धि हुई । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । उपधादीर्घ कर पण्डितमानीन् स् बना । सु का "हलङ्याब्भ्यो." से लोप हुआ । 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नलोप कर **पण्डितमानी** बना ।

810. **खित्यनव्ययस्य 6/3/66 ॥**

खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः । ततो मुम् । कालिम्मन्या ।

खित्यनव्ययस्य—खिति अनव्ययस्य यह पदच्छेद है । "इको ह्रस्वोऽङ्यो" से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति आती है । ह्रस्वश्रवण से अच् की उपस्थिति होती है ।

सूत्रार्थ 810. खिदन्त परे रहते पूर्वपद को ह्रस्व होता है ।

कालिम्मन्या–'कालीम् आत्मानम् मन्यते' इस विग्रह में काली अम् पूर्वक मन् से "आत्ममाने' से खश्, अनुबन्धलोप, सार्वधातुकत्वात् श्यन् । अनुबन्धलोप कर कालीअम् मन्य 'अ' बना। पररूप हुआ । उपपदसमास कर प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । 'सुब्लुक्' कर 'काली मन्य' बना । "खित्यनव्ययस्य" से पूर्वपद को ह्रस्व कर कालि मन्य बना। "अरुर्द्विषत्" से मुम्, अनुबन्धलोप कर कालिम्मन्य बना । स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ, स्वादि-कार्य हुआ । **कालिम्मन्या** बना ।

811. करणे यजः 3/1/84 ॥

करणे उपपदे भूतार्थ यजेर्णिनिः स्यात् कर्तरि ॥ सोमेन इष्टवान् सोमयाजी । अग्निष्टोमयाजी ।

सूत्रार्थ 811.–'भूते' का अधिकार आता है । करण उपपद होने पर भूत अर्थ में यज् धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है । (णिनि में 'इन्' शेष रहता है) ।

सोमयाजी–'सोमेन इष्टवान्' अर्थ में सोम टा उपपद पूर्वक यज् धातु से करणे यजः से 'णिनि', अनुबन्धलोप । सोम टा यज् इन् बना अत उपधायाः से उपधावृद्धि । सोम टा याजिन् बना । उपपदसमासादि कर स्वादिकार्य, कर **सोमयाजी** बना ।

अग्निष्टोमयाजी–'अग्निष्टोमेन इष्टवान्' इस अर्थ में अग्निष्टोम टा उपपदपूर्वक यज् धातु से 'करणे यजः' से णिनिप्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप । अत उपधायाः से यज् के अ को वृद्धि । उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक्कर अग्निष्टोमयाजिन् बना । सु प्रत्यय आया । सौ च से उपधादीर्घ । सुलोप । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से नलोप कर **अग्निष्टोमयाजी** बना ।

812. दृशेः क्वनिप् 3/2/94 ॥

कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान् पारदृश्वा ।

सूत्रार्थ 812. कर्म उपपद होने पर भूत अर्थ में दृश् धातु से क्वनिप् होता है । क्वनिप् में क् इ तथा प् की इत्संज्ञा करने पर 'वन्' शेष रहता है ।

पारदृश्वा–'पारं दृष्टवान्' इस अर्थ में पार अम् उपपद पूर्वक दृश् धातु से दृशेः क्वनिप् से क्वनिप् । लशक्वतद्धिते से क् की इत्संज्ञा, प् की हलन्त्यम् से, तथा इ उच्चारणार्थ है । कर्तृकर्मणोः कृति से षष्ठी । पार अस् दृश्वन् । उपपदसमास, प्रातिपदिकत्वात् सुप् लुक् । पारदृश्वन् से सु आया । सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ से उपधादीर्घ । सु का हल्ङ्यादिलोप, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नलोप कर '**पारदृश्वा**' बना ।

813. राजनि युधि कृञः 3/2/95 ॥

क्वनिप् स्यात् । युधिरन्तर्भावितण्यर्थः राजानं योधितवान् राजयुध्वा ।

राजकृत्वा ।

सूत्रार्थ 813. कर्मसंज्ञक राजन् के उपपद होने पर 'युध्' व 'कृञ्' धातु से कनिप् प्रत्यय होता है, भूत अर्थ में ।

राजयुध्वा—'राजानं योधितवान्' इस अर्थ में राजन् अम् युध्' से 'राजनि युधिकृञः' से 'क्वनिप्' । अनुबन्धलोप, उपपदसमास, प्रातिपदिकत्वात् सुप् का लुक् । अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को लाकर पदानन्त राजन् के न् का नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से लोप । राजयुध्वन् से स्वादि कार्य पूर्व की तरह ।

राजकृत्वा—राजानं 'कृतवान्' इस अर्थ में राजन् अम् पूर्वक कृ धातु से 'राजनि युधिकृञः' से क्वनिप् प्रत्यय आया। अनुबन्धलोप । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् । अनुबन्धलोप । राजन् अम् कृ त्वन् बना । कर्तृकर्मणोः से षष्ठी । उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा । सुपो धातु से सुप् का लुक् । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से राजन् के न् का लोप । राजकृत्वन् बना । सु प्रत्यय आया । उपधादीर्घ । सु का हल्ङ्यादिलोप । न् का नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से लोप कर रूप बना ।

814. सहेच 3/2/96 ॥

कर्मणीति निवृत्तम् । सह योधितवान्-सहयुध्वा । सहकृत्वा ।

सूत्रार्थ-814—सह उपपदपूर्वक युध् व कृञ् धातु से भूत अर्थ में क्वनिप् होता है ।

सहयुध्वा—सह योधितवान् इस विग्रह में सहपूर्वक युध् से 'सहे च' से क्वनिप् प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप । क्वनिप् के कित् होने से लघूपधगुण का क्ङिति च से निषेध । उपपदसमास । प्रातिपदिकसंज्ञा । सहयुध्वन् से सु आया । सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ से उपधादीर्घ । सु का हल्ङ्यादिलोप । न् का नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से लोप कर **सहयुध्वा** बना ।

सहकृत्वा—'सह कृतवान्' अर्थ में 'सहे च' से क्वनिप्, अनुबन्धलोप । सह कृ वन् । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक्' । अनुबन्धलोप । उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा । सहकृत्वन् से सु, उपधादीर्घ, सुलोप, नलोप कर **सहकृत्वा** बना।

815. सप्तम्यां जनेर्डः 3/2/97 ॥

सप्तम्याम्—सप्तम्याम् जनेः डः यह पदच्छेद है । उपपद का अधिकार चला आ रहा है । ड-प्रत्यय विधेय है । 'भूते' का भी अधिकार है । ड में ड् की चुटू से इत्संज्ञा होने पर 'अ' शेष रहता है । टिलोप करने के लिए 'ड' को डित् किया ।

सूत्रार्थ 815. सप्तम्यन्त उपपद रहने पर भूत अर्थ में 'जन्' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ।

816. तत्पुरुषे कृति बहुलम 6/3/14 ॥

डेरलुक् । सरसिजम् । सरोजम ।

सूत्रार्थ 816. तत्पुरुषसमास में कृदन्त पर रहते 'ङि' विभक्ति का अलुक् होता है, बहुलप्रकार से (विकल्प से) ।

सरसिजम्-सरोजम्—सरसि जातम् विग्रह में सरस् ङि पूर्वक जन् से "सप्तम्यां जनेर्डः" से 'ड' प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर डित्वसामर्थ्यात् जन् से अन् का लोप कर उपपदसमास हुआ । प्रातिपदिकसंज्ञा कर सप्तमी का लुक् प्राप्त था किन्तु 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' से निषेध हो गया तो, **सरसिज** बना । स्वादिकार्य कर सरसिजम् बना । जब विभक्ति का लुक् हो गया तब सरस् + ज, के

स् को ससजुषो रुः से रु हुआ । "हशि च" से उ कर आद्गुणः से गुणकर सरोज बना । सु को अम्, पूर्वरूप कर **सरोजम्** बना ।

817. उपसर्गे च संज्ञायाम् 3/2/99 ॥

प्रजा स्यात् सन्ततौ जने ।

उपसर्गे च—यहाँ पर सप्तम्यां जनेर्डः से 'जनेर्डः' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 817. उपसर्गपूर्वक जन्धातु से 'ड' प्रत्यय होता है, संज्ञा में ।

प्रजा—प्रपूर्वक जन् धातु से 'उपसर्गे च संज्ञायाम्' से 'ड' प्रत्यय । अनुबन्धलोप । डित्त्वसामर्थ्य से जन् के अन् का लोप । प्रज् + अ = प्रज । प्रातिपदिकत्वात् स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्, सवर्णदीर्घ, सुलोप ।

818. क्तक्तवतू निष्ठा 1/1/26 ॥

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः ।

819. निष्ठा 3/2/102 ॥

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र तयोरेवेति भावकर्मणोः क्तः । कर्तरि कृदिति कर्तरि क्तवतुः । उकावितौ । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । **विश्व** कृतवान् विष्णुः ।

सूत्रार्थ 818. क्त व क्तवतु को निष्ठा संज्ञा होती है ।

(यह निष्ठा संज्ञा भाविनी संज्ञा है । जिस क्त एवं क्तवतु के आने पर निष्ठा संज्ञा होगी वह । अन्योऽन्याश्रय दोष को दूर करने हेतु यह आवश्यक है)।

निष्ठा—'धातोः' का अधिकार है और 'भूते' का भी अधिकार है ।

सूत्रार्थ 819. भूत अर्थ में विद्यमान धातु से निष्ठा (क्त-क्तवतु) होता है ।

तत्र—'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' के नियम से 'क्त' प्रत्यय भाव व कर्म में विहित होता है । तथा 'कर्तरि कृत्' के नियम से क्तवतु कर्ता में होता है । क्त में क् की लशक्वतद्धिते से, तथा क्तवतु में क् की एवं 'उ' की इत्संज्ञा होती है । 'त', एवं 'तवत्' शेष रहता है ।

स्नातम् मया—स्ना धातु से भाववाच्य में 'निष्ठा' सूत्र से क्त-प्रत्यय आया । क् की लशक्वतद्धिते से इत्संज्ञा । स्नात को कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । सुप्रत्यय आया । भाव में औत्सर्गिक एकवचन एवं नपुंसकसंज्ञा होती है, अतः सु को अतोऽम् से अम् । 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप कर स्नातम् बना । (अस्मद् अनुक्त कर्ता है । अतः उससे कर्तृकरणयोस्तृतीया से तृतीया होती है, मया बनता है) ।

स्तुतः—स्तु धातु से कर्मवाच्य में 'निष्ठा' से क्त प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर स्तुत बना । त को आर्धधातुकसंज्ञा। सार्वधातुकार्धधातुकयोः से स्तु के उ को प्राप्त गुण का क्ङिति च से निषेध । प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय। सु को रु, रु के र् को विसर्ग कर **स्तुतः** बना ।

NOTES

(विष्णु-कर्म के उक्त होने से प्रथमा, तथा कर्ता के अनुक्त होने से युष्मद् से तृतीया कर त्वया बना) ।

कृतवान्—कृ धातु से 'निष्ठा' से भूत अर्थ में (कर्तृवाच्य में) क्तवतु प्रत्यय हुआ । क् व उ की इत्संज्ञा हुई । कृ तवत् बना । आर्धधातुकं शेषः से तवत् को आर्धधातुकसंज्ञा हुई । सार्वधातुकार्धधातुकयोः से प्राप्त गुण का क्ङिति च से निषेध हुआ । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा । सु प्रत्यय आया । अत्वसन्तस्य चाधातोः से उपधादीर्घ । 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से नुम्, अनुबन्धलोप । कृतवान्त् स् बना । स का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्. से लोप । त् का 'संयोगान्तस्य लोपः' से लोप कर **कृतवान्** बना ।

820. रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः 8/2/42 ॥

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात्, निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च । शॄ हिंसायाम् । ॠत इत् । रपरः । णत्वम्। शीर्णः । भिन्नः । छिन्नः ।

सूत्रार्थ 820. रेफ व दकार से पर निष्ठा के त को न होता है, तथा निष्ठा से पूर्व धातु के द् को भी न् होता है ।

शीर्णः—शॄ धातु से "निष्ठा" से क्त प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर शॄ त बना । कित्वात् गुण नहीं हुआ । "ॠत इद्धातोः" से शॄ के ॠ को इत्, रपर कर शिर् त बना । "हलि च" से उपधादीर्घ कर शीर्त बना । "रदाभ्यां निष्ठातो नः" से त को न हुआ । "रषाभ्यां नो णः समानपदे" से णत्व वर शीर्ण बना । स्वादिकार्य कर **शीर्णः** बना ।

भिन्नः—भिद् से "निष्ठा" से क्त प्रत्यय, अनुबन्धलोप कर भिद् त बना । क्त के कित् होने से गुण नहीं हुआ । "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" से त को और द् को न कर भिन्न बना । स्वादिकार्य कर **भिन्नः** बना ।

छिन्नः—छिद् धातु से क्तक्तवतू निष्ठा से क्तप्रत्यय । लशक्वतद्धिते से क् का लोप । आर्धधातुकं शेषः से त को आर्धधातुकसंज्ञा, पुगन्तलघूपधस्य च से प्राप्त गुण का क्ङिति च से निषध । 'रदाभ्याम्' से त व द को न कर स्वादिकार्य।

821. संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः 8/2/43 ॥

निष्ठातस्य नः स्यात् । द्राणः । ग्लानः ।

संयोगादेः—'संयोगादेः आतो धातोः यण्वतः' यह पदच्छेद है । यण्वतः संयोगादेः आतः ये तीनों पद 'धातोः' के विशेषण हैं । यण्वतः = यण् अस्ति अस्मिन् तस्मात् = जिस धातु में यण् हो, उससे । संयोगादेः = संयोगः आदिः यस्य सः = संयोग हो आदि में जिसके, उससे । 'आतः' विशेषण है, उससे तदन्तविधि कर 'आदन्त' अर्थ किया जाता है । रदाभ्याम्. सूत्र से 'निष्ठा तो नः' की अनुवृत्ति आती है।

सूत्रार्थ 821. संयोगादि यणुवान आदन्त धातु से पर निष्ठा 'त' को 'न' होता है ।

द्राणः—द्रा धातु निष्ठा से कर्म में क्त प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । द्रा त बना । संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः से त को न । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय । अट्कुप्वाङ् से न को ण । सु को रुत्व एवं विसर्ग कर **द्राणः** बना ।

ग्लानः—ग्लै के ऐ को आदेच उपदेशेऽशिति से आत्व । ग्ला से कर्म में 'निष्ठा' सूत्र से क्त प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप । ग्ला त बना । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' से त को न । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **ग्लानः** बना ।

822. ल्वादिभ्यः 8/2/44 ॥

एकविंशतेर्लूञादिभ्यः प्राग्वत् । लूनः । ज्या धातुः । ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम् ।

ल्वादिभ्यः—क्र्यादिगण में पू आदि 22 धातु पठित हैं । पू को छोड़कर लूञ् छेदने से लेकर इक्कीस धातु ल्वादि कहलाते हैं । रदाभ्याम् सूत्र से 'निष्ठा तो नः' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 822. इक्कीस ल्वादि धातुओं से पर निष्ठा तकार को नकार होता है ।

लूनः—लूञ् धातु से 'निष्ठा' सूत्र से क्तप्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः से प्राप्त गुण का क्ङिति च से निषेध हुआ । लू त बना । 'ल्वादिभ्यः' से त को न हुआ । प्रातिपदिकसंज्ञा कर स्वादिकार्य कर **लूनः** बना ।

ज्या धातु—वयो हानि अर्थ में है । ज्या से क्त करने पर ग्रहिज्यावयिव्यधि. इत्यादि सूत्र से सम्प्रसारण होता है ।

823. हलः 6/4/2 ॥

अङ्गावयाद्धलः परं यत् सम्प्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः । जीनः ।

हलः—'हलः' में दिग्योगलक्षणा पञ्चमी है, अतः 'परस्य' का अध्याहार किया जाता है । 'सम्प्रसारणस्य' सूत्र की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' इस अधिकार की आवृत्ति की जाती है । एक अवयवषष्ठ्यन्त 'हलः' में अन्वित होता है, जिससे–'अङ्गावयवात् हलः' यह अर्थ प्राप्त होता है । दूसरा 'अङ्गस्य' पद स्थानषष्ठ्यन्त है, जो 'सम्प्रसारण' के साथ अन्वित होता है । सम्प्रसारण का यह विशेष्य है, अतः सम्प्रसारण से तदन्तविधि होती है । ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 823. अङ्ग का अवयव हल् से पर जो सम्प्रसारण तदन्त को दीर्घ होता है ।

जीनः — ज्या धातु से 'निष्ठा' से क्त प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" से त को न कर ज्या न बना । कित्वात् "ग्रहिज्यावयि." सूत्र से ज्या के य् को सम्प्रसारण इ कर जिआन बना । "सम्प्रसारणाच्च" से पूर्वरूप कर जिन बना । "हलः" सूत्र से जि के इ को दीर्घ कर जीन बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **जीनः** बना।

824. ओदितश्च 8/2/45 ॥

भुजो भुग्नः । टुओश्वि-उच्छूनः ।

ओदितश्च—ओदितः च यह पदच्छेद है । 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति आती है ।

ओदितः—ओत् इत् यस्मिन् तत् ओदित, तस्मात् ओदितः= 'ओकार है इत्संज्ञक जिस धातु में उससे पर यह अर्थ है।

सूत्रार्थ—824. ओदित् (जिस में 'ओ' की इत्संज्ञा होती है) धातु से पर निष्ठा 'त' को 'न' होता है।

भुग्नः—(भुजो के ओ की इत्संज्ञा कर) भुज् धातु से कर्म में 'निष्ठा' से क्त प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । कित्त्वात् लघूपध गुण का निषेध । ओदितश्च से त को न । चोः कुः से ज् को ग् । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य कर '**भुग्नः**' बना ।

उच्छूनः—उत् पूर्वक श्वि से क्त, अनुबन्धलोप, "ओदितश्च" से त को न, "वचिस्वपि." से श्वि के व् को सम्प्रसारण, पूर्वरूप कर उत् शुन बना । "हलः" से दीर्घ कर उत्शून, त् को जश्त्व द्, द् को श्चुत्व ज्, ज् को चर्त्व च् कर "शश्छोऽटि" से शू के श् को छू कर स्वादिकार्य कर **उच्छूनः** बना।

825. शुषः कः 8/2/51॥

निष्ठा तस्य कः । शुष्कः ।

सूत्रार्थ 825. शुष् धातु से पर निष्ठा के 'त' को 'क' होता है ।

शुष्कः—शुष् से 'निष्ठा' से क्त प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर शुष् त बना । "शुषः कः" से त को क कर प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **शुष्कः** बना ।

826. पचो वः 8/2/52॥

पक्वः ।

सूत्रार्थ 826. पच् धातु से पर निष्ठा 'त' को 'व' होता है ।

पक्वः— पच् से क्त, अनुबन्धलोप कर पच् त बना । "पचो वः" से त को 'व' कर पच् के च् को 'चोः कुः' से कुत्व कर पक्व बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **पक्वः** बना ।

क्षै क्षये ।

827. क्षायो मः 8/2/53॥

क्षामः ।

सूत्रार्थ 827. 'क्षै' धातु से पर निष्ठा 'त' को म होता है ।

क्षामः—क्षै धातु के ऐ को आदेच उपदेशेऽशिति से आत्व कर क्षा बना । निष्ठा सूत्र से क्त प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर क्षा त बना । "क्षायो मः" से त को म कर प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर '**क्षामः**' बना ।

828. निष्ठायां सेटि 6/4/52।।

णेर्लोपः । भावितः । भावितवान् । दृढ़ हिंसायाम् ।

निष्ठायां सेटि—(णेरनिटि से अनिडादि आर्धधातुक परे रहते ही 'णि' का लोप होता है, इट् परे नहीं । इस सूत्र से सेट् निष्ठा परे णिलोप का विशेष विधान किया गया है) ।

सूत्रार्थ 828. सेट् निष्ठा के परे णि का लोप होता है ।

भावितः—ण्यन्त 'भावि' धातु से निष्ठा से क्त प्रत्यय, अनुबन्धलोप । आर्धधातुक-संज्ञा, 'आर्धधातुकस्येड्' से इट्, भावि इत । निष्ठायां सेटि से णिलोप, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, सु को रुत्वविसर्ग।

भावितवान्—ण्यन्त भावि धातु से निष्ठा से क्तवतु प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकसंज्ञा कर आर्धधातुकस्येड् वलादेः से इट् कर भावि इ तवत् बना । 'निष्ठायां सेटि' से णिलोप कर भावितवत् बना। प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय । उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः से नुम्-आगम, अनुबन्धलोप कर भावितवन्त् स् बना । अत्वसन्तस्य चाधातोः से व के अ का दीर्घ । सु का 'हल्ङ्याब्भ्यो:' से लोप, संयोगान्तस्य लोपः से त् का लोप कर **भावितवान्** बना ।

829. दृढः स्थूलबलयोः 7/2/20।।

स्थूले बलवति च निपात्यते ।

सूत्रार्थ 829. दृंह् एवं दृहि धातु से बलवान् और स्थूल अर्थ में 'दृढ' निपातन होता है । (इस सूत्र से निपातनात् इट् का अभाव, त को ढ, ह का लोप और इदित् धातु के न् का लोप होता है)।

दृढः—दृंह् धातु से क्तप्रत्यय, 'दृढः स्थूलबलयोः' से त को ढ, ह तथा न् का लोप, एवं इट् का अभाव निपातन होने से दृढ बना । प्रातिपदिकसंज्ञा कर स्वादिकार्य कर **दृढः** बनता है । (दृह् धातु से भी दृढः ही बनेगा) ।

830. दधातेर्हिः 7/4/42।

तादौ किति । हितम् ।

सूत्रार्थ 830. तादि कित् परे रहते धा धातु को 'हि' आदेश होता है ।

हितम्—धा धातु से 'निष्ठा' से क्त प्रत्यय, लशक्वतद्धिते से क् की इत्संज्ञा । दाधाध्वदाप् से धा को घुसंज्ञा, 'दधातेर्हिः' से धा को 'हि' आदेश, प्रातिपदिकत्वात् सु, अतोऽम् से सु को अम् । अमि पूर्वः से पूर्वरूप।

831. दो दद्घोः 7/4/46।।

घुसंज्ञकस्य 'दा' इत्यस्य 'दद्' स्यात्तादौ किति । दत्तम् । दत्तः ।

सूत्रार्थ 831 घुसंज्ञक 'दा' को 'दद्' आदेश होता है, तादि कित् परे ।

दत्तः—दा से निष्ठा सूत्र से क्त प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । "दो दद्घोः" से दा को दद् कर दद्त बना । खरि च से चर्त्व कर दत्त, प्रातिपदिकसंज्ञा । स्वादिकार्य कर **दत्तः** बना ।

832. लिटः कानज्वा 3/2/106।।

833. क्वसुश्च 3/2/107।।

लिटः कानच् क्वसुश्च वा स्तः । तङानावात्मनेपदम् । चक्राणः ।

सूत्रार्थ 832-833.—लिट् के स्थान में 'कानच्' और क्वसु होते हैं विकल्प से ।

(कानच् में क् एवं च् की इत्संज्ञा के बाद आन, तथा क्वसु में क् व उ की इत्संज्ञा के बाद 'वस्' शेष रहता है)।

चक्राणः—कृ से लिट् आया । "लिटःकानज्वा" से लिट् के स्थान में कानच् प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर कृ आन बना । "लिटि धातोः" से कृ को द्वित्व हुआ । अभ्याससंज्ञा, उरत्से अभ्यास ऋ को अत्, रपर, कर् कृ आन बना। हलादिशेष कर "कुहोश्चुः" से क को च कर चकृआन बना । यण् कर चक्रान, प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य, णत्व कर **चक्राणः** बना ।

834. म्वोश्च 8/2/65।।

मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः । जगन्वान् ।

सूत्रार्थ 834. मान्त धातु को नत्व होता है, मकार व वकार परे ।

जगन्वान्–गम् से लिट् के स्थान में "क्वसुश्च" से क्वसु प्रत्यय, अनुबन्धलोप कर गम वस् बना । द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, हलादिशेष कर ग गम् वस् बना। कुहोश्चुः से ग को ज, 'म्वोश्च' से म् को न् कर जगन्वस्, प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया । "उगिदचां" से नुम्, अनुबन्धलोप कर जगन्वन्स् स् बना । "सान्तमहतः" से दीर्घकर जगन्वान्स् स् बना । हल्ङ्याब्भ्यो से सु का लोप, स् का संयोगान्तस्य लोपः से लोप कर **जगन्वान्** बना ।

835. लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे 3/2/124।।

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः । शबादिः । पचन्तं चैत्रं पश्य ।

सूत्रार्थ 835. अप्रथमासमानाधिकरण में 'लट्' के स्थान में शतृ व शानच् प्रत्यय होते हैं विकल्प से।

पचन्तम् चैत्रं पश्य—पच् धातु से लट् के स्थान पर अप्रथमासमानाधिकरण में लटः शतृशानचावप्रथमासमा-नाधिकरणे से शतृ-प्रत्यय आया । 'लशक्वतद्धिते' से श् की एवं ऋ की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा हुई । तिङ्शित् सार्वधातुकम् से सार्वधातुकसंज्ञा, कर्तरि शप् से शप् । अनुबन्धलोप कर पच् अ अत् बना । अतो गुणे से पररूप कर पचत् बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, व द्वितीया एकवचन में अम् विभक्ति आई । उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः से नुम् आगम कर **पचन्तम** बना ।

836. आने मुक् 7/2/82।।

अदन्ताङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे । पचमानं चैत्रं पश्य ।

लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासमानाधिकरण्येऽपि क्वचित् । सन् द्विजः।

सूत्रार्थ 836. अदन्त अङ्ग को 'मुक्' आगम होता है, आन परे रहते ।

पचमानं चैत्रं पश्य—पच् से लट् के स्थान में "लटः शतृशानचौ." सूत्र से शानच् कर अनुबन्धलोप हुआ । सार्वधातुकसंज्ञा कर शप्, अनुबन्धलोप कर पच आन बना । 'आने मुक्' से मुक्, अनुबन्धलोप कर पचमान बना । प्रातिपदिकत्वात् द्वितीया एकवचन में अम् आया । पूर्वरूप कर **पचमानम्** बना ।

लडित्यनुवर्तमाने—'वर्तमाने लट्' सूत्र से लट् की अनुवृत्ति लाकर उसे षष्ठी में परिवर्तित कर 'लटः शतृशानचौ" सूत्र का अर्थ किया जा सकता था, फिर इस सूत्र में 'लटः' पद की क्या आवश्यकता है ? प्रयोजन रहित होने पर भी इस सूत्र में जो पाणिनि ने "लटः" पद दिया है, वह "सूत्रोक्त से अधिक प्रथमासमानाधिकरण, में भी शतृ-शानच् कहीं-कहीं होता है" यह ज्ञापित करता है ।

सन् द्विजः—अस् धातु से लट् के स्थान पर प्रथमासमानाधिकरण में "लटः शतृशानचावप्रथमा.' इत्यादि से शतृ प्रत्यय आया। अनुबन्धलोप । सार्वधातुकत्वात् शप् आया । अदिप्रभृतिभ्यः शपः से शप् का लुक् । अस् अत् बना । शतृ के ङित् होने से श्नसोरल्लोपः से अस् के अ का लोप । असत् से सु आया । उगिदचाम्. से नुम् अनुबन्धलोप कर सन्त् स् बना। स् का हल्ङ्यादि लोप । त् का संयोगान्तस्य लोपः से लोप कर '**सन्**' बना ।

837. विदेः शतुर्वसुः 7/1/36।।

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा । विदन् । विद्वान् ।

सूत्रार्थ 837. विद् धातु से पर 'शतृ' को 'वसु' आदेश होता है, विकल्प से ।

विद्वान—विद् से लट् के स्थान में "लटः शतृशानचौ." से शतृ प्रत्यय आया । "विदेःशतुर्वसुः" से शतृ को वसु कर विद्वस् बना । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । 'उगिदचाम्' से नुम्, अनुबन्धलोप कर विद्वन्स् स् बना। 'सान्तमहतः' से दीर्घकर विद्वान्स् स् बना । स का हल्ङ्यादि लोप, एवं स् का संयोगान्तलोप कर **विद्वान्** बना ।

विदन्—वसु आदेश के अभाव में विद् अत् इस दशा में सार्वधातुकत्वात् शप् आया । शप् का अदिप्रभृतिभ्यः शपः से लुक् कर विदत् बना । कृत्तद्धित. से प्रातिपदिकसंज्ञा । सुप्रत्यय आया । उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः से नुम् । विदन्त् स् बना। स् का हलङ्याब्भ्योः. से लोप । संयोगान्तस्य लोपः से त् का लोप कर **विदन्** बन गया ।

838. तौ सत् 3/2/127।।

तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः ।

839. लृटः सद्वा 3/3/14।।

लृटः शतृशानचौ वा स्तः । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन अप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम । करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य ।

सूत्रार्थ 838. शतृ और शानच् की सत् संज्ञा होती है ।

सूत्रार्थ 839. लृट् के स्थान में शतृ और शानच् होते हैं, विकल्प से ।

व्यवस्थितविभाषेयम्—लृटः सद् वा व्यवस्थित विभाषा है । अतः अप्रथमासमानाधिकरण में, प्रत्यय और उत्तरपद परे, सम्बोधन में, लक्षण और हेतु अर्थ में नित्य शतृ एवं शानच् होते हैं ।

करिष्यन्तम्—कृ धातु से लृट, 'लृटः सद्वा' से लृट् को शतृ, अनुबन्धलोप । स्यतासी लृलुटोः से स्य-प्रत्यय, आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इट्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण, रपर, करिस्य अत्, अतो गुणे से पररूप, आदेशप्रत्ययोः से षत्व, प्रातिपदिकत्वात् अम्, 'उगिदचाम्' से नुम्, अनुबन्धलोप कर **करिष्यन्तम्** बना ।

करिष्यमाणम्—कृ से लृट् के स्थान पर लृटः सद्वा सूत्र से शानच् । अनुबन्धलोप । शप् को बाधकर स्यप्रत्यय। आर्धधातुकसंज्ञा, 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् । कृ इ स्य आन । आने मुक् से मुक् । अनुबन्धलोप । सार्वधातुकार्ध. से गुण, रपर कर करिस्यमान बना । आदेशप्रत्यययोः से षत्व । करिष्यमान को प्रातिपदिकसंज्ञा, द्वितीया एकवचन में अम् आया । अमि पूर्वः से पूर्वरूप । अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि से णत्व कर **करिष्यमाणम्** बना ।

840. आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु 3/2/134।।

क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ।

आ क्वेः—क्विपम् अभिव्याप्य आक्वेः, 'भ्राज्भासधुर्विद्युतोर्जि' इत्यादि सूत्र से विहित क्विप् प्रत्यय तक जो प्रत्यय कहे जाने वाले हैं, वे तच्छील, तद्धर्म, तत्साधुकारि, कर्ता अर्थ में हों ।

841. तृन् 3/2/135।।

कर्ता कटान् ।

सूत्रार्थ 841. धातु से तृन् प्रत्यय हो तच्छीलादि अर्थ में ।

कर्ता कटान्—कटान् करोति तच्छीलः इस अर्थ में 'कृ' धातु से 'तृन्' सूत्र से 'तृन्' प्रत्यय । आर्धधातुकसंज्ञा, आर्धधातुक गुण, कर्तृ को प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय, ऋदुशनसपुरुदंसोऽनेहसाञ्च से ऋ को अनङ्, कर्तन् स्, 'अप्तृन्तृच्' से उपधादीर्घ, सुलोप, नलोप ।

842. जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन् 3/2/155।।

NOTES

843. **षः प्रत्ययस्य 1/3/6।।**

प्रत्ययस्यादिः षः इत्संज्ञः स्यात् । जल्पाकः । भिक्षाकः कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः । वराकी।

सूत्रार्थ 842. भिक्ष कुट्ट लुण्ट और वृङ् धातु से तच्छीलादि अर्थ में षाकन् प्रत्यय होते हैं ।

सूत्रार्थ 843. प्रत्यय के आदि ष् की इत्संज्ञा होती है ।

जल्पाकः-भिक्षाकः-कुट्टाकः-लुण्टाकः—जल्पति तच्छीलः, भिक्षते तच्छीलः, कुट्टयति तच्छीलः, लुण्टयति तच्छीलः, इन अर्थों में जल्प् एवं भिक्ष् से तथा कुट्टि एवं लुण्टि से षाकन-प्रत्यय हुआ । ष एवं न् की इत्संज्ञा कर जल्पाक भिक्षाक बने । कुट्टि एवं लुण्टि के णि को 'णेरनिटि' से लोप कर कुट्टाक एवं लुण्टाक बने । प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य कर जल्पाकः भिक्षाकः कुट्टाकः एवं लुण्टाकः बना ।

वराकः-वराकी—वृ धातु से "जल्पभिक्षकुट्ट" सूत्र से षाकन् प्रत्यय आया । "षः प्रत्ययस्य" से ष् की इत्संज्ञा, न् की इत्संज्ञा, वृ आक बना । आर्धधातुकत्वात् सार्वधातुकार्धधातुकयोः से ऋ को 'अ' गुण, रपर कर वराक बना । प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । स्वादिकार्य कर **वराकः** बना। स्त्रीत्वविवक्षा में "षिद्गौरादिभ्यश्च" से ङीप् कर अनुबन्धलोप हुआ । यस्येति च से अ का लोप कर वराकी से स्वादिकार्य कर **वराकी** बना ।

844. **सनाशंसभिक्ष उः 3/2/168।।**

चिकीर्षुः आशंसुः । भिक्षुः ।

सूत्रार्थ 844. सन्नन्तधातु आपूर्वक शंस्धातु व भिक्षधातु से 'उ' प्रत्यय होता है, तच्छीलादि अर्थ में।

चिकीर्षुः—सन्नन्त चिकीर्षधातु से 'सनाशंसभिक्ष उः' से 'उ' प्रत्यय हुआ । आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा हुई । अतो लोपः से ष के 'अ' का लोप । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **चिकीर्षुः** बना ।

आशंसुः-भिक्षुः—आ+शंस् एवं भिक्ष् से सनाशंसभिक्ष उः से उप्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य कर **आशंसुः, भिक्षुः** बना ।

845. **भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप् 3/2/177।।**

विभ्राट् । भाः ।

सूत्रार्थ 845. भ्राज् भास् धुर्वि द्युत् ऊर्जि पृ जु ग्रावस्तु, इन धातुओं से तच्छीलादि अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय होता है ।

विभ्राट्—वि पूर्वक भ्राज् से 'भ्राजभासधुर्वि' से क्विप । क् की लशक्वतद्धिते से, प् की हलन्तयम् से, तथा व् की वेरपृक्तस्य से इत्संज्ञालोप । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सु प्रत्यय, सृ का हल्ङ्यादिलोप,' व्रश्चभ्रस्ज' से ज् को ष्, ष् को जश्त्व ड्, ड् को चर्त्व ट् कर **विभ्राट्** बना ।

भा:—भास् धातु से भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप् से क्विप् प्रत्यय आया । क्विप् का सर्वापहारिलोप हुआ। प्रातिपदिकत्वात् सु आया । सु का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् से लोप । भास् के स् को रू एवं रू के र् को विसर्ग कर **भा:** बना ।

846. राल्लोपः 6/4/21।।

रेफाच्छ्वोर्लोपः क्वौ झलादौ क्ङिति । धूः । विद्युत् । ऊर्क् । पूः ।

दृशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः । जूः । ग्रावस्तुत् ।

राल्लोपः—छ्वोः शूड्नुनासिके च, से छ्वोः की अनुवृत्ति आती हैं । 'अनुदात्तोपदेश' से 'झलि क्ङिति' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 846. रेफ से पर छकार वकार का लोप होता है क्विप् परे, व झलादि कित् ङित् परे ।

धूः—धुर्व् से क्विप्, सर्वापहारिलोप, 'राल्लोपः' से धुर्व् के व् का लोप । प्रातिपदिकत्वात् सु आया। 'हलङयाब्भ्यः' से सुलोप र्वोरुपधायाः से उ को दीर्घ । र् को विसर्ग करने पर **धूः** बनेगा ।

ऊर्क्—ऊर्ज् से क्विप्, सर्वापहारिलोप, प्रातिपदिकत्वात् सु आया । सुलोप, ज् को कुत्व ग्, ग् को चर्त्व क् ।

पूः—पृ से क्विप्, क्विप् का सर्वापहारि-लोप, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से ऋ को उत्, रपर, पुर् से सु, सुलोप कर, 'र्वोरूपधायाः' से उ को दीर्घ, रेफ को विसर्ग ।

दृशिग्रहणस्य—'अन्येऽभ्योऽपि दृश्यते' सूत्र से 'दृश्यते' का अपकर्ष इस सूत्र में होता है, अत एव जु धातु को उसी निर्देश से दीर्घ हो जाता है ।

जूः—जु धातु से भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप् से क्विप् आया । अन्येभ्योऽपि दृश्यते के निर्देश से जु के उ को दीर्घ भी हुआ । क्विप् का सर्वापहारि-लोप । प्रातिपदिकत्वात् जू से सु आया । स् का रुत्व एवं विसर्ग कर **जूः** बना ।

ग्रावस्तुत्—ग्रावाणं स्तौति इस अर्थ में ग्रावन् अम् पूर्वक स्तु धातु से भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप् से क्विप् आया । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् से स्तु से तुक् । क्विप् का सर्वापहारि-लोप । उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु. से विभक्ति का लुक् । ग्रावन् स्तुत् बना । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से न् का लोप कर ग्रावस्तुत् से सु आया । सु का हल्ङ्यादि लोप । त् को जश्त्व द्, एवं द् को चर्त्व त् कर **ग्रावस्तुत्** रूप बना ।

वार्तिकम्-क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च ।। वक्तीति वाक् ।

वा क्विब्वचि—वच् प्रच्छ् आयतस्तु कटप्रु जु एवं श्रि इन धातुओं से क्विप् प्रत्यय होता है, अच् को दीर्घ होता है तथा (सम्प्रसारण योग्य को) सम्प्रसारण का अभाव होता है ।

वाक्—वच् से 'क्विब्वचि' से क्विप् आया । क्विप् का सर्वापहारि लोपकर वा. 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायस्तु.' आदि से उपधादीर्घ एवं सम्प्रसारण का निषेध कर वाच् बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य, चोः कुः से च् को कुत्व कर **वाक्** बना।

NOTES

847. **च्छ्वोः शूडनुनासिके च 6/4/19।।**

सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात 'श्' 'ऊठ्' इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति । पृच्छतीति प्राट् । आयतं स्तौतीति आयतस्तूः । कटं प्रवते कटप्रूः । जूरुक्तः । श्रयति हरिम्-श्रीः ।

सूत्रार्थ 847. तुक् सहित छकार व वकार को क्रमशः 'श्' तथा 'ऊठ्' आदेश होता है, अनुनासिक, क्विप् व झलादि कित् ङित् परे ।

प्राट्—'पृच्छति' इस अर्थ में पृच्छ धातु से 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च' से क्विप् प्रत्यय, सम्प्रसारणाभाव एवं प्र के अ को दीर्घ हुआ । क्विप् का सर्वापहारि-लोप कर प्राच्छ् बना । 'छ्वोः शूडनुनासिके च' से च्छ् को श् आदेश कर प्राश् बना । कृत्तद्धित. से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय आया । सु का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्. से लोप। व्रश्चभ्रस्ज. से श् को ष् । झलां जशोऽन्ते से ष् को ड् । वाऽवसाने स ड् को ट् कर प्राट् बना ।

आयतस्तुः— आयतं स्तौति इस अर्थ में आयत अम् पूर्वक स्तु से 'क्विब्वचिप्रच्छ्याय-स्तु.' इत्यादि से क्विप् व स्तु के उ को दीर्घ । क्विप् का सर्वापहारि-लोप, उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु. से सुप् का लुक। आयतस्तु से सु आया । सु को रुत्वविसर्ग कर **आयतस्तुः** बना।

कटप्रूः— कटं प्रवते इस अर्थ में कट अम् पूर्वक प्रु से 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तु.' से क्विप् एवं प्रु के उ को दीर्घ। क्विप् का सर्वापहारिलोप । उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक् । कट प्रू से सु आया । स् को रुत्व एवं विसर्ग कर **कटप्रूः** बना ।

श्रीः—श्रयति हरिम् इस अर्थ में श्रि धातु से 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तु.' से क्विप् एवं श्रि के इ को दीर्घ । क्विप् का सर्वापहारि लोप । श्री को कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा , सुप्रत्यय आया । स् को रु, एवं रु के र् को विसर्ग कर **श्रीः** बना ।

848. **दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे 3/2/182।।**

दाबादेः ष्ट्रन स्यात् करणेऽर्थे । दात्यनेन-दात्रम्। नेत्रम् ।

सूत्रार्थ 848. दाप् नी शस् इत्यादि धातुओं से करण में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है । (षः प्रत्ययस्य से ष्ट्रन् के ष् की इत्यसंज्ञा होने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' = निमित्त के नाश होने पर नैमित्तिक का नाश होता है', से 'ट्' त में बदल जाता है । न् की इत्संज्ञा कर 'त्र' बचता है ।

दात्रम्—दाति अनेन (जिससे काटता है) इस अर्थ में दा धातु से 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुद.-इत्संज्ञा कर दात्र बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय आया । अतोऽम् से अम् । अमि पूर्वः से पूर्वरूप कर '**दात्रम्**' बना ।

नेत्रम्—नी धातु से 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुद.' इत्यादि से ष्ट्रन प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । आर्धधातुसंज्ञा । नी + त्र बना । 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण ए, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु विभक्ति, सु को अम्, पूर्वरूप ।

NOTES

849. तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च 7/2/9।।

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण्न । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्त्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्रम् । दंष्ट्रा । नद्ध्री ।

तितुत्रथ—ति तु त्र त थ सि सु सर कस ष इन दशों का द्वन्द्वसमास कर सप्तमी बहुवचन में तितुत्रतथसिसुसरकसेषु बना। चकार से नेड् वशि कृति से नेड् एवं कृति की अनुवृत्ति आती है । कृति एवं ति तु इत्यादि षष्ठयन्त में परिवर्तित होते हैं ।

सूत्रार्थ 849 ति तु त्र इत्यादि दस कृत प्रत्ययों को इट् नहीं होता है ।

शस्त्रम्—शस् धातु से शसति = हिंसति, अनेन इस अर्थ में दाम्नीशसयुयुजस्तुतुद. इत्यादि से ष्ट्रन् प्रत्यय आया । षः प्रत्यस्य से ष् की इत्संज्ञा । 'न्' की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा । शस् त्र बना । आर्धधातुकस्येड् वलादेः से इट् प्राप्त था, 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' से इट् का निषेध । प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । सु आया। सु को अम् । अमि पूर्वः से पूर्वरूप ।

योत्रम्—यौति अनेन इस अर्थ में यु धातु से दाम्नीशसयुयुज. इत्यादि से ष्ट्रन प्रत्यय आया। अनुबन्धलोप । यु त्र बना । आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा, आर्धधातुक-स्येड् वलादेः का 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' से निषेध । सार्वधातुकार्धधातुकयो : से यु के उ को गुण ओ, प्रातिपदिकसंज्ञा स्वादिकार्य कर **योत्रम्** बना ।

योक्त्रम्—युनक्ति अनेन इस अर्थ में युज् धातु से दाम्नीशसयुयुज. इत्यादि से ष्ट्रन् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकत्वात् प्राप्त इट् का तितुत्रथससिसुसरकसेषु च से निषेद । युज् त्र इस दशा में पुगन्तलघूपधस्य च से गुण । चोः कुः से ज् को कृत्व ग् । खरि च से ग् को चर्त्व क् कर योक्त्र बना ।प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **योक्त्रम्** बना।

स्तोत्रम्—स्तु से स्तौति अनेन इस विग्रह मे दाम्नीशस. इत्यादि से ष्ट्रन् । अनुबन्धलोप ।

आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः से उ को गुण ओ । स्तोत्र बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य ।

तोत्त्रम्— तुदति अनेन इस अर्थ में तुद् से ष्ट् न् । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकसंज्ञा, पुगन्तलघूपधास्य च से गुण। द् को खरि च से चर्त्व त् । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **तोत्त्रम्** बना ।

सेत्रम्—सिनाति अनेन इस अर्थ में सि (षिञ्) धातु से दाम्नीशस. इत्यादि से ष्ट्रन् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा । सार्वधातुकार्धधातु कयोः से गुण । सेत्र बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **सेत्रम्** बना ।

सेक्त्रम्—सिञ्चति अनेन इस अर्थ में सिच् धातु से दाम्नीशसयुयुज. इत्यादि से ष्ट्रन् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर सिच् त्र बना । आर्धधातुकं शेषः । पुगन्तलघूपधस्य च से उपधा गुण । चोः कुः से च् को कुत्व क् कर सेक्त्र बना। प्रातिपदिकत्वात् स्वादि कार्य ।

मेढ्रम्—मेहति अनेन इस अर्थ में मिह् धातु से दाम्नीशसयुज. से ष्ट्रन। अनुबन्धलोप, आर्धधातुकसंज्ञा, लघूपधगुण, मेह् त्र । हो ढः से ह् को ढ्, 'झषस्तथोः' से त्र के त् को ध्, ष्टुना ष्टुः से ध् को ढ्, ढो ढे लोपः से पूर्व 'ढ्' का लोप । स्वादिकार्य कर **मेढ्रम** बना ।

पत्रम्—पतति अनेन इस अर्थ में पत् धातु से दाम्नीशसयुयुज- इत्यादि से ष्ट्रन् प्रत्यय हआ । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा, अर्धधातुकस्येड्. से प्राप्त इट् का 'तितुत्र' से निषेध । पत्र को प्रातिपदिकसंज्ञा; स्वादिकार्य ।

दंष्ट्रा—दंशति अनेन इस अर्थ में दंश् धातु से दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदश-नहः करणे से ष्ट्रन् । षः प्रत्ययस्य से ष् की इत्संज्ञा । 'न' की इत्संज्ञा । दंश् त्र बना । आर्धधातुकसंज्ञा, आर्धधातुकस्येड् वलादेः से प्राप्त इट् का तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च से निषेध । व्रश्चभ्रस्जसृज-मृज. इत्यादि से श् को ष् । ष्टुना ष्टुः से त् को ट् कर दंष्ट्र बना। प्रातिपदिकसंज्ञा, स्त्रीत्व विवक्षा में अजाद्यतष्टाप् से टाप् । अनुबन्धलोप । सवर्णदीर्घ कर दंष्ट्रा से सु आया । सु का हल्ङ्यादि लोप ।

नद्ध्री— नह से दाम्नीशसयुयुज. से ष्ट्रन, अनुबन्धलोप, नह् त्र । नहो धः से ह् को ध्, 'झषस्तथोः' से त्र के त् को ध् । पूर्व ध् को जश्त्व द् । नद्ध्र प्रातिपदिक से षिद्गौरादिभ्यश्च से ङीष्, भसंज्ञा कर यस्येति च से अलोप । नद्ध्री से सु आया । सु का हल्ङ्यादि लोप ।

850. अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः 3/2/184।।

अर्त्यादिभ्यः इत्रः स्यात् करणेऽर्थे । अरित्रम् । लवित्रम् । धवित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।

सूत्रार्थ 850. ऋ लू धू सू खन सह एवं चर् धातु से इत्र प्रत्यय हो करण अर्थ में ।

अरित्रम्— ऋ धातु से 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' से इत्र प्रत्यय । आर्धधातुकं शेषः । सार्वधातुकार्धधातुकयो से ऋ को गुण अ, रपर अरित्र बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सु आया । सु को अम्, पूर्वरूप करने पर **अरित्रम्** बनेगा ।

लवित्रम्-धवित्रम्-सवित्रम्—लुनाति, धुनाति सुनाति वा अनेन इस अर्थ में लू, धू एवं सू धातु से क्रमशः 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' से इत्र प्रत्यय आया । लू+इत्र, धू+इत्र, सू+इत्र बना । आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः ऐ ऊ को गुण ओ, अवादेश कर लवित्र, धवित्र, सवित्र बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर उक्त रूप बने।

खनित्रम्-सहित्रम्-चरित्रम्—खन्, सह एवं चर् से अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः से इत्रप्रत्यय । प्रातिपदिकसंज्ञा, सु प्रत्यय । अतोऽम् से सु को अम् । अमि पूर्वः से पूर्वरूप कर रूप बने ।

851. पुवः संज्ञायाम् 3/2/185।।

करणे पुवः इत्रः स्यात् संज्ञायाम् । पवित्रम् ।

।। चन्द्रकला व्याख्या में पूर्वकृदन्त प्रकरण समाप्त ।।

सूत्रार्थ 851. पूञ् और पूङ् धातु से इत्र प्रत्यय होता है, संज्ञा में ।

पवित्रम्—851. पूङ् या पूञ् धातु से 'पूयते अनेन आज्यम्' अर्थ में 'पूवःसंज्ञायाम्' से इत्र प्रत्यय हुआ । आर्धधातुकसंज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण ओ, अव् । पवित्र से सु, सु को अतोऽम् से अम् । अमि पूर्वः ।

।। इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ।।

अथोणादयः

(उ.) कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् ।।1।। करोतीति कारुः । वातीति वायुः । पायुर्गुदम् । जायुरौषधम् । मायुः पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति परकार्यम् इति साधुः । आशु शीघ्रम् ।

कृवापा—डुकृञ् करणे, वा गतिगन्धनयोः, पा पाने, जि अभिभवे, डुमिञ् प्रक्षेपणे स्वद् आस्वादने, साध् संसिद्धौ, अशू व्याप्तौ, इन धातुओं से 'उण्' प्रत्यय होता है ।

कारुः—कृ धातु से 'कृवापाजिमि' इत्यादि से उण् प्रत्यय आया । णकार की इत्संज्ञा हुई । अचो ञ्णिति से ऋ को वृद्धि आ, उरण् रपरः से रपर कर कारु बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । प्रथमा एकवचन में 'सु' आया । रुत्व विसर्ग कर कारुः बना ।

वायुः—वा धातु से उण् । णित्वात् आतो युक् चिण्कृतोः से युक् । अनुबन्धलोप, प्रातिपदिकसंज्ञा, वायु से स्वादिकार्य कर वायुः बना ।

पायुः—पा धातु से 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' से उण् प्रत्यय आया । आतो युक् चिण्कृतोः से युक्-आगम। अनुबन्धलोप कर पाय् + उ = पायु बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य ।

जायुः— जिधातु से उण् । णित्त्वात् अचोञ्णिति से वृद्धि । जै + उबना + । एचोऽयवायवः से आय् । स्वादिकार्य ।

मायुः—मिञ् धातु से उण्, णित्त्वात् इ को वृद्धि, आयादेश स्वादिकार्य ।

साधुः—साध्नोति परकार्यम् इस अर्थ में साधु से उण् प्रातिपदिकसंज्ञा । स्वादिकार्य ।

आशुः— अश् धातु से उण्, 'अत् उपधायाः' से उपधावृद्धि । आशु बना । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । आशु शब्द अव्यय है, अत एव अव्ययादाप्सुपः से सु का लुक हो गया ।

852. उणादयो बहुलम् 3/3/1।।

एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः । केचिदविहिता अप्यूह्याः ।
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ।।

सूत्रार्थ 852. धातु से वर्तमान काल में तथा संज्ञा में बहुल प्रकार से उणादिप्रत्यय होते हैं ।

केचिदिति—कुछ प्रत्यय जो सूत्र द्वारा विधान नहीं किए गये हैं, उनका भी स्वयं के ऊह से विधान करना चाहिये, यही यहाँ पर 'बहुलम्' शब्द का अभिप्राय है ।

कारिकार्थ—संज्ञा शब्दों में जिस धातु से वह शब्द बन सकता हो उस धातु की कल्पना कर लेनी चाहिये । उसके बाद शेष भाग को प्रत्यय मान लेना चाहिये । कार्य के अनुसार ही प्रत्ययों अथवा धातुओं में अनुबन्ध जानना चाहिये । उणादि में यही शास्त्र शासन अथवा नियम है ।

।। इति उणादिप्रकरण ।।

NOTES

अथ अथोत्तरकृदन्तप्रकरणम्

853. तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् 3/3/10।।

क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः । मान्तत्वाद-व्ययत्वम् । कृष्णं द्रष्टुं याति । कृष्णं दर्शको याति ।

तुमुन्ण्वुलौ—क्रिया अर्थः यस्याः सा क्रियार्था, तस्याम्=क्रिया है प्रयोजन जिसकी वह क्रिया हुई क्रियार्था । अर्थात् क्रिया के लिए आयी क्रिया के उपपद होने पर यह सूत्र प्रवृत होता है । तुमुन् एवं ण्वुल् का यह विधान करता है । यह तुमुन् ण्वुल भविष्यत् अर्थ में होता है । 'अव्ययकृतो भावे' इस वचन से तुमुन्भाव में, एवं ण्वुल् कर्ता अर्थ में आता है । इस सूत्र में 'क्रियायां' यह सप्तमी निर्दिष्ट है । अतः प्रयोग में क्रियावाचक याति आदि को तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् से उपपदसंज्ञा भी होती है ।

सूत्रार्थ 853. क्रियार्थक क्रिया के उपपद होने पर भविष्यत् अर्थ में धातु से तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होते हैं ।

(तुमुन् में न् की इत्संज्ञा है, उकार उच्चारण के लिए है । 'तुम्' शेष रहता है । ण्वुल् में ण् व ल् की इत्संज्ञा होने पर 'वु' बचता है । वु को 'अक' हो जाता है)।

कृष्णं द्रष्टुं याति—दृश् धातु से याति उपपद रहने पर "तुमन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" से तुमुन् प्रत्यय आया। अनुबन्धलोप कर आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा हुई । दृश् तुम् बना । "सृजिदृशोर्झल्यमकिति" से अम् का आगम, अनुबन्धलोप कर दृ अश् तुम् बना । यण् कर द्रश् तुम् बना । "व्रश्चभ्रस्ज." से श् को ष् कर "ष्टुना ष्टुः" से तु के त् को ट् कर द्रष्टुम् बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया । कृन्मेजन्तः से अव्यय संज्ञा कर "अव्ययादाप्सुपः" से सु का लुक् कर **द्रष्टुम्** बना ।

कृष्णं दर्शकः याति—दृश् धातु से 'तुमुन्ण्वुलौ' से ण्वुल, अनुबन्धलोप । युवोरनाकौ से 'वु' को अक । दृश् + अक बनने पर आर्धधातुकत्वात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' ऋ को गुण अ, रपर, प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्यकर **दर्शकः** बना।

854. कालसमयवेलासु तुमुन् 3/3/167।।

कालार्थेषूपपदेषु तुमुन् स्यात् । काल : समयो वेला वा भोक्तुम् ।

सूत्रार्थ 854. काल समय व वेला उपपद रहने पर धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय होता है ।

कालः भोक्तुम्—भुज् धातु से काल समय या वेला के उपपद रहने पर काल-समयवेलासु तुमुन्' से तुमुन् । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकं शेष : से आर्धधातुकसंज्ञा । पुगन्तलघूपधस्य च से लघूपधगुण, चोः कुः से ज् को ग्, 'खरि च' से ग् को क् कर **भोक्तुम्** बना ।

प्रातिपदिकसंज्ञा, कृन्मेजन्तः से अव्यय संज्ञा, सु आया । सु का 'अव्ययादाप्सुपः' से लुक् कर भोक्तुम् बना ।

NOTES

855. **भावे 3/3/18।।**

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् स्यात् । पाकः ।

भावे—भाव कहते हैं क्रिया को । सभी धातुओं का अर्थ व्यापार (क्रिया) व फल है । क्रियासामान्य को भाव कहते हैं । तिङ्वाच्य क्रिया 'साध्यक्रिया' कहलाती है , इसकी लिङ्ग एवं संख्या में अन्वययोग्यता नहीं होती है । कृत्प्रत्यय का वाच्य (अर्थ) 'क्रिया' 'सिद्ध-अवस्थाप्राप्त' क्रिया कहलाती है, इसमें लिङ्ग एवं संख्यान्वय की योग्यता है । 'भावे' सूत्र में 'पदरुजविशस्पृशो घञ्' से घञ् की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 855. सिद्ध अवस्था को प्राप्त धात्वर्थ वाच्य हो तो धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ।

पाकः— पच् से 'भावे' सूत्र से घञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप कर पच् अ बना । "अत उपधायाः" से उपधावृद्धि कर "चजोः कु घिण्ण्यतोः से च् को कुत्व क् कर पाक बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **पाकः** बना ।

856. **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् 3/3/19।।**

कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात् ।

अकर्तरि— न कर्ता अकर्ता, तस्मिन् 'अकर्तरि' यह पद कारक के साथ अन्वित होता है । 'कर्तभिन्न कारक अर्थ में' यह शब्दार्थ है । पदरुजविशस्पृशो घञ् से घञ् की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 856. कर्तृभिन्न कारक अर्थ में धातु से घञ् होता है ।

(घञ् में लशक्वतद्धिते से घ् की एवं हलन्त्यम् से ञ् की इत्संज्ञा होती है । 'अ' शेष रहता है। यह अ ञित् है । अतः ञित् प्रयुक्त वृद्धि घञ् परे रहने पर होती है)।

857. **घञि च भावकरणयोः 6/4/27।।**

रञ्जेर्नलोपः स्यात् । रागः । अनयोः किम्? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः ।

घञि च—श्नान्नलोपः से 'नलोपः' की अनुवृत्ति आती है । चकारात् 'रञ्जेश्च' से 'रञ्जेः' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 857. रञ्ज् धातु के न् का लोप होता है । घञ् परे, भाव और करण अर्थ में ।

रागः— रञ्ज् से "अकर्तरि च कारके." सूत्र से घञ्, अनुबन्धलोप कर रञ्ज् अ बना । "घञि च भावकरणयोः" से रञ्ज् के न् का लोप कर "अत उपधायाः" से रज् की उपधावृद्धि कर राज् अ बना । "चजोः कु घिण्ण्यतोः" से ज् को कुत्व ग् कर प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **रागः** बना ।

अनयोः किम् रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः— यदि सूत्र में 'भावकरणयोः' पद नहीं दिया जाये तब 'रज्यति अस्मिन्' इस अधिकरण अर्थ में घञ् करने पर रञ्ज् अ बनने के बाद नलोप हो जायेगा, तब रङ्गः न बनकर रागः ही बनेगा, जो कि इष्ट नहीं है । सूत्र में 'भावकरणयोः' पद के कारण ही अधि

ाकरण में घञ् होने पर नलोपाभाव होने से चजोः कुः से ज् को कुत्व ग् कर न् (ञ्) को अनुस्वार परसवर्ण कर रङ्गः बनता है।

858. निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः 3/3/41।।

एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः । उपसमाधानं राशीकरणम् ।

निकायः । कायः । गोमय-निकायः ।

निवासचिति—'अकर्तरि च कारके' एवं 'भावे' की अनुवृत्ति आती है । 'पदरुजविशस्पृशो घञ्' से घञ् की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 858. निवास चिति शरीर और उपसमाधान (राशीकरण) अर्थ में 'चिञ्'धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है कि तथा धातु के आदि को 'क' होता है ।

उपसमाधानम् —सूत्रोक्त उपसमाधान पद का राशीकरण = 'इकट्ठा करना' अर्थ है ।

निकायः—निपूर्वक 'चि' धातु से निवास अर्थ में 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' से घञ् प्रत्यय तथा धातु के च् को क् हुआ । घञ् में अ बचा । निकि + अ । अचो ञ्णिति से कि के इ को वृद्धि एचोऽयवायावः से आय् । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य ।

कायः — शरीर अर्थ में (चीयते अस्ति स्थ्यादिकम् इति कायः) चि धातु से निवासचिति. इत्यादि से घञ्, च को क । अचो ञ्णिति से इ को वृद्धि, 'एचोऽयवायावः' से अयादेश, स्वादिकार्य, पूर्ववत् ।

गोमयनिकायः— समूह अर्थ में 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' से गोमय आम् पूर्वक निपूर्वक चि धातु से (उपसमाधान में निचीयते = राशीक्रियते इस अर्थ में) भाव में घञ् तथा चि के च् को क् करने पर गोमय आम् निकि अ बना । अचो ञ्णिति से इ को वृद्धि ऐ, एचोऽयवायावः से आय् । समास कर गोमयनिकाय बना । स्वादिकार्य है ।

859. एरच् 3/3/56।।

इवर्णान्तादच् । चयः । जयः ।

एरच्—'एः अच्' यह पदच्छेद है । इ का पञ्चमी एवकवचन 'एः' है । यह 'धातोः' का विशेषण है । अतः तदन्तविधि कर 'इवर्णान्तात्' अर्थ किया जाता है । यह सूत्र घञ् का अपबाद है ।

सूत्रार्थ 859. इवर्णान्तधातु से अच् प्रत्यय होता है, भाव में और कर्तृभिन्न कारक में ।

चयः जयः— चि एवं जि धातु से 'एरच्' से अच् प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप । चि + अ, जि + अ बना । आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा । 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से इ को गुण ए, अय्, कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा स्वादिकार्य ।

NOTES

860. ऋदोरप् 3/3/57।।

ऋवर्णान्तादुवर्णान्ताच्चाप् । करः । गरः । यवः । लवः । स्तवः । पवः ।

ऋदोरप्—ऋत् च उश्च इस विग्रह में समाहारद्वन्द्व कर ऋदु शब्द बना । पञ्चमी एकवचन में ऋदोः बना । सौत्रत्वात् पुल्लिङ्ग में यह शब्द है । ऋत् और उ 'धातोः' इस अधिकृत पद का विशेषण है । विशेणों से तदन्तविधि कर ऋवर्णान्त एवं उ = उवर्णान्त अर्थ किया जाता है । अप् प्रत्यय। यह भी घञ् का अपवाद है ।

सूत्रार्थ 860. ऋवर्णान्त तथा उवर्णान्त धातुओं से 'अप्' प्रत्यय होता है ।

करः, गरः— कृ एवं गृ धातु से 'ऋदोरप्' से अप् प्रत्यय । आर्धधातुक संज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः से ऋ, को गुण अ, उरण् रपरः से रपर, कर् + अ = कर्, गर् + अ = गर् । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा । स्वादिकार्य '**करः गरः**' बनता है ।

यवः-स्तवः— यु धातु एवं स्तु धातु से 'ऋदोरप्' से अप् प्रत्यय हुआ । आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्यधातुकयोः से उ को गुण ओ, यो + अ, स्तो + अ, बना । एचोऽयवायावः से अव् । यव एवं स्तव को कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य ।

लवः-पवः—लूञ् एवं पूञ् ऊवर्णान्त धातु से 'ऋदोरप्' से अप् प्रत्यय हुआ । आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्य-धातुकयोः से ऊ को गुण ओ, अवादेश । लव एवं पव को 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य कर **लवः** एवं **पवः** बनता है ।

वा. घञर्थे कविधानम् ।। प्रस्थः। विघ्नः ।

वार्तिकार्थ—घञ् प्रत्यय के अर्थ में धातु से क-प्रत्यय का विधान हो ।

(यह वार्तिक स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम् इस वार्तिक का शेष है । जो भाष्य में पठित है) ।

प्रस्थः— प्रपूर्वक स्था धातु से 'घञर्थे कविधानम्' वार्तिक से क प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर प्र स्था अ बना। आर्धधातुकसंज्ञा, 'आतो लोप इटि च' से आ का लोप कर कुगतिप्रादयः से समास, प्रस्थ को कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सु आया । सु का रुत्व एवं विसर्ग कर **प्रस्थः** बना ।

विघ्नः— विपूर्वक हन् धातु से 'घञर्थे कविधानम्' से क प्रत्यय, अनुबन्धलोप । 'गमहनजनसनघसां लोपः क्ङित्यनङि' से हन् की उपधा अ का लोप । विह्न् अ, 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से ह को कुत्व घ्, प्रादिसमास, प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **विघ्नः** बना ।

861. ड्वितः क्त्रिः 3/3/88।।

ड्वितः— डुः इत् यस्मिन्, सः डिवत्, तस्मात् = डु है इत् जिसमें वह हुआ ड्वित् ड्वित् से' यह 'ड्वितः' पद का अर्थ है । भावे की अनुवृत्ति आती है । 'क्त्रि' प्रत्यय है । क् की लशक्वतद्धिते से इत्संज्ञा होती है । 'त्रि' शेष रहता है।

सूत्रार्थ 861. ड्वित् धातु से भाव में क्त्रि प्रत्यय होता है ।

NOTES

862. **क्त्रेर्मम् नित्यम् 4/4/20 ।।**

क्त्रिप्रत्ययान्तान्मप् स्यात्, निर्वृत्तेऽर्थे । पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम् ।

डुवप्-उप्त्रिमम् ।

क्त्रेः- क्त्रे मप् नित्यम् यह पदच्छेद है । 'निवृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः' से 'निर्वृत्ते' की अनुवृत्ति आती है । क्त्रे : पद क्त्रिप्रत्यय का रूप है । प्रत्ययग्रहणे तदन्ताः ग्राह्याः के नियम से क्त्रेः का अर्थ 'क्त्रिप्रत्ययान्तात्' होता है ।

सूत्रार्थ 862. क्त्रिप्रत्ययान्त से निर्वत्त अर्थ में नित्य 'मप्' प्रत्यय होता है ।

पक्त्रिमम्—पच् धातु से 'पाकेन निर्वृत्तम्' इस अर्थ में ड्वितः क्त्रिः से क्त्रि प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप, पच् त्रि, चोः कुः से च् को क् कर पक्त्रि, 'क्त्रेर्मम् नित्यम्' से मप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, पक्त्रिम को कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य ।

उप्त्रिमम्—(डुवप्) वप् से ड्वितः क्त्रिः सये क्त्रि । कित्त्वात् 'वचिस्वापियजादीनां किति' से व् को सम्प्रसारण उ, सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप कर उप्त्रि बना । क्त्रेर्मम् नित्यम् से मप्, अनुबन्धलोप, स्वादिकार्य कर **उप्त्रिमम्** बना ।

863. **ट्वितोऽथुच् 3/3/89 ।।**

ट्वितोऽथुच् स्याद् भावे । टुवेपृ कम्पने-वेपथुः ।

ट्वितः— टुः इत् यस्मिन् सः ट्वित्, तस्मात्-ट्वितः = टु की इत्संज्ञा जिसमें होती है । वह धातु 'ट्वित' कहलाता है। अथुच् प्रत्यय है । 'भावे' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 863. ट्वित् धातु से अथुच् प्रत्यय होता है, भाव अर्थ में ।

वेपथुः—टुवेपृ धातु के टु व ऋ की इत्संज्ञा होती है । वेप् शेष रहता है । वेप् धातु से ट्वितोऽथुच् अथुच् प्रत्यय आया। अनुबन्धलोप कर वेप् +अथु = वेपथु बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य कर **वेपथुः** बना ।

864. **यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् 3/3/90 ।।**

यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः ।

सूत्रार्थ 864. यज् याच् यत् विच्छ् प्रच्छ् एवं रक्ष् धातु से 'नङ्' प्रत्यय होता है ।

यज्ञः— यज् धातु से 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' ये नङ् प्रत्यय आया । यज् न बना । स्तोः श्चुनाः श्चुः से न् को ञ् । यज् ञ् = यज्ञ बना । **'कृत्तद्धितसमासाश्च'** से प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य ।

याच्ञा—याच् धातु से 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' से नङ् प्रत्यय हुआ । स्तोः श्चुना श्चुः से न को ञ कर याच्ञ बना। प्रातिपदिकसंज्ञा । स्त्रीत्वविविक्षा में टाप् कर सवर्णदीर्घ कर याच्ञ बना । सु आया । सु का हल्ङ्यादि लोप ।

यत्नः यत् धातु से "यजयाचयतनङ्" से नङ् । यत्न को कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य कर **यत्नः** बना ।

प्रश्नः— प्रच्छ् धातु से "यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षोनङ्" से नङ् । अनुबन्धलोप कर प्रच्छ्न बना । "च्छ्वोःशूडनुनासिके च" से च्छ् को श् कर प्रश्न बना । शात् से श्चुत्व निषेध कर स्वादिकार्य कर प्रश्नः बना ।

विश्नः—विच्छ्से नङ् प्रत्यय पूर्ववत् रूप बनावें ।

रक्ष्णः— रक्ष् धातु से यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् प्रत्यय आया । रक्ष् न बना । 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' से णत्व । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य ।

865. स्वपो नन् 3/3/91।।

स्वप्नः

सूत्रार्थ 865. स्वप् धातु से 'नन्' प्रत्यय होता है भाव में ।

स्वप्नः—स्वप् धातु से भाव से स्वपो नन् से नन् प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर स्वप्न बना । प्रातिपदिकसंज्ञा कर स्वादिकार्य ।

866. उपसर्गे घोः किः 3/3/92।।

प्रधिः । उपधिः ।

सूत्रार्थ 866. उपसर्ग उपपदपूर्वक घुसंज्ञक (दा,धा) धातु से 'कि' प्रत्यय होता है ।

प्रधिः-उपधिः—प्र पूर्वक धा धातु से एवं उपपूर्वक धा धातु से "उपसर्गे घो किः" से कि प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर प्रधाइ, उपधा इ बना । "आतो लोप इति च" से आ का लोप कर प्रधि, उपधि बना । प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य कर प्रधिः उपधिः, बना ।

867. स्त्रियां क्तिन् 3/3/94।।

स्त्रीलिंङ्गे भावे क्तिन् स्यात् ।। घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः ।

सूत्रार्थ 867. भाव में धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होता है, स्त्रीलिङ्ग में ।

(यह सूत्र घञ् प्रत्यय का अपवाद है । क्तिन् में क् एवं न् की इत्संज्ञा होती है 'ति' शेष रहता है)।

कृतिः स्तुतिः— कृ धातु एवं स्तु धातु से स्त्रलिङ्ग एवं भाव में 'स्त्रियां क्तिन् से' क्तिन् आया । लशक्वतद्धिते से क् की इत्संज्ञा एवं हलन्त्यम् से न् की इत्संज्ञा कर कृ + ति, स्तु + ति बना । आर्थधातुकसंज्ञा हुई । सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः से ऋ एव उ को प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध हुआ । कृतद्धितसमासाश्च से कृति एवं स्तुति को प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । सु आया । सु को रुत्व, र् को विसर्ग कर **कृत्तिः, स्तुतिः** बना ।

NOTES

वा. ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः ।। तेन नत्वम् । कीर्णिः । गीर्णिः । लूनिः । धूनिः । पूनिः ।

वार्तिकार्थ—ऋदन्त धातु तथा ल्वादि धातुओं से पर 'क्तिन् निष्ठावद्' होता है ।

कीर्णिः— कृ धातु से "स्त्रियां क्तिन्" से क्तिन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप कर कृ ति बना । 'ऋतः इद्धातो' से ऋ को इत्, रपर् कर किर्त, 'हलि च' से उपधादीर्घ हुआ । "ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः" से क्तिन् को निष्ठावत् कर "रदाभ्यां निष्ठातः" से त को न, णत्व कर कीर्णि बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **कीर्णिः** बना ।

गीर्णिः— गृ से स्त्रियां क्तिन् से क्तिन् । ऋत इद्धातोः से इत्, रपर, हलि च से उपधादीर्घ, गीर् ति बना । 'ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्य': से निष्ठावद्भाव करके "रदाभ्यां निष्ठातो नः" से ति के त् को न । 'रषाभ्याम्.' से णत्व, कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिक संज्ञा , स्वादिकार्य कर गीर्णिः बना।

लूनिः-धूनिः-पूनिः— लू धातु, धू धातु एवं पू धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' से क्तिन् प्रत्यय आया। अनुबन्धलोप । ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठवद् वाच्यः से निष्ठावद्भाव, 'ल्वादिभ्यः' से ति के त को न कर लूनि , धूनि, एवं पूनि बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **लूनिः, धूनिः, पूनिः** बना ।

वा. सम्पदादिभ्यः क्विप् । सम्पत् । विपत् । आपत्

वा क्तिन्नपीष्यते ।। सम्पत्तिः। विपत्तिः । आपत्तिः ।

वार्तिकार्थ—सम्पद् आदि धातुओं से स्त्रीलिङ्ग और भाव में 'क्विप्' प्रत्यय होता है ।

वार्तिकार्थ—सम्पद् आदि से 'क्तिन्' भी होता है ।

सम्पत्-विपत्-आपत्—सम्पूर्वक पद्धातु से, 'विपूर्वक पद् धातु से, एवं आपूर्वक पद् धातु से 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' से क्विप् प्रत्यय आया । क्विप् का सर्वापहारिलोप कर सम्पद् विपद् एवं आपद् शेष रहा । कृत्तद्धितसमासश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप्रत्यय आया । 'हल्ङयाब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' से सु का लोप । वाऽवसाने से द् को चर्त्व त् कर **सम्पत् विपत्** एवं **आपत्** बना ।

सम्पत्तिः-विपत्तिः-आपत्तिः—सम्पूर्वक पद् विपूर्वक पद् एवं आपूर्वक पद् से 'क्तिन्नपीष्यते' वार्तिक से 'क्तिन्' प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । सम्पद् ति, विपद् ति, आपद्ति इस स्थिति में खरि च से द् को चर्त्व त् । सम्पत्ति, विपत्ति एवं आपत्ति को प्रातिपदिकसंज्ञा । सु आया । सु को रूत्व विसर्ग।

868. ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च 3/3/97।।

एते निपात्यन्ते ।

सूत्रार्थ —868.—ऊति, यूति, जूति, साति हेति और कीर्ति इन सबका निपातन होता है ।

869. ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च 6/4/20।।

एषामुपधवकारयोरूठ् स्यादनुनासिके क्वौ झलादौ क्ङिति । अतः

क्विप् । जूः । तूः । ऊः । मूः । स्रूः ।

सूत्रार्थ 869. ज्वर् त्वर् स्रिव् अव् और मव् धातुओं की उपधा को तथा 'व्' को ऊठ होता है, क्विप् परे तथा झलादि कित्-ङित् परे ।

जूः—ज्वर् धातु से क्विप् प्रत्यय आया । क्विप् का सर्वापहरिलोप कर ज्वर् बना । ''ज्वरत्वस्रिव्यवि. '' से ज्वर् के व को ऊठ् हुआ। अनुबन्धलोप कर ज् ऊ र् = जूर् बना । प्रातिपदकत्वात् सु आया । सु का हलङ्यादि लोप कर ज्वर् के र को विसर्ग कर **जूः** बना ।

तूः— त्वर् से क्विप् । क्विप् का सर्वापहारिलोप । ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च से त्वर् के व को ऊठ । तूर् बना। प्रातिपदिकत्वात् सु आया । सु का हलङ्यादिलोप । र् का विसर्ग कर **तूः** बना।

स्रूः—स्रिव् से क्विप् स्रिव के इव् को 'ज्वरत्वर.' से ऊठ् । स्रू को प्रातिपदिकसंज्ञा, सु प्रत्यय । सु को रुत्व एवं विसर्ग।

ऊः—अव् से 'ज्वरत्वर' से क्विप्, सर्वापहारिलोप । अव् को ऊठ्, स्वादिकार्य कर ऊः बनता है।

मूः—मव् से क्विप्। ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च से मव् के अव् को ऊठ् । मू को प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य।

870. इच्छा 3/3/101।।

इषेर्निपातोऽयम् ।

871. अ प्रत्ययात् 3/3/102।।

प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियामकारः प्रत्ययः स्यात् । चिकीर्षा । पुत्रकाम्या ।

सूत्रार्थ 870. इष् धातु से भाव अर्थ में श प्रत्यय एवं यक् का अभाव निपातन कर 'इच्छा' निपातनात् होता है ।

अप्रत्ययात्— 'अ' यह लुप्तप्रथमान्तपद है । स्त्रियां क्तिन् से स्त्रियाम् की अनुवत्ति आती है । प्रत्ययात् पद 'धातोः' का विशेषण है । प्रत्यय से तदन्त विधि कर 'प्रत्ययान्ताद्' अर्थ किया जाता है ।

सूत्रार्थ 871. प्रत्ययान्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय होता है, स्त्रीलिङ्ग में ।

इच्छा— इष् से 'इच्छा' से श प्रत्यय तथा यक् का अभाव होने पर इष् अ बना । सार्वधातुकत्वात् 'इषुगमियमां छः' से ष् को छ् । छे च से तुक, श्चुत्व । स्त्रीत्वविवक्षा में अजाद्यतष्टाप् से टाप्, दीर्घ । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य ।

चिकीर्षा— सन्नन्त चिकीर्ष से अ प्रत्ययात् से अप्रत्यय । आर्धधातुक संज्ञाकर अतो लोपः से ष के अ का लोप। प्रातिपदिकत्वात् स्त्रीत्व अर्थ में टाप्-सवर्णदीर्घ, सुप्रत्यय आया एवं सुलोपकर चिकीर्षा बना ।.

पुत्रकाम्या— पुत्रकाम्य नामधातु से स्त्रीत्व विवक्षा में 'अ प्रत्ययात्' से अ प्रत्यय आया। पुत्रकाम्य अ बना । अ को आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा, 'अतो लोपः' से य के अ का लोप । पुत्रकाम्य् अ = पुत्रकाम्य को प्रातिपदिक संज्ञा हुई । अजाद्यतष्टाप् से टाप् हुआ । अनुबन्धलोप । पुत्रकाम्य+आ । सवर्णदीर्घ कर पुत्रकाम्या से सु आया। सु का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्धात्. से लोप ।

NOTES

872. गुरोश्च हलः 3/3/103।।

गुरुमतो हलन्तात् स्त्रियामकारः प्रत्ययः स्यात् । ईहा ।

गुरोश्च—धातोः की अनुवृत्ति आती है और वह हल् का विशेष्य होता है । हल् से तदन्त विधि कर हलन्त अर्थ होता है । हलन्त धातु गुरु नहीं हो सकता है, अतः गुरोः पद का अर्थ 'गुरुमतः' होता है । स्त्रियाम् और 'अ' की भी अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 872. हलन्त गुरुमान् धातु से स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होता है ।

ईहा—ईह् धातु से 'गुरोश्च हलः' से स्त्रीत्व अर्थ में अ प्रत्यय आया । ईह को कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्, अनुबन्धलोप कर ईह+आ बना। सवर्णदीर्घ । सु आया । सु का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्. से लोप।

873. ण्यासश्रन्थो युच् 3/3/107।।

अकारस्याऽपवादः । कारणा । हारणा ।

सूत्रार्थ 873. ण्यन्त, आस् एवं श्रन्थ धातु से भाव एवं स्त्रीलिङ्ग में 'युच्' प्रत्यय होता है ।

कारणा—कृ धातु से णिच्, वृद्धि कर कारि धातु से ''ण्यासश्रन्थो युच्'' से युच्, अनुबन्धलोप कर, ''युवारनाकौ'' से यु को अन कर कारि अन बना । ''णेरनिटि'' से णिलोप कर कारन बना । प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्, अनुबन्धलोप कर सवर्णदीर्घ कर कारना बना । णत्व कर कारणा से सु आया । ''हल्ङ्याब्भ्यो'' से सु का लोप कर कारणा बना ।

हारणा—हृ से णिच् कर हारि बना । हारि से युच्, यु को अन, णि का लोप । स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् । सवर्णदीर्घ । सु प्रत्यय । णत्व, सुलोप, सभी कार्य कारणा की तरह ।

(आस् से आसना, एवं श्रन्थ् से श्रन्थना बनता है)

874. नपुंसके भावे क्तः 3/3/114।।

सूत्रार्थ 874. नपुंसकत्व विशिष्ट भाव में धातु से क्त-प्रत्यय होता है ।

(यह क्त प्रत्यय अकर्मक धातुओं से ही नपुंसक एवं भाव में होता है)।

875. ल्युट् च 3/3/115।।

हसितम् । हसनम् ।

सूत्रार्थ 875. ल्युट् भी नपुंसक एवं भाव में होता है ।

हसितम्—हस् धातु से नपुंसके भावे क्तः से क्त प्रत्यय आया । क् की लशक्वतद्धिते से इत्संज्ञा हुई । हस् त बना । आर्धधातुकसंज्ञा । आर्धधातुकस्येड् वलादेः से इट् । हसित को कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, सु प्रत्यय आया। सु को अम् कर **हसितम्** बना ।

हसनम्—हस् से 'ल्युट् च' से भाव में ल्युट् प्रत्यय आया। अनुबन्धलोप कर हस् यु बना । युवोरनाकौ से यु को अन कर हसन बना। प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **हसनम्** बना ।

876. पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण 3/3/118।।

पुंसि—यह सूत्र करणाधिकरणयोश्च का अपवाद है । करणाधिकरणयोः की इस सूत्र में अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 876. पुल्लिङ्ग विशिष्ट संज्ञा में धातु से 'घ' प्रत्यय होता है, करण एवं अधिकरण अर्थ में।

877. छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य 6/4/96।।

द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे परे । दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेन इति दन्तच्छदः । आकुर्वन्त्यस्मिन् इति-आकरः ।

छादेर्घे—छादेः घे अद्व्युपसर्गस्य यह पदच्छेद है । खचि ह्रस्वः से ह्रस्वः की तथा ऊदुपधायाः गोहः से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति आती है ।

सूत्रार्थ 877. द्विप्रभृति उपसर्ग से हीन ण्यन्त छादि धातु की उपधा को ह्रस्व होता है, घ प्रत्यय परे ।

दन्तच्छदः—दन्ताश्छाद्यन्ते अनेन इस विग्रह में दन्त उपपद पूर्वक छादि धातु से "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" से घ-प्रत्यय आया। अनुबन्धलोप कर उपपदसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुब्लुक् कर दन्तच्छादि अ बना। "णेरनिटि" से णि का लोप हुआ । "छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य" से उपधाह्रस्व कर दन्तच्छदः, स्वादिकार्य कर **दन्तच्छदः** ।

आकरः आकुर्वन्ति अस्मिन् इस अर्थ में आ पूर्वक कृ से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' से घ प्रत्यय, अनुबन्धलोप, आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः से कृ के ऋ को गुण-अ, रपर, प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य।

878. अवे तृस्त्रोर्घञ् 3/3/120।।

अवतारः कूपादेः । अवस्तारो जवनिका ।

सूत्रार्थ 878. अव पूर्वक तृ तथा स्तृ धातु से पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा में 'घञ्' होता है ।

अवतारः—अपूर्वक तृ धातु से अवेतृस्त्रोर्घञ् से 'घञ्' । अनुबन्धलोप । अवतृ + अ, अचो ञ्णिति से ऋ को वृद्धिः 'आ', रपर, प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य ।

अवस्तारः—अवपूर्वक स्तृ धातु से 'अवे तृस्त्रोर्घञ्' से घञ्-प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । अवस्तृ अ बना । अचो ञ्णिति से ऋ को वृद्धि आ, रपर कर अवस्तार बना । कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादिकार्य ।

NOTES

879. हलश्च 3/3/121 ।।

हलन्ताद्घञ्। घापवादः । रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः । अपमृज्यतेऽनेन व्याधयादिरिति-अपामार्गः ।

सूत्रार्थ 879. पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा में, हलन्त धातुओं से करण एवं अधिकरण में 'घञ्' होता है ।

रामः—'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' इस अर्थ में रम् धातु से 'हलश्च' से घञ्। अनुबन्धलोप, अत उपधायाः से उपधावृद्धि, प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य ।

अपामार्गः—अपपूर्वक मृज् धातु से हलश्च से घञ्, अनुबन्धलोप । 'मृजेर्वृद्धिः' से मृज् के ऋ को वृद्धि, रपर, अप मार्ज् अ बना । 'उपसर्गस्य घञि मनुष्ये बहुलम्' से अप के अन्त अ को दीर्घ, अपामार्ज्अ । 'चजोः कु' से ज् को कुत्व ग्, प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य ।

880. ईषद्दुः सुषु कृच्छ्राकृच्छार्थेषु खल् 3/3/126 ।।

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम् । एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल् ।

तयोरेवेति भावे कर्मणि च । कृच्छ्रे-दुष्करः कटो भवता । अकृच्छ्रेईषत्करः । सुकरः ।

सूत्रार्थ 880. ईषत् दुर् एवं सु उपपद रहने पर कृ धातु से 'खल्' प्रत्यय होता है, कृच्छ्र (दुःख) एवं अकृच्छ्र (सुख) अर्थ में ।

तयोरेव—इस सूत्र में करणाधिकरणयोः की अनुवृत्ति नहीं आती है । तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः से 'तयोरेव' अर्थात् 'भावकर्मणोः' की अनुवृत्ति आती है । यह खल् प्रत्यय भाव एवं कर्म अर्थ में होता है। खल् में ख् की लशक्वतद्धिते से तथा ल् की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा कर लोप होता है । 'अ' शेष रहता है।

दुष्करः—(कृच्छ्र अर्थ में) दुः क्रियते अनेन, विग्रह में दुर् पूर्वक कृ धातु से कर्म में ईषद् दुस्सुषु कृच्छ्रार्थेषु से खल् प्रत्यय अनुबन्धलोप, आर्धधातुकसंज्ञा कर "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" से कृ के ऋ को गुण अ, रपर कर दुर् कर बना । प्रादिसमास । दुर् के र् को विसर्ग कर, विसर्ग को 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य" से षत्व कर **दुष्कर** बना । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य कर **दुष्करः** बना । न लोकाव्यय से षष्ठी का निषेध होने से भवत् से तृतीया हुई ।

ईषत्करः—सरलता अर्थ में ईषत् पूर्वक कृ धातु से ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् से खल् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकसंज्ञा, सार्वधातुकार्धधातुकयोः से ऋ को गुण अ, रपर, ईषत् कर बना । प्रादिसमास । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य ।

सुकरः—सुपूर्वक कृ से खल् । आर्धधातुकसंज्ञा, गुण, रपर । कुगतिप्रादयः से समास । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्यकर **सुकरः** बना ।

NOTES

881. आतो युच् 3/3/128।।

खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता । दुष्पानः । सुपानः ।

आतो युच्—इस सूत्र में 'ईषद्दुः सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु' की अनुवृत्ति आती है ।

यह भी भाव एवं कर्म में प्रवृत्त होता है । 'आताः' धातोः इस अधिकार का विशेषण है, अतः 'आदन्ताद् धातोः युच्' यह अन्वय होता है।

सूत्रार्थ 881. आदन्त धातु से युच् प्रत्यय होता है ईषद् आदि उपपद रहने पर, सुख एवं दु:ख अर्थ में ।

ईषत्पानः—ईषत् पूर्वक पा धातु से कर्म में 'आतो युच्' से युच् प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप ! युवोरनाकौ से यु को अन । सवर्णदीर्घ कर पान बना । ईषत् के साथ 'कुगतिप्रादयः' से समास । प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य । (भवत् कर्ता से प्राप्त षष्ठी का 'न लोकाव्यय' से निषेध होने पर अनुक्त कर्ता से कर्तृकरणयोस्तृतीया से तृतीया होती है, भवता बनता है) ।

दुष्पानः—दुर् पूर्वक पा से आतो युच् से कृच्छ्र अर्थ में कर्मवाच्य में आतो युच् से युच् हुआ । अनुबन्धलोप । युवोरनाकौ से यु को अन । सवर्णदीर्घ । कुगतिप्रादयः से समास । दुर्पान बना । र् को विसर्ग । इदुदुपंधस्य चाप्रत्ययस्य से विसर्ग को षत्व । प्रातिपदिकसंज्ञा कर स्वादिकार्य कर **'दुष्पानः'** बना ।

सुपानः—'सुष्ठु पीयते' इस अर्थ में सु पूर्वक पाधातु से आतो युच् से युच्, यु को अन, सवर्णदीर्घ । प्रादिसमास । प्रातिपदिकसंज्ञा कर स्वादिकार्य ।

882. अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा 3/4/18।।

प्रतिषेधार्थयोरलं खल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात् । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् ।

अमैवाव्ययेन इति नियमात् नोपपदसमासः । दो दद्घोः । अलं दत्त्वा ।

घुगास्थेतीत्त्वम् । पीत्वा खलु । अलं खल्वोः किम् ? मा कार्षीत् ।

प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः ।

अलंखल्वोः—प्रतिषेधार्थक अलं व खलु उपपद रहने पर धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है ।

विशेष—सूत्र में 'प्राचाम्' पद आदर के लिए है ।

अमैवेति—अव्यय के साथ यदि उपपद समास हो तो अम् के साथ तुल्य विधानवाले का ही हो यह नियम 'अमैवाव्ययेन' सूत्र करता है । अतः यहाँ उपपद समास (अलं खलु के साथ) नहीं होता है ।

अलं दत्त्वा—अलं पूर्वक दा धातु से 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः' से क्त्वा हुआ । अनुबन्धलोप । दो दद्घोः से दा को दद् आदेश । खरि च से द् को चर्त्व त् । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । क्त्वातोसुन्कसुनः से दत्वा को अव्यय संज्ञा । अव्ययादाप्सुपः से सुलुक् ।

पीत्वा खलु—पा धातु से ''अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः'', से क्त्वा प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर कित्वात् ''घुमास्थागापाजहातिसां हलि'' से पा के आ को ई कर पीत्वा बना । प्रातिपदिक संज्ञा हुई । सु आया । क्त्वातोसुन्कसुनः से अव्ययसंज्ञा कर ''अव्यायादप्सुपः'' से सु का लुक् कर पीत्वा बना ।

अलं खल्वोः किम्—सूत्र में 'अलं खल्वोः' पद के न होने पर प्रतिषेधार्थक के योग में भी क्त्वा होने लगेगा । इस स्थिति में 'मा कार्षीत्' न बनकर 'मा कृत्वा' यह अनिष्ट रूप बन जायेगा । तुङ् को बाधकर कत्वा हो जायेगा ।

प्रतिषेधयोः किम्—यदि सूत्र में यह पद न हो अलं क्रियते अनेन इति अलङ्कारः (अकर्तरि च कारके से घञ्) यहाँ भी घञ् न होकर क्त्वा हो जायेगा ओर अलङ्कार की जगह अलङ्कृत्वा बन जायेगा । प्रतिषेधयोः पद के रहने पर प्रतिषेधार्थक 'अलम्' के योग में ही इस सूत्र से क्त्वा होता है । भूषण अर्थ में घञ् कर 'अलङ्कार' ही बनता है ।

883. **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले 3/4/21।।**

समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात ।

भुक्तवा व्रजति । द्वित्वमतन्त्रम् । भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ।

समानकर्तृकयोः—समानः कर्ता ययोः=(धात्वर्थयोः) 'समान है कर्ता जिन दो धात्वर्थों का उनमें । समानकर्तृकयोः पद में निर्धारण में षष्ठी विभक्ति है । **पर्वकाले-पूर्वःकालः यस्य** =पूर्व है काल जिस धात्वर्थ का, उसमें विद्यमसन यह अर्थ है । क्त्वा की 'अलं खल्वोः' से अनुवृत्ति आती है । इस तरह-'समानकर्तृकयोः धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानधातोः क्त्वा' यह अन्वय होता है ।

सूत्रार्थ 883. समानकर्ता वाले धात्वर्थों में पूर्वकालिक क्रियावाचक धातु से क्त्वा होता है ।

विशेष—कर्ता यदि दो क्रिया एक साथ करता हो तो जो क्रिया पहले हो रही हो उस क्रियावाचक धातु से क्त्वा होगा। जैसे— 'रामः भुक्त्वा गच्छति' वाक्य में राम की दो क्रियाएँ हैं, खाना और जाना । खाने की क्रिया पहले हो रही है अतः भुज् से क्त्वा हुआ ।

भुक्त्वा व्रजति—(जाने की क्रिया से पूर्व खाने की क्रिया हो रही है और दोनों का कर्ता एक ही है, अतः) भुज् धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' से क्त्वा प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर भुज् त्वा बना । आर्धधातुकं शेषः से आर्धधातुकसंज्ञा हुई । लघूपध गुण का क्ङिति च से निषेध हुआ । चोः कुः से ज् को ग्, खरि च से ग् को चर्त्व क् कर भुक्तवा को प्रातिपदिकसंज्ञा हुई । 'क्त्वातोसुन्कसुनः' से अव्यय संज्ञा हुई । सुप्रत्यय आया । 'अव्ययादाप्सुपः' से सु का लुक् कर भुक्तवा बना ।

द्वित्वम्—सूत्र में 'समानकर्तुकयोः' पद में द्वित्व अविवक्षित है । इसलिए अनेक धात्वर्थों के रहने पर भी क्त्वा होता है । जैसे-**भुक्त्वा पीत्वा** ।

पीत्वा—पा से समानकर्तृकयोः से क्त्वा। अनुबन्धलोप । पा + त्वा बना । घुमास्थागापाजहातिसां हलि से पा के आ को ईत्व । प्रातिपदिकसंज्ञा, अव्ययसंज्ञा । सु आया । अव्ययादाप्सुपः से सु का लुक् कर **पीत्वा** बनता है ।

884. न क्त्वा सेट् 1/2/18।।

सेट् क्त्वा किन्न स्यात् । शयित्त्वा । सेट् किम्-कृत्वा ।

न क्त्वा सेट्—असंयोगाल्लिट् कित् से 'कित्' की अनुवृत्ति आती है । 'सेट् क्त्वा' कित् न' यह अन्वय होता है ।

सूत्रार्थ 884. सेट् क्त्वा 'कित्' नहीं होता है ।

शयित्वा—शीङ् धातु से ''समानकर्तृकयो: पूर्वकाले'' से क्त्वा प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर शी त्वा बना । आर्धधातुकसंज्ञा कर इट् का आगम । शी इत्वा । ''न क्त्वा सेट्'' से इट् युक्त क्त्वा कित् नहीं हुआ । अत: ''सार्वधातुकार्धधातुकयो:'' से शी के ई को गुण ए, अय् कर शयित्वा बना । अव्ययसंज्ञा, प्रातिपदिकसंज्ञा कर सु आया। अव्ययादाप्सुप: से लुक् कर **शयित्वा** बना ।

सेट् किम्-कृत्वा—यदि न क्त्वा सेट् में सेट् पद न हो तब अनिट् धातु से विहित क्त्वा भी इस सूत्र से कित नहीं होगा । ऐसी स्थिति में कृ + त्वा में क्ङिति च से गुणनिषेध नहीं होगा । कृ के ऋ को गुण होने पर कृत्वा नहीं बनेगा कर्त्वा यह अनिष्ट रूप बनेगा । इसे रोकने हेतु 'सेट्' पद सूत्र में रखा गया है ।

885. रलो व्युपधाद्धलादे: संश्च 1/2/26।।

इवर्णोवर्णोपधाद्धलादे: रलन्तात् परौ क्त्वा सनौ सेटौ वा कितौ स्त: । द्युतित्वा-द्योतित्वा । लिखित्वा-लेखित्वा। व्युपधात् किम्वर्तित्वा । रल: किम्-सेवित्वा । हलादे: किम्-एषित्वा । सेट् किम्-भुक्त्वा।

रलो व्युपधात्—रल: व्युपधात् हलादे: सन् च यह पदच्छेद है । 'न क्त्वा सेट' से 'सेट्' की अनुवृत्ति आती है । च से क्त्वा का संग्रह हो जाता है । असंयोगाल्लिट् कित् से 'कित्' की तथा 'नोपध ात्' से 'वा' की अनुवृत्ति आती है । व्युपधात्-उश्च इश्च वी = उ और इ का द्वन्द्वसमास कर प्रथमाद्विवचन में वी बना । वी उपधे यस्य = उ इ है उपधा जिसका वह - व्युपध बना । पञ्चमी एकवचन में व्युपधात् बना । धातो: का अधिकार है । हलादे: व्युपधात् रल: ये धातो: के विशेषण है । रल् से तदन्त विधि कर 'रलन्तात्' अर्थ किया जाता है । 'व्युपधात् हलादे: रलन्तात् धातो: परौ सेटौ क्त्वा सनौ कितौ वा' यह अन्वय किया जाता है ।

सूत्रार्थ 885. इवर्णोपध उवर्णोपध हलादि रलन्त से पर सेट् क्त्वा व सन् कित् होते हैं, विकल्प से।

द्युतित्वा-द्योतित्वा—द्युत् से 'समानकर्तृकयो:' से क्त्वा । अनुबन्धलोप । आर्धधातुकं शेष: । ''आर्धधातुकस्येड् वलादे:' से इट् । न क्त्वा सेट् से प्राप्त कित्त्वाभाव का निषेधकर 'रलो व्युपध ाद्धलादे: संश्च' से विकल्प से क्त्वा को कित् किया । 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का क्ङिति च से निषेध । अव्ययसंज्ञा, प्रातिपदिकसंज्ञा, अव्ययादाप्सुप: से सुलुक् कर द्युतित्वा बना । कित्वाभाव पक्ष में गुणकर **द्योतित्वा** बना ।

लिखित्वा-लेखित्वा—लिख् से समानकर्तृकयो:. से क्त्वा आर्धधातुकत्वात् इट् । लिख् इत्वा बना । 'रलो व्युपधाद्धलादे: संश्च' से कित् किया । प्राप्त लघूपधगुण का क्ङिति च से निषेध ।

लिखित्वा, बना। प्रातिपदिकसंज्ञा, अव्ययसंज्ञा, सु आया । सु का अव्ययादाप्सुप: से सुलुक् कर **लिखित्वा** बना।

कित्त्वाभाव पक्ष में पुगन्तलघूपधस्य च से इ को गुण कर **लेखित्वा** बनता है ।

व्युपधात् किम्-वर्तित्वा—रलो व्युपधात्. सूत्र में 'व्युपधात्' पद न होने पर ऋदुपध वृत् धातु से परे सेट् क्त्वा भी विकल्प से कित् हो जायेगा । तब यहाँ गुण का निषेध होने पर वृतित्वा' वर्तित्वा ये दो रूप बन जायेंगे जो कि इष्ट नहीं है । व्युपधात् पद के रहने पर यहाँ इस सूत्र से कित्त्व नहीं होता है । अत: कित्त्वप्रयुक्त गुणनिषेध नहीं होता है । 'न क्त्वा सेट्' के लगने से नित्य गुण होता है ।

रल: किम्-सेवित्वा—सेव् + क्त्वा, इडागम कर गुण कर सेवित्वा बनता है । यह धातु रलन्त नहीं है । इकारोपध है । यदि सूत्र में 'रल:' पद न दें तब यहाँ भी सेट् क्त्वा विकल्प से कित् हो जायेगा, एवं कित्त्वप्रयुक्त गुणनिषेध होने से इष्ट रूप नहीं बनेगा ।

हलादे: किम्-एषित्वा—इष् + क्त्वा, इडागम, उपधा इ को गुण कर एषित्वा बनता है । यह अजादिधातु है । यदि सूत्र में हलादे: पद न रखें तब इकारोपध अजादि इष् धातु में भी सूत्र की प्रवृत्ति होने से कित्त्वप्रयुक्त गुणनिषेध हो जायेगा। एषित्वा/इषित्वा ये दो रूप बन जायेंगे। हलादे: के रहने से न क्त्वा सेट् की प्रवृत्ति होने पर एषित्वा ही बनता है।

सेट् किम्-भुक्तवा—यदि सूत्र में 'सेट्' पद नहीं दिया जाये तब अनिट् भुज् + त्वा = भुक्त्वा में भी सूत्र की प्रवृत्ति होने से भुक्त्वा, तथा विकल्प में भोक्त्वा ये दो रूप बनने लगेंगे, यह अनिष्ट होगा । भुज् धातु सेट् नहीं है, अत: सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है । भुक्त्वा ही बनता है।

886. उदितो वा 7/2/56 ।।

उदित: परस्य क्त्व इड् वा स्यात् । शमित्वा-शान्त्वा । देवित्वा-द्यूत्वा । दधातेर्हि:, हित्वा ।

उदितो वा—जृवश्च्यो: क्त्वि से 'क्त्वि' इस सप्तम्यन्त पद की अनुवृत्ति आती है । उदित: में परपञ्चमी है । 'परस्य' का अध्याहार होता है । क्त्वि यह पद षष्ठ्यन्त में बदलता है । उत् इत् यस्य स: उदित्, तस्मात् = उत् इत् संज्ञक है जिसका उससे यह अर्थ है उदित पद का ।

सूत्रार्थ 886. उदित् धातु से परे क्त्वा को इट् होता है, विकल्प से ।

शमित्वा-शान्त्वा—शम धातु से क्त्वा । 'उदितो वा' से इट् । प्रातिपदिकसंज्ञा अव्ययसंज्ञा, अव्ययादाप्सुप: से सुलुक् । इट् के अभाव में शम् त्वा इस दशा में 'अनुनासिकस्य क्विझलो: क्ङिति' से उपधादीर्घ । म् को अनुस्वार परसवर्ण कर शान्त्वा बनता है ।

देवित्वा-दिव से क्त्वा, 'उदितो वा' से इट्, न क्त्वा सेट् से कित्त्वाभाव । लघूपध गुण । प्रातिपदिकत्वात् सु आया। अव्ययत्वात् सु का लुक् कर देवित्वा बना। इट् के अभाव में दिव् त्वा इस दशा में "च्छ्वो: शूडनुनासिके च" से व् को ऊठ् । यण् कर के द्यूत्वा बना ।

हित्वा—धा धातु से समानकर्तृकयोः से क्त्वा । अनुबन्धलोप । दधातेर्हिः से धा को हि आदेश । सार्वधातुक गुण का 'क्ङिति च' से निषेध ।

887. जहातेश्च क्त्वि 7/4/43।।

हित्वा । हाङस्तु-हात्वा ।

सूत्रार्थ 887. हा (ओहाक्) धातु को 'हि' आदेश होता है, क्त्वा प्रत्यय परे ।

हित्वा—(ओहाक्) हा से समानकर्तृकयोः पूर्वकाले से क्त्वा-प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप । हा त्वा बना । जहातेश्च क्त्वि से हा को हि आदेश हुआ । सार्वधातुकार्धधातुकयोः से हि के इ को प्राप्त गुण का क्ङिति च से निषेध । प्रातिपदिकसंज्ञा, अव्ययसंज्ञा, सु आया । अव्ययादाप्सुपः से सु का लुक् हुआ । ओहाङ् से क्त्वा कर हित्वा ही रहता है।

888. समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् 7/1/37।।

अव्ययपूर्वपदेऽनञ् समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात् । तुक् प्रकृत्य । अनञ् किम्-अकृत्वा।

समासेऽनञ् पूर्वपदे—'समासे अनञ्पूर्वपदे क्त्वः ल्यप्' यह पदच्छेद है । नञ् का अर्थ भिन्न एंव तत्सदृश है न नञ् = अनञ् । नञ् अव्यय है । अतः 'नञ् भिन्न किन्तु नञ् सदृश अव्यय' यह अनञ् का अर्थ है । अनञ्पूर्वपदं यस्य, तस्मिन् = नञ् भिन्न नञ् सदृश अव्यय पूर्वपद है जिसका, उस में, यह अर्थ अनञ्पूर्वपदे का है । यह 'समासे' का विशेषण है । क्त्वा शब्द का षष्ठी एकवचन में 'क्त्वः' है । ल्यप् विधेय-आदेश है । ल्यप् में लशक्वतद्धिते से ल् की, तथा हलन्त्यम् से प् की इत्संज्ञा कर 'य' शेष रहता है ।

सूत्रार्थ 888. अव्ययपूर्वपद वाले अनञ् समास में 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश होता है ।

प्रकृत्य—प्र पूर्वक कृ धातु से समानकर्तृकयोः से क्त्वा प्रत्यय आया । अनुबन्धलोप कर प्र कृत्वा बना । कुगतिप्रादयः से गति समास कर 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' से क्त्वा को ल्यप् हुआ । अनुबन्धलोप कर प्रकृ य बना । ''ह्रस्वस्य पिति'' से तुक् कर अनुबन्धलोप कर प्रकृत्य बना । अव्ययसंज्ञा हुई । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । ''अव्ययादाप्सुपः'' से लुक् कर **प्रकृत्य** बना ।

अनञ् किम्-अकृत्वा—नञ् पूर्वक कृ से क्त्वा, समास कर अकृत्वा बनता है । यदि सूत्र में अनञ् पद न हो तब नञ् अव्यय के पूर्वपद में रहने से अकृत्वा में भी क्त्वा को ल्यप् हो जायेगा ।

889. आभीक्ष्ण्ये णमुल् च 3/4/22।।

आभीक्ष्ण्ये पूर्वविषये णमुल् स्यात् क्त्वा च ।

सूत्रार्थ 889. आभीक्ष्ण्य (बारम्बारता) अर्थ द्योत्य होने पर समानकर्तृक धातु से (पूर्वकाल में विद्यमान) णमुल् तथा क्त्वा प्रत्यय होते हैं ।

890. नित्यवीप्सयोः 8/1/4।।

आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये वीप्सायां च पदस्य द्वित्वं स्यात् । आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च । स्मारं-स्मारं नमति शिवम् । स्मृत्वा-स्मृत्वा । पायं-पायम् । भोजं-भोजम् । श्रावं-श्रावम् ।

नित्यवीप्सयो:—इस सूत्र में नित्य का अर्थ आभीक्ष्ण्य है । यह आभीक्ष्ण्य क्रिया का धर्म है । कर्ता जिस क्रिया को प्राधान्येन विना विश्रान्ति के साथ करता है वह नित्य है । अत: वृत्ति में आभीक्ष्ण्ये इत्यादि कहा है ।

सूत्रार्थ 890. पौन: पुन्य व वीप्सा में द को द्वित्व होता है ।

स्मारम्-स्मारम्—स्मृ धातु से आभीक्ष्ण्य अर्थ में "आभीक्ष्ण्ये णमुल् च" से णमुल् प्रत्यय हुआ । अनुबन्धलोप कर "अचो ञ्णिति" से वृद्धि आर् कर स्मारम् बना । "कृन्मेजन्त:" से अव्यय संज्ञा हुई । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । सु का लुक् कर "नित्यवीप्सयो:" से स्मारम् को द्वित्व कर **स्मारम्-स्मारम्** बना । क्त्वा करने पर **स्मृत्वा-स्मृत्वा** बना ।

पायं-पायम्—पा से "अभीक्ष्ण्ये णमुल् च" से णयुल्, अनुबन्धलोप कर पा अम् बना । "आतो युक् चिण्कृतो:" से युक्, अनुबन्धलोप कर पायम् बना । "कृन्मेजन्त:" से अव्यय संज्ञा कर प्रातिपदिक संज्ञा हुई । सु आया, सु का लोप कर 'नित्यवीप्सयो:' से पायम् को द्वित्व कर **पायम् पायम्** बना ।

श्रावं-श्रावम्—श्रु धातु से आभीक्ष्ण्ये णमुल् च से णमुल् ण् व ल् की इत्संज्ञा । उकार उच्चारणार्थ है । अचो ञ्णिति से श्रु के उ को वृद्धि औ, आव् कर श्राव्+अम्=श्रावम् । प्रातिपदिकत्वात् सु आया । कृन्मेजन्त: से अव्ययसंज्ञा, सुलुक् । नित्यवीप्सयो: से द्वित्व । पूर्व म् को अनुस्वार ।

891. अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् 3/4/27 ।।

एषु कृञो णमुल् स्यात् सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत् कृञ् ।।

व्यर्थत्वात् प्रयोगानर्हइत्यर्थ: । अन्यथाकारम् । एवङ्कारम् । कथङ्कारम् ।

इत्थङ्कारं भुङ्क्ते । सिद्धेति किम् ? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते ।

अन्यथैवम्—अन्यथा एवम् कथम् इत्थम् का द्वन्द्वसमास कर सप्तमी एकवचन में 'अन्यथैवंकथमित्थंसु' बना । सिद्धाप्रयोग:-सिद्ध: अप्रयोग:=प्रयोगाभाव: यस्य-जिसका प्रयोग आवश्यक नहीं हो । यस्य पद से 'कृञ:' का ग्रहण होता है । कृञ: की अनुवृत्ति 'कर्मण्याक्रोशे कृञ: खमुञ्' से आती है । इस तरह यह फलितार्थ निकलता है कि—

सूत्रार्थ 891. अन्यथा, एवम् कथम् व इत्थम् उपपद पूर्वक कृञ् धातु से णमुल प्रत्यय होता है, यदि वह 'कृञ्' व्यर्थ होने से प्रयोग के अयोग्य हो रहा हो तब ।

अन्यथाकारम्—अन्यथापर्वूक कृ धातु से 'अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' से णमुल् । अनुबन्धलोप । अचो ञ्णिति से कृ के ऋ को वृद्धि आ, रपर । **अन्यथाकारम्** बना । प्रातिपदिकत्वात् सु । कृन्मेजन्त: से अव्ययसंज्ञा। अव्ययादाप्सुप: से सुब्लुक् । इसी प्रकार-एवङ्कारम्, कथङ्कारम्, नत्थङ्कारम् बनावें । इन तीनों में म् को अनुस्वार व परसवर्ण करें ।

सिद्धेति किम्—शिरोऽन्यध कृत्वा भुङ्क्ते-यदि सूत्र में 'सिद्धाप्रयोगश्चेत्' पद न हो तब 'अन्यथा कृत्वा' यहाँ पर भी अन्यथा उपपदपूर्वक कृ से णमुल् होने लगेगा । वस्तुत यहाँ 'शिर को अन्य प्रकार

से करके खाता है' इस अर्थ में कृ निरर्थक नहीं है, अपि तु सार्थक है, अतः कृ से 'क्त्वा' ही होता है, णमुल् नहीं ।

"इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम्"

सारांश :

इस इकाई में आपने वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के कृत्य प्रकरण, उणादि प्रकरण, पर्वूकृदन्त प्रकरण तथा उत्तर कृदन्त प्रकरण का अध्ययन किया है। इन प्रकरणों में विविध प्रत्ययों, इन प्रत्ययों के विधायक सूत्रों तथा इन प्रत्ययों के योग से बनने वाले शब्दों का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम आपने कृत् एवं कृत्य संज्ञक प्रत्ययों का अध्ययन किया है। कृत् संज्ञक प्रत्ययों का प्रयोग कर्ता के अर्थ तथा कृत्य प्रत्ययों का प्रयोग भाव एवं कर्म के अर्थ में होता है। आपने यत्, ल्यूट्, क्यप्, ण्यत् आदि प्रत्ययों का अध्ययन कृत्य प्रकरण के अन्तर्गत किया है। पूर्वकृदन्त प्रकरण में आपने ण्वुल्, तृच्, णिनि, अच्, अण्, क, क्त, ट, क्विप्, शतृ, शानच्, षाकन्, क्विप् आदि प्रत्ययों से बने शब्दों तथा उनसे सम्बन्धित नियमों की व्याख्या करने वाले सूत्रों का ज्ञान प्राप्त किया है। उत्तरकृदन्त प्रकरण में आपने सर्वप्रथम तुमुन् प्रत्यय, ण्वुल् प्रत्यय तथा घञ् प्रत्यय के प्रयोग से बने शब्दों का अध्ययन किया है। आपने इसी प्रकरण में क्त्रि, मप्, नङ्, क्तिन्, मुच्, क्त, खल्, क्त्वा तथा णमुल् आदि अनेक प्रत्ययों तथा उनसे बनने वाले विभिन्न शब्दों का अध्ययन किया है।

अभ्यास-प्रश्न :

1. किन्हीं तीन कृत् प्रत्ययों का नामल्लेख पूर्वक विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. किन्हीं तीन कृत्य प्रत्ययों तथा उनसे सम्बन्धित सूत्रों की व्याख्या कीजिए।
3. 'कारकः' एवं 'कर्ता' शब्दों की रचना प्रक्रिया को समझाइए।
4. 'प्रज्ञः', 'गृहम्', 'श्राद्धकरी' एवं 'प्रातरित्वा' शब्दों को सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्ध कीजिए।
5. 'सोमयाजी' एवं 'कृतवान्' शब्दों की रचना नियमोल्लेखपूर्वक कीजिए।
6. 'हलः' एवं 'ओदितश्च' सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
7. शतृ एवं शानच् प्रत्यय से बनने वाले दो-दो शब्दों की रूप-सिद्धि कीजिए।
8. क्त, तव्यत् एवं अनीयर् प्रत्ययों के प्रयोग के नियमों का उल्लेख कीजिए।
9. 'राल्लोपः' सूत्र की उदाहरणों सहित विस्तृत व्याख्या कीजिए।
10. 'आतोयुच्' सूत्र का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

✤ ✤ ✤

4 व्याकरण महाभाष्यम् एवं निबन्ध

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- अनुशासनीय शब्द निर्णय अधिकरण का विवेचन
- जाति व्यक्ति पदार्थ निर्णय अधिकरण की व्याख्या
- नित्यता साधक पक्ष निर्णय अधिकरण का वर्णन
- वर्णोपदेश प्रयोजन अधिकरण की विवेचना
- संस्कृत निबन्धों के कतिपय उदाहरणों का संकलन
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

इस इकाई में महर्षि पतंजलि द्वारा रचित व्याकरण महाभाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के अन्तर्गत शब्दानुशासन का विवेचन किया गया है। इस इकाई में संस्कृत निबन्धों के अनेक उदाहरण भी सम्मिलित हैं। इस इकाई में अध्ययन के उपरान्त छात्र :

- अनुशासनीय शब्द निर्णय अधिकरण के विवेचन से अवगत हो सकेंगे।
- जाति व्यक्ति पदार्थ निर्णय अधिकरण की व्याख्या से परिचित हो सकेंगे।
- नित्यता साधक पक्ष निर्णय अधिकरण की विवेचना से अवगत हो सकेंगे।
- वर्णोपदेश प्रयोजन अधिकरण की व्याख्या से परिचित हो सकेंगे।
- संस्कृत निबन्धों के कतिपय उदाहरण का अध्ययन करके संस्कृत में निबन्ध लिख सकेंगे।

प्रस्तावना :

इस इकाई में महर्षि पतंजलि द्वारा विरचित व्याकरण महाभाष्य के 'शब्दानुशासनम्' की विवेचना प्रस्तुत की गयी है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में पाणिनि के मुख्य-मुख्य सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या की है। उन्होंने पाणिनि के कतिपय सूत्रों का प्रत्याख्यान भी किया है। व्याकरण महाभाष्य का शब्दानुशासन-खण्ड इसके प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में वर्णित है। इसमें महर्षि पतंजलि ने अनुशासनीय शब्द निर्णय अधिकरण से लेकर वर्णोपदेश प्रयोजन अधिकरण तक के शीर्षकों में पाणिनीय व्याकरण पर किये गये अनेक आक्षेपों की समाधान सहित विवेचना की है। उन्होंने शास्त्र प्रयोजन अधिकरण में शब्दों के अनुशासन का प्रयोजन भी स्पष्ट किया है।

यह इकाई संस्कृत-निबन्धों का एक संग्रह भी प्रस्तुत करती है। प्रथम निबन्ध में वेदों के रचनाकाल से सम्बन्धित विभिन्न मतों का निरूपण किया गया है। ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद ग्रन्थों का परिचय भी एक-एक निबन्ध द्वारा कराया गया है। भारतीय दर्शन की विशेषता, पुराणों का महत्व, रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्य तथा श्रीमद्भगवद् गीता जैसे दार्शनिक ग्रन्थ पर भी निबन्ध दिये गये हैं। संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध कवियों, संस्कृत भाषा, अहिंसा, परोपकार आदि पर भी इस इकाई में निबन्ध दिये गये हैं। इस इकाई में अनेक प्रकार के निबन्धों का पठनीय संग्रह प्रस्तुत किया गया है जिससे छात्र संस्कृत-निबन्ध लिखने में सक्षम हो सकें।

शब्दानुशासनम्

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते । शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् ।

प्रदीपः

अनुवाद—अब 'शब्दानुशासन' (नामक व्याकरणशास्त्र) प्रारम्भ होता है । 'अथ' यह शब्द अधिकार (प्रारम्भ होने) के अर्थ में प्रयुक्त होता है । (अतः 'अथ शब्दानुशासनम्' से) शब्दानुशासन (नामक व्याकरणशास्त्र) का आरम्भ होता है, यह (अर्थ) समझना चाहिए ।

(अनुशासनीयशब्दनिर्णयाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

केषां शब्दानाम् ?

अनु.—किन, शब्दों का (अनुशासन करने वाला शास्त्र प्रारम्भ होता है) ?

टिप्पणी—'शब्दानुशासनम्' कह देने के बाद 'केषां शब्दानाम्' यह प्रश्न उठाना यहाँ उचित प्रतीत नहीं होता । शब्दानुशासन में शब्दों की जिज्ञासा इतनी प्रबल नहीं होती जितनी अनुशासन की होती है । अतः पतंजलि को 'केषां शब्दानाम्' की जगह 'कीदृशं शब्दानुशासनम्' यह प्रश्न उठाना था । वास्तव में यहाँ शब्द का अनुशासन किया जाना है और वह शब्द जिसका कि प्रयोग "अथ शब्दानुशासनम्" इस प्रतिज्ञाभाष्य में हुआ है, केवल भाषा में प्रयुक्त शब्दों का वाचक न होकर 'शब्दत्व' (सामान्य) का

वाचक है । इस प्रश्न के माध्यम से उन्होंने पाणिनि व्याकरण की विशिष्टता का भी उल्लेख किया है । शाकटायन आदि अन्य व्याकरण तन्त्रों में वैदिक या लौकिक शब्दों का ही अनुशासन किया गया है । पाणिनि व्याकरण ही ऐसा व्याकरण है जिसमें लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार से शब्दों का अनुशासन हुआ है । इसी का उत्तर देते हैं—

(समाधानभाष्यम्)

लौकिकानां वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावद्-गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः खल्वपि शन्नो देवीरभिष्टये (अथर्व. 1-1-1) । ईषे त्वोर्जे त्वा (य.वे. 1.1.1) । अग्निमीडे पुरोहितम् (ऋ. वे. 1-1-1) अग्न आयाहि वीतये (सा.वे 1-1-1) इति ।

अनु.—(शब्द के रूप में प्रसिद्ध काकध्वनि इत्यादि ध्वनियों के अतिरिक्त वस्तुतः भाषा के घटक) लौकिक और वैदिक शब्दों का (अनुशासन करने वाला शास्त्र प्रारम्भ होता है ।) लौकिक (शब्द) जैसे-गौः, अश्वः, पुरुषो, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः इत्यादि । वैदिक (शब्द) जैसे-शन्नो देवीरभिष्टये (अथर्व, 1-1-1) । ईषे त्वोर्जे त्वा (यजु. 1-1-1) । अग्निमीडे पुरोहितम् (ऋ. वे. 1-1-1) । अग्न आयाहि वीतये (साम. 1-1-1) इत्यादि ।

टिप्पणी—इससे यह स्पष्ट हुआ कि पतंजलि को शब्दानुशासन में केवल लौकिक और वैदिक शब्द अभीष्ट हैं । इनसे अतिरिक्त लोक प्रसिद्ध काकध्वनि आदि अन्य शब्द नहीं । वैदिक शब्द यद्यपि लौकिक भी होते हैं तथापि इनकी प्रधानता सूचित करने के लिए ब्राह्मण-वशिष्ठ न्याय से पृथक् उपादान किया गया है । जैसे भोजनार्थ आमंत्रित ब्राह्मणों के साथ आये वशिष्ठ ब्राह्मण की प्रधानता बताने के लिए "ब्राह्मण भी आ गये और वशिष्ठ भी आ गये" कहा जाता है जबकि ब्राह्मण शब्द मात्र से काम चल सकता है । इसका पृथक् उल्लेख उसकी प्रधानता सिद्ध करने के लिये होता है।

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ?

अनु.— 'गौः' इस (ज्ञान) में शब्द कौन है ?

टिप्पणी—व्याकरण शब्द शास्त्र है । इस शास्त्र में शब्द ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित है । शब्दस्वरूप का वास्तविक ज्ञान कराना ही व्याकरणशास्त्र का प्रयोजन है । पतंजलि शब्द का व्याकरणशास्त्रसम्मत स्वरूप बताने के लिये 'गौः' इस प्रत्यक्ष प्रतीति के विषयभूत द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति में से किस तत्त्व को शब्द कहा जायेगा, यह प्रश्न उठाते हैं ।

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः ?

अनु.—क्या जो गलकम्बक, पूँछ, ककुद (डील), खुर तथा सींग वाला (गौ व्यक्ति रूप द्रव्य प्रत्यक्षज्ञान का विषय है) वही शब्द है ?

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

नेत्याह । द्रव्यं नाम तत् ।

अनु.—नहीं । वह तो द्रव्य है ।

यहाँ पतंजलि व्यक्ति विषयक प्रश्न उठाकर स्पष्ट कह देते हैं— नहीं – वह शब्द नहीं है । वह तो द्रव्य है । शब्द का ज्ञान तो श्रोत्रेन्द्रिय से होता है । यह गोरूप प्रत्यक्ष द्रव्य यहाँ चक्षु इन्द्रिय का विषय है । इससे स्पष्ट है कि द्रव्य शब्द नहीं हो सकता ।

यत्तर्हि तदिङ्गतं चेष्टितं निमिषितमिति, स शब्दः ?

अनु.—तो क्या जो इसका संकेत करना, चेष्टा करना, पलक झपकाना है, वह शब्द है ?

(निराकरणभाष्यम्)

नेत्याह । क्रियानाम सा ।

अनु.—नहीं । वह (इंगित आदि शब्द नहीं वह) तो क्रिया है ।

क्रिया का आश्रय क्रियावान् होने के कारण व्यक्ति (द्रव्य) है और वह लोक में शब्द से अभिन्न है । इसलिए क्रिया के शब्दत्व का निराकरण करना आवश्यक था ।

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति, स शब्दः ?

अनु.—तो क्या जो शुक्ल (सफेद रंग), नील (नीलिमा), कपिल (भूरापन), कपोल (चितकबरापन), वह शब्द है ?

(निराकरणभाष्यम्)

नेत्याह । गुणो नाम सः ।

अनु.—नहीं । वह तो (उस गोव्यक्ति का) गुण है ।

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं, स शब्दः ?

अनु.—तो क्या जो (इस गो का) भिन्न भिन्न (गो व्यक्तियों) में अभिन्न (समान रूप से तथा इस व्यक्ति) के छिन्न (नष्ट) हो जाने पर भी अच्छिन्न (अविनष्ट रूप से रहने वाला) सामान्य (गोत्व) है, वह शब्द है ?

(निराकरणभाष्यम्)

नेत्याह । आकृतिर्नाम सा ।

अनु.—नहीं । वह तो आकृति (जाति) है ।

टिप्पणी—जाति द्रव्य का आश्रय करके रहती है । अतः जाति-व्यक्ति का अभेद संबंध बन जाने के कारण ग्रंथकार जाति के शब्दत्व का भी निराकरण करते हैं । गोत्व रूप महासत्ता समस्त गोव्यक्तियों में समान रूप से रहती है और वह व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होती । व्यक्ति का आश्रय करके रहने तथा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय न होने के कारण वह भी शब्द नहीं है ।

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

कस्तर्हि शब्दः ?

अनु.—(जब प्रत्यक्ष प्रतीति के विषय द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति कोई भी शब्द नहीं है) तो फिर शब्द कौन है ?

(समाधानभाष्यम्)

येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, स शब्दः ।

अनु.—जिसके उच्चारित (प्रकाशित) होने से गलकम्बक, पूँछ, ढील, खुर और सींग वाले (गो व्यक्तियों) का ज्ञान होता है, वह शब्द है ।

टिप्पणी—द्रव्य, क्रिया, गुण और जाति के शब्दत्व का निराकरण करके पतंजलि "येनोच्चारित" इत्यादि से वास्तविक शब्दस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं । भाषा में प्रयुक्त वर्ण (प्रातिपदिक, धातु, प्रत्यय इत्यादि) पद, वाक्य रूप ध्वनियों से अभिव्यक्त जिस तत्त्व से अर्थ की प्रतीति होती है, वह शब्द है । व्याकरण शास्त्र में इसे ही 'स्फोट' (स्फुटति अर्थोऽस्मात्) कहा गया है ।

यहाँ यह शंका भी स्वाभाविक है कि भाष्यकार ने तो स्फोट का नाम्ना उल्लेख नहीं किया फिर इसकी व्याख्या का आधार क्या है ? यह अग्रिम भाष्य ग्रन्थ से स्वयं प्रमाणित है जिसमें भाष्यकार ध्वनि, रूप स्थूल शब्द का उल्लेख करते हैं जिसे लोक में शब्द रूप में ही व्यक्त किया जाता है ।

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा—प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तद्यथा-शब्दं कुरु मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते । तस्मात् ध्वनिः शब्दः ।

अनु.—अथवा लोक में पदार्थ की प्रतीति करने वाले ध्वनि को शब्द कहते हैं । जैसे-शब्द करो, शब्द मत करो, यह बालक शब्द करने वाला है—ऐसा ध्वनि करने वाले के लिए कहा जाता है । अतः ध्वनि शब्द है ।

टिप्पणी—ऊपर स्फोट रूप शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन कर चुकने के बाद अब लोकप्रसिद्ध शब्द का प्रतिपादन करते हैं । लोक में स्फोट को न जानने वाले अविज्ञ जन पदार्थ की प्रतीति कराने वाले वर्ण, पद, वाक्य रूप ध्वनि को ही शब्द मानते हैं क्योंकि वही श्रोत्र का विषय होता है । उन्हें स्फोट की प्रतीति नहीं होती ।

(शास्त्रप्रयोजनाधिकरणम्)

(प्रयोजनजिज्ञासाभाष्यम्)

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ?

अनु.—शब्दानुशासन (व्याकरण) के अध्ययन के प्रयोजन (हेतु या फल) क्या हैं ?

(प्रयोजनभाष्यम्)

रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्

अनु.—रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असंदेह (व्याकरणशास्त्र के अध्ययन के) प्रयोजन हैं ।

टिप्पणी—रक्षा, ऊह, लघु तथा असंदेह व्याकरण के अध्यययन से ही प्राप्त होते हैं । अतः ये इसके फल हैं । प्रयोजन शब्दप्रयोजक आशय परक भी है । इसलिए आगम (शास्त्र विशेष) का उपन्यास प्रयोजक हेतु रूप में है ।

(रक्षा पदार्थनिरूपणभाष्यम्)

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति।

अनु.—वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए । लोप, आगम और वर्णविकार को जानने वाला (वैयाकरण ही) वेदों की भलीभाँति रक्षा करेगा ।

(ऊहपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

ऊहः खल्वपि । न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

अनु.— ऊह भी (व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन) है । वेदों में मंत्र सभी लिङ्गों और सभी विभक्तियों में नहीं पढ़े गये। यज्ञगत पुरुष के द्वारा इन मंत्रों में यथोचित लिङ्ग और विभक्ति का परिवर्तन करना चाहिए । अवैयाकरण इनमें यथोचित परिवर्तन नहीं कर सकता । अतः व्याकरण पढ़ना चाहिए।

टिप्पणी—वेदों में दो प्रकार के यज्ञ प्राप्त हैं।—1. प्रकृति और 2. विकृति । प्रकृति याग उन्हें कहते हैं, जिनके विधि-विधान का निर्देश होता है । विकृति, यज्ञ में इनका निर्देश नहीं होता । "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" के नियम से प्रकृतियाग के समान विकृति में भी व्यवस्था की जाती है । अतः "सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः" इस वचन के अनुसार प्रकृति याग (आग्नेय) के मंत्र "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" के समान यहाँ भी विभक्ति परिवर्तन करके "सौर्यम्" की जगह अग्नये के समान चतुर्थी का प्रयोग करके "सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि" कर लेते हैं । यह विभक्ति विपरिणाम है । इसी प्रकार लिङ्ग और वचन विपरिणाम भी समझने चाहिए ।

(आगमपदार्थ निरूपणभाष्यम्)

आगमः खल्वपि—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयः" इति । प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने कृतो यत्नः फलवान् भवति ।

अनु.—आगम (श्रुति) भी (व्याकरणाध्ययन का प्रयोजक है । वहाँ कहा गया है)—ब्राह्मण को निष्कारण (दृष्ट लाभ आदि कारणों से निरपेक्ष होकर) ही धर्म तथा छः अंगों सहित वेद पढ़ना चाहिए । छहों अंगों में व्याकरण प्रधान है । प्रधान में किया गया प्रयत्न फलवान् होता है ।

टिप्पणी—"मुखं व्याकरणम्" कहकर छहों वेदांगों में व्याकरण की प्रधानता बताई गयी है । मुख सभी अंगों में प्रधान होता है । अतः प्रधान में प्रयत्न करने से फलप्राप्ति होती है ।

(लघुपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् "ब्राह्मणेनाऽवश्यं शब्दा ज्ञेया इति" । न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्याः ज्ञातुम् ।

अनु.—लाघव (सरलता के शब्द ज्ञान) के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए—"ब्राह्मण को शब्द अवश्य जानने चाहिए" । व्याकरण के अलावा अन्य किसी सरल उपाय से शब्दों का ज्ञान नहीं हो सकता ।

टिप्पणी—लाघव का अर्थ है सरलता । शब्द ज्ञान के लिए प्रतिपद पाठ आदि की अपेक्षा व्याकरण से प्रकृति, प्रत्यय आदि का ज्ञान करके सरलता से शब्दों को जाना जा सकता है । अध्यापन ही ब्राह्मण की वृत्ति है । अशब्दज्ञ होने पर शिष्य उसके पास अध्यनार्थ नहीं आयेंगे । अतः व्याकरण पढ़ना आवश्यक है ।

(असन्देहपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिकाः पठन्ति-स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति । तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्ति । यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति ।

अनु.—समास इत्यादि स्थलों में होने वाले संदेह की निवृत्ति के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए । याज्ञिक पढ़ते हैं—स्थूलपृषती अनड्वाही (बछिया) का (अग्नि और वरुण देवता के उद्देश्य से) आलंभन करना चाहिए । इसमें (यह) संदेह (उत्पन्न) होता है (कि स्थूलपृषती शब्द में) "स्थूला चासौ पृषती च" (यह तत्पुरुष समास है या फिर) "स्थूलानि प्रषन्ति यस्याः" (यह बहुब्रीहि) । (इस) व्युत्पत्ति (लभ्य अर्थ) को अवैयाकरण (पदगत) स्वर के माध्यम से नहीं जान सकता । यदि पूर्वपदप्रकृति स्वर है तो बहुब्रीहि है और यदि समासान्तोदात्त है तो तत्पुरुष (कर्मधारय) ।

(व्याकरणाध्ययनसाधकमागमप्रतीकभाष्यम्)

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि-तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुण इति ।

अनु.—व्याकरणाध्ययन के (आगमों में प्राप्त) ये (तेरह) और भी प्रयोजन हैं— 1. तेऽसुराः । 2. दुष्टः शब्दः । 3. यदधीतम् । 4. यस्तु प्रयुङ्क्ते । 5. अविद्वांस । 6. विभक्तिं कुर्वन्ति । 7. यो वा इमाम् । 8. चत्वारि । 9. उत त्वः । 10. सक्तुमिव । 11. सारस्वतीम् 12. दशमयां पुत्रस्य । 13. सुदेवो असि वरुण ।

(भाष्यम्)

तेऽसुराः—

"तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापिभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः" । म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । तेऽसुराः ।

अनु.—वे असुर–(यज्ञ स्थल में) वे असुर "हेलयः हेलयः" (हे शत्रुओं ! हे शत्रुओं !) करते हुए पराजित हो गये। इसलिए (यज्ञगत) ब्राह्मण को म्लेच्छन या अपभाषण नहीं करना चाहिए । म्लेच्छ (और कुछ नहीं बल्कि) यह अपशब्द ही है । हम म्लेच्छ न हों इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए । तेऽसुराः (प्रतीक की व्याख्या सम्पन्न हुई) ।

टिप्पणी—म्लेच्छन का अर्थ है म्लेच्छ के समान आचरण करना । "हेलयः" में असुरों ने न तो हैहेप्रयोगे हैहयोः (8.2.85) से प्राप्त प्लुत किया और न ही प्लूतप्रगृह्या अचि नियत्यम् (6.1.125) से प्राप्त प्रकृतिभाव । यही यहाँ 'म्लेच्छन' है । पद के द्वित्व के स्थान पर पूरे वाक्य का द्वित्व करना तथा "हेऽरयः" के रेफ का लत्व करना भी म्लेच्छन है । यह उनकी अव्याकरणज्ञता के कारण हुआ । अतः हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

(भाष्यम्)

दुष्टः शब्दः—

"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधाद्" ।। इति ।।
दुष्टान् शब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ।
दुष्टः शब्दः ।

अनु.—दुष्ट शब्द—स्वर दोष से ग्रस्त अथवा वर्णदोष से ग्रस्त शब्द का जिस अर्थ के लिए प्रयोग किया जाता है वह उसका प्रतिपादन नहीं करता । वह वाणी का वज्र (उसी प्रकार) यजमान को नष्ट कर देता है । जैसे ("इन्द्रशत्रुः" शब्द के) स्वरगत अपराध के कारण (यजमान) वृत्रासुर मारा गया था । दुष्टः शब्दः (प्रतीक की व्याखा समाप्त हुई ।)

टिप्पणी—तैत्तिरीय संहिता के अनुसार त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का इन्द्र ने वध कर दिया था । जिससे इन्द्र पर क्रुद्ध त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाले पुत्र की कामना से "स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" इस मंत्र से अभिचार यज्ञ किया था । इस यज्ञ में अन्तोदात्तस्वर के स्थान पर ऋत्विक् ने आद्युदात्तस्वर का प्रयोग कर दिया । जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया । इन्द्र की जगह वृत्रासुर मारा गया । स्वर का ज्ञान व्याकरणध्ययन के बिना संभव नहीं है । अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

(भाष्यम्)

यदधीतम्—

"यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्"।।
तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ।
यदधीतम् ।

अनु.—जो पढ़ा गया—जो अध्ययन बिना (स्वर और अर्थ का) ज्ञान किये मात्र पाठ रूप में किया जाता है वह उसी प्रकार कभी भी सफल नहीं होता जिस प्रकार सूखी लकड़ियाँ अग्नि के बिना नहीं जलतीं ।

बिना अर्थ का ज्ञान किये हम न पढ़ें, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए । 'यदधीतम्' (प्रतीक की व्याख्या सम्पन्न हुई।)

टिप्पणी— कुछ लोग पढ़ते तो हैं किन्तु उसका स्वर या अर्थ नहीं समझते । अत: उनका अध्ययन नगाड़े आदि के समान ध्वनि मात्र रहता है । बिना अर्थ-ज्ञान के किया गया अध्ययन उसी प्रकार फलप्रद नहीं होता जिस प्रकार भस्म या जल में डाली गयी सूखी लकड़ियाँ नहीं जलतीं । जिस प्रकार जलने के लिए उनका संयोग अग्नि से अपेक्षित होता है । उसी प्रकार स्वर और अर्थज्ञान के लिए व्याकरणाध्ययन आवश्यक है । अर्थज्ञान के बिना किया गया अध्ययन श्रुतियों में भी निन्दित है—

स्थाणुरयं भारहार: किलाभू-दधीत्य वेदं न विजानातियोऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते, नागमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।

अत: व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है ।

(भाष्यम्)

यस्तु प्रयुङ्क्ते—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वागयोगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।।

क: ? वाग्योगविदेव । कुत एतत् ? यो हि शब्दान् जानाति अपशब्दान् अपि असौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्म:, एवमपशब्दज्ञाने-ऽप्यधर्म: । अथवा भूयान् अधर्म: प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दा:, अल्पीयांस: शब्दा इति । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा: । तद्यथा, गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशा:। अथ योऽवाग्योगविद्, अज्ञानं तस्य शरणम् ।

अनु.—जो प्रयोग करता है—व्यवहार के समय (शब्दों के प्रयोग में(निपुण जो विद्वान् विशेष अर्थ में शब्दों का भलीभाँति प्रयोग करता है वह वाग्योगविद् परलोक में अनंत विजय पाता है तथा (वही अपशब्दों का प्रयोग करने के कारण इन) अपशब्दों से दूषित हो जाता है ।

कौन (दूषित हो जाता है) ? वाग्योगविद् ही । यह कैसे (सम्भव है) ? क्योंकि जो शब्दों को जानता है (प्राय:) वह अपशब्दों को भी जानता है । जिस प्रकार शब्दों के ज्ञान में धर्म है उसी प्रकार

अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म भी है । अथवा (यह भी कह सकते हैं कि (अधर्म ही अधिक पाता है।) क्योंकि शब्दों की अपेक्षा अपशब्द अधिक हैं (और) शब्द कम हैं । क्योंकि एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश होते हैं । जैसे 'गौः' (इस एक) शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अन्य अनेक अपभ्रंश हैं और जो अवाग्योगविद् है (उसे अधर्म प्राप्त होता है या नहीं) ? अज्ञान ही उसकी (अधर्म से) रक्षा करता है ।

टिप्पणी—व्याकरण को अभ्युदय का हेतु बताने के लिए इस प्रतीक की व्याख्या की गयी है । जो व्याकरणज्ञ है वह अर्थप्रवृत्ति तत्त्वों के अनुसार ही शब्दों का प्रयोग करता है । जैसे अस्व (दरिद्र) के लिए प्रयुक्त अस्व शब्द साधु है पर इस शब्द के अर्थ में अगर "अश्व" शब्द का प्रयोग कर दिया जाय तो साधु होता हुआ भी वह असाधु हो जायेगा क्योंकि इसका प्रयोग गलत अर्थ में किया गया है । इसलिए अपभ्रंशों से साधु शब्दों का ज्ञान जिस प्रकार व्याकरण कराता है उसी प्रकार इस शब्द की अर्थप्रवृत्ति का भी ज्ञान कराता है ।

(बाधकभाष्यम्)

विषम उपन्यासः । नात्यन्ताय अज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो हि अजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात सुरां व पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् ।

अनु.—(आपने जो यह कहा कि अवाग्योगविद् का रक्षक उसका अज्ञान होता है, वह कथन) उचित नहीं है । अज्ञान सर्वथा रक्षक नहीं हो सकता । जो (''ब्राह्मण अवध्य है'' इस निषेध शास्त्र को) न जानता हुआ (तथा ब्राह्मणत्वादि को जानता हुआ भी) ब्राह्मण की हत्या कर देता है या फिर मदिरा पान करता है, मेरी समझ में वह भी पतित होता है ।

(सिद्धान्तव्याख्याभाष्यम्)

एवं तर्हि—

सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र । वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।।
कः ? अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं तस्य शरणम् ।

अनु.—यदि ऐसा है तो (उभयज्ञ) वह (वाग्योगविद् साधु शब्दों के प्रयोग से) परलोक में जय को प्राप्त करता है । किन्तु वही अपशब्दों के प्रयोग से दूषित हो जाता है । कौन (दूषित होता है) ?

अवाग्योगविद् (अर्थात् जो शब्दों का सम्यक् प्रयोग करना नहीं जानता) । और जो वाग्योगविद् है ? इसका विशेष ज्ञान उसकी रक्षा करता है ।

(आक्षेपभाष्यम्)

क्व पुनरिदं पठितम्

अनु.—यह (आपने जो सोऽनन्तमाप्नोति इत्यादि कहा वह) श्लोक कहाँ पढ़ा गया है ?

(समाधानभाष्यम्)

भ्राजा नाम श्लोकाः ।

अनु.—ये भ्राजा नाम श्लोक हैं ।

टिप्पणी—कात्यायन द्वारा प्रणीत श्लोक 'भ्राज' नाम से प्रसिद्ध हैं। वैयाकरण इन्हें प्रमाण रूप में उद्धृत करते आये हैं।

(आक्षेपभाष्यम्)

किं च भोः श्लोका अपि प्रमाणम् ?
किं चातः ?
यदि श्लोका अपि प्रमाणम्, अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति—
"यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ।
पीतं न गमयेत् स्वर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत्" ।। इति ।।

अनु.—तो क्या श्लोक भी प्रमाण होते हैं ?

क्यों नहीं ?

यदि श्लोक प्रमाण हैं तो यह भी श्लोक प्रमाण हो सकता है —

अगर ताँबे के रंग वाली बड़ी मटकियों के समूह (में भरी हुई मदिरा को मदिरालय में) पीने पर स्वर्ग नहीं पहुंचाता तो (सौत्रामणि) याग में (थोड़ी मात्रा में पिया गया वह) स्वर्ग कैसे ले जा सकता है?

(समाधानभाष्यम्)

प्रमत्तगीत एषतमत्तभवतः । यस्तवप्रमत्तगीतस्त् प्रमाणम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते ।

प्रदीपः—प्रमत्तगीत इति । प्रमादेन विप्रतिपन्नत्वेन गीत इत्यर्थः । कात्यायनोपनिबद्धभ्राजाख्य-श्लोकमध्यपठितस्य त्वस्य श्लोकस्य श्रुतिरनुग्राहिकास्ति—"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुगभवती" ति।

अनु.—यह तो आपका प्रमत्तगीत है । जो अप्रमत्तगीत है वही प्रमाण है । यस्तु प्रयुङ्क्ते (प्रतीक की व्याख्या समाप्त हुई)

(भाष्यम्)

अविद्वांसः—

"अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः ।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ।।

अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । अविद्वांसः ।

NOTES

अनु.—अविद्वान्-प्रत्यभिवादन (आशीर्वाद) में जो अविद्वान् नाम की प्लुति नहीं जानते, उनसे तो प्रवास आदि से आकर "अयम् अहम्" कहना चाहिए—जैसा कि स्त्रियों के लिये कहा जाता है ।

अभिवादन में हम स्त्री के समान न हों, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिए । अविद्वांसः (प्रतीक की व्याख्या सम्पन्न हुई ।)

टिप्पणी—किसी को आशीर्वाद देते समय उसके नाम की 'टी' को प्रत्यभिवादेऽशूद्रे (8.2.83) सूत्र से प्लुत हो जाता है । यह नियम स्त्री और शूद्रों के लिये लागू नहीं है । जो व्यक्ति नाम की **टी** को प्लुत करने का नियम नहीं जानता उसे स्त्रियों की भाँति 'अयमहमभिवादये' ही कहना चाहिए ।

(भाष्यम्)

विभक्तिं। कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति-"प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः" इति । न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । विभक्तिं कुर्वन्ति ।

अनु.—विभक्ति करते हैं-याज्ञिक पढ़ते हैं-प्रयाजो को सविभक्तिक करना चाहिए । बिना व्याकरण (ज्ञान) के प्रयाजों को सविभक्तिक नहीं किया जा सकता । विभक्तिं कुर्वन्ति (प्रतीक की व्याख्या सम्पन्न हुई) ।

टिप्पणी—कर्म का विच्छेद हो जाने पर "पुनराधेय इष्टि" की जाती है । इसमें पाँच हवि दी जाती हैं जिन्हें प्रयाज कहते हैं । अंत में दी जाने वाली तीन हवियों को अनुयाज कहते हैं । आपस्तम्ब के अनुसार प्रथम चार मंत्रों में सम्बोधन, सप्तमी, तृतीया, और द्वितीया विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है । यह विभक्ति प्रयोग बिना व्याकरण ज्ञान के संभव नहीं है ।

(भाष्यम्)

यो वा इमाम्—

"यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति" । आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् । यो वा इमाम् ।

अनु.— जो इसका- जो इस (वाणी) का प्रतिपद, प्रतिस्वर और प्रति अक्षर (शुद्ध एवं अर्थज्ञान पूर्वक) उच्चारण करता है वह आर्त्विजीन (यजमान या याजक) होता है । हम आर्त्विजीन हों, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये । यो वा इमाम् (प्रतीक की व्याख्या समाप्त हुई)

(भाष्यम्)

चत्वारि—

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।

चत्वारि शृङ्गाणि । चत्वारि पदजातानि-नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादाः-त्रयः कालाः भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे- द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च । सप्तहस्तासो अस्त-सप्तविभक्तय : । त्रिधा बद्धः-त्रिषु स्थानेषु बद्धः उरसि कण्ठे शिरसीति । वृषभो वर्षणात् । रोरवीति शब्दं करोति ।"

कुत एतद् ?

रौतिः शब्दकर्मा । महोदेवो मर्त्यां आविवेशेति । महान् देवः शब्दः । मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तान् आविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ।

अनु.—चार—इसके चार सींग (तथा) तीन पैर हैं । इसके दो सिर (तथा) सात हाथ हैं । तीन प्रकार से बँधा वृषभ शब्द करता है । महान् देव मृत्यु धर्माओं में प्रविष्ट हो गया है ।

चार सींग (का अभिप्राय है) चार पदजात-नाम, आख्यात्, उपसर्ग और निपात । इसके तीन पैर हैं—तीन काल-भूत, भविष्य, वर्तमान । दो सिर (का आशय है) दो शब्दात्मा-नित्य (स्फोट) और कार्य (ध्वनि) । इसके सात हाथ हैं—सात विभक्तियाँ । तीन प्रकार से बँधा है—तीन स्थानों से बँधा है--उर, कंठ और शिर में (इसे) वृषभ (कहते हैं क्योंकि यह कामनाओं की) वर्षा करता है । रोरवीति अर्थात् शब्द करता है।

'रु' धातु शब्द करने के अर्थ में है । महान् देव मरणशील (मनुष्यों) में प्रविष्ट हो गया । महान् देव के साथ हमारा साम्य हो, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

(भाष्यम्)

अपर आह—

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' ।।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि-चत्वारिपदजातानि-नामाख्यातोपसर्ग-निपाताश्च । 'तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः' । मनस ईषिणो मनीषिणः । 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति' । निमिषन्तीत्यर्थः । 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' । तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थमित्यर्थः । चत्वारि ।

अनु.—दूसरा कहता है—वाक् के चार ही पद हैं । उन्हें वे ही ब्राह्मण जानते हैं जो मनीषी हैं । (इनमें से तीन तो गुहा में पड़े प्रकाशित ही नहीं होते हैं, मनुष्य वाक् के चतुर्थ भाग को बोलते हैं ।

वाक् के चार ही पद हैं—चार पदजात-नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । उन्हें वे ही ब्राह्मण जानते हैं जो मनीषी-मन को नियंत्रण में रखने वाले होते हैं । गुहा में पड़े तीन प्रकाशित नहीं होते-गुहा में पड़े तीन इंगित नहीं होते-चेष्टा नहीं करते -ज्ञान का विषय नहीं होते । मनुष्य वाक् के चतुर्थ (भाग) को बोलते हैं- यह वाक् का चौथा भाग है जो मनुष्यों में रहता है चत्वारि (प्रतीक की व्याख्या सम्पन्न हुई) ।

टिप्पणी—यह मंत्र भी ऋग्वेद (1.164.45) से उद्धृत है । नागेश ने यहाँ 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' से परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी का ग्रहण माना है । हृदय देश में स्थित वाक् को मध्यमा कहते हैं । पश्यंती लोक व्यवहारातीत वाक् है किन्तु योगियों को उसमें भी प्रकृति, प्रत्यय के विभाग का ज्ञान होता है । परा में यह प्रतीति संभव नहीं होती । बैखरी वह वाक् है जो हमारे श्रोत्र का विषय बनती है । वाक् के इस तत्त्व को मनीषी ही जानते हैं । मनीषी का तात्पर्य उन लोगों से है जो चित्तशुद्धि के क्रम से मन को दूसरे विषयों से हटाकर अपने वश में कर लेते हैं । वे केवल वैयाकरण ही हो सकते हैं । गुहा जो कि अज्ञानरूप या हृदयादिरूप है वहाँ अन्य लोगों को वाक् की प्रतीति नहीं होती किन्तु वैयाकरण शास्त्र के बल से या इस बल से प्राप्त योग से गुहा के अन्धकार का विदारण करके इन तत्त्वों को जान लेता है ।

(भाष्यम्)

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच- मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।

'उत त्वः' अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनामिति । अविद्वांसमाह अर्धम् । उतो त्वसमै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासाः । तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वम् आत्मानं विवृणुते, एवं वाग् वाग्विदे स्वम् आत्मानं विवृणुते । वाक् नो विवृणुयाद् आत्मानमित्यध्येयं व्याकरणम् । उत त्वः ।

अनु.—एक अन्य भी–

(व्याकरण को न जानने वाला) वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता । (वह) इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता । (लेकिन व्याकरण के ज्ञाता) किसी विद्वान् के लिए यह अपने शरीर को (उसी प्रकार) खोल देती है जैसे सुन्दर वस्त्रों वाली तथा चाहने वाली पत्नी अपने पति के लिए (अपने अंगों को वस्त्ररहित कर देती है) ।

कोई भी-कोई वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और कोई इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता (यह मंत्र का) आधा भाग अविद्वान् (की दशा) को कहता है । किसी के लिए तो यह (वाणी अपने) शरीर को भी खोल देती है । जैसे सुन्दर वस्त्र वाली तथा चाहने वाली पत्नी (अपने पति के लिए) । वह इस प्रकार—जैसे पत्नी-पति को चाहने वाली-सुंदर वस्त्रों वाली स्वयं को अनावृत कर देती है । वाणी हमारे लिये स्वयं को उद्घाटित करे, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिए । उत त्वः (प्रतीक की व्याख्या समाप्त हुई) ।

(भाष्यम्)

सक्तुमिव—

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।।"

NOTES

सक्तु: सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद् विकसितो भवति । तितउ परिपवनं भवति-ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तः । मनसा प्रज्ञानेन । वाचमक्रत । वाचमकृषत ।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते । अत्र सखायः सनतः सख्यानि जानते ।

क्व ?

य एष दुर्गो मार्गः, एकगम्यो वाग्विषयः ।

के पुनस्ते ?

वैयाकरणाः ।

कुत एतत् ?

'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि' ।

एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति । लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात् परिवृढा भवति । सक्तुमिव।

अनु.—सक्तु की तरह-चलनी से सक्तु (सत्तू) की तरह मन से वाणी को शुद्ध करते हुए धीर लोग जहाँ वाणी का प्रयोग करते हैं, वहाँ समान ज्ञान वाले समान मैत्री को ज्ञान वाले समान मैत्री को जान जाते हैं । इनकी वाणी में भद्रा लक्ष्मी निहित होती है ।

'सक्तु' शब्द 'सच्' धातु से निष्पन्न होता है और यह दुश्शोध्य होता है । अथवा (यह भी संभव है कि यह) 'कस्' धातु के वर्णविपर्यय (कस् धातु को उलटकर सक् बना लेने) से बना (हो और तब इसका अर्थ) विकसित (तुष मिश्रित) होता है । तितउ (चलनी) स्वच्छ करने वाला होता है । यह ततवत् (विस्तृत) या तुन्नवत् (अनेक छिद्रों से युक्त) होता है । धीर का आशय है ध्यानवान् । मन से अर्थात् प्रज्ञान से । वाणी को करते हैं (अर्थात्) वाणी का प्रयोग करते हैं ।

यहाँ समान ज्ञान वाले समान मैत्री (सायुज्य) को जान जाते (प्राप्त करते) हैं ।

कहाँ ?

यह जो कठिन मार्ग है, एकगम्य वाणी का विषय है ।

वे कौन हैं ?

वैयाकरण ।

यह कैसे ?

इनकी वाणी में भद्रा लक्ष्मी निहित है । लक्षण अथवा भासन से लक्ष्मी कही जाती है । सक्तुमिव (प्रतीक की व्याख्या सम्पन्न हुई) ।

(भाष्यम्)

सारस्वतीम्—

याज्ञिकाः पठन्ति- "आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य
प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टं निर्वपेद्" इति ।

प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ।
सारस्वतीम् ।

अनु.—सरस्वती-सम्बन्धी

याज्ञिक पढ़ते हैं—आहिताग्नि (अग्नि का आधान करने वाला) अपशब्द का प्रयोग करके सारस्वती इष्टि (सरस्वती सम्बन्धी यज्ञ) करें । हम प्रायश्चित के भागी न बनें इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिए । सारस्वती (प्रतीक की व्याख्या सम्पन्न हुई) ।

(भाष्यम्)

दशम्यां पुत्रस्य—

याज्ञिकाः पठन्ति—"दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरूषानूकमनरिप्रतिष्ठितम् । तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति । "द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम्" इति ।

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम् । दशम्यां पुत्रस्य ।

अनु.—पुत्र (के जन्म) का दसवां दिन–

याज्ञिक पढ़ते हैं।—(पिता) दसवें दिन के बाद उत्पन्न पुत्र का नामकरण करे । नाम का आदिवर्ण घोष तथा मध्यवर्ण अन्तःस्थ (होना चाहिए) । वह नाम स्वयं (पिता) के तीन पूर्व पुरुषों के नाम के सदृश हो तथा शत्रुओं में प्रसिद्ध न हो । ऐसा नाम अत्यन्त प्रतिष्ठित होता है । दो अक्षर या चार अक्षर वाला नाम रखना चाहिए जो कि कृदन्त हो, तद्धितान्त नाम नहीं रखना चाहिए।

व्याकरण ज्ञान के बिना कृत या तद्धित का ज्ञान संभव नहीं है । दशम्यां पुत्रस्य (प्रतीक की व्याख्या सम्पन्न हुई) ।

टिप्पणी—पतंजलि पुत्र के नामकरण जैसे लौकिक कार्य में भी व्याकरण के अध्ययन की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं । पुत्र का नाम कृत्-प्रत्ययान्त होना चाहिए । तद्धितान्त नाम रखना निषिद्ध है । कृत् और तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान व्याकरण से ही हो सकता है, अन्य शास्त्रों से नहीं । अतः व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

(भाष्यम्)

सुदेवो असि—

**'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः ।
अनु क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।।**

सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि । यस्य ते सप्तसिन्धवः सप्तविभक्तयः । अनुक्षरन्ति काकुदम् । काकुदं तालु काकुर्जिह्वा, सास्मिन् उद्यते इति काकुदम् । सूर्म्यं सुषिरामिव । तद्यथा शोभनाम् ऊर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति, एवं ते सप्तसिन्धवः सप्तविक्तयः ताल्वनुक्षरन्ति । तेनासि सत्यदेवः । सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् । सुदेवो असि।

अनु.—(हे वरुण) तुम सुदेव हो –

वरुण ! तुम सुदेव हो । तुम्हारी सात नदियाँ अनेक छिद्रों वाली लौह प्रतिमा की भाँति (स्थित) काकुद की ओर अभिस्रवण करती हैं ।

वरुण तुम सुदेव हो – सत्यदेव हो । तुम्हारी सात नदियाँ-सात विभक्तियाँ काकुद की ओर अभिस्रवण करती हैं । काकुद का अर्थ है तालु । काकु अर्थात् जिह्वा, वह जिसमें प्रेरित हो अथवा कही जाय उसे काकुद कहते हैं । बहुत छिद्रों वाली लौह प्रतिमा की तरह । वह इस प्रकार—जैसे बहुत छिद्रों वाली लौह प्रतिमा को अग्नि अन्तःप्रविष्ट होकर जलाती है—इसी प्रकार तुम्हारी सात नदियाँ—सात विभक्तियाँ तालु की ओर अभिस्रवण करती हैं । इसलिए (तुम) सत्यदेव हो । हम भी सत्यदेव हों, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए । सुदेवो असि (प्रतीक की व्याख्या सम्पन्न हुई) ।

टिप्पणी—यह मंत्र भी ऋग्वेद (8.69.12) से उद्धृत है । वरुण की स्तुति में प्रयुक्त इस मंत्र की व्याकरणाध्ययनपरक व्याख्या करके पतंजलि वरुण और वैयाकरण में साम्य दिखाते हैं । साधु शब्दों के प्रयोग से विनष्ट पापात्मक मल वाला वैयाकरण भी वरुण की भाँति स्वर्ग में निवास करता है ।

(उक्तप्रयोजनग्रन्थोपपत्तिप्रकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरिह व्याकरणमेव अधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनम् अन्वाख्यायते, नपुनरन्यदपिकिञ्चित्, ॐ इत्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्येवमादीन् शब्दान् पठन्ति ?

अनु.—(यहाँ प्रश्न उठता है कि आप) व्याकरण की जिज्ञासा वालों के लिये ही प्रयोजन का कथन क्यों करते हैं ? अन्य (वेदादि) शास्त्रों के प्रयोजन का कथन क्यों नहीं कर रहे हैं ? वे (वैदिक लोग तो बिना किसी उत्कंठा के) ॐ का उच्चारण करके (पाठ आरम्भ करते हैं और) प्रत्येक पाठ (प्रपाठक) के क्रम से 'शन्नो देवी' इत्यादि वाक्यों को पढ़ते हैं ।

(समाधानभाष्यम्)

पुराकल्प एतदासीत्-संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते । तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते । तदद्यत्वे न तथा वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति ।

वेदान्नो वैदिका शब्दाः सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः, 'अनर्थकं व्याकरणम्' इति तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽ- ध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे-इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणम्-इति ।

अनु.—(उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं कि) प्राचीन काल में यह नियम था कि संस्कार (उपनयन) के बाद ब्राह्मण व्याकरण पढ़ते थे । उन-उन (उच्चारण) स्थान, प्रयत्न (आभ्यंतर और बाह्य) को जानने वालों को वैदिक शब्दों का उपदेश दिया जाता था । आजकल वह बात नहीं रही । वेद पढ़कर उतावले वक्ता बन जाते हैं । हमें वेद से वैदिक शब्द सिद्ध हो गये तथा लोक से लौकिक शब्द-अतः व्याकरण (पढ़ना) बेकार है । इस प्रकार के विरुद्ध बुद्धि अध्येताओं का मित्र बनकर आचार्य इस शास्त्र का प्रतिपादन करते हैं कि ये प्रयोजन हैं जिनके लिये व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

NOTES

(अनुबन्धचतुष्टयोपसंहारभाष्यम्)

उक्तः शब्दः । स्वरूपमप्युक्तम् । प्रयोजनान्यप्युक्तानि ।

अनु.—शब्द कहा गया । (उस शब्द का) स्वरूप भी कहा गया । प्रयोजन भी कह दिये गये ।

टिप्पणी—विषय, संबंध, अधिकारी और प्रयोजन के कथन रूप अनुबंध चुष्टय का उपसंहार करते हुए भाष्यकार का कथन है कि **"लौकिकानां वैदिकानां च"** इस वचन से शास्त्र से विषय का प्रतिपादन किया गया है । **"अथ गौरित्यत्र कः शब्दः"** से शब्द स्वरूप भी बताया जा चुका है । प्रयोजन के साथ यहाँ विषय का कथन भी हो ही चुका है । इसी से संबंध और अधिकारी का भी कथन हो जाने के कारण उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया । **"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः"** इत्यादि वचन से फलानपेक्ष प्रवृत्तिमान् पुरुष ही व्याकरणाध्ययन का अधिकारी है, यह बात स्पष्ट ही है ।

(अथ शास्त्रनिर्माणरीतिनिरूपणभाष्यम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

शब्दानुशासनमिदानीं कर्त्तव्यम् । तत्कथं कर्त्तव्यम् ?

किं शब्दोपदेशः कर्त्तव्यः, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेशः इति ?

अनु.—(अनुबंध-चतुष्टय के निरूपण के अनंतर अब) शब्दानुशासन (व्याकरणशास्त्र का प्रतिपादन) करना चाहिए। किन्तु वह कैसे किया जाय ? शब्दों का उपदेश करना चाहिए अथवा अपशब्दों का या फिर दोनों का ?

टिप्पणी—लौकिक और वैदिक शब्दों का अनुशासन ही व्याकरणशास्त्र का प्रयोजन है यह बात भाष्यकार स्पष्ट कर चुके हैं । अब जब शब्दानुशासन की बारी आयी है तब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि शब्दानुशासन किस प्रकार किया जाय? इसके तीन पक्ष हो सकते हैं । या तो केवल साधु शब्दों का उपदेश कर दिया जाय या असाधु शब्दों का उपदेश कर दिया जाय या फिर साधु और असाधु दोनों ही शब्दों का उपदेश कर दिया जाय । इसमें से कौन सा अभीष्ट है यह बताने के लिये कहते हैं—

(समाधानभाष्यम्)

अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात् । तद्यथा भक्ष्यनियमेन अभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते । 'पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः' इत्युक्ते गम्यत एतद्-अतोऽन्येऽभक्ष्या इति । अभक्ष्य- प्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः । तद्यथा "अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः अभक्ष्यो ग्राम्य सूकरः" इत्युक्ते गम्यत एतद् आरण्यो भक्ष्य इति । एवमिहापि । यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन् उपदिष्टे गम्यत एतद्-गाव्यादयाऽपशब्दा इति । अथाऽप्यपशब्दोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्-गौरित्येष शब्द इति ।

अनु.—किसी एक के उपदेश से (भी) कार्य हो जायेगा । जैसे भक्ष्य के नियम से अभक्ष्य का प्रतिषेध समझ लिया जाता है । 'पाँच नख वाले पाँच ही भक्ष्य हैं' ऐसा कह देने से यह ज्ञात हो जाता है

कि इससे अतिरिक्त अभक्ष्य हैं । (इसी प्रकार) अभक्ष्य के प्रतिषेध से भक्ष्य का नियम (हो जाता है) । जैसे—"गाँव का मुर्गा अभक्ष्य है, गाँव का सुअर अभक्ष्य है" यह कह देने से यह (स्वयं, समझ में आ जाता है कि "जंगली मुर्गा और जंगली सुअर भक्ष्य हैं ।" इसी प्रकार यहाँ भी (किसी एक के उपदेश से दूसरे का बोध हो जायेगा) । यदि (साधु) शब्दों का उपदेश करते हैं तो 'गौः' इसके उपदेश से यह बोध हो जायेगा कि "गावी" आदि अपशब्द हैं । यदि अपशब्दों का उपदेश करते हैं तो "गावी" आदि के उपदेश से यह समझा जा सकता है कि "गौः" यह (साधु) शब्द है ।

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरत्र ज्यायः ?

अनु.—यहाँ (इस शब्दोपदेश अथवा अपशब्दोपदेश में) कौन श्रेष्ठ है , (शब्दोपदेश या फिर अपशब्दोपदेश ?) ।

(समाधानभाष्यम्)

लघुत्वाच्छब्दोपदेशः ।

लघीयान् शब्दोपदेशः । गरीयानपशब्दोपदेशः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी-गोता-गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति ।

अनु.—लाघव के कारण (साधु) शब्दोपदेश (करना चाहिए) ।

शब्दोपदेश अत्यन्त लघु है । अपशब्दोपदेश अत्यन्त विशाल है । (क्योंकि) एक-एक शब्द के बहुत अपभ्रंश हैं । जैसे—"गौः" इस (एक साधु शब्द के) गावी-गोणी-गोता-गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश हैं । (साधु-शब्दोपदेश से) अभिलषित का कथन भी होगा ।

टिप्पणी—किसी एक के उपदेश से शब्दानुशासन संभव है इस निर्णय के बाद यह समस्या उठाते हैं कि साधु और असाधु शब्दों में से आखिर उपदेश किया किसका जाय और समाधान देते हैं कि अत्यन्त लाघव होने के कारण साधु शब्दों का ही उपदेश करना चाहिए । अगर अपशब्दों का उपदेश किया जायेगा तो इसमें गौरव यह है कि एक एक शब्द के अनेक अपभ्रंश हैं और इन अनेक के उपदेश से एक साधु शब्द का बोध होगा । अतः वह प्रक्रिया गौरवग्रस्त होने के कारण त्याज्य है । साधु शब्दों के उपदेश में दूसरा सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह उपदेष्टा के लिये धर्मजनक होगा तथा श्रोता को इसके अभिलषित शब्द का शीघ्र बोध भी हो जायेगा । अतः वही करना चाहिए ।

शब्दोपदेश की कर्त्तव्यता निर्धारित हो जाने के बाद अगली समस्या उठाते हैं कि क्या प्रत्येक शब्द का पाठ यहाँ आवश्यक है ? अथवा कोई अन्य विधि अपनानी पड़ेगी—

(आक्षेपभाष्यम्)

अथैतस्मिन् शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्त्तव्यः । गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः ?

अनु.—अब इस शब्दोपदेश की कर्तव्यता निर्धारित हो जाने पर शब्दों के ज्ञान के लिये क्या प्रत्येक पद का पाठ करना चाहिए। गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः इत्यादि शब्द पढ़ना (गिनाना) चाहिऐ ?

(समाधानभाष्यम्)

नेत्याह । अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः । एवं हि श्रूयते—"बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम" । बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो, न चान्तं जगाम, किं पुनरद्यत्वे । यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति । चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति । तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात् । तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः ।

अनु.—नहीं । शब्दों के ज्ञान के लिए प्रत्येक पद का पाठ करना उपाय नहीं हो सकता । ऐसा सुना जाता है— "बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्य एकसहस्र वर्ष तक प्रतिपदोक्त शब्दों का पारायण सुनाया किन्तु पूर्ण नहीं कर पाये" । बृहस्पति जैसा वक्ता, इन्द्र जैसा अध्येता और दिव्य एकसहस्र वर्ष का समय, फिर भी अंत नहीं हुआ । तब आज के समय में क्या कहना । जो बहुत जीवित रहता है-वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है । चार प्रकारों से विद्या फलवती होती है—(गुरु मुख से) अध्ययन करने से, (गुरु से सुने हुए पाठ का) अभ्यास करने से, अध्यापन से तथा (यज्ञ आदि कर्म में) प्रयोग से । (यदि प्रतिपदपाठ करते हैं तब तो) अध्येता की पूरी आयु (गुरु से) अध्ययन करने में ही समाप्त हो सकती है । इसलिये शब्दों के ज्ञान में प्रतिपद पाठ उपाय नहीं हो सकता ।

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ?

अनु.—तो फिर इन शब्दों का प्रतिपादन कैसे किया जाय ?

(समाधानभाष्यम्)

किञ्चित् सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम् । येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् ।

किं पुनस्तत् ?

उत्सर्गापवादौ । कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः कश्चिदपवादः ।

अनु.—कोई सामान्य-विशेष से युक्त लक्षण (शास्त्र) बनाया जाय जिससे स्वल्प प्रयत्न से यह बड़ी-बड़ी राशि प्रतिपादित की जा सके।

(सामान्य-विशेष से युक्त) वह (शास्त्र) क्या है ?

टिप्पणी—जो शब्द स्वरूपतः किये गये उपदेश से नहीं जाने जा सकते उनके ज्ञान के लिये कोई ऐसा उपाय सोचना होगा जिससे थोड़े प्रयास में महान् शब्दराशि का ज्ञान हो सके । इसी उपाय का अन्वेषण भाष्यकार 'उत्सर्ग और अपवाद' के रूप में करते हैं ।

(समाधानभाष्यम्)

सामान्येनोत्सर्गः कर्त्तव्यः । तद्यथा 'कर्मण्यण्' ।

तस्य विशेषेणापवादः । तद्यथा 'आतोऽनुपसर्गे कः' ।

अनु.—सामान्य रूप से उत्सर्ग करना चाहिए । जैसे 'कर्मण्यण्' (पा. 3.2.1) । इसका विशेष (कथन) से अपवाद (करना चाहिए) । जैसे 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा. 3.2.3) ।

टिप्पणी—'उत्सर्ग' का अभिप्राय समान्यविधि से है । पाणिनि प्रथमतः उत्सर्ग के माध्यम से सामान्य का विधान करके विशेष के माध्यम से विशेष विधि की व्यवस्था करते हैं । जैसे 'कर्मण्यण्' यह उत्सर्गविधि है । इस सूत्र का अर्थ यह है कि कर्म उपपद रहते धातु से कर्त्ता में 'अण्' प्रत्यय होता है । इस प्रकार 'कुम्भं करोति' में 'कुम्भ' उपपद रहते 'कृ' धातु से अण् प्रत्यय होकर 'कुम्भकारः' शब्द बनता है । परन्तु 'गां ददाति' में गो रूप कर्म के रहते 'दा' धातु से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय के स्थान पर 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस अपवाद सूत्र से 'क' प्रत्यय करके 'गोदः' रूप बनता है । अपवाद विधि से उत्सर्गविधि बाधित हो जाती है । इसी विधि का उल्लेख पतंजलि शब्दज्ञान के उपायरूप में करते हैं।

(जातिव्यक्तिपदार्थनिर्णयाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनराकृतिः पदार्थः, आहोस्विद्द्रव्यम् ?

अनु.—इन उत्सर्गापवादघटक पदों का क्या आकृति (जाति) पदार्थ है अथवा द्रव्य (व्यक्ति) ?

(समाधानभाष्यम्)

उभयमित्याह।

कथं ज्ञायते ?

उभयथा हि आचार्येण सूत्राणि पठितानि ।

आकृतिं पदार्थं मत्वा "जात्याख्यामामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" इत्युच्यते । द्रव्यं पदार्थं मत्वा "सरूपाणाम्" इत्येकशेष आरभ्यते ।

अनु.—(जाति और द्रव्य) दोनों हैं ।

यह कैसे ज्ञात होता है ?

दोनों को ही (पदार्थ मानकर) आचार्य पाणिनि ने सूत्रों का पाठ किया है । जाति को पदार्थ मानकर "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यरस्याम् (पा.1.2.58) सूत्र कहा गया है । द्रव्य को पदार्थ मानकर" सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (9.2.64) यह एकशेष शास्त्र बनाया गया है ।

टिप्पणी—पदार्थ का मतलब है किसी भी पद का अर्थ । पद के उच्चारण के अनंतर इससे प्रतीत होने वाले अर्थ को लेकर प्रायः तीन मत प्रचलित हैं । कुछ का मानना है कि पदार्थ केवल 'जाति' है । शब्द से इसी का प्रतिपादन होता है क्योंकि व्यक्तियों की अनन्तता के कारण इनके संबंध का ग्रहण

असंभव हो जायेगा । जाति तो सभी द्रव्यों में एकाकार रहती है । जाति के आवेश से इससे अवच्छिन्न (युक्त) द्रव्य प्रतीत हो जाता है ।

दूसरे द्रव्य या व्यक्ति पदार्थवादी द्रव्य को ही पदार्थ मानते हैं । इनके अनुसार व्यक्ति के ज्ञान से इसमें समवेत जाति का भान हो जाता है ।

तीसरे उभयपदार्थवादी हैं । यह मत वैयाकरणों का है । पाणिनि ने 'जात्याख्यायाम्' सूत्र से जातिवाचक शब्द से एकत्व अभिप्रेत होने पर 'सम्पन्नो ब्रीहिः' 'गौः पूज्या' जैसे स्थलों में बहुवचन का भी विधान किया है । फलतः 'सम्पन्नाः व्रीह्यः' और गावः पूज्याः जैसे प्रयोग बन जाते हैं । अगर आचार्य को जाति पदार्थ अभीष्ट न होता तो इन स्थलों में व्यक्ति बहुत्व से ही बहुवचन सिद्ध होने के कारण पृथक् सूत्र न लिखते । इसी प्रकार केवल जाति पदार्थ अभीष्ट होने पर 'सरूपाणाम्' सूत्र लिखकर एक समान विभक्ति परतः समानरूप वाले शब्दों से एकशेष न करते । अतः यह सिद्ध हो जाता है कि आचार्य पाणिनि को दोनों ही पदार्थ अभीष्ट हैं ।

(शब्दनित्यत्वानित्यवविचारभाष्यम्)

(समाधानभाष्यम्)

किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहोस्वित् कार्यः ?

अनु.—शब्द नित्य है, अथवा कार्य ?

टिप्पणी—शब्द के नित्यत्व एवं अनित्यत्व का विचार करके ग्रंथकार व्याकरण शास्त्र सम्मत शब्दस्वरूप के निर्धारण का उपक्रम करते हैं । मीमांसकों के अनुसार ध्वनि से व्यंग्य वर्णात्मक शब्द नित्य है । शब्दों के नित्य होने से व्याकरणशास्त्र व्यर्थ हो जाता है । वैयाकरण पदस्फोट एवं वाक्य स्फोट में ही शब्द व्यवहार करते हैं । वैशेषिक आदि में कादिरूप ध्वनि ही शब्द कही जाती है । पतंजलि व्याकरण सम्मत स्वरूप का निरूपण आगे करते हैं ।

(समाधानभाष्यम्)

सङ्ग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्-नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति । तत्रोक्ता दोषाः प्रयोजनान्यप्युक्तानि । तत्र त्वेष निर्णयः यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति ।

अनु.—संग्रह ग्रंथ में इस विषय पर प्रमुख रूप से विचार हुआ है (कि) शब्द नित्य है या कार्य । वहाँ दोष भी कहे गये हैं और प्रयोजन भी । वहाँ यही निर्णय दिया गया है—(शब्द) यदि नित्य है तो कार्य भी है (अतः) नित्य और कार्य दोनों ही पक्षों में व्याकरण के लक्षण (सूत्रों) को प्रवर्तित करना चाहिए ।

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं पुनरिदं भगवता पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम् ?

अनु.—(तब) भगवान् आचार्य पाणिनि का शास्त्र कैसे प्रवृत्त हुआ है ?

NOTES

(आक्षेपसाधकवार्त्तिकप्रथमखण्डम्)

।। सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ।।

अनु.—शब्दार्थ-संबंध के सिद्ध (नित्य) होने पर ।

टिप्पणी—भाष्यकार नित्य और कार्य दोनों ही प्रकार के शब्दों में पाणिनीय सूत्रों की प्रवृत्ति बताने के लिये मुनि कात्यायन के वार्तिक खण्ड को उद्धृत करते हैं । सम्पूर्ण वार्त्तिक "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धेलोकतोऽर्थप्रयुक्ते शास्त्रेण धर्मनियमो यथा लौकिकवैदिकेषु" है । जिसे प्रसंगानुसार आगे खंडशः उद्धृत किया गया है । वार्तिक में "शब्दश्च अर्थश्च सम्बन्धश्चेति शब्दार्थसम्बन्धम्, तस्मिन् शब्दार्थसम्बन्धे" इस समाहारद्वन्द्व के आश्रय से नित्यत्व और अवियोगत्व दिखाया गया है ।

(व्याख्याभाष्यम्)

सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ।

अनु.—शब्द, अर्थ तथा संबंध के सिद्ध होने पर ।

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ सिद्ध शब्दस्य कः पदार्थः ?

प्रदीपः—सिद्धशब्दस्य नित्यानित्ययोर्दर्शनात् पृच्छति-अथेति ।

अनु.—अच्छा तो सिद्ध शब्द का क्या पदार्थ है ?

टिप्पणी—'अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः' में पदार्थ शब्द रूढ़ है । इसका आशय सिद्ध शब्द संबंधी पदार्थ से है ।

(समाधानभाष्यम्)

नित्यपर्यायचवाची सिद्धशब्दः ।

कथं ज्ञायते ?

यत्कूटस्थेषु अविचालिषु भावेषु वर्तते । तद्यथा—सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति।

अनु.—सिद्ध शब्द नित्य का पर्यायवाची है ।

यह कैसे ज्ञात हुआ ?

क्योंकि (सिद्ध शब्द) कूटस्थ (अविनाशी) और अविचाली भावों में प्रयुक्त होता है । जैसे-सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धम् आकाशम् । (इस प्रकार के प्रयोग प्राप्त होते हैं जिनमें सिद्ध शब्द से इनकी नित्यता कही जाती है ।)

टिप्पणी—सिद्ध शब्द, नित्य लक्षण अर्थ का पर्याय रूप से वाचक है । जिस अर्थ का अभिधान सिद्ध शब्द करता है उसी का अभिधान नित्य शब्द भी करता है । 'कूटस्थ' शब्द में 'कूट' का अर्थ है 'अयोधन' निहाई (लोहे का बड़ा टुकड़ा जिस पर लोहा रखकर लोहकार कूटता है) । उसकी तरह संसर्गी का विनाश हो जाने पर भी स्थित रहने वाला 'कूटस्थ' अर्थात् 'अविनाशी' कहलाता है । 'अविचाली' वह तत्त्व है जिसकी देशान्तर-प्राप्ति असंभव हो ।

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु च भोः ! कार्येष्वपि वर्तते । तद्यथा-सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति । यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम्, न पुनः कार्ये यः सिद्धशब्द इति ?

अनु.—हे महाशय ! यह सिद्ध शब्द केवल नित्य अर्थ का वाचक नहीं है (अपितु) कार्य (अनित्य, निष्पाद्य अर्थों) में भी प्रयुक्त होता है जैसे–'ओदनः सिद्धः' 'सूपः सिद्धः' 'यवागू सिद्धा' इत्यादि । चूंकि (इस सिद्ध शब्द का प्रयोग) कार्य अर्थों में भी होता है तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि यहाँ नित्य पर्यायवाची (सिद्ध शब्द) का ही ग्रहण है, कार्य अर्थ में जो सिद्ध शब्द है उसका नहीं ?

(समाधानभाष्यम्)

सङ्ग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावात् मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति । इहापि तदेव ।

अनु.—(व्याडिकृत) संग्रह ग्रन्थ में (सिद्ध शब्द का) कार्य के प्रतिद्वन्द्वी विरोधी अर्थात् नित्य) के अर्थ में प्रयोग होने के कारण हम मानते हैं कि नित्य पर्यायवाची सिद्ध शब्द का ग्रहण वहाँ हुआ है । यहाँ भी वही है ।

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि । तद्यथा- अब्भक्षो वायुभक्ष इति-अप एव भक्षयति-वायुमेव भक्षयतीति गम्यते। एवमिहापि सिद्ध एव, न साध्य इति ।

अनु.—अथवा कहीं कहीं केवल एक ही पद से निश्चित अर्थ का ज्ञान होता है । जैसे- 'अब्भक्षः' और 'वायुभक्षः' इत्यादि कहने से केवल जल ही पीता है, केवल वायु ही खाता है ऐसा प्रतीत होता है । (ठीक) इसी प्रकार यहाँ– (इस) वार्तिक में जो सदा सिद्ध ही है साध्य नहीं (इस अर्थ का) बोध होता है ।

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः-अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति । तद्यथा-देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति ।

अनु.—अथवा (सिद्धे) इस पद में पूर्वपद का लोप (हुआ है, यह) समझना चाहिए । यहाँ 'अत्यंतसिद्ध' शब्द है (इसके पूर्वपद अत्यन्त का लोप करके) 'सिद्धे' बना है । जैसे-देवदत्त के लिये 'दत्त' तथा सत्यभामा के लिए 'भामा' का प्रयोग होता है ।

NOTES

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः।

अनु.—अथवा (आचार्यों द्वारा किये गये सयुक्तिक) व्याख्यान से विशेष ज्ञान (करना चाहिए) । सन्देह होने मात्र से (कोई लक्षण) अलक्षण नहीं हो जाता । अत: यहाँ नित्य पर्यायवाची सिद्ध शब्द का ही ग्रहण है, यह व्याख्यान (द्वारा सिद्ध) करेंगे ।

टिप्पणी—यहाँ 'व्याख्यान' का अर्थ है न्याय । सन्देह होने पर आचार्यों द्वारा उपस्थापित न्याय का आश्रय लेकर उचित अर्थ का निर्धारण कर लेना चाहिए । वृद्ध व्यवहार से ही पदार्थों के संबंध की नित्यता का प्रतिपादन संग्रह आदि ग्रंथों में किया गया है । अत: यहाँ सिद्ध शब्द से वही अभीष्ट है ।

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरनेन वर्ण्येन । किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात् ?

अनु—तब फिर (आचार्य कात्यायन ने अपने वार्तिक में) इस प्रयत्नव्याख्यातव्य (सिद्ध) शब्द का प्रयोग क्यों किया ? अपने महान् कंठ से "नित्य" शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं किया, जिससे सन्देह उपस्थित ही न होता ?

(समाधानभाष्यम्)

माङ्गलिक मङ्गलार्थम् । आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दम् आदितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था । यथा स्युरिति ।

अनु—मंगल के लिये । मंगल करने के लिये तत्पर आचार्य ने अपने वार्त्तिकों के विशाल समूह के मंगल के लिए सिद्ध शब्द का प्रयोग पहले किया है । (जिनके) आदि में मंगल होता है वे शास्त्र प्रसिद्ध होते हैं—वीरपुरुष वाले तथा दीर्घायु पुरुषों वाले होते हैं तथा अध्येता सफल मनोरथ वाले होते हैं।

टिप्पणी—'माङ्गलिक' का तात्पर्य है—मंगल-प्रयोजन आचार्य । वार्त्तिक लिखने को उद्यत आचार्य यद्यपि 'सिद्ध' शब्द की जगह 'नित्य' शब्द का प्रयोग कर सकते थे परन्तु इससे मंगलाचरण का निर्वाह न होता 'सिद्ध' शब्द के प्रयोग से मंगलाचरण का निर्वाह तथा नित्य अर्थ का द्योतन दोनों ही हो जाते हैं । अत: 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग आचार्य ने किया है । निष्कर्ष यह हुआ कि 'सिद्ध' शब्द स्वरूपत: मंगलाचरण के लिये तथा अर्थत: नित्यत्वबोधन के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

(समाधानभाष्यशेषभाष्यम्)

अयं खलु नित्यशब्दो नाऽवश्यं कूटस्थेषु अविचालिषु भावेषु वर्तते । किं तर्हि ?

आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते । तद्यथा नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति । यावता आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते । तत्राप्यनेनैवाऽर्थः स्यात्–"व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति" । पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति । अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्दः ।

अनु–यह नित्य शब्द केवल कूटस्थ और अविचाली भावों में ही प्रयुक्त नहीं होता । तो फिर (अन्य किस अर्थ में प्रयुक्त होता है) ? आभीक्ष्ण्य (बहुतायत) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । जैसे–नित्य प्रहसित (बहुतायत हँसता रहने वाला) नित्य प्रजल्पित (प्रायः बड़बड़ाते रहने वाला) । जब यह शब्द आभीक्ष्ण्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है तो वहाँ भी "व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिः" परिभाषा से ही प्रयोजन सिद्ध होता है । आचार्य देखते हैं कि मंगलार्थक सिद्ध शब्द आदि में प्रयुक्त होगा, मैं इसे नित्य पर्याय के रूप में कहने में सफल रहूँगा । इसलिये सिद्ध शब्द का प्रयोग किया न कि नित्य शब्द का।

(नित्यतासाधकपक्षनिर्णयाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ कं पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ?

अनु–(जाति और व्यक्ति में से) पद का कौन सा अर्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है–'सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति'

(समाधानभाष्यम्)

आकृतिमित्याह ।

कुत एतत् ?

आकृतिर्हि नित्य द्रव्यमनित्यम् ।

अनु–आकृति (जाति) को

वह कैसे ?

आकृति (जाति) नित्य है और द्रव्य अनित्य ।

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्त्तव्यः ?

अनु–तो द्रव्य को पदार्थ मानने पर कैसा विग्रह करना होगा ?

(समाधानभाष्यम्)

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे चेति । नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः ।

अनु–सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च (शब्द तथा अर्थ संबंध के नित्य रहने पर, ऐसा विग्रह करना होगा)।

टिप्पणी–जाति को पदार्थ मानकर किया गया विग्रह द्रव्य (घट, पट आदि) पक्ष में उपयोगी नहीं होगा । अतः इसके लिए "सिद्धे" शब्दे अर्थसम्बन्धे' यह विग्रह देते हैं । आशय यह है कि द्रव्य पक्ष में अर्थ का ग्रहण सम्बन्ध के विशेषण के रूप में किया गया है । जब द्रव्य को पदार्थ माना जायेगा तब अर्थ के अनित्य होने पर भी नित्य शब्द का अर्थ से सम्बन्ध तो नित्य होगा ही क्योंकि सम्बन्ध योग्यता रूप है, योग्यता का आश्रय शब्द है और वह नित्य है ।

(द्रव्यपदार्थाभ्युपगमभाष्यम्)

अथवा द्रव्य व पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः–'सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति' । द्रव्यं हि नित्यम् आकृतिरनित्या।

कथं ज्ञायते ?

एवं हि दृश्यते लोके मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते । तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रूचकाः क्रियन्ते, रूचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते । पुनरावृतः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः । आकृतिरन्या च अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।

अनु–अथवा द्रव्य को पदार्थ मानने पर भी यही विग्रह उचित होगा–"सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च" । क्योंकि द्रव्य नित्य है और आकृति अनित्य है । यह कैसे जाना जाय (कि आकृति अनित्य है)?

लोक में ऐसा देखा जाता है कि किसी विशेष आकृति से युक्त मिट्टी 'पिण्ड' कहलाती है । इस पिण्ड रूप आकृति को मिटाकर घटिका (गगरी) बनाई जाती है । घटिका रूप आकृति को मिटाकर 'कुण्डिका' बनाई जाती है । इसी प्रकार किसी विशेष आकृति से युक्त सुवर्ण 'पिण्ड' कहलाता है । 'पिण्ड' रूप आकृति को मिटाकर 'रूचक' (आभूषणविशेष) बनाए जाते हैं । (रूचक से) पुनः पिण्ड रूप में प्राप्त सुवर्ण पुनः दूसरी आकृति से युक्त हो खैर के अंगार के समान दो कुण्डल बन जाते हैं । आकृति दूसरी-दूसरी बनती जाती है, द्रव्य तो वही रहता है । आकृति के नष्ट हो जाने से द्रव्य ही बचता है ।

टिप्पणी–प्रकृत प्रकरण में द्रव्य को नित्य तथा आकृति को अनित्य बताते हुए पतंजलि असत्य उपाधि से अवच्छिन्न (युक्त) ब्रह्मतत्त्व को संकेत करते हैं । "आत्मैवेदं सर्वम्" जैसे श्रुतियों के अनुसार ब्रह्मतत्त्व कम्बु-ग्रीवा आदि आकार वाले पदार्थों अथवा इनसे व्यंग्य घटत्व आदि जाति रूप असत्य उपाधियों से अवच्छिन्न होकर अवस्थित है । वह ब्रह्म नित्य है और आकृतियाँ अनित्य । ब्रह्म यहाँ द्रव्यस्थानीय है जो नित्य है तथा गोत्व आदि जातियाँ तथा घट आदि आकृतियाँ दोनों ही अनित्य हैं।

NOTES

(आकृतिपदार्थाभ्युपगमभाष्यम्)

आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः-सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति ।

अनु—और आकृति को पदार्थ मान लेने पर भी यही विग्रह उचित है—'शब्द', अर्थ और दोनों के सम्बन्धों के सिद्ध रहने पर ।

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—आकृतिरनित्या इति ।

अनु—महाशय! आपने तो कहा था—आकृति अनित्य है ?

(समाधानभाष्यम्)

नैतदस्ति । नित्याऽऽकृतिः ।

कथम्?

न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति । द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते ।

अनु—ऐसा नहीं है । आकृति नित्य है ।

कैसे?

(वह आकृति) कहीं पर नष्ट हो जाने से सर्वत्र नष्ट नहीं हो जाती । दूसरे द्रव्यों में तो उपलब्ध होती ही है ।

टिप्पणी—घट, पट आदि व्यक्तियों का एक जगह विनाश हो जाने से यद्यपि घटत्व या पटत्व जाति स्पष्ट रूप से वहाँ भासित नहीं होती तथापि विद्यमान घट या पट आदि में वह अभिव्यक्त रहती है । अस्तु यह सिद्ध है कि व्यक्ति के नाश से जाति का विनाश नहीं होता ।

(समाधानसाधकनित्यलक्षणभाष्यम्)

अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्-ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजन-विकार्यनुत्पत्यवृद्ध्यव्यययोगि यत् तन्नित्यमिति । तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते ।

किं पुनस्तत्त्वम् ?

तस्य भावस्तत्त्वम् । आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते ।

अनु—अथवा नित्य का यही लक्षण नहीं है कि जो ध्रुव, कूटस्थ, अविचाली, अनपाय, अनुपजन, अविकारी, उत्पत्ति रहित, वृद्धिरहित और व्यय रहित हो वही नित्य है । नित्य तो वह भी है (जिसके नष्ट हो जाने पर भी) इसमें रहने वाला तत्त्व (उसका धर्म) नष्ट नहीं होता ।

यह तत्त्व क्या है ?

उसका भाव (धर्म ही) तत्त्व कहलाता है । आकृति में भी तत्त्व नष्ट नहीं होता । (अतः वह नित्य है) ।

(नित्यानित्यत्वविचारस्याप्रकृतत्वबोधकभाष्यम्)

अथवा किं न एतेन–इदं नित्यम् इदम् अनित्यमिति । यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते–सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।

अनु–अथवा हमारा इससे (क्या प्रयोजन है कि)–यह नित्य है और यह अनित्य । जो नित्य है उसे ही पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है–"सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे च" ।

टिप्पणी–साधु शब्दों के व्युत्पादन के लिये प्रवृत्त होने के कारण हमारा नित्यत्व और अनित्यत्व से कोई लेना देना नहीं है । व्यक्ति आकृति और जाति में से जो भी नित्य है उसी के आधार पर हमारा यह विग्रहवाक्य दिया गया है ।

वैयाकरण बाह्य पदार्थ को शाब्दबोध में कारण न मानकर बौद्धपदार्थ को ही कारण मानते हैं । इससे शशशृंग और वन्ध्यापुत्र जैसे स्थलों में भी शब्दोच्चारण के अनंतर अर्थ के बहिष्ठ होने या न होने पर भी बुद्धि के अर्थाकार हो जाने से शाब्दबोध में कोई बाधा नहीं आती । प्रवाहनित्यता के आधार पर वैयाकरण बौद्ध पदार्थ की भी नित्यता प्रमाणित करते हैं ।

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कथं पुनर्ज्ञायते-सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति ?

अनु–यह कैसे जाना जाता है (कि) शब्द अर्थ और (इनका) सम्बन्ध नित्य होता है ?

(प्रत्याक्षेपसमाधानवार्तिकद्वितीयखण्डम्)

॥ लोकतः ॥

अनु–लोक (व्यवहार) से

(भाष्यम्)

यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति । ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत् तेषां यत्नः क्रियते । तद्यथा-घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाऽऽह–कुरु घटं, कार्यमनने करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षुमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाऽऽह–कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति । तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते ।

अनु–लोक में प्रत्येक अर्थ को लेकर (इसके लिये पृथक्-पृथक्) शब्दों का प्रयोग किया जाता है । (किन्तु) इन शब्दों की निष्पत्ति (गढ़ने) का प्रयत्न नहीं किया जाता । (वास्तव में जो वस्तु) कार्य (अनित्य) भाव होते हैं–उनकी निष्पत्ति में प्रयास किया जाता है । जैसे–घट से कार्य करने वाला कुम्हार के घर जाकर कहता है–घड़ा बनाओ, मैं इससे कार्य करूँगा । इस प्रकार शब्दों के प्रयोग का इच्छुक वैयाकरण के घर जाकर नहीं कहता कि शब्द बनाओ मैं प्रयोग करूँगा । (वह तो बुद्धि से) अर्थ का ग्रहण करके शब्दों का प्रयोग करता है ।

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)–

यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते ?

अनु—अगर लोक व्यवहार ही इस (शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध की नित्यता) में प्रमाण है तो यह शास्त्र क्या करता है ?

(समाधानभूतं तृतीयं खंण्डम्)

॥ लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ॥

अनु—लोक व्यवहार से अर्थ बोध के लिये प्रयुक्त शब्दों के प्रयोग में शास्त्र धर्मनियम (करता है)।

(भाष्यम्)

लोकतेऽर्थप्रयुक्ते शंब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते ।

किमिदं धर्मनियम इति ?

धर्माय नियमो धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमो धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः।

अनु—लोक द्वारा अर्थ बोध के लिये प्रयुक्त शब्दों में शास्त्र 'धर्मनियम' करता है ।

यह धर्मनियम क्या है ?

धर्म के लिये नियम या धर्मोपयोगी नियम या फिर धर्मप्रयोजननियम ।

टिप्पणी—पतंजलि ने ऊपर कहा था कि व्याकरण शब्दों को निष्पन्न नहीं करता । इससे यह शंका स्वाभाविक हो जाती है कि अगर व्याकरण शब्दों का निष्पादक नहीं है तो फिर इसका प्रयोजन क्या है ? उत्तर में पतंजलि ने कहा है कि लोक व्यवहार से अर्थज्ञान् के लिये प्रयुक्त शब्दों में शास्त्र 'ध ार्मनियम' करता है । 'धर्मनियम' शब्द के भाष्य में प्रदर्शित चार विग्रह संभव हैं ? इनमें से कौन सा स्वीकार्य है इसी का उत्तर देते हैं—

(वार्त्तिकचतुर्थखण्डम्)

॥ यथा लौकिकवैदिकेषु ॥

अनु—जैसा लौकिक और वैदिकों में (नियम किया जाता है)

(भाष्यम्)

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये "यथा लौकिकवैदिकेष्विति" प्रयुञ्जते । अथवा युक्त एवात्र तद्धितार्थः, यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु । लोके तावद् 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकर' इत्युच्यते । भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतीघातार्थमुपादीयते, शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम् । तत्र नियमः क्रियते—इदं भक्ष्यम् इदम् अभक्ष्यम् इति । तथा खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति । समानश्च खेदविषयो गम्यायां च अगम्यायां च ।

अनु—दाक्षिणात्य (दक्षिण के रहने वाले) तद्धितप्रिय होते हैं । 'लोक के वेद में' बोलने के स्थान पर "लौकिक में वैदिक में" बोलते हैं । अथवा यहाँ तद्धित के अर्थ का प्रयोग उचित है । जैसे—लौकिक और वैदिक सिद्धान्तों में । लोक में "गांव का मुर्गा नहीं खाना चाहिए", "गाँव का सुअर नहीं खाना चाहिए" यह कहा जाता है । भक्ष्य तो भूख के विनाश के लिये लिया जाता है । भूख तो कुत्ते के माँस से भी मिटायी जा सकती है । यहाँ (शास्त्र द्वारा) नियम किया जाता है— यह खाने योग्य है, यह खाने योग्य नहीं है । इसी प्रकार खेद (विषयों के प्रति राग अथवा इन्द्रिय नियमन में असामर्थ्य) से (पुरुष की) स्त्रियों में प्रवृत्ति होती है । खेद की शान्ति गम्या और अगम्या दोनों प्रकार की स्त्रियों में समान ही होती है । वहाँ नियम किया जाता है– यह गम्या है, यह अगम्या ।

(भाष्यम्)

वेदे खल्पपि "पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः" इत्युच्यते । व्रतं च नाम अभ्यवहारार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन शालिमांसादीन्यपि व्रतयितुम् । तत्र नियमः क्रियते । तथा—"वैल्वः खादिरो वा यूपः स्याद्" इत्युच्यते ? यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन यत्किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्य अनुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्धुम् । तत्र नियमः क्रियते ।

तथा "अग्नौ कपालान्यधिश्रित्य अभिमन्त्रयते—भृगूणामङ्गिरसां धर्मस्य तपसा तप्यध्वम्" इति । अन्तरेणाऽपि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि सन्तापयति । तत्र च नियमः क्रियते—एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ।

अनु.—वेद में भी (यह नियम प्रवृत्त होता है)—ब्राह्मण पयोव्रत, क्षत्रिय यवागू (लपसी) व्रत तथा वैश्व आमिक्षा (छेना) व्रत हो, ऐसा कहा जाता है । व्रत शब्द भोजन के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इन (ब्राह्मण आदि के द्वारा) शालिधान्य (अगहनी चावल) तथा मांस के द्वारा भी व्रत किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में यहाँ नियम किया जाता है । इसी प्रकार बिल्व अथवा खदिर का बना यूप होना चाहिए, ऐसा कहा जाता है । यूप (यज्ञ) पशु के अनुबन्धन के लिये होता है । पशु का अनुबंधन तो किसी भी लकड़ी को छीलकर या बिना छीले (यूप बनाकर) किया जा सकता है । वहाँ नियम किया जाता है । जैसे-अग्नि पर कपाल (मिट्टी का पात्र) रखकर "भृगूणाम् अङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" इस मंत्र से उन्हें अभिमंत्रित किया जाता है । अगर इस मंत्र से अभिमंत्रित न किया जाय तो भी ज्वलनशील अग्नि इन कपालों को संतप्त करता है । वहाँ नियम किया जाता है—इस प्रकार (अभिमंत्रित) किया जाने वाला कर्म-अभ्युदयकारक होता है।

(दार्ष्टान्तिक उपसंहारभाष्यम्)

एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते—शब्देनैव अर्थोऽभिध ेयः नापशब्देन इति । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ।

अनु.—इसी प्रकार यहाँ शब्द और अपशब्द दोनों से समान अर्थावगति होने पर भी धर्म का नियम किया जाता है—शब्द से ही अर्थ कहा जाना चाहिए न कि अपशब्द से । इस प्रकार किया जाने वाला (साधु शब्द का प्रयोग) अभ्युदयकारी होता है ।

टिप्पणी—भाष्य में अनेक लौकिक और वैदिक दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया गया है कि सर्वत्र शास्त्र धर्मनियम करता है । इसी प्रकार साधु शब्दों और अपशब्दों दोनों ही से अर्थबोध होता है । परन्तु यहाँ व्याकरणशास्त्र नियम करता है कि साधु शब्दों से अर्थ का अभिधान करना चाहिए । ऐसा करना अभ्युदय कारक होता है । अब जब व्याकरण साधु शब्दों के प्रयोग का नियम करता है तब यह जिज्ञासा होती ही है कि साधु शब्द कौन है ? इस जिज्ञासा के शमन के लिये व्याकरण साधु शब्दों का निष्पादन और धर्म नियम करता है ।

(अनुपलब्धप्रयोगसाधुशब्दसाधकशास्त्रसार्थक्याधिकरणम्)

(आक्षेपवार्तिकम्)

॥ अस्त्यप्रयुक्तः ॥

अनु.—(शब्द) है (पर) अप्रयुक्त है ।

(भाष्यम्)

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः । तद्यथा-ऊष, तेर, चक्र, पेचेति ।

किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः ?

प्रयोगाद्धि भवान् शब्दानां साधुत्वम् अध्यवस्यति । य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः ।

अनु.—(बहुत) शब्द (ऐसे) हैं जो अप्रयुक्त हैं । जैसे—ऊष, तेर, चक्र, पेच आदि ।

इनके अप्रयुक्त होने से क्या (क्षति है) ?

प्रयोग से ही आप शब्दों का साधुत्व निर्धारित करते हैं । जो इस समय अप्रयुक्त हैं वे साधु नहीं हो सकते ।

टिप्पणी—"लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः" इस उपर्युक्त वार्तिक से भाष्यकार ने प्रयुक्त शब्दों पर ही शास्त्र द्वारा धर्मनियम किया जाना बताया है । ऐसे में अप्रयुक्त शब्दों जैसे ऊष (तुमने निवास किया), तेर (तुम तैरे थे), चक्र (तुमने किया था), पेच (तुमने पकाया था) में ध र्मनियम संभव नहीं होगा । इस शंका के समाधान के लिये आगे आक्षेप उठाते हैं—

(आक्षेपासङ्गतिभाष्यम्)

इदं तावद्विप्रतिषिद्धम्-यदुच्यते- 'सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता इति । यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः, अथाप्रयुक्ताः न सन्ति, सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम् । प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति । कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात् ?

अनु.—यह परस्पर विरुद्ध कथन है-जो यह कहा जा रहा है (कि)—शब्द हैं (पर) अप्रयुक्त हैं । यदि (शब्द) हैं तो अप्रयुक्त नहीं हो सकते, (और यदि) अप्रयुक्त हैं (तो) नहीं है, (शब्द) हैं और अप्रयुक्त हैं यह (कथन) परस्पर विरुद्ध है। (ऊष, तेर, चक्र, पेच जैसे शब्दों का) प्रयोग करते हुए ही

आपने कहा है कि "शब्द हैं पर अप्रयुक्त हैं। इस समय आपके जैसा दूसरा कौन पुरुष होगा जो शब्दों के प्रयोग में साधु हो ।"

(आक्षेपासङ्गतिबाधकभाष्यम्)

नैतद्विप्रतिषिद्धम् । सन्तीति तावद् ब्रूमो यदेतान् शास्त्रविदः शास्त्रेण अनुविदधते। अप्रयुक्ता इति ब्रूमः यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति । यदप्युच्यते-कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति । न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति ।

किं तर्हि ?

लोकेऽप्रयुक्ता इति ।

अनु.—यह (हमने जो कहा वह) परस्पर विरुद्ध नहीं है । (शब्द) हैं यह इसलिए कहते हैं क्योंकि शास्त्रज्ञ इन्हें शास्त्र से निष्पन्न करते हैं । अप्रयुक्त इसलिए कहते हैं क्योंकि लोक में अप्रयुक्त हैं । आप जो यह कहते हैं कि "इस समय आपके सदृश दूसरा कौन पुरुष होगा जो शब्द प्रयोग में साधु हो" तो हम यह नहीं कहते कि हमारे द्वारा अप्रयुक्त हैं।

तो क्या (कहते हैं) ?

लोक में अप्रयुक्त हैं ।

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु च भवान् अपि अभ्यन्तरो लोके ?

अनु.—आप भी तो लोक के अन्दर ही हैं ?

(समाधानभाष्यम्)

अभ्यन्तरोऽहं लोके, न तु अहं लोकः ।

अनु.—मैं लोक के अन्दर हूँ, पर लोक नहीं हूँ ।

(आक्षेपबाधकवार्तिकम्)

"अस्तयप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दाप्रयोगात्"

अनु.—(शब्द) है पर अप्रयुक्त है यह (कहना), उचित नहीं अर्थ में शब्दों का प्रयोग होने से ।

(भाष्यम्)

अस्तयप्रयुक्त इति चेत्-तन्न । किं कारणम्? अर्थे शब्दप्रयोगात् । अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते । सन्ति चैषां शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते ।

अनु.—(शब्द) है पर अप्रयुक्त है यह (कथन) उचित नहीं हैं । क्या कारण है ? अर्थ में शब्द का प्रयोग होने से । अर्थ में शब्दों का प्रयोग किया जाता है । इन शब्दों के अर्थ हैं जिनमें शब्दों का प्रयोग किया जाता है ।

टिप्पणी—अर्थप्रतीति का सद्भाव ही शब्दप्रयोग में लिंग है । बिना शब्द प्रयोग के अर्थप्रतीति संभव नहीं होती । अगर ऊष, तेर इत्यादि शब्दों के अर्थ का अभाव होता तो निस्संदेह शास्त्र द्वारा इनकी सिद्धि भी नहीं की जाती । तब फिर इनका अप्रयोग क्यों है ? इसका समाधान देते हैं—

॥ अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात् ॥

अनु.—(इन शब्दों का) अप्रयोग अन्य प्रयोगों के कारण है ।

(भाष्यम्)

अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः । कुतः ? प्रयोगान्यत्वाद् । यदेषां शब्दानाम् अर्थे अन्यान् शब्दान् प्रयुञ्जते । तद्यथा—ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे-क यूयमुषिताः, तेरेत्यस्यार्थे-क यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे-क यूयं कृतवन्तः । पेचेत्यस्यार्थे—क यूयं पक्ववन्त इति ।

अनु.—इन शब्दों का अप्रयोग भी निश्चित रूप से उचित है ।

कैसे ?

दूसरे प्रयोगों के कारण ।

क्योंकि इन शब्दों के अर्थ में अन्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है । जैसे—'ऊष' इस शब्द के अर्थ में 'क्व यूयमुषिताः, (तुम लोगों ने कहाँ निवास किया ?) 'तेर' इस शब्द के अर्थ में "क्व यूयं तीर्णाः" (तुम लोग कहाँ तैरे थे ?) तथा "पेच" के अर्थ में "क्व यूयं पक्ववन्तः" (तुम लोगों ने कहाँ पकाया था ?) का प्रयोग होता है ।

(सिद्धान्तसमानवार्तिकम्)

॥ अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत् ॥

अनु.—(शब्दों के) अप्रयुक्त होने पर दीर्घसत्र के समान (समझना चाहिए) ।

(भाष्यम्)

यद्यप्यप्रयुक्ताः अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः । तद्यथादीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसाहस्रिकाणि च । न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति । केवलम् ऋषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते ।

अनु.—यद्यपि (ऊष, तेर, चक्र, पेच आदि) शब्द अप्रयुक्त हैं तथापि इन्हें अवश्य दीर्घसत्र के समान लक्षण से समझना चाहिए । जैसे-दीर्घसत्र सौ वर्ष एवं हजार वर्ष तक चलने वाले होते हैं । आज कोई भी इनका व्यवहार नहीं करता । इन्हें ऋषिसंप्रदायधर्म मानकर केवल याज्ञिक लोग शास्त्र से (दीर्घसत्र से विधि-विधान को) जानते हैं ।

(सिद्धान्तसमानवार्त्तिकम्)

॥ सर्वे देशान्तरे ॥

अनु.—(ऊष, तेर आदि जैसे) सभी शब्द देशान्तर में (प्रयुक्त हैं) ।

NOTES

(भाष्यम्)

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ।

अनु.—(ऊष, तेर आदि) ये शब्द देशान्तर में प्रयुक्त होते हैं ।

(आक्षेपभाष्यम्)

न चैवोपलभ्यन्ते ।

अनु.—पर (इनका प्रयोग तो) उपलब्ध नहीं होता ।

(भाष्यम्)

उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् । महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः । सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः चत्वारो वेदाः साङ्गा सरहस्याः बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽथर्वणो वेदः वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमिति एतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोग विषयम् अननुनिशम्य 'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव ।

अनु.—(इन शब्दों का प्रयोग) उपलब्ध करने के लिये यत्न कीजिए । शब्दों के प्रयोग का विषय अत्यन्त विशाल है । सात द्वीपों वाली पृथ्वी, तीन लोक, छः अंगों से तथा रहस्यों से युक्त अनेकधा भिन्न चार वेद हैं, सौ शाखाओं वाला यजुर्वेद, एक हजार शाखाओं वाला सामवेद, इक्कीस प्रकार का ऋग्वेद, नौ प्रकार का अर्थर्ववेद, प्रश्नोत्तर ग्रंथ, इतिहास, पुराण तथा वैद्यक—यह इतना शब्द प्रयोग का विषय है । इतने (विशाल) शब्द के प्रयोग के क्षेत्र को बिना जाने शब्द हैं पर अप्रयुक्त हैं, यह कहना केवल साहसमात्र है ।

टिप्पणी—उक्ति-प्रत्युक्तिरूप ग्रन्थ "वाकोवाक्य" कहलाते हैं । पूर्वचरित का संकीर्तन करने वाले ग्रन्थ "इतिहास" तथा वंश आदि का अनुकीर्तन करने वाले ग्रन्थ पुराण कहलाते हैं ।

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते । तद्यथा-शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेषु एव भाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते 'शव' इति । हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते । दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु ।

अनु.—शब्द प्रयोग के इस अति विस्तृत क्षेत्र में वे वे शब्द उन उन स्थानों में नियत-विषय (निर्धारित अर्थ वाले) देखे जाते हैं । जैसे-शव धातु गतिकर्मक (अर्थ में) कम्बोज देश में प्रसिद्ध है, आर्य लोग इसे विकार (मुर्दा) अर्थ में 'शव' इस प्रकार प्रयुक्त करते हैं । (गत्यर्थक) 'हम्म' धातु का सौराष्ट्र में, (गत्यर्थक) रंह धातु का प्राच्य मध्य में (प्रयोग होता है, किन्तु) आर्य 'गम्' धातु का ही प्रयोग करते हैं । (काटने के उपकरण हँसिया के लिये) प्राच्य में 'दाति' (शब्द का) तथा उदीच्य में दात्र (शब्द) का प्रयोग होता है ।

ये चाऽप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते । क्व ? वेदे । तद्यथा—सप्तास्ये रेवती रेवदूष (ऋ.4.52.4) यद्वो रेवती रेवत्यं तमूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र (ऋ.1.165.11), यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् (ऋ.1.89.9) ।

अनु.—और ये जिन्हें आप अप्रयुक्त शब्द मानते हैं, इनका प्रयोग भी देखा जाता है । कहाँ? वेद में । जैसे- सप्तास्ये रेवती रेवदूष तथा यद्वो रेवती रेतत्यं तमूष (में ऊष का प्रयोग है), यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र और यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् (में चक्र का प्रयोग हुआ है) ।

(अथ शब्दज्ञानस्य धर्मजनकताऽधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्मः, आहोस्वित् प्रयोगे ?

अनु.—तो फिर शब्द के ज्ञान में धर्म है या प्रयोग में ?

टिप्पणी—पूर्व में वार्त्तिककार ने कहा था कि व्याकरण 'धर्मनियम' करता है । यह 'धर्मनियम' शब्दों के ज्ञान और प्रयोग दोनों में हो सकता है । श्रुतिवचन है कि "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञात शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति" । इस श्रुति में शब्दज्ञान और प्रयोग दोनों का 'कामधुक्' होना बताया गया है । प्रश्न का आशय यह स्पष्ट करना है कि 'ज्ञान' में धर्म माना जाय या प्रयोग में ।

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कश्चात्र विशेषः?

अनु.—यहाँ (प्रयोग और ज्ञान में) क्या विशेषता (भेद) है ?

(ज्ञानपक्षदूषणवार्तिकम्)

॥ ज्ञाने धर्म इति चेत् तथाऽधर्मः ॥

अनु.—यदि (शब्द के) ज्ञान में धर्म है तो अधर्म (भी) ।

(भाष्यम्)

ज्ञाने धर्म इति चेत् तथाऽधर्मोऽपि प्राप्नोति । यो हि शब्दान् जानाति अपशब्दानपि असौ जानाति । यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः ।

अनु.—यदि (शब्द के) ज्ञान में धर्म है तो अधर्म भी प्राप्त होता है । जो शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है । जैसे शब्द के ज्ञान में धर्म है इसी प्रकार अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म भी ।

(अधर्माधिक्यभाष्यम्)

अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।

NOTES

अनु.—अथवा (शब्दों के ज्ञान में अधर्म ही अधिक होता है क्योंकि अपशब्द अधिक हैं और शब्द कम । एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश हैं । जैसे 'गौः' इस एक शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश हैं ।

(ज्ञानपक्षे दूषणान्तरवार्तिकम्)

॥ आचारे नियमः ॥

अनु.—(शब्दों के) प्रयोग में (धर्म) नियम है ।

(भाष्यम्)

आचारे पुनः ऋषिर्नियमं वेदयते—'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः' इति ।

अनु.—ऋषि (वेद) (शब्दों के) प्रयोग में (धर्म) नियम का बोध कराते हैं—वे असुर (हे अरयः के बदले) हे अलयः, हे अलयः करते हुए पराजित हो गए । (इस वचन से स्पष्ट है कि प्रयोग में ही धर्मनियम है) ।

(अथ प्रयोगपक्षाङ्गीकारभाष्यम्)

अस्तु तर्हि प्रयोगे

अनु.—यदि शब्दज्ञान में धर्मनियम मानने से अधर्म की प्राप्ति हो रही है तो प्रयोग में ही (ध र्मनियम) हो ।

(प्रयोगपक्षे दूषणवार्त्तिकम्)

॥ प्रयोगे सर्वलोकस्य ॥

अनु.—प्रयोग में (धर्मनियम मानने से) समस्त लोक का (अभ्युदय होना प्राप्त होगा) ।

(भाष्यम्)

यदि प्रयोगे धर्मः, सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्यते ।

अनु.—यदि शब्द के प्रयोग में धर्म माना गया तो समस्त लोक अभ्युदय से युक्त हो सकता है ।

टिप्पणी—यदि शब्द प्रयोग में धर्म माना गया तो शब्दसाधुत्व ज्ञान के साधन इस व्याकरणशास्त्र में श्रम करने वाले और इस शास्त्र को न जानने वाले सभी शब्द प्रयोग से जनित धर्म से युक्त होने लगेंगे । व्याकरणशास्त्र से अथवा अन्य किसी प्रकार से ज्ञात साधुशब्द अपने प्रयोक्ता को अभ्युदय से योजित करेगा ।

(आक्षेपभाष्यम्)

कश्चेदानीं भवतो मत्सरो, यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ?

अनु.—यदि समस्त लोक अभ्युदय से युक्त हो सकता है तो इसमें आपको क्यों ईर्ष्या होती है ?

(समाधानभाष्यम्)

न खलु कश्चिन्मत्सरः । प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति । फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम् । न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः ।

अनु.—कोई ईर्ष्या नहीं है । पर प्रयत्न की व्यर्थता होती है । प्रयत्न को फलवान् होना चाहिए । प्रयत्न को फल से अलग नहीं करना चाहिए।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान् प्रयोक्ष्यन्ते, त एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते ।

अनु.—जो लोग (व्याकरणशास्त्र में) कृतप्रयत्न हैं वे निश्चत रूप से उचित ढंग से शब्दों का प्रयोग करेंगे । वे ही वांछित अभ्युदय से युक्त भी होंगे ।

(समाधानसाधकभाष्यम्)

व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते । दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणाः, अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः तत्र फलव्यतिरेकोऽपि स्यात् ।

अनु.—इसका व्यतिरेक (उल्टा) भी देखा जाता है । (व्याकरणाध्ययन में) कृतप्रयत्न (शब्द प्रयोग में) अप्रवीण दिखायी देते हैं और जिन्होंने प्रयत्न नहीं किया वे प्रवीण दिखायी देते हैं । इसी प्रकार फल में भी विपरीतता हो सकती है ।

(पक्षद्वयनिराकरणोपसंहारभाष्यम्)

एवं तर्हि-नापि ज्ञान एव धर्मो नानि प्रयोग एव ।

किं तर्हि ?

अनु.—ऐसा है तो-न ज्ञान में ही धर्म है और न ही प्रयोग में । तो क्या ?

(सिद्धान्तसमाधानवार्त्तिकम्)

॥ शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन ॥

अनु.—शब्दों के (व्याकरण) शास्त्रपूर्वक प्रयोग में अभ्युदय होता है (यह नियम) वेद शब्द के समान है ।

(भाष्यम्)

शास्त्रपर्वूकं यः शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते । तत् तुल्यं वेदशब्देन । वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति "योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद", "योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते या चैनमेवं वेद ।"

अनु.—जो शब्द का (व्याकरण) शास्त्रज्ञानपूर्वक प्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है । वह वेद शब्द के समान है । वे शब्द भी यही कहते हैं । जो अग्निष्टोम यज्ञ करता है और जो इसे

NOTES

जानता है । "जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है और जो इसे इसी प्रकार जानता है" (वह पुण्यभाक् होता है) ।

टिप्पणी—व्याकरणाध्ययनपूर्वक किया गया शब्द प्रयोग ही अभ्युदय कारक होता है । क्योंकि व्याकरण वेदाङ्ग है । शब्द का प्रकृति, प्रत्यय विभागपूर्वक ज्ञान व्याकरण से ही हो सकता है । बिना सम्यक् ज्ञान के किया गया कार्य फलदायी नहीं होता । "योऽग्निष्टोम" इत्यादि श्रुतिवचनों में भी ज्ञान पूर्वक किये गये अनुष्ठान को फलदायी बताया गया है । इसी प्रकार यहाँ भी शास्त्रज्ञानपूर्वक किया गया शब्द प्रयोग ही अभ्युदयकारी होगा । "एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः" इत्यादि श्रुतिवचन भी इसमें प्रमाण हैं ।

(व्याख्यान्तरभाष्यम्)

अपर आह-तत्तुल्यं वेदशब्देनेति । यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्ति एवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति ।

अनु.—कुछ आचार्यों का कहना है (कि वार्त्तिक में प्रयुक्त) "वेद शब्देन" का यह आशय है कि जैसे नियम पूर्वक पढ़े गये वेद शब्द फलवान् होते हैं उसी प्रकार जो शास्त्रपूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है ।

(प्रथमपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

अथवा पुनरस्तु-ज्ञान एव धर्म इति ।

अनु.—अथवा (शब्द) ज्ञान में धर्म है, यही माना जाय ।

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—ज्ञाने धर्म इति चेत् तथाऽधर्मः-इति ।

अनु.—आपने तो कहा है—यदि ज्ञान में धर्म है तो अधर्म भी है ।

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

नैष दोषः । शब्दप्रमाणका वयम् । यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् । शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम् । यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धं, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । तद्यथा—हिक्कित— हसित-कण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय ।

अनु.—यह दोष नहीं है । हम लोग शब्द को प्रमाण मानने वाले हैं । जो शब्द कहता है वही हमारा प्रमाण है । शब्द शब्दज्ञान में धर्म कहता है, न कि अपशब्दज्ञान में अधर्म । जो अशिष्ट-अप्रतिषिद्ध (न विहित है और न ही निषिद्ध) है इससे न तो दोष होता है और न ही पुण्य । जैसे—हिचकी लेने, हँसने तथा खुजलाने से न तो दोष होता और न ही पुण्य।

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथ वा अभ्युपाय एव अपशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने । यो हि अवशब्दान् जानाति शब्दान् अपि असौ जानाति । तदेवं "ज्ञाने धर्म" इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति—"अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्म" - इति ।

अनु.—अथवा अपशब्दज्ञान ही शब्दज्ञान का उपाय है । जो अपशब्दों को जानता है वही शब्दों को जानता है । इस प्रकार 'ज्ञान में धर्म है' यह कहने वाले के लिये अर्थतः यह प्राप्त हो जाता है कि "अपशब्दज्ञान पूर्वक किये गये शब्दज्ञान में धर्म है ।"

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा कूपखनकवदेतद् भविष्यति । तद्यथा-कूपखानकः कूपं खनन् यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति । सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति । येन च स दोषो निर्हण्यते । भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति । एवमिहापि यद्यप्यपशब्द-ज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन च स दोषो निर्घानिष्यते भूयसा च अभ्युदयेन योगो भविष्यति ।

अनुः अथवा कुँआ खोदने वाले के समान यह भी होगा । जैसे—कुँआ खोदने वाला कुँआ खोदते समय मिट्टी एवं कीचड़ से भर जाता है, जल निकलने पर वह उसी जल में निर्मलता को प्राप्त कर लेता है । जिससे (मिट्टी और कीचड़ रुप) दोष नष्ट हो जाता है और वह (कुँआ खोदने वाला पहले से) अधिक अभ्युदय को प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार यहाँ भी यद्यपि अपशब्दज्ञान में अधर्म है फिर भी शब्दज्ञान में जो धर्म है, उससे वह (अपशब्दज्ञान से उत्पन्न अधर्म) नष्ट हो जायेगा तथा (ज्ञाता) और अधिक अभ्युदय प्राप्त करेगा ।

(द्वितीयादूषणनिरासभाष्यम्)

यदप्युच्यते—आचारे नियम-इति । याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्र अनियमः । एवं हि श्रूयते-यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्ष-धर्माणः परापरज्ञाः विदितवेदितव्याः अधिगतयाथातथ्याः । ते तत्रभवन्तो ''यद्वाः नस्तद्वा न'' इति प्रयोक्तव्ये ''यर्वाणस्तर्वाण'' इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते । तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्, ततस्ते पराभूताः ।

अनुः— (वात्तिक में जो) ''आचारे नियमः'' यह कहा गया है वह यज्ञ कर्म में नियम है अन्यत्र अनियम है । ऐसा सुना जाता है—यर्वाण और तर्वाण नामक ऋषि हो चुके हैं । ये ऋषि धर्म का प्रत्यक्ष करने वाले (अर्थात् योगजप्रत्यक्ष से सब कुछ जानने वाले), पर तथा अपर के ज्ञाता, (अर्थात् विद्या तथा अविद्या के विभाग को जानने वाले) समस्त जानने योग्य विषय के जानकार तथा यथार्थ के रहस्य को जानने वाले थे । वे ऋषि ''यद्वा नः तद्वा नः'' (यह वस्तु या वह वस्तु हमारी है) का प्रयोग करने के बदले ''यर्वाणस्तर्वाणः'' का प्रयोग करते थे परन्तु यज्ञसम्बन्धी कर्म में (यर्वाणस्तर्वाणः जैसा) अपभाषण नहीं करते थे । (अंतः इन्हें अभ्युदय प्राप्त हुआ) इसके विरुद्ध उन असुरों ने तो यज्ञ कर्म में (हेऽरयः! के बदले हेऽलयः हेऽलयः!) अपभाषण किया, परिणामस्वरूप वे पराजित हुए ।

(अथ व्याकरणपदार्थनिरूपणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ व्याकरणम् इत्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ?

अनु:—'व्याकरण' इस शब्द का पदार्थ क्या है ?

सूत्रम् ।

अनु:—सूत्र (ही व्याकरण शब्द का पदार्थ है ।)

(सूत्रेपक्षे आक्षेपवार्त्तिकम्)

।। सूत्रे व्याकरणे पष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः ।।

अनु:—सूत्र को व्याकरण (का पदार्थ) मानने पर षष्ठी (विभक्ति) का अर्थ उपपन्न नहीं होगा ।

(भाष्यम्)

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते—'व्याकरणस्य सूत्रम्' इति । किं हि तदन्यत्सूत्राद् व्याकरणम्, यस्यादः सूत्रं स्यात् ।

अनु:—सूत्र को व्याकरण (शब्द का पदार्थ) मानने पर "व्याकरणस्य सूत्रम्" (व्याकरण का सूत्र) इस षष्ठी का अर्थ उपपन्न नहीं होता । क्योंकि सूत्र से अतिरिक्त व्याकरण क्या होगा जिसका यह सूत्र होगा ।

टिप्पणी—सूत्र और व्याकरण दोनों ही शब्द अष्टाध्यायी के वाचक हैं । अतः व्यतिरेक का अभाव है । वास्तव में सूत्र और व्याकरण में अभेद है जो सूत्र है वही व्याकरण है ।

(आक्षेपान्तरवार्तिकम्)

।। शब्दाप्रतिपत्तिः ।।

अनु:—(सूत्र मात्र से) शब्द का ज्ञान भी नहीं होगा ।

(भाष्यम्)

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति—'व्याकरणात् शब्दान् प्रतिपद्यामहे ?— इति । नहि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते । कि तर्हि ?

व्याख्यानतश्च ।

अनु:— (व्याकरण शब्द का पदार्थ सूत्र मान लेने से) शब्दों का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा —हम व्याकरण से शब्दों का ज्ञान प्राप्त करते हैं (यह कथन इस समय उचित नहीं होगा क्योंकि केवल) सूत्र से ही शब्द नहीं जाने जाते ।

NOTES

तो फिर (किससे जाने जाते हैं) ?

व्याख्यान (सहित सूत्र) से ।

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति ।

अनुः—(हम जिसे व्याकरण शब्द का पदार्थ बता रहे हैं वही) सूत्र ही तो विभक्त होकर व्याख्यान कहलाता है ।

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—'वृद्धिः', 'आत्,' 'ऐज्' इति ।

किं तर्हि?

उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानम् भवति ।

अनुः— (वृद्धिरादैच् आदि सूत्रों के) वृद्धिः, आत् और एच् जैसे केवल विभज्यमान पद ही व्याख्यान नहीं होते हैं।

तो फिर (व्याख्यान) क्या होता है ?.

उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार (दूसरे सूत्रों में प्रयुक्त वाक्यघटक पदों का अध्याहार) से सब मिलकर व्याख्यान कहे जाते हैं ।

(पक्षान्तरभाष्यम्)

एवं तर्हि शब्दः ।

अनुः—तो फिर (व्याकरण शब्द का पदार्थ) शब्द है ।

(आक्षेपवार्तिकम्)

।। शब्दे ल्युडर्थः ।।

अनुः— शब्द का (व्याकरण शब्द का) पदार्थ मानने पर ल्युडर्थ (संगत नहीं होगा) ।

(भाष्यम्)

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो नोपपद्यते—व्यक्रियन्ते शब्द अनेनेति व्याकरणम् । नहि शब्देन किञ्चिद् व्यक्रियते ।

केन तर्हि?

सूत्रेण ।

अनुः—यदि शब्द व्याकरण (शब्द का पदार्थ माना जाता है तो व्याकरण शब्द में (किये गये) ल्युट् प्रत्यय का अर्थ उपपन्न नहीं होगा । व्याकरण उसे कहते हैं जिससे व्याकृत किया जाय । शब्द से कुछ भी व्याकृत नहीं किया जा सकता। (वह तो व्याक्रियमाण होता है । अतः करण अधिकरण अर्थ में होने वाला ल्युट् इससे नहीं होगा)। तो फिर किससे (व्याकृत होता है ।)

(आक्षेपान्तरवार्तिकम्)

।। भवे च तद्धितः ।।

अनुः भव अर्थ में तद्धित (भी नहीं हो सकेगा) ।

(भाष्यम्)

भवे व तद्धितो नोपपद्यते—'व्याकरणे भवो योगो वैयाकरणः' इति । नहि शब्द भवो योगः।

क्व तर्हिः ?

सूत्रे ।

अनुः—शब्द को (व्याकरण शब्द का) पदार्थ मानने पर "व्याकरणे भवः वैयाकरणः" यह योग नहीं बन सकेगा ।

तब कहाँ होता है?

सूत्र (व्याकरण) में

(आक्षेपान्तरवार्तिकम्)

।। प्रोक्तादश्यच तद्धिताः।।

अनुः—(व्याकरण का पदार्थ शब्द को मानने से) प्रोक्त (कहाँ हुआ) आदि (अर्थ में होने वाले) तद्धित प्रत्यय (भी नहीं होंगे ।)

(भाष्यम्)

प्रोक्तादश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् । आपिशलं काशकृत्स्नमिति । नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः ।

किं तर्हि ?

सूत्रम् ।

अनुः—(व्याकरण शब्द का पदार्थ शब्द मानने से) प्रोक्त आदि अर्थ में होने वाले तद्धित प्रत्यय नहीं हो सकेंगे (और) पाणिनिना प्रोक्तं 'पाणिनीयम्' (पाणिनि के द्वारा कहा गया शास्त्र पाणिनीय) नहीं बन सकेगा । (इसी प्रकार) आपिशलम् और काशकृत्स्न भी (नहीं बन सकेंगे)। पाणिनि के द्वारा शब्द नहीं कहे गये (अतः इससे प्रोक्त अर्थ में तद्धित नहीं होगा) ।

तो फिर (क्या कहा गया है?)

सूत्र ।

NOTES

टिप्पणी—पाणिनिना प्रोक्तम् (4.3.101) सूत्र से विहित 'छ' आदि तद्धित प्रत्यय होकर 'पाणिनीय,' 'आपिशल' और 'काशकृत्स्न' शब्द बनते हैं । अगर शब्द को व्याकरण का पदार्थ माना गया तो वह नहीं हो सकेगा । क्योंकि पाणिनि ने शब्दों का कथन नहीं किया है ।

(आक्षेपभाष्य)

किमर्थमिदमुभयमुच्यते—भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिताः इति । न प्रोक्तादयश्च तद्धिताः इत्येव, भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात् ।

अनुः—(आचार्य कात्यायने ने) 'भवे' और 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' ये दो वार्तिक क्यों कहे हैं । क्या 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इस (एक) वार्तिक से ही 'भव' अर्थ में तद्धित आपादित नहीं हो जायेगा?

(परिहारभाष्यम्)

पुरस्तादिदम् आचार्येण दृष्टम्—'भवे च तद्धितः' इति तत्पठितम् । तत उत्तरकालमिदं दृष्टम्— 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इति, तदापि पठितम् । न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति ।

अनुः—पहले आचार्य ने भवे च तद्धितः देखा, इसे पढ़ दिया इसके बाद 'प्रोक्तादयश्च देखा, उसे पढ़ दिया (एक बार) सूत्रों की रचना कर देने के बाद आचार्य उससे निवृत्त नहीं होते हैं ।

अयं तावददोषः—यदुच्यते —शब्दे ल्युडर्थः इति । नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड् विधीयते ।

किं तर्हि?

अन्येष्वपि कारकेषु—'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति । तद्यथा प्रस्कन्दनम् प्रपतनमिति ।

अनुः—(जो यह कहा गया कि शब्द को व्याकरण शब्द का पदार्थ मान लेने से ल्युट का अर्थ नहीं बन सकेगा, यह कोई दोष नहीं है । क्योंकि ल्युट् केवल करण और अधिकरण अर्थ में ही नहीं होता ।

तो फिर (कहाँ होता है) ?

अन्य कारकों में भी—कृत्यल्युटो बहुलम् (सूत्र से ल्युट होता है) । जैसे— प्रस्कन्दनम् और प्रपतनम् ।

(कारणल्युट्समर्थनभाष्यम्)

अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते । तद्यथा गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नाश्वो न गर्दभ इति ।

NOTES

अनुः—अथवा शब्द से भी शब्द व्याकृत होते हैं । जैसे- 'गौः' यह कहने से सभी संदेह दूर हो जाते हैं कि यह (गौ ही है)अश्व या गदर्भ नहीं है ।

(अनुद्धृतदोषप्रदर्शकभाष्यम्)

अयं तर्हि दोषः—भवे-प्रोक्तादयश्च तद्धिताः इति ।

अनुः—(शब्द पक्ष में ल्युट् का दोष निवृत्त हो जाने पर भी) भव और प्रोक्तादि अर्थ में तद्धित (प्रत्ययों) का दोष (तो बना ही) है ।

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि—

अनुः यदि ऐसा है तो –

(सिद्धान्तवर्त्तिकम्)

।। लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम् ।।

अनुः—लक्ष्य (और) लक्षण (के समुदाय) में व्याकरण (शब्द का प्रयोग) है ।

(भाष्यम्)

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति । कि पुनर्लक्ष्यम्, किं वा लक्षणम् ?

शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम् ।

अनु.—लक्ष्य और लक्षण दोनों समुदित होकर व्याकरण होते हैं । तो फिर लक्ष्य क्या है ? और लक्षण क्या है ? शब्द लक्ष्य है व्याकरण लक्षण है ।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

एवमप्ययं दोष-समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते । सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति ।

अनुः—समुदाय (अर्थ) में प्रवृत्त व्याकरण शब्द अवयव (शब्दमात्र या सूत्रमात्र) में उपपन्न नहीं होगा । केवल सूत्र पढ़ने वाले के लिये भी 'वैयाकरण शब्द (का प्रयोग आचार्य को) अभीष्ट है—इस प्रकार यह दोष है ।

नैष दोषाः । समुदायेषु शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते । तद्यथा-पूर्वे पाञ्चालाः,उत्तरे पाञ्चालाः, तैलं भुक्तम्, धृतंभुक्तम्, शुक्लो, नीलः, कपिलः, कृष्ण इति । एवमयं व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते ।

अनुः—यह दोष नहीं है। (क्योंकि) समुदाय (अर्थ) में प्रवृत्त शब्द अवयव (अर्थ) में भी (प्रयुक्त) हैं । जैसे—पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पाञ्चालाः, तैलं भुक्तम्, धृतं भुक्तम्, शुक्लः, नीलः कपिलः, कृष्ण इत्यादि । इसी प्रकार समुदाय में प्रवृत्त व्याकरण शब्द अवयव (अर्थ) में भी है ।

टिप्पणी—जनपद के अन्य भाग की विवक्षा न होने से पूर्व, उत्तर रूप जनपद के एक देश में पांचालत्व का आक्षेप करके पूर्वे पाञ्चाला: और उत्तरे पाञ्चाला: शब्दों का प्रयोग किया गया है । तैलं भुक्तम् और घृतं भुक्तम् में औषधसंस्कृत घृत तैल मात्रा के लिये प्रयुक्त हुये हैं । इसी प्रकार शुक्ल आदि का प्रयोग अशुक्ल दूसरे अवयवों में समुदाय के शुक्लत्व का आरोप करके किया गया है । अर्थात् शुक्लाशुक्लतन्तु रूप अवयव के समुदाय रूप पद में शुक्लता के कारण अशुक्ल अवयवों में शुक्ल का व्यवहार किया गया समझना चाहिए ।

(प्रथमपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

अथवा पुनरस्तु सूत्रम् ।

अनुः—अथवा (व्याकरण शब्द का अर्थ) सूत्र ही रहे ।

(प्रथमाक्षेपस्मरणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्न इति ।

अनुः—आपने (तो पहले) कहा है कि सूत्र को व्याकरण (शब्द का अर्थ मान लेने पर) षष्ठ्यर्थ उपपन्न नहीं होगा।

(प्रथमाक्षेपनिरासभाष्यम्)

नैष दोषः, व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति ।

अनुः— यह दोष नहीं है-व्यपदेशिवद्भाव से (षष्ठ्यर्थ उपपन्न) हो जायेगा ।

(द्वितीयाक्षेपस्मारणभाष्यम्)

यदप्युच्यते—शब्दाप्रतिपत्तिः—इति । नहि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते किं तर्हि व्याख्यानतश्चेति । परिहृतमेतत्—तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति ।

अनुः—(व्याकरण शब्द का अर्थ सूत्र मान लेने पर आप) जो यह कहते हैं कि (शूत्र से) शब्दों का ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि सूत्र से ही शब्दों का ज्ञान नहीं होता । तो फिर किससे (होता है?) व्याख्यान से इसका परिहार कर चुके हैं—वही सूत्र विगृहीत होकर व्याख्यान कहलाता है ।

(परिहारबाधकस्मरणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्-वृद्धिः, आत्, ऐजिति ।

किं तर्हि ?

"उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति" इति ।

अनुः—आपने यह भी तो कहा था कि वृद्धिः, आत्, ऐच् (इस रूप में दिये गये) केवल चर्चा पद व्याख्यान नहीं होते। तो (व्याख्यान) क्या है ?

उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार ये मिलकर व्याख्यान होता है ।

(परिहारसाधकभाष्यम्)

अविजानत एतदेवं भवति । सूत्रत् एवं शब्दान् प्रतिपद्यन्ते । आतश्च सूत्रत एव । यो ह्युत् सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत् ।

अनुः—यह बात अज्ञानी लोग कहते हैं । (वस्तुतः) सूत्र से ही शब्दों का ज्ञान होता है (क्योंकि पदच्छेद आदि से सूत्र ही अभिव्यंजित होता है)। इसलिये सूत्र से ही । जो सूत्र से विरुद्ध कहेगा वह स्वीकरणीय नहीं होगा ।

(अथ वर्णोदेशप्रयोजनाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ किमर्थो वर्णानाम् उपदेशः?

अनुः—(अइउण् इत्यादि) वर्णों का उपदेश क्यों किया गया है ?

टिप्पणी—अइउण् इत्यादि वर्णोपदेश से किसी साधु शब्द का अनुशासन तो होता नहीं ? फिर जब कोई व्याकरण पढ़ने आयेगा तो वह लोक से ही वर्णों को सीखकर आयेगा । अतः यहाँ इनके उपदेश का क्या प्रयोजन है ?

(समाधानवार्त्तिकम्)

।। वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः।।

अनुः— वृत्तिसमवाय के लिए (वर्णों) का उपदेश है ।

(भाष्यम्)

वृत्तिसमवायर्थो वर्णानामुपदेशः ।

किमिदं वृत्तिसमवायर्थ इति ?

वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः । वृत्यर्थो वा समवायो वृत्तिसमवायः ।

वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो वृत्ति समवायः ।

का पुनर्वृत्तिः?

शास्त्रप्रवृत्तिः ।

अथ कः समवायः?

वर्णानामानुपूर्व्येण सन्निवेशः ।

अथ क उपदेशः ?

उच्चारणम्

कुत एतत्?

दिशिरुच्चारणक्रियः । उच्चार्य वर्णानाऽऽह उपदिष्टा इमे वर्णा इति ।

अनुः—वृत्तिके समवाय (लाघव पूर्वक शास्त्र में प्रवृत्ति) के लिये वर्णों का उपदेश (किया गया) है । यह वृत्तिसमवाय क्या है ? वृत्ति के लिये समवाय वृत्तिसमवाय है । वृत्तिफल वाला समवाय वृत्तिसमवाय है । वृत्तिप्रयोजन वृत्तिसमवाय है ।

वृत्ति क्या है ?

शास्त्र में प्रवृत्ति (ही वृत्ति है) ।

समवाय क्या है ?

वर्णों का (निश्चित) आनुपूर्वी (क्रमबद्धता) से सन्निवेश ।

उपदेश क्या है ?

उच्चारण ।

यह कैसे (कह रहे है) ?

दिश् धातु का अर्थ है—उच्चारण क्रिया । क्योंकि वर्णों का उच्चारण करके आचार्य ने कहा है—ये वर्ण उपदिष्ट हुए।

टिप्पणी—वर्णसमाम्नाय में वर्णों को एक विशेष क्रम में पढ़ा गया है । इससे प्रत्याहार सिद्ध होते हैं और इनसे लाघवपूर्वक शास्त्र में प्रवृत्ति होती है । इस क्रम से यथासंख्यविधि का भी अनुपालन संभव होता है ।

(वर्णोपदेशप्रयोजनान्तरवार्तिकम्)

।। अनुबन्धकरणार्थश्च ।।

अनुः—और अनुबन्धकरण के लिये भी ।

(भाष्यम्)

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः—अनुबन्धानासङ्क्ष्यामीति । नहि अनुपदिश्य वर्णान् अनुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम् । स एष वर्णानाम् उपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्च अनुबन्धकरणार्थश्च । वृत्तिसमवायश्च अनुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम् । प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः ।

अनुः—(यह वर्णोपदेश) अनुबंध करने के लिये भी है—(आचार्य का निश्चय है कि मैं) अनुबंध लगाऊंगा । वर्णों का उपदेश किये बिना अनुबंध नहीं लगाये जा सकते । (इस प्रकार) यह वर्णोपदेश वृत्तिसमवाय के लिये और अनुबंध करने के लिये है । वृत्तिसमवाय और अनुबंधकरण प्रत्याहार के लिये है । प्रत्याहार (शास्त्र में लाघवपूर्वक) प्रवृत्ति के लिये है ।

टिप्पणी—अनुबन्ध शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—बन्धम् अनुगतः । वे वर्ण जिनकी इत् संज्ञा हो जाती है, अनुबंध कहलाते हैं । जैसे अइउण् में 'ण्' इत्यादि । 'ण' अनुबंध का विधान करने के लिये 'अइउण्' का उपदेश किया गया है । इससे प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । पाणिनि ने "आदिरन्त्येन

सहेता'' सूत्र से इस अनुबंध रूप इत् वर्ण सहित आदि वर्ण को अपना तथा अपने मध्यवर्तीवर्णों का बोधक माना है । अतः अनुबंध से प्रत्याहार और प्रत्याहार से लाघव की सिद्धि होती है ।

(वर्णोपदेशप्रयोजनान्तरवार्त्तिकम्)

।। इष्टबुद्ध्यर्थश्च ।।

अनुः—और वर्णों का उपदेश इष्टबुद्धि के लिये है ।

(भाष्यम्)

इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानाम् उपदेशः—'इष्टान् भोत्स्यामहे' इति । नहि अनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम् ।

अनुः—इष्ट वर्णों के ज्ञान के लिए भी वर्णों का उपदेश किया गया है—हम इष्ट (वर्णों) को जानेंगे—(इस प्रयोजन से) वर्णों का उपदेश किये बिना इष्ट वर्ण नहीं जाने जा सकते ।

(आक्षेपवार्त्तिकम्)

।। इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्त-स्वरिताऽनुनासिकदीर्घप्लुताना-मप्युपदेशः ।।

अनुः—यदि इष्टबुद्धि के लिये है तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ, प्लुत का भी उपदेश (करना चाहिए) ।

(भाष्यम्)

इष्टबुदध्यर्थश्चेति चेद् उदात्ताऽनुदात्त-स्वरिताऽनुनासिक-दीर्घ- प्लुतानाम् अपि उपदेशः कर्तव्यः । एवगुणा अपि वर्णा इष्यन्ते ।

अनुः—अगर वर्णों का उपदेश इष्ट (वर्णों) के ज्ञान के लिए है तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ, प्लुत का भी उपदेश करना चाहिए । क्योंकि ऐसे भी वर्ण अभिप्रेत हैं ।

टिप्पणी—आक्षेपकर्त्ता का आशय यह है कि अगर 'अइउण्' आदि वर्णों का उपदेश इष्ट वर्णों के ज्ञान कि लिये है तो इनके साथ-साथ उदात्त अनुदात्त आदि स्वरों का भी उपदेश करना चाहिए था । ऐसे वर्ण भी ईष्ट होते हैं , परन्तु पाणिनि ने इनका उपदेश नहीं किया । इसका समाधान वार्त्तिककार करते हैं—

(सिद्धान्तवार्त्तिकम्)

।। आकृत्युपदेशात् सिद्धम् ।।

अनुः—(उदात्तादि का उपदेश तो) जाति के उपदेश से सिद्ध है ।

(भाष्यम्)

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति ।

तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ।

अनुः—(वर्णसाम्नाय में) उपदिष्ट अवर्ण-जाति (उदात्तादि) सभी प्रकार के अवर्ण समूह का ग्रहण करेगी । इसी प्रकार इवर्ण की जाति और उवर्ण की जाति भी ।

(आक्षेपवार्त्तिकम्)

।। आकृत्युपदेशात् सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधः ।।

अनुः—आकृति (जाति) के उपदेश से सिद्ध है तो संवृत् आदि का प्रतिषेध करना चाहिए ।

(भाष्यम्)

आकृत्युपदेशात् सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

के पुनः संवृतादयः ?

संवृतः, कालो, ध्मात्, एणीकृतोऽम्बुकृतोऽर्धको ग्रस्तो, निरस्तः, प्रगीतः, उपगीतः, क्ष्विण्णो, रोमश इति।

अपर आह—''ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् संदष्टेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः'' इति ।।

अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ।।

अनुः— अगर जाति के उपदेश से सिद्ध है तो संवृत आदि का प्रतिषेध कहना चाहिए था ।

ये संवृत आदि कौन हैं ?

संवृत, कल, ध्मात, एणीकृत, अम्बूकृत, अर्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, उपगीत क्ष्विण्ण और रोमश।

अन्य आचार्य कहते हैं—

ग्रस्त, निरस्त, अवलम्बित, निर्हत, अम्बूकृत, ध्मात, विकम्पित , संदष्ट, एणीकृत, अर्धक, द्रुत और विकीर्ण ये स्वर दोष हैं । इनसे अतिरिक्त व्यंजन दोष हैं ।

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

नैष दोषः

अनुः—यह दोष नहीं है ।

(समाधानवार्त्तिकम्)

।। गर्गादिबिदादिपाठात् संवृतादीनां निवृत्तिः ।।

अनुः—गर्गादि और बिदादि के पाठ से संवृत आदि की निवृत्ति हो जाती है ।

(भाष्यम्)

गर्गादिबिदादिपाठात् संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति।

अनुः—(पाणिनि के द्वारा किये गये) गर्गादि और बिदादि (गण) पाठ से संवृत आदि दोषों की निवृत्ति हो जायेगी।

(आक्षेपभाष्यम्)

अस्त्यन्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम् ।

किम् ?

समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति ।

अनुः—गर्गादि बिदादि (गण) पाठों का दूसरा भी प्रयोजन है ।

क्या (प्रयोजन) है ?

जिससे समुदायों की साधुता हो सके ।

(समाधानैकदेशिभाष्यम्)

एवं तर्हि —अष्टादशधाभिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि ।

अनुः— यदि ऐसा है तो अठारह प्रकारों से भिन्न कल आदि दोषों से रहित अवर्ण (आदि) की प्रत्यापत्ति कहूँगा ।

टिप्पणी—यह एकदेशी का मत है । वर्णगत जाति के उपदेश से प्राप्त संवतृ आदि दोष से युक्त वर्ण के ग्रहण का प्रतिषेध करने के लिये जैसे शास्त्र के अंत में 'अ अ' का पाठ किया गया है और इसे अठारहों प्रकार के अकारों की स्वरूप प्राप्ति हो जाती है । उसी प्रकार इ, उ आदि का भी कह दिया जायेगा ।

(आक्षेपभाष्यम्)

सा तर्हि वक्तव्या ।

अनुः—वह प्रत्यापत्ति कहनी पड़ेगी । (और इससे गौरव दोष आयेगा ।)

(एकदेशिसमाधानवार्त्तिकम्)

।। लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः ।।

NOTES

अनु:—वह प्रत्यापत्ति चिन्हों के लिये होगी ।

(भाष्यम्)

लिङ्गार्थ सा तर्हि भवति ।

अनु: (आपके द्वारा की जाने वाली प्रत्यापत्ति में कोई गौरव नहीं होगा) वह तो (धातु आदि) में लगे चिह्नों की निवृत्ति के लिये होगी ।

टिप्पणी—आशय यह है कि यदि शास्त्र के अंत में में सभी वर्णों की प्रत्यापत्ति (पुनः स्वरूप प्राप्ति) कह दी गयी तो इसमें गौरव-नहीं होगा । क्योंकि इस प्रत्यापत्ति से अनुबंधों के स्थान में धातु आदि के साथ लगे चिह्नों की निवृत्ति होगी । अर्थात् जब सबकी प्रत्यापत्ति कर दी जायेगी तब इन चिह्नों की आवश्यकता नहीं रह जायेगी ।

(समाधानभाष्यम्)

यद्यप्येतदुच्यते । अथवैतर्हि अनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यम्, इत्संज्ञा च न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः । यदनुबन्धैः क्रियते तत्कालदिभिः करिष्यते ।

अनु:—जब यह (प्रत्यापत्ति) कह देंगे तो सैंकड़ों अनुबंधों का उच्चारण नहीं करना पड़ेगा, इत्संज्ञा नहीं कहनी पड़ेगी, लोप नहीं बताना पड़ेगा । जो कार्य अनुबन्धों के द्वारा होते हैं वे सब 'कल' आदि से हो जायेंगे ।

(आक्षेपभाष्यम्)

सिद्धत्येवम् । अपाणिनीयं तु भवति ।

अनु:— इससे कार्य तो सिद्ध हो जायेगा किन्तु पाणिनि के शास्त्र के विरुद्ध होगा ।

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

यथा न्यासमेवास्तु ।

अनु:—तो फिर जैसा है वैसा ही रहे ।

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्— आकृत्युपदेशात् सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधः — इति ।

अनु:— अभी आप यह जो कहे थे कि अगर जाति के उपदेश से सिद्ध मान लिया जायेगा । तो संवृत आदि का प्रतिषेध कहना पड़ेगा ।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

परिहृतमेतत्-गर्गादिबिदादिपठात् संवृतांदीनां निवृत्तिर्भविष्यति— इति ।

अनुः— इसका परिहार भी हो चुका है— गर्गादि बिदादि के पाठ से संवृत आदि की निवृत्ति हो जायेगी ।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

ननु चान्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम् उक्तम् । किम् ? समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति।

अनुः—आपने गर्गादि बिदादि के पाठ में दूसरा भी प्रयोजन तो कहा था ।

क्या? (प्रयोजन कहा था ?)

समुदायों की साधुता जिससे हो सके ।

(समाधानसाधकभाष्यम्)

एंव तर्हि उभयमनेन क्रियते—पाठश्चैव

विशेष्यते, कलादयश्च निवर्त्यन्ते ।

कथं पुनरेकेन यत्नेन उभयं लभ्यम्?

लक्ष्यमित्याह ।

कथम् ?

द्विगता अपि हेतवो भवन्ति तद्यथा अम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता इति । तथा वाक्यानि अपि द्विष्ठानि भवन्ति—श्वेतो धावति, अलम्बुसानां यातेति ।

अनुः—यदि ऐसा है (तो गर्गादि और बिदादि गण से) दोनों कार्य कर लिये जायेंगे— पाठ भी विशिष्ट हो जायेगा और कलादि दोषों की निवृत्ति भी हो जायेगी ।

एक ही यत्न से दोनों कैसे प्राप्त होंगे ?

प्राप्त होंगे ।

कैसे?

दो प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले हेतु भी होते हैं, जैसे-आम भी सींचे गये और पितरों की तृप्ति भी हो गयी । इसी प्रकार वाक्य भी द्वयर्थक होते हैं । जैसे-श्वेतो धावति (के दो अर्थ हैं)-कुत्ता यहाँ से दौड़ता है और श्वेत गुण वाला दौड़ता है । अलम्बुसानां याता (के भी दो अर्थ हैं)—अलम्बुस नामक देश को जाने वाला और भूसे को प्राप्त करने वाला समर्थ है ।

टिप्पणी—द्विगत हेतुक का अर्थ है दो कार्यों को एक साथ सिद्ध करने वाले हेतु । जैसे—आम्र वृक्ष के मूल में बैठकर कोई पितृतर्पण करे तो एक ही सिंचन कार्य से आम्रवृक्षों का सेचन और पितरों का तर्पण दोनों कार्य एक साथ सिद्ध हो जाते हैं । इसी प्रकार कुछ वाक्य भी द्वयर्थक होते हैं । जैसे "श्वेतो धावति" से श्वा इतो धावति-कुत्ता यहाँ से दौड़ता है और श्वेत गुण वाला दौड़ता है । ये दोनों

अर्थ प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार "अलम्बुसानां याता से अलम्बुस नामक देश को जाने वाला और "बुसानां याता अलम्" "भूसे को प्राप्त करने वाला समर्थ है ।" दोनों अर्थ प्राप्त होते हैं । इसी तरह गर्गादि विदादि से समुदाय की सिद्धि और कलत्व आदि दोषों की निवृत्ति, दोनों ही कार्य हो जायेंगे ।

(भाष्यम्)

अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः—क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्निति?

आगमेषु। आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते।

विकारेषु तर्हि । विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ।

प्रत्ययेषु तर्हि। प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ।

धातुषु तर्हि । धातवोऽपि शुद्धाः पठ्यन्ते ।

प्रातिपदिकेषु तर्हि। प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते ।

यानि तर्हि अग्रहणानि प्रातिपदिकानि । एतेषामपि स्वरवर्णानु-पूर्वीज्ञानार्थ उपदेशः कर्त्तव्यः । शशः षष इति मा भूत् । पलाशः पलाष इति मा भूत् । मञ्चको मञ्जक इति मा भूत् ।

आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः।

उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ता फलादयः।।

प्रदीपः—अथ वेति । केवलानां वर्णानां लोके प्रायोगाभावाद्धात्वदीनां च शुद्धानां पाठात् तत्स्थत्वाच्च वर्णानां न कश्चिद्दोषः । यानि तर्हीति । डित्थादीनि । एतेषामपीति । शिष्टप्रयुक्तत्वेनोणादीनां पृषोदरादीनां च साधुत्वाभ्यनुज्ञानात्स- र्वेषामत्र सङ्ग्रहः सिद्धः ।

अनुः—अथवा इससे (आकृति के उपदेश से संवृतादि के प्रतिषेध की आवश्यकता बताने वाले से) यह पूँछना चाहिए कि ये संवृत आदि कहाँ सुने जा सकते हैं । आगमों में? आगमों का पाठ शुद्ध किया गया है तो आदेश आदि विकारों में? विकार भी शुद्ध पढ़े गये हैं । तो फिर प्रत्ययों में प्रत्यय शुद्ध पढ़े गये हैं । तो धातुओं में ? धातु भी शुद्ध पढ़े गये हैं ।

तो फिर जो (विधिवाक्यों में) अग्रहीत प्रातिपादिक है उनमें? उनका भी स्वर और वर्णानुपूर्वी के ज्ञान के लिये संग्रह करना चाहिए जिससे 'शश' 'षष' न हो जाय । पलाश पलाष न हो जाय और मंचक मंजक न हो जाय ।

आगम् आदेश, प्रत्यय और धातु इन सबका (आचार्य ने) शुद्ध उच्चारण किया है । अतः इनमें कलत्व आदि दोष प्राप्त नहीं होते ।

।। इति श्रीमद्भगवत्पतंजलिविरचिते महाभाष्ये प्रथमाध्ययास्य प्रथमपादे प्रथमं पश्पशाह्निकम् ।।

✤ ✤ ✤

संस्कृत निबन्ध

1. वेदानांरचनाकाल

वेदाः भारतीयानां हि आद्या धर्मग्रन्थाः सन्ति । वेदानां महत्त्वस्य गौरवस्य च विषये विद्वत्सु एकवाक्यता, परन्तु रचनाकालविषये गम्भीरो मतभेदो दृश्यते । समस्तवैदिकवाङ्मयं समवबोद्धुं कोऽपि एकोः ग्रन्थविशेषः नास्ति, अपितु विभिन्नकालेषु विभिन्नैः सत्पुरुषैः- ऋषिभिः प्रणितानां कृतीनामेका संकलिता समष्टिः अस्ति, अस्य रचनायाः एका दीर्घकालीन परम्परा विद्यते । इयं परम्परा कस्मिन् काले प्रवृत्ता अभवत्, इति कथनं कठिनमस्ति ।

वैदिकवाङ्मयस्य रचना कदा अभवत् ? आधुनिककाले विभिन्नैः विद्वद्भिः अस्य रचनाकाले विचारः कृतः, स्वानि-स्वानि विभिन्नमतानि प्रस्तुतानि येषु कतिचन विचाराः प्रस्तूयन्ते-

1. डॉ. मैक्समूलरमहोदयस्य मतम्-

मैक्समूलरमहोदयः

मैक्समूलरमहोदयः 1859 ईसवीये वर्षे स्वकीयं "प्राचीनसंस्कृतसाहित्यम्" नामकं ग्रन्थं प्रकाशितवान् । अस्मिन् ग्रन्थे अनेन वेदानां रचनाकालविषये विस्तृतविचारं प्रस्तुतम् । अस्य मतं विद्यते यत् बौद्धध र्मः सम्पूर्णस्य वैदिकवाङ्मयस्य पुर्वास्तित्वं स्वीकरोति, अतः सिद्धं भवति यत् संहिताः ब्राह्मणग्रन्थाः आरण्यकानि, उपनिषदः कल्पसूत्राणि गौतमबुद्धात् पूर्वमेवास्तित्वे आसन् । सम्पूर्णस्य वैदिकसाहित्यस्य रचनाकालं चतुर्षु कालेषु विभाजनं क्रियते तेन वर्षशतद्वयात्मकः समयः कल्पितः । तदनुसारेण महात्मागौतमबुद्धः ईसातः पूर्वं षष्ठशताब्द्यां जातः बौद्धधर्मश्च ईसातः पूर्वं पञ्चमशताब्दीसमीपकाले प्रसृतः, अतः वैदिक-युगस्य अन्तिमकालस्य-सूत्रकालस्य प्रारम्भ्ये ईसातः पूर्वं षष्ठशताब्द्यां स्वीकर्तुं शक्ये । ईसातः पूर्वं सप्तमाष्टमशताब्दीकालः ब्राह्मणकालः आसीत्, यस्मिन् ब्राह्मणारण्यकोपनिषदां रचना कृता । अनेन प्रकारेण ईसातः पूर्वं सहस्राब्द्या, आरभ्य अष्टमशताब्दीप्रारम्भपर्यन्तः कालः मन्त्रकालः, यस्मिन् यज्ञानुष्ठानस्य दृष्ट्या मन्त्राणां संहितारूपे संकलनं जातम् । ईसातः पूर्वं दशमशताब्द्याः आरभ्य सहस्राब्दीप्रारम्भपर्यन्तं च छन्दः कालः आसीत्, यस्मिन् मौलिकरूपेण मन्त्राणां रचना कृता । यतः मन्त्रभागे ऋग्वेदः प्राचीनतमः अस्ति अतः ऋग्वेदस्य रचनाकालप्रारम्भः ईसातः पूर्वं द्वादशशततमं वर्षमासत् । मैक्समूलरमहोदयस्य इदं मतं कियत् काल्पनिकम् अस्ति इति कथनस्य आवश्यकता नास्ति । परतः इदं तथ्यं स्वयं ने एव अनुभूतम्, अतः 1889 ईसवीये वर्षे स्वकीयायाः 'जिफोर्ड-व्याख्यानमालायाः अवसरे 'भौतिकधर्म' शीर्षके व्याख्याने सः घोषितवान् यत् तन्निर्दिष्टः वेदरचनाकालः अनुमानमात्रामस्ति, वस्तुतः निश्चितरूपेण तु कोऽपि कथयितुं न शक्नोति यत् वेदानां रचना कदा प्रारब्धा । कोलब्रुकविल्सनकीथादीनां मतानि अपि प्रायः मैक्समूलरस्य मतेन एव समानानि सन्ति ।

2. मैकडोनलमहोदयस्य मतम्—

मैकडोनलमहोदयः अपि मैक्समूलरमहोदयेन निर्दिष्टात् वेदरचनाकालात् इतस्तत एव ऋग्वेदस्य रचनाकालं स्वीकरोति । एतेन संकलितस्य सम्पादितस्य च "वैदिकरीडर" अभिधानस्य पुस्तकस्य 'परिचये' अस्य कथनं विद्यते यत् ऋग्वेदस्य वास्तविकरचनाकालः अनुमानमात्रविषयः, पुनरपि इयत्

निश्चितरूपेण वक्तुं शक्यते यद् ऋग्वेदस्य प्राचीनतमानि सूक्तानि ईसातः पूर्वं त्रयोदशशताब्द्याः अर्वाचीनानि न सन्ति । इदं अस्मात् कालाद् (13 शताब्दी ई. पू.) अधिकपूर्वकालम् ऋग्वेदस्य रचनाकालं मन्तुं प्रस्तुतः नास्ति । अस्य कथनं विद्यते यत् 'अवेस्तायां' प्राचीनभागः ई. पू. 8 शताब्दीतः पूर्वकालीनो नास्ति । ऋग्वेदस्य भाषा शताब्दीपञ्चके विकसिता सति अवेस्ताभाषारूपे अभवत् । अतः सिद्धं भवति यत् भारतीयाः ईरानीयेभ्यः ईसातः पूर्वं त्रयोदशशततमात् अब्दात् पूर्वम् पृथक् न अभवन् । अयं पार्थक्यकाल एव ऋग्वेदस्य रचनाकालः वर्तते । अयमेव मैकडोनमहोदयस्य मतमिति ।

3. डॉ. अविनाशचन्द्रमहोदयस्य मतम्—

अविनाशमहोदयेन ''ऋग्वैदिक इण्डिया'' इति ग्रन्थः रचितः । एतस्मिन् ग्रन्थे ऋग्वेदस्य रचनाकालविषये सम्यक्तया विचारः लिखितः । ''रायः समुद्राँश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः । आ पवस्य सहस्रिणः'' एका चेत् सरस्वतीनदीनाम्'' इत्यादि वर्णनानुसारं साधितमिदं यत्तस्मिन् को वर्णितेषु चतुर्षु सागरेषु अन्यतमः पञ्चनदाददक्षिणेभागे राजस्थान आसीत् तस्मिन्नेव च सरस्वतीसिन्धुप्रभृतयो नद्योऽपतन् । सम्प्रति समुद्रोऽयं न वर्ते ।

भूगर्भविद्याविशारदैः विचक्षणैः एषः सिद्धान्तः स्वीकृतो यद् अस्य समुद्रस्य स्थितिः ईसातः 25000 वर्षेभ्यः पूर्वकालीना आसीत् । तस्य समुद्रस्य तत्पतनशीलानां सरिताञ्च वर्णनं प्रस्तुत्यं ऋग्वेदस्य रचनाकालः स एव इति निगदितवान् ।

अत्र वेदानां विशेषतश्च ऋग्वेदस्य रचनाकालविषये विभिन्नानां विदुषां मतानि संक्षेपेण उल्लिखितानि वर्तन्ते– अद्यावधिपर्यन्तमस्मिन् विषये विद्वत्सु मतैक्यं नास्ति । अस्मिन् समये तु यथा च अत्र एव पूर्वम् उक्तम्, इयमेव शक्तुं शक्ये यत् विश्वस्य प्राचीनतमवाङ्मयस्य ऋग्वेदस्य रचना एतादृशे अतीतकाले अभवत् यत् अवबोद्धुं अधुनावधि आधुनिकः इतिहासः असमर्थः अस्ति । यदि विशिष्टतया कथयितुं प्रभवेम चेत् इदमेव वक्तुं शक्यते यत् ऋग्वेदे अग्नेः प्रकाशमानं स्वरूपं कार्यं विविधं महत्त्वं च प्रति महत् आश्चर्यं प्रकटितं सत् वर्तते, अतः सम्भाव्यते यत तस्य रचना तस्मिन् समये प्रारब्धा यदा अग्नेः आविष्कारे जाते सति अधिकः कालः न व्यतीतः अभवत् । शब्दान्तरेषु, अग्निपरिचयस्य अग्न्याविष्कारस्य वा कालात् अदूरवर्ती एव अर्वाक्कालः वेदानां प्राचीनतमस्य ऋग्वेदस्य तस्मादपि वा प्राचीनतमस्य अंशस्य रचनाकालः वर्तते। अयमेव अविनाशचन्द्रमहोदयस्य मतमिति ।

4. जैकोबी महोदयस्य मतम्-

प्रो. जैकोबी महोदयस्य मतिमदं यत् विवाहप्रकरणे कल्पसूत्रान्तर्गते ''ध्रुव इव स्थिरा भव'' इति संकेतानुसारं तत्काले तस्याधिकप्रकाशसम्पन्नतां सिद्ध्यति । एतादृशी स्थितिः प्रायः ईसातः पूर्वं 2700 वर्षे आसीत्, अतः कल्पसूत्राणां रचनाकालः अयमेव अस्ति । वेदानां रचना च अस्मात् कालात् अतिशयितरूपेण पूर्वम् अभवत् । एव ध्रुवस्य अर्थ च अन्येषां ग्रहाणां नक्षत्राणां च स्थितेः आधारे ज्योतिर्विज्ञानसाहाय्येन जैकोबीमहोदयः ऋग्वेदस्य रचनाकालम् ईसातः पूर्वं 4500 वर्षे स्वीकुर्वे स्म।

5. लोकमान्यतिलकमहोदयस्य मतम्-

लोकमान्य तिलकमहोदयस्य मते वेदरचनाकालः इतोऽपि किञ्चित् प्राचीनः सिद्ध्यति । तिलकः कृत्तिकानक्षत्रे वसन्तसम्पातस्थितेः वर्णनमाधारीकृत्य ब्राह्मणग्रन्थानां रचनाकालम् ईसापूर्वं प्रायः 2500

वर्षे मन्वते । ऋग्वेदे मृगशिरसि पुनर्वसौ च वसन्तसम्पातस्य स्थितेः वर्णनमस्ति । गणनया पुनर्वसौ वसन्तसम्पातस्थिततिकालः ईसातः प्रायः षट्सहस्रवर्षेभ्यः प्राक् विस्त्रेतुं शक्यते । अयं वैदिकवाङ्मये वर्णितायाः वसन्तसम्पातस्थितेः आधारेणैव वैदिकयुगं निम्नेषु चतुर्षु भागेषु विभक्तवान्–

(i) आदिकाल — (6000–4000 ई. पू.) पुनर्वसौ वसन्तसम्पातस्थितिकालः एतन्नक्षत्राधिदेवतायाः उदितेः नाम्नः आधारेण 'आदितिकालः' कथितः अस्ति । अयं वैदिककालस्य आदिकालः वर्तते । तिलकमहोदयस्य मतानुसारेण अस्मिन् युगे कतिपयाः प्रारम्भिकाः वैदिक्यः रचनाः गद्ये पद्ये च जाताः यासां च देवयजने प्रयोगः क्रियते स्म ।

(ii) मृगशिराकालः–(4000–2500 ई. पू.) अस्मिन् काले ऋग्वेदस्य मन्त्राणाम् अधिकांशतः रचना जाता । आर्यसभ्यतायाः वैदिकरचनाविकासस्य च दृष्ट्या अयं महत्त्वपूर्णः कालः आसीत् ।

(iii) कृत्तिकाकालः– (2500–1400 ई. पू.) अस्मिन् काले शतपथ–ब्राह्मणतैत्तिरीयसंहितयोः रचना जाता ।

(iv) अन्तिमः कालः– (1400–500 ई. पू.) अस्मिन् समये कल्पसूत्राणां दर्शनसूत्राणां च रचना अभवत् । अस्य कालस्य अन्तिमे भागे बौद्धधर्मः वैदिकधर्मस्य प्रतिक्रियारूपे उदितवान् ।

एव प्रकारेण तिलकमहोदयस्य मतानुसारेण ऋग्वेदस्य रचनाकालः प्रारम्भः ईसातः पूर्वं 4000 वर्षे अभवत् ।

6. शंकरबालकृष्णदीक्षितमहोदयस्य मतम्–

दीक्षितमहोदयेन प्रकाण्डज्योतिषविद्याविदुषां ज्योतिर्विज्ञानमाधारीकृत्य वेदरचनाकालो विचारितम् । शतपथब्राह्मणस्थेन "एकं द्वे त्रीणि" इत्यादिना कृत्तिकायाः वर्णनेन अयं निष्कर्षो विहितो यत्काले तस्मिन् पूर्वीयबिन्दुतः कृत्तिकाणाम् अप्रचलनादस्मिन् काले च प्रचलनदर्शनात् शतपथरचनाकालः 2500 ई. पूर्वं एव । शतपथब्राह्मणस्य अपेक्षया चात्यधिकं प्राचीनत्वात् ऋग्वेदस्य रचनाकालः 3500 ई. पूर्वात् परवर्ती कथमपि न भवितुमर्हति । अस्मिन् निर्णये च विदुषानेन वसन्तसम्पातवर्णनस्यापि साहाय्यं दर्शितम् । अयमेव शंकरमहोदयस्य मतमिति ।

अस्माकं मते तु वेदाः अपौरुषेयाः सन्ति । तेषां सत्त तु सृष्टेः पूर्वमपि आसीत् । वैदिकाः ऋषयः स्वदिव्यदृष्ट्या तेषां दर्शनमकुर्वन् । त एव ते सृष्ट्या सहैव समुद्भूताः आसन् इति ।

2. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्

वेदाः खलु ज्ञानराशयः । विविधविद्यानां सकलशास्त्राणां, सर्वधर्माणां, विश्वसंस्कृतीनां, विभिन्नदर्शनानां कमनीयकलानां च स्रोतांसि वेदेषु प्राप्यन्ते । भारतीयधर्मस्य संस्कृतेः च मूलं ध र्मार्थकाममोक्षेति चतुर्विधं पुरुषार्थानां साधनम्, ऐहिकामुष्मिकसुखसिद्ध्याश्च निदानम् आर्यजातीयानां हिन्दूनां परमं प्रमाणं वेदाः एवेति ।

वेदशब्दस्यार्थः कोऽयमिति जिज्ञासायामुच्यते वेद शब्दो हि । अयं विद्ज्ञाने इति धातोः घञ् प्रत्यये कृते सति 'वेदशब्दः' सिद्ध्यति । धातुपाठेऽन्येऽपि बहवः 'विद्' धातवः पठिताः । तद्यथा विद्–सत्तायाम्, विद्लृ–लाभे, विद्विचारणे, विद् चेतनाख्याननिवासेषु । अयमेव अर्थः श्लोकेऽपि संगृहीतो वर्तते–

NOTES

**सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे ।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन् लुक्श्नम् शेषु त्वं क्रमात् ।।**

वेदेषु एव एतेषां सर्वेषामपि धातूनां तेषामर्थानां च सार्थकता दृष्टि प्रथमायाति । अत एव स्वामी-दयानन्द- सरस्वतीमहोदयेन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां या वेदशब्दस्य व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता सा नितान्तसमीचीना-

''विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः'' इति ।

सायणाचार्येण वेदशब्दस्य व्युत्पत्तिं कुर्वता लिखितम्-

''इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'' ।

सायणीयकृष्णयजुर्वेदीयभाष्यभूमिकायामेव कथितम्-

**''प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।।''**

इति वचनमुपन्यस्तं प्रमाणत्वेन । तदेवं विधानां सर्वेषामपि व्युत्पादकानां तात्पर्यविषयीभूतोऽर्थः समान एव । स च वेदानामखिलविद्या- विधानत्वेऽपौरुषयत्वे नित्यत्वे च पर्यवसितोऽवेक्षितव्य इति।

वेदकालनिर्णयस्तु दुरधिगम्य इति सर्वविदितमेव । अस्मिन् विषये प्राच्येषु एव पाश्चात्यविद्वत्सु मतैक्यं नास्ति । तथाहि वेदकालनिर्णये तेषां प्रयत्नो प्रशंसनीयो अस्ति । केचन ख्रैस्तसंवत्सरात्प्राक् 1000 वर्षपूर्वं, अन्ये तत्प्राक् 2000 वर्षपूर्वं, भारतीयविद्वत्सु तिलकमहोदयाः ख्रैस्तपूर्वं 4500 वर्षपूर्वं, अविनाशमहोदयः 25000 वर्षादारभ्य 75000 वर्षपर्यन्तसमयान्तरालः एव वेद निर्माणकालं इति निश्चत्वन्ति । अस्माकं प्राचीनैराचार्यैः ऋषिभिर्महर्षिभिश्च लोकोत्तर चिरस्थायिनी कीर्तिः प्राप्त च अद्यापि भूतं-भव्यं भविष्यञ्च सर्व वेदात्प्रसिध्यति 'इति मनूक्तप्रामाण्यवचनानुसारं वेदाः अस्माकं पथप्रदर्शका, जीवनविधायका एकमात्रशरणाः सन्ति । वेदा एव धर्मः प्रतिपादकाः । उक्तञ्च '

''धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रफतिः ।''

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः ।

वस्तुतस्तु मनुना लिखितम्-

''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' इति । संसारे मानवा नाविधदुःख- सन्तानैः सन्तप्यमानाः नाधि ागच्छन्ति शान्तिलवमपि इत्यत्र, किं कारणम् ? नहि कारणं विना किमपि कार्यं सञ्जायते, अतः यत्कार्यमकल्याणकरं तस्य करणेन तेषां दुःखप्राप्तिः भवन्ति । अतः तत्परिहाराय कल्याणकरकर्मणा सम्पत्तये किमपि विधायकं शास्त्रमावश्यकमिति आलोच्यान्वेषणे कृतेऽस्माकं सनातनवेद एव शुभकर्मसु नियोक्ता इति निश्चये, यतः कल्याणं भद्रं सुखं च पुण्यकर्मणाम् अनुष्ठानेन एव भवति । शुभकर्माणि च तान्येव यानि वेदः उपदिशति, वेदविहित। यत्कर्म तत्तु धर्म इति कथ्यते, अतः 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' इति कथनं समीचीनम् ।

सत्यं वद, धर्मं चर, यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिभिः सदाचारस्य पालनं करणीयमित्युपदेशः वेदस्य चातुर्वर्ण्यं तयोः लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति । मनुस्मृतिकारेण लिखितम्–

"वेद एव परो धर्मः" इति ।।

आधुनिकाः पुरातनाश्च जैनबौद्धादयः धर्माः वेदमेवाङ्गकृत्यास्मिन् संसारे प्रादुर्भूताः । यदा वेद ईश्वरमग्निनाम्ना वर्णयति तदा ईशाईमुहम्मदीय धर्मा 'नूर' (प्रकाश) इति संज्ञा प्रददति ।' यदा हजरत-मूशा-ईशसाक्षात्कारं कृतवान् तदा तेन 'नूरः' पर्वतः अग्निमयो दृष्टः । ईसाई धर्मावलम्बिनां 'वपतिस्मा' अस्माकञ्च' आप शुन्धतुमैनस' इति उभ्येषां संस्काराः जलेनैव भवितुं शक्नुवन्ति "खुदा का अंश पानी पर था और ईश्वर का आत्म जल पर मण्डराता था" इत्यादि कुरानबाईबिलादीनां विचाराः तु अस्माकं वेदानामनुकरणमेव कुर्वन्ति । तद्यथा' –"महद्यक्षं भुवनस्य मध्यते तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे" इति यजुर्वेदस्य कथनम् । कुरानस्य भाष्कारो वर्णयति 'हजरत आदम इति यावत् यदा सुरपाण्या दशअभिलेखाना नीत्वा अगच्छत् (सुरपानी, सुरवाणी, देववाणी इति तु संस्कृत भाषायाः नामानि) तानि ऋग्वेदस्य दशमण्डलानि सन्ति । इत्यत्र नास्ति कश्चित् सन्देहलेशोऽपि । भगवता मानवाय वाणीं प्रदत्त तथा ज्ञानस्य आकराः वेदाः इति ।

संस्कृतसाहित्ये वैदिकवाङ्मयस्य वैशिष्ट्यं को न जानाति । अत्युक्तिप्रतिष्ठा वैदिकवाङ्मयस्य विभूतिः इति तावद् वक्तुं न शक्यम् । संस्कृतसाहित्ये वेदानां स्थानां सर्वोपरि विद्यते । भारतीयदर्शनस्य धर्मस्य च जीवनं वेदाः एव सन्ति । वैदिकवाङमयस्य अनाद्यपौरुषेयमन्त्रब्राह्मणात्मकवेदवत् चरणाश्रितसकलसच्छास्त्रतात्पर्यस्य च प्राचीनतमत्वे, सर्वभाषासाहित्यानां दैशिकवैदेशिकानां मूलभूतत्वेऽत्यन्तमुपादेयता च नास्ति लेशतोऽपि सन्देहो भाषातत्त्वविदां विद्वन्मूर्धन्यानाम् । अस्य ऐतिहासिकाध्ययनस्य परमावश्यत्वंम्प्रतिक्षणमनुभवन्ति भाषातत्त्वविदो विद्वांसः । भारतीयानामनुपमक्षयं धनमस्ति अस्य इतिहासः इति ।

आयार्णां सभ्यता संस्कृतिश्च वेदानेवाधारीकृत्य विराजते । वेदाः न केवलं भारतीयै रपितु वैदेशिकैः विदूद्भिरपि श्रद्धया अवलोकिताः सन्ति । भारतीयपरम्परानुसारेण वेदाः तु अपौरुषेयाः सन्त्येव । वेदेषु ज्ञान-विज्ञान-धर्म-दर्शन-सदाचार-संस्कृति-नैतिक-सामाजिक- राजनैतिकप्रभृतीनां जीवनोपयोगिविषयाणां सन्निवेशोऽस्ति । यत्र प्रत्यक्षस्य न चानुमानस्य प्रवेशस्तत्रापि ते प्रविशन्ति । स्मृतिपुराणादीनां मान्यत्वं तदनुगामित्वम् एवावतिष्ठते । एतान् विश्वकोषः एव मन्यन्ते विद्वांसः । वेदाः तु अस्माकं श्रेयप्रेयप्रभृतीनामपि साधनमस्ति । प्राचीनानिधर्म- समाज-व्यवहारप्रभृतीनि वस्तुजातानि बोधयितुं श्रुतयः एव क्षमन्ते । वेदास्तु धर्ममूलतयैव सर्वथा समादृताः सन्ति । अतः मनुना उक्तमेव–

"**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**" तथा "**वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ**" । इति ।

धार्मिकदृष्ट्या वेदानामत्यधिकमहत्त्वं वर्तते । सर्वेषां धर्माणां मूलस्रोतः वेदः एव इति मनुना उक्तमेव पूर्वम् यथा–

"**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** ।" आदिकालात् वर्तमानकालं यावत् सर्वेषामार्यजनानां क्रियाकलापस्य मूलबीजं वेदेषु एव सन्ति । सर्वेषां देवानां मतमतान्तराणां पद्धत्यादीनां विवेचनं वेदेषु एव वर्तते । वेदेषु सर्वेषाम् आर्यवंशजानां श्रद्धा आदिकालादेवास्ति । पृथिव्याः निवासिनः सर्वे हिन्दूजनाः स्वध

र्मस्य मूलतत्त्वं वेदेषु एव मन्यन्ते। भारतीयानां सर्वे देवा: तेषामुपासनमनुष्ठानञ्च तेषां पर्वाणि यज्ञा: मान्यता: परम्पराश्च वेदाश्रिता: सन्ति । अधुनाऽपि हिन्दूजनानां पर्वेषु वैदिकमन्त्राणामुच्चारणं श्रद्धया क्रियते । भारतनिवासिनां सर्वाणि मतमतान्तराणि वेदेषु एव आधृतानि । विभिन्नमतानुयायिन: आचार्या: स्वमतपुष्ट्यर्थं वैदिकमन्त्रानेव उद्धरन्ति । हिन्दूधर्मे ईश्वरापेक्षया वेदानामत्यधिकं महत्त्वं वर्तते । निष्कर्षरूपेण वक्तुं शक्नुम: यद् वेदानामुपयोगित्वं ज्ञात्वैव भारतीयै: पाश्चात्यैश्च विद्वद्भि: वेदानामध्ययने; स्वजीवनं समर्पितम् । स्वजीवनस्याभ्युदयार्थम् अस्माभिरपि वेदानामध्ययनं करणीयम् ।

3. वेदाङ्गानि

वेदानां सम्यग्रूपेण अवबोधनार्थं वेदाङ्गानां महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते । वेदानां यथार्थमभीष्टं च ज्ञानं भवितुं नार्हति । वेदाङ्गानि वेदार्थावबोधने सहायकरूपाणि एव विद्यन्ते । अङ्गशब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्य: अर्थोऽस्ति– "उपकारक: ।" अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि । अर्थात् येन कस्यापि वस्तुन: स्वरूपज्ञाने साहाय्यं मिलति तमङ्गमिति कथ्यते । वेद: स्वयमेव एक: दुरूहो विषयोऽस्ति । तदर्थज्ञाने तस्य कर्मकाण्डस्य प्रतिपादने यानि उपयोगीनि शास्त्राणि सन्ति, तान्येव वेदाङ्गानि भवन्ति । सर्वेषां प्राणिनां ज्ञानाय तेषां सहायकत्वमपेक्षितं तथैव वेदानामपि ज्ञानार्थं वेदाङ्गानि सहयोगं कुर्वन्ति । वेदमन्त्राणां सुरक्षादृष्ट्या वेदाङ्गानां ज्ञानमावश्यकमिति प्रतिभाति । वेदाङ्गै: एव पुरातनकालाद् वेदमन्त्रा: सम्प्रत्यपि स्वस्य अक्षुण्णरूपेण मूलरूपेण वा समुपलभ्यन्ते । वेदमन्त्राणां मूलस्य रक्षणं वेदाङ्गानां ज्ञानेनैव भवितुमर्हति। वेदमन्त्राणां मूलरूपस्य अक्षुण्यारूपेण संरक्षणार्थं अस्माकं प्राचीनाचार्यै: बहव: उपाया: सम्पादिता: विद्यन्ते। एतदर्थं वेदाङ्गानामपि प्रणयनं कृतम् ।

यथा अङ्गानि विविधरूपेण स्वाङ्गीनां सहयोगं संरक्षणं च कुर्वन्ति, तथैव वेदाङ्गान्यपि स्वाङ्गीनां वेदमन्त्राणां विविधरूपेण अनेकदृष्ट्या उपकारं कुर्वन्ति । वेदस्य यथार्थज्ञान-लाभाया षण्णं विषयाणां ज्ञानमपेक्षितं भवति–

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चय: ।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु ।।

अर्थात् वेदमन्त्राणामवितथोच्चारणेव प्रथमावश्यकं अस्ति । शब्दमयमन्त्राणां यथार्थोच्चारणस्य प्रवर्त्तमानं वेदाङ्गं 'शिक्षा' इति अभिधीयते । वेदस्य मुख्यप्रयोजनं वैदिककर्मकाण्डस्य यज्ञयागस्य च यथार्थानुष्ठानमस्ति । अस्मिन्नर्थे प्रवृत्तमानं वेदाङ्गं 'शिक्षा' इति अभिधीये । वेदस्य मुख्यप्रयोजनं वैदिककर्मकाण्डस्य यज्ञयागस्य च यथार्थानुष्ठानमस्ति । अस्मिन्नर्थे प्रवृत्तमङ्ग 'कल्प' इति उच्यते । वेदानां रक्षकत्वाद् वेदार्थावबोधने सहायकत्वात् प्रकृतिप्रत्ययोपदेशपुर: सरपदस्वरूपप्रतिपादकत्वांदर्थनिर्णयनकृत्साधनेषु अन्यतमसाधनत्वेन प्रयुक्तत्वाद् व्याकरणं नाम वेदाङ्गं नितान्तमेव महनीयं श्रेष्ठञ्च अङ्गमङ्गेषु स्मृतम् । निरुक्तस्य विषय: अस्तिवैदिकपदानां व्युत्पादनम् । निरुच्यते निशेषेणोपदिश्यते तत् तदर्थावबोधनाय पदजातं यत्र तन्निरुक्तमिति कथ्यते । वेदा: सन्ति छन्दोबद्धा: अत: तेषामुच्चारणनिमित्तया छन्दोज्ञानं नितरामपेक्षितम् ।

संक्षेपेण वैदिकमन्त्राणां सम्यक् उच्चारणाय शिक्षाया:, कर्मकाण्डस्य यज्ञीयानुष्ठानस्य च निमित्तय कल्पस्य, शब्दानां रूपज्ञानाय व्याकरणस्य, अर्थज्ञानाय निर्वचनाय च निरुक्तस्य, वैदिकछन्दसां ज्ञानलाभाय छन्दसस्तथाऽनुष्ठानस्योचितका- लनिर्णयार्थं ज्योतिषास्त्रस्य च प्रयोजनमस्ति ।

आधुनिकेतिहासकाराणां कथनं वर्तते यद् षण्णमपि वेदाङ्गानां निर्माणं वैदिकयुगस्य उत्तरार्धभागे अभवत् । शिक्षा कल्पः, व्याकरणम्, निरुक्तम्, छन्दः, ज्योतिषञ्च इत्येतानि वेदाङ्गानां सन्ति नामानि । पाणिनीय शिक्षायामाह-

'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चयः ।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु ।।''

तथा च-

''छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।''

अत्र वेदस्य यानि अङ्गानि सन्ति, तेषां विस्ताररूपेण वर्णनं प्रस्तूयते-

(I) शिक्षा — शिक्ष्यते वर्ण-स्वराद्युच्चारणविधिः यया सा शिक्षा । अनया व्युत्पत्या अकारादीन् वर्णान् तदुच्चारणप्रक्रिया शिक्षायाञ्च उपदेशः भवति इति ज्ञायते । शिक्षया वर्णानामुच्चारणप्रक्रिया सम्यक्तया अवबोध्यते । वेदे स्वरस्य प्राधान्यं सर्वविदितम् अस्ति । वेदमन्त्राणाम् अशुद्धोच्चारणम् अनिष्टकारकं भवति । यतो हि मनसा अशुद्धोच्चारितेन वर्णेन स स्वाभीष्टार्थं कथने समर्थे न जाये । अत एव तेषामभी ष्टार्थं प्रापणार्थं तत्र प्रयुक्तवर्णानां यथोचितमुच्चारणम् आवश्यकं भवति, अन्यथा तु तेषामभीष्टार्थज्ञानं भवितुं न शक्यते यथा अभीष्टार्थज्ञानार्थं वर्णानामभीष्टोच्चारणम् आवश्यकं तथैव उदात्तादीनां स्वराणामपि ज्ञानमपेक्षितम्, यतो हि स्वरपरिवर्तनेन अपि वेदमन्त्राणाम् अर्थपरिवर्तनं भवति । अत एव वर्णानामुच्चारणप्रक्रियायाः ज्ञानेन सहैव मन्त्राणामभीष्टस्वरज्ञानमपि आवश्यकं विद्यते । तथ्यमिदं महर्षिपाणिनिना स्वशिक्षायां सुष्ठुतया प्रतिपादितम्-

''मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशुः स्वरतोऽपराधात् ।।''

अनया एव दृष्ट्या महर्षिभिः वेदमन्त्राणां शुद्धच्चारणार्थम् उदात्तादिस्वराणामवबोधनार्थं च शिक्षावाम्नः वेदाङ्गस्य प्रणयनं कृतम् ।

शिक्षा शास्त्रोतिहासः पुरातनपरः । परं न तद्विषयकाः प्राचीनतरा प्राचीनतमा वा ग्रन्थाः उपलभ्यन्ते । श्रीवाचस्पतिगैरोला स्वकीये इतिहासे लिखति यत् सत्यकेतुविद्यालङ्कारस्य मतमिदं यत् 'जैगीषव्यस्य शिष्यो बाभ्रव्यः शिक्षाशास्त्रा प्रणिताय ।'' महाभारते शान्तिपर्वणि आचार्यगालवकृतस्य शिक्षाग्रन्थस्य उल्लेखो लभ्यते । भण्डारकरशोधसंस्थान-पूनातः भारद्वाजशिक्षायाः प्रकाशनं जातमस्ति । तत्रा नागेश्वरभट्टस्य टीका च वर्तते । नागेश्वरमतेन स ग्रन्थो भारद्वाजेन प्रणतः । शिक्षासंग्रहनामके ग्रन्थे द्वात्रिंशच्छिक्षापुस्तकानां संग्रहोऽवाप्ये । शिक्षा इमाशचतुर्णामपि वेदानां भिन्नभिन्नशाखास्वात्मानं सम्बध्नन्ति । श्रीबलदेव-उपाध्यायः स्वकीये 'वैदिकसाहित्य और संस्कृति' इत्येतदभिधेयग्रन्थे याज्ञवल्क्यशिक्षाव- सिष्ठीशिक्षादिसंज्ञकानां विंशतिग्रन्थानामुल्लेखं विदधानो दृश्यते । साम्प्रतं समवाप्ता पाणिनीयशिक्षा प्राचीनशिक्षासूत्राणां साहाय्येन प्रणताऽभूदिति बुधानां विचारः । अद्यतने युगे पाणिनीयशिक्षां स्वामी-दयानन्दः उद्दधार । इदमपि स्मरणीयमत्र यदिदानीं शुक्लयजुर्वेदे याज्ञवल्क्यशिक्षा, सामवेदे

NOTES

नारदशिक्षा, अथर्ववेदे माण्डूकीशिक्षा, किञ्च ऋग्वेदे पाणिनीयशिक्षा प्राप्यन्ते न च अन्याः काऽपि ।

(II) कल्पः—वेदानां द्वितीयमङ्गमस्ति कल्पः इति । कल्प्यते समर्थ्यते यज्ञयागादिप्रयोगाः यस्मिन् तत्कल्पसूत्रम्। कर्मकाण्डविधिविषयकाः ग्रन्थाः कल्पसूत्रेति पदेन व्यपदिश्यन्ते ।

ब्राह्मणकाले यागस्य तावान् प्रचारो जातो यदेषां यथावज्ज्ञानाय पूर्णपरिचयप्रदायकग्रन्थाः नामावश्यकताऽनुभूयते स्म । तामेव आवश्यकतां स्वल्पैः शब्दैः पूरयितुं कल्पसूत्राणि विरचितानि । वेदविहितानां कर्मणां व्यवस्थापनं क्रमपूर्वकं कल्पशास्त्रे कल्पितम् ।

कथितञ्च—

''कल्पो वेदविहितानां कर्मणामनुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्'' ।

कल्पसूत्राणि द्विविधानि-श्रौतसूत्राणि स्मार्त्तसूत्राणि च । श्रुत्युक्तयागविधिप्रकाशकानि श्रौतसूत्राणि । स्मार्त्तसूत्राण्यपि द्विधा-गृह्यसूत्राणि धर्मसूत्राणि च इति ।

श्रौतसूत्रेषु अग्नित्रयाधानम्, अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, पशुयागः, नानाविधाः सोमयागाश्चेति विषयाः समुपपादिताः। मुख्यरूपेण कल्पसूत्राणि चतुर्विधानि भवन्ति-श्रौतसूत्राणि, गृह्यसूत्राणि, धर्मसूत्राणि शुल्वसूत्राणि च । श्रौतसूत्रेषु, ऋग्वेदस्य द्वे श्रौतसूत्रे स्तः— आश्वलायनश्रौतसूत्रम्, शाङ्खायनश्रौतसूत्रञ्च। शुक्लयजुर्वेदस्य एकमात्रं श्रौतसूत्रम्, कात्यायनश्रौतसूत्रम् अस्ति । कृष्णयजुर्वेदस्य बौधायनश्रौतसूत्रम्, आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्, सत्याषाढम् वा श्रौतसूत्रम्, वैखानसश्रौतसूत्रम्, भारद्वाजश्रौतसूत्रम, मानवश्रौतसूत्रम्, वाराहश्रौतसूत्रञ्चेति सप्तसूत्राणि उपलभ्यन्ते । सामवेदस्य आर्षेयकल्पसूत्रम्, प्राचीनतम् मन्यते । एतदतिरिक्तम् अस्य वेदस्य लाट्यायनश्रौतसूत्रम्, द्राह्यायणश्रौतसूत्रम, जैमिनीय श्रौतसूत्रञ्चेति श्रौतसूत्राणि सन्ति । अथर्ववेदस्य श्रौतसूत्रं वैतानश्रौतसूत्रम अस्ति ।

गृह्यसूत्रेषु ऋग्वेदस्य आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, शाङ्खायनगृह्यसूत्रञ्चेति गृह्यसूत्रद्वयं प्रसिद्धम् अस्ति । एतदतिरिक्तम् अस्य वेदस्य कौषीतकिगृह्यसूत्रम् अपि प्रकाशितं जातम्, यच्च शांखायनगृह्यसूत्रेण सह बहु साम्यं धत्ते । शुक्लयजुर्वेदस्य एकमात्रं गृह्यसूत्रम्-पारस्करगृह्यसूत्रम् प्रसिद्धम् अस्ति, यस्य च अनेकाः व्याख्याः उपलभ्यन्ते । कृष्णयजुर्वेदस्य बौधायनगृह्यसूत्रम् । आपस्तम्बगृह्यसूत्रम्, हिरण्यकेशिगृसूत्रम्, भारद्वाजगृह्यसूत्रम्, मानवगृह्यसूत्रम्, काठकगृह्यसूत्रञ्चेति गृह्यसूत्राणि सन्ति । सामवेदस्य गोभिलगृह्यसूत्रम् खादिरगृह्यसूत्रम, जैमिनीयगृह्यसूत्रञ्चेति गृहयसूत्राणि सन्ति । अथर्ववेदस्य एकमात्रं गृह्यसूत्र कौशिकगृह्यसूत्रम्स्ति, यस्मिन् प्राचीनायाः भारतीययातुविधायाः बह्वीसामग्री उपलभ्यते। धर्मसूत्रसाहित्यम् अद्य पूर्णतः उपलब्धं नास्ति । उपलब्धेषु धर्मसूत्रेषु गौतमधर्मसूत्रं प्राचीनतमं मन्ये । प्राचीनेषु धर्मसूत्रकारेषु केवलं मनोः उल्लेखः अत्र वर्ते, किन्तु मनोः नाम्ना सम्बद्धं, 'मानवधर्मसूत्रम्' यदाधारे 'मनुस्मृतेः' रचना मन्यते, अधुनावधि उपलब्धं नास्ति । गौतमधर्मसूत्रातिरिक्तानि उपलब्धानि धर्मसूत्राणि बौधायनधर्मसूत्रम्, आपस्तम्ब-धर्मसूत्रम्, हिरण्यकेशिधर्मसूत्रम्, वासिष्ठधर्मसूत्रञ्चेत्यादीनि सन्ति ।

उपलब्धानि शुल्वसूत्राणि अपि संख्यायां बहूनि न सन्ति । । उपलब्धेषु शुल्वसूत्रेषु कात्यायनशुल्वसूत्रं प्रसिद्धम् अस्ति । अन्यानि उपलब्धानि शुल्वसूत्राणि बौधायनशुल्वसूत्रम्, आपस्तम्बशुल्वसूत्रम्, मानवशुल्वसूत्रं च इत्यादीनि सन्ति ।

(III) व्याकरणम् — व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेन इति शब्दज्ञानजनकं शास्त्रं व्याकरणम् । अयं शब्दः वि+आङ उपसर्गाभ्यां 'कृ' धातोः ल्युट्प्रत्यये कृते सिध्यति । भाष्यकारः पतञ्जलिः व्याकरणस्य अपरं नाम शब्दानुशासनं प्रस्तौति । किं नाम अनुशासनम् इति ? प्रश्नोऽयं विचारपथि आगते अहम् इदं वक्तुं शक्नोमि यदनुशिष्यन्ते अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधुशब्दाः अनेनेति तदनुशासनम् । अनेन प्रकारेण शब्दानामनुशासनम् इति शब्दानुशासनं कथितुं शक्यते ।

व्याकरणशास्त्रे हि शब्दानां प्रकृतिप्रत्ययादीनां सूक्ष्मातिसूक्ष्मं विवेचनं विद्यते । एतदतिरिक्तं ध्वनिस्फोटादीनां संज्ञासन्धिसमारादीनाम् आगमादेशप्रकृतिप्रत्ययादीनां पदवाक्यपदार्थादीनाञ्च विवेचनमपि व्याकरणशास्त्रे एव प्राप्यते । भगवता भाष्यकृता पतञ्जलिना व्याकरणस्य पञ्चप्रयोजनानि उपस्थाप्यन्ते—

'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् ।'

भाष्यकारमतेन वेदानां रक्षार्थम् ऊहार्थं लघ्वर्थमसन्देहार्थञ्च व्याकरणाध्ययनम् अनिवार्यम् । तात्पर्यमिदं यत् वेदरक्षणार्थं समुचित-शब्दप्रयोगार्थं न्यूनपदतां दूरीकरणार्थम् अधिकपदतां संक्षिप्तीकरणार्थं वेदस्य स्वरूपे सन्देहनिवृत्यर्थञ्च व्याकरणम् अध्येतव्यम् । भगवान् पतञ्जलिः आदिशति यद् ब्राह्मणैः निष्प्रयोजनमपि षड्वेदाङ्गानाम् अध्ययनमवश्यमेव कर्त्तव्यम्-

''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मोः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।''
प्रधानञ्च षडङ्गेषु व्याकरणम् ।'' (महाभाष्यम्) ।

अस्मिन् संसारे भाषायाः महत्त्वं सुविदितमेव । मानवाः भाषामाध्यमेनैव भावानां विचाराणाञ्च पारस्परिकम् आदानप्रदानं कुर्वन्ति । भाषया एव वयं सर्वे जनाः अन्येषां जनानां मनोभावान् जानीमः । कथनेऽस्मिन् अतिशयोक्तिः न भविष्यति यत् संसारे अस्मिन् भाषायाः एव सर्वाणि कार्याणि प्रचलन्ति । भाषायाः शुद्धस्वपस्य परिज्ञानाय व्याकरणाध्ययनस्य सुतराम् अपेक्षास्ति । इमं विना भाषायाः शुद्धं स्वरूपं कथमपि ज्ञातुं न शक्यते । शुद्धशब्दज्ञानाय, शुद्धवर्णोच्चारणाय, शुद्धशब्दप्रयोगाय च व्याकरणशास्त्रस्य अध्ययनं अत्यावश्यकम् । केनचित् विदुषा सत्यमेव उक्तम्-

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ।

ये जनः व्याकरणस्य अध्ययनं सुष्ठुरूपेण न करोति सः स्वजनशब्दस्यार्थं स्वकीयः जनः इति न गृहीत्वा प्रमादवशात् अज्ञानवशाद् वा स्वान् एव गृह्णाति । सकृत् शब्दस्यार्थं भवति एकवारम् इति । परन्तु अज्ञानवशात् मलमेव गृहीतुं शक्यते । एवञ्च सकलशब्दस्य अर्थः समस्तमस्ति परन्तु व्याकरणज्ञानेन विना अंशरूपः अर्थः गृहीतुं शक्यते । अत एव इदं सुस्पष्टं यत् शब्दानां सम्यक् अर्थज्ञानाय व्याकरणाध्ययनस्य महती आवश्यकता वर्तते ।

व्याकरणं तु वेदाध्ययनस्य मुखस्वरूपमस्ति । मुखशब्दः लक्षणया प्राधान्यार्थवाची । व्याकरणशास्त्रं वेदस्य मुखम् इति कथनस्य तात्पर्योऽयं अस्ति यद् वेदानाम् अध्ययनं तावत् पूर्णं सन्तोषजनकं न भवति यावत् सम्यक् रूपेण व्याकरणस्य अध्ययनं न भवेत् । यथा शरीरः मुखस्य एव सौन्दर्याध ायकरूपेण प्रतिष्ठतः अस्ति तथैव वेदाध्ययने व्याकरणस्यापि अतीव प्रतिष्ठा दृश्यते । यथा ललितललितं सुन्दरमुखमवलाक्य जनाः आकृष्टाः भवन्ति तथैव व्याकरणपरिष्कृतं शुद्धं ललितं माध

ुर्यगुणोपेतं वचनं निशम्य जनाः वेदान् प्रति आकृष्टाः भवन्ति । यथा प्रफुल्लितवदनारविन्दं समीक्ष्य चक्षुषी तृप्तिम् अनुभवतः तथैव व्याकरणपरिष्कृतं सुललितं वाक्यं श्रुत्वा कर्णौ आनन्दं भजतः । पाणिनीयशिक्षायां प्रत्येकस्य वेदाङ्गस्य उपयोगिताम् आश्रित्य वेदस्य शरीरावयवरूपेण महत्त्वं प्रदर्शयता ऋषिणा उक्तम्–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।। इति

पाणिनीयशिक्षायाम्–सुसंस्कृता भाषा शब्दसाधुत्वम् अपेक्षते । साधु शब्दा हि प्रयुज्यमानाः यथार्थमर्थमर्पयन्ति नासाधुशब्दाः, साधुशब्द–प्रयोगे तु व्याकरणाध्ययनं हि प्रधानं निदानम् इति । नहि व्याकरणज्ञानशून्यः साधुशब्दान् प्रयोक्तुं क्षमः ।

(IV) निरुक्तम्–निरुच्यते निश्शेषेणोपदिश्यते तत् तदर्थावबोधनाय पदजातं यत्र तन्निरुक्तमिति कथ्यते । अस्य वेदाङ्गस्य प्रतिनिधिग्रन्थत्वेन एकमात्रं यास्काचार्यप्रणीतं निरुक्तं वर्तते । यद्यपि यथा च अनेन निरुक्तेन एव ज्ञायते अस्मात् पूर्वम् अपि अनेके निरुक्तकाराः जाताः, किन्तु तेषां ग्रन्थाः इदानी न उपलभ्यन्ते । महर्षियास्कप्रणीतं निरुक्तं कश्यपप्रजापतिप्रणीतनिघण्टुव्याख्यारूपं वर्तते । निघण्टोः एकम् । निघण्टुनिर्वचनम्; इत्याख्यं भाष्यमपि देवराजयज्वप्रणीतम् उपलभ्यते । निरुक्तस्य अस्य अपि कतिपयाः टीकाः सन्ति यासु स्कन्धमहेश्वरस्य निरुक्तभाष्यटीका दुर्गाचार्यस्य दुर्गवृत्तिश्च प्रमुखः स्तः । अस्य वेदाङ्गस्य अधिकं साहित्यं न उपलभ्यते, तत्र कारणद्वयं सम्भाव्यते–एकं तु अस्य भूयसः साहित्यस्य लोपः, द्वितीयं च यास्कप्रणीतात् निरुक्तात् अनन्तरं अस्य वेदाङ्गस्य निर्वचनरूपकार्यस्य व्याकरणेन परिग्रहणं येन निरुक्तं व्याकरणे एव अन्तरभवत् ।

(V) छन्दः – छन्दो वेदस्य पञ्चमाङ्गमस्ति । वेदाः सन्ति छन्दोबद्धाः अतः तेषामुच्चारणनिमित्तया छन्दोज्ञानं नितरामपेक्षितम् । छन्दोभिधेनैतेनाङ्गेन छन्दसां सर्वेषाम् उच्चारणविधिः, तद्गतिप्रकारः, तद्गानरीतिश्च विदिता जायन्ते । तस्माद् वैदिकमन्त्रोच्चारणप्रयोजने तदध्ययनं पूर्वमुचितम् । विना छन्दोज्ञानं यो वेदाऽध्ययनयजनयाजनादिकार्याणि करोति तस्य तानि सर्वाणि कार्याणि न भवन्ति फलदायकानि ।

संहिताब्राह्मणेषु न्छोनाम्नाम् उपलभ्यत्वात् प्रतीयते यच्छन्दो अङ्गस्याऽप्युत्पत्तिः वैदिकयुगः एव संवृत्ता । अस्य वेदाङ्गस्य प्रतिनिधिग्रन्थोऽस्ति पिङ्गलाचार्यकृतं "छन्दः सूत्रम् ।" अस्य ग्रन्थस्य रचयिता कदा बभूव ? अस्य पर्याप्तपरिचयाऽभावोऽस्ति । ग्रन्थोऽयं सूत्ररूपे अस्ति । अयं ग्रन्थः अष्टादशाध्यायेषु विभक्तोऽस्ति । प्रारम्भात् चतुर्थाऽध्यायस्य सप्तमसूत्रपर्यन्तं वैदिकछन्दसां लक्षणं प्रदत्तमस्ति। तदनन्तरं लौकिकछन्दसां वर्णनमस्ति । अस्य ग्रन्थस्य हलायुधकृता 'मृतसञ्जीवनी' व्याख्या अतीव प्रसिद्धाऽस्ति ।

लौकिककाव्येषु छन्दसः पादबद्धतायाश्च सम्बन्धमेतावद् घनिष्ठमस्ति यत् पद्येषु एव छन्दसो योजना मन्यते, तथा गन्तु छन्दोहीनरचनारूपेण सर्वं स्वीकृतं भवति । वैदिकच्छन्दसो विषये ध ारणेयममान्याऽस्ति । प्राचीनाचार्यपरम्परानुसारेण गद्यमपि छन्दोबद्धरचना एव मन्यते । दुर्गाचार्येण निरुक्तस्य

स्ववृत्त्या कस्याऽपि ब्राह्मणस्य वाक्यं समुद्धृतम्, यस्याशयो अस्ति छन्दोविना वाणी समुच्चरिता न भवति– **"नाच्छन्दसि वागुच्चरति"।**

भरतमुनिनाऽपि छन्दोविरहितं शब्दं नैव स्वीकरोति–

"छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम् ।"

ऋग्वेदस्य सामवेदस्य च सर्वे मन्त्राः छन्दोबद्धाः सन्ति । अतः स्थलस्य मर्मस्पर्शिनो भावस्य अभिव्यक्तीकरणाय कविगणाः छन्दसां कमनीयकलेवरम् एव अन्विष्यन्ति । मन्त्राणां प्रधानम् उद्देश्यं यज्ञेषुपास्यदेवतायाः प्रसादनकार्यं एवाऽस्ति तथेदमपि निश्चयेन वक्तुं शक्यते यद् देवतायाः प्रसादनस्य प्रमुखसाधनं मन्त्राणां गायनमेव भवितुं शक्यते । मन्त्राणां छन्दोबद्धतया छन्दसां ज्ञानं विना वेदमन्त्राः साधु उच्चारयितुं न शक्यन्ते अतः छन्दोऽपि वेदाङ्गमवश्यज्ञेयञ्च । शौनकविरचिते ऋक्प्रातिशाख्ये चरमभागे छन्दसां पर्याप्तं विवेचनं विद्यते । अस्य छन्दः शास्त्रस्य पिङ्गलच्छन्दः सूत्रनामा ग्रन्थः सर्वाधिकप्रसिद्धः अस्ति ।

"छन्दः पादौ तु वेदस्य ।"

'छन्दः' इत्येतस्य पदस्य व्युत्पत्तिः इयम्- छन्दयति (पृणाति) इति छन्दो वा छन्दयति (आह्लादयति) इति छन्दोऽथवा छन्द्यतेऽनेनेति छन्दः । छन्दांसिच्छादनादि' इत्येतद् यास्ककथनाद् वेदार्थवाचकं छन्द इत्येतत्पदं छद् (छादने) धातोः निष्पन्नम् । वेदावरणकारित्वात् छन्द इति पदं युक्तमेव ।

भारतीयाचार्याणां मतानुसारेण वैदिकच्छन्दसां लक्षणनिर्धारणेऽस्य तथ्यस्य नाधिकं महत्त्वमस्ति यत्तिस्मिन् कोऽक्षरो लघुर्वा कोऽक्षरो गुरुरस्ति । आचार्यशौनकस्य महत्त्वपूर्णं कथनमस्ति यत् प्रातिशाख्ये 17/39 अष्टाक्षरस्य पादो गायत्रे, द्वादशाक्षरस्य पादो जायते, उपोत्तमाक्षरो लघुर्भवति । दशाक्षरस्य पादैक राजे तथैकादशामाक्षरस्य पादै त्रैष्टुभे उपोत्तमाक्षरो गुरुर्भवति । वार्णिकच्छन्दः वृत्तमप्यभिधीयते । शौनकस्येदं कथनं ऋग्वेदीयच्छन्दःसु सुसङ्गतं भवति । पाश्चात्यविद्वांसो अपि एवं विधानां तथ्यानामाविष्कारं स्व-स्वानुशीलनेन कृतवन्तः ।

अतः वक्तुं शक्यते यद् वेदाङ्गस्य विकासपरम्परायां प्रायः एतादृशाः ग्रन्थाः प्रणीताः जाताः येषु लौकिकानाम् एव छन्दसां वर्णनम् अस्ति । एषु श्रुतबोधछन्दोमञ्जरीवृत्तरत्नाकरादयः ग्रन्थाः प्रसिद्धाः सन्ति ।

(VI) ज्योतिषम्–यज्ञभागाः सन्ति बहुविधाः केचन यज्ञा एवंविधा विधाने नता ये संवत्सरसम्बन्धिनः सन्ति । केचन एतादृशाः सन्ति ये क्रतुसम्बन्धिनो वर्त्तन्ते । केचन च तिथि-मास-पक्ष-नक्षत्रपरकाः सन्ति । भावोऽयं देवेषु यज्ञभागादीनां विधानं भिन्न-भिन्न-कालेषु कृतमवाप्यते । तैत्तिरीयब्राह्मणं वदति–

"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत ।
शरदि वैश्य आदधीत" (तै. ब्रा. 1/1)।

अष्टकायां फाल्गुन्यां पूर्णमासे च दीक्षाया विधानं विदधत् ताण्ड्यब्राह्मणं दीक्षितं भवति–

"एकाष्टकायां दीक्षेरन् फाल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन् ।"

यास्य साफल्यं न केवलम् उचितविधानेऽस्ति प्रत्युत उचितसमयस्य नक्षत्रस्य अपि आवश्यकता वर्त्तते । असुराणां परिभाषां निर्दिशन्त्याः श्रुतेर्वचनम्-

"ते असुरा अयज्ञा अदक्षिणा अनक्षत्राः ।
यच्च किच्चाकुर्वत तां कृत्यामेवाकुर्वत ।।"

एतद् विधाया वेदाज्ञायाः पालनं ज्योतिषशास्त्रज्ञाने सत्येव यथायाथं भवितुमर्हति । तस्माज्जयौतिषं नाम वेदाङ्गम् अपि नैज। वैशिष्ट्यं निदधाति । ज्योतिषमिदं कालविज्ञापकं शास्त्रम् । मुहूर्त्तं शोध ायित्वा क्रियमाणा यज्ञादिक्रियाविशेषाः फलाय कल्प्यन्ते, नान्यथा, तन्मुहूर्त्तज्ञानञ्च ज्योतिषायत्तमतोऽस्य ज्योतिषशास्त्रस्य वेदाङ्गत्त्वं स्वीकृतम् ।

चतुर्णामपि वेदानां पृथक्-पृथक् ज्यौतिषशास्त्रमासीत् । तेषु सामवेदस्य ज्यौतिषशास्त्रं नोपलभ्यते, त्रयाणामितरेषां वेदानां ज्यौतिषाण्यवाप्यन्ते।

1. ऋग्वेदस्य ज्यौतिषम् - आर्चज्यौतिषम्, षट्त्रिंशत्पद्यात्मकम् ।

2. यजुर्वेदस्य ज्यौतिषम् - याजुषज्यौतिषम्, ऊनचत्वारिंशत्पद्यात्मकम् ।

3. अथर्ववेदस्य ज्यौतिषम्- आथर्वणज्यौतिषम्, द्विषष्टिउत्तरशतपद्यात्मकम् ।

व्यतीतानि इति शङ्करबालदीक्षितस्य विचारः । लोकमान्यबालगंगाधरतिलकसुधाकरद्विवेदी- डॉ. थीवोप्रभृतयो विद्वांसो ग्रन्थस्यास्य श्लोकान् व्याख्यातुं प्रायतन्त । भारतीयस्य ज्योतिषशास्त्रस्य ग्रन्थः एष आद्यः । मन्ये, न ततः प्राक् ज्योतिषि क्वापि काचित् कृतिर्लिखिताऽभूत् । वेदाङ्गज्यौतिषशास्त्रस्य कर्त्ता असन्दिग्धरूपेण लगध आसीत् ।

"प्रणम्य शिरसा कालमभिवा सरस्वतीम् ।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ।।'

(आर्चज्यौतिष श्लोक 2)

किञ्च कोऽयं लगधः ? इति कोऽपि न जानाति । यज्ञविधानाय ज्यौतिषशास्त्रस्येदं महत्त्वं भास्कराचार्येण अपि स्वीकृतम्-

"वेदास्तावत् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण ।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्यात् वेदाङ्गत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्मात् ।।"

(सिद्धान्तशिरोमणिः)

फलितज्यौतिषं गणितज्यौतिषं च द्विविधिम् । फलादेशे सामुद्रिकशास्त्रस्यातीवमहत्त्वम् । पृथ्वी-नक्षत्र-चन्द्रादीनां गतिविधौ गणितस्य अतिमहत्त्वं वर्तते । अंकगणितं बीजगणितं चेति द्वयमपि ग्रहविज्ञानस्याङ्गभूतम् । ग्रहतन्त्रस्य प्रणेतारः आर्यभट्टः, ब्रह्मगुप्तः भास्कराचार्यश्चेतीमे त्रयो विद्वांसः परमप्रसिद्धाः शास्त्रमिदं यज्ञप्रक्रियासु बहुतरं साहाय्यमाचरति । ज्यामितिशास्त्र-त्रिकोणमिति तन्त्रमपि वेदाङ्गभूतम् इति ।

4. ब्राह्मणानि

संहिताकालानन्तरं वैदिकयुगस्य द्वितीयचरणस्यारम्भः जातः यस्मिन् संहितान्तभिन्नविधायुक्तानां ग्रन्थानां निर्माणमभवत् । अस्मिन् विरचितानां ग्रन्थानां ब्राह्मणमिति संज्ञा । एषां ग्रन्थानां भाषा गद्यात्मका विषयश्च यज्ञीयः कर्मकाण्डः । एते ग्रन्थाः तत्कालीनस्य भावनानां प्रतिबिम्बं प्रदर्शयन्ति यस्मिन् जनानां सम्पूर्ण बौद्धिकव्यापारं यज्ञयागादिषु केन्द्रितमासीत् । यज्ञानां सविस्तारवर्णनं महत्त्वविवेचनं तेषामुत्पत्तेः फलस्य विषये च चिन्तनं तात्कालिकानामाचार्याणां लक्ष्यमासीत् ।

ग्रन्थवाची ब्राह्मणशब्दः विशेषतः नपुंसकलिङ्गे एव प्रयुक्तो भवति । मेदिनीकोशानुसारेण वेदभागस्य सूचकः ब्राह्मणशब्दः नपुंसकमेव भवति । यथा-

"**ब्राह्मणं ब्रह्मसङ्घाते वेदभागे नपुंसकम् ।**" ग्रन्थार्थे ब्राह्मणशब्दस्य प्रयोगः पाणिनीयव्याकरणे, निरुक्ते, ब्राह्मणे, ऐतरेयब्राह्मणे च न केवलं समुपलब्धो भवति, प्रत्युत तैत्तिरीयसंहितायामस्य सर्वाधिकप्राचीन प्रयोगो मिलति- "**एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि।**"

अस्यार्थस्य विषये न काऽपि विप्रतिपत्तिः । ब्राह्मणं ब्रह्मणः व्याख्यापरकग्रन्थानां नाम अस्ति । ब्रह्मशब्दः स्वयमनेकार्थेशु प्रयुक्तो भवति, येष्वेकोऽर्थः 'मन्त्रः' अर्थात् वेदे निर्दिष्टमन्त्रः । अनेन प्रकारेण वैदिकमन्त्राणां व्याख्यानोपस्थितकरणेन ब्राह्मणस्येदं नामकरणम् अभवत् । ब्राह्मणशब्दस्यापरोऽप्यर्थो भवति-यज्ञः अर्थात् यज्ञीयकर्मकाण्डस्य व्याख्या-विवरणयोः सम्पादनं ब्राह्मणग्रन्थानां मुख्यविषयमस्ति । ब्राह्मणेषु मन्त्र-कर्म-विनियोगानां व्याख्याऽस्ति । ब्राह्मणानामन्तरङ्गपरीक्षणेन ज्ञातो भवति यदेते ग्रन्थाः यज्ञानां वैज्ञानिकः, आधिभौतिकस्तथा आध्यात्मिकस्वरूपसम्पादनकर्ता एकः महनीयो विश्वकोशो अस्ति । यथा-

"**ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मत्राणां च व्याख्यानग्रन्थः ।**"

(भट्टभास्करः- वै.सं. 1/5/1/भाष्यम्)

"**नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम् ।**
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते ।।"

(वाचस्पतिमिश्रः)

अनेन कथनेन सिद्धो भवति यद् वेदो द्विविधो-मन्त्ररूपो ब्राह्मणरूपश्च । तदयं ब्राह्मणभागोऽपि वेद एव । ब्रह्मवेदस्तद् व्याख्या 'ब्राह्मण' इत्यपि केचित् । वेदशेषभूताः इमे ब्राह्मणग्रन्थाः यज्ञानुष्ठानस्य विस्तृतं वर्णनं कुर्वन्ति । काचन कथाः अपि ब्राह्मणग्रन्थेषु प्राप्यन्ते । प्रत्येकं वेदशाखानुसारेण ब्राह्मणा आरण्यकग्रन्थाश्च भिन्नाः सन्ति ।

ब्राह्मणसहित्यमिदं नितरामेव विशालं व्यापकञ्च वर्तते । साहित्यमिदं गद्यात्मकं विद्यते । यज्ञस्य विधानं कदा कृतं भवेत् ? कानि च साधनानि तदर्थमपेक्ष्यन्ते ? के च तत्तद् यज्ञानामधिकारिणः ? इति एतद् विषयाणामुपपादनं ब्राह्मणसाहित्ये कृतमस्ति । समवाप्तानां प्रमुखब्राह्मणानां वेदानुसरन्ती संख्या अनेन प्रकारेण अस्ति-

1. एतरेयब्राह्मणम् ।

2. शाङ्खायनब्राह्मणम् (ऋग्वेदीयम्) ।
3. शतपथब्राह्मणम् (शुक्लयजुर्वेदीयम्) ।
4. तैत्तिरीयब्राह्मणम् (कृष्णयजुर्वेदीयम्) ।
5. ताण्ड्यम् ।
6. षड्विंशम् ।
7. सामविधानम् ।
8. आर्षेयम् ।
9. दैवतम् ।
10. उपनिषद् ब्राह्मणम् (छान्दोग्योपब्राह्मणम्) ।
11. संहितोपनिषद् ब्राह्मणम् ।
12. वंशब्राह्मणम् ।
13. जैमिनीयब्राह्मणम् (सामवेदीयम्) ।
14. गोपथब्राह्मणम् (अथर्ववेदीयम्) ।

विषयविवेचनम्—संहितायां ब्राह्मणस्य च स्वरूपे विषये च नितान्तं पार्थक्यं परिलक्ष्यते । संहितायाः स्वरूपम् उभयोः प्रकारयोः अस्ति । बहुसंख्यकाः संहिताः छन्दोबद्धाः सन्ति । तेषां कतिपयांशा एव गद्यात्मकाः सन्ति, किञ्च ब्राह्मणग्रन्थाः सर्वथा गद्यात्मका एव भवन्ति । ब्राह्मणग्रन्थेषु केवलं यज्ञानां प्रतिपादनं विद्यते । एषु यज्ञानां विशदविवेचनमस्ति। नानाविधानां कर्मकाण्डानामनुष्ठानानाञ्च विषये निर्देशं कृतम् । यज्ञविषये उपलभ्यमाणस्य दोषस्य परिहारोऽपि निर्दिश्यते। विभिन्नयाज्ञिककर्मकाण्डानां पारस्परिकसम्बन्धस्य तद्विषये उद्धृतानां मन्त्राणामुपरि विचारं प्रस्तुतम् । मन्त्रैः सह अनुष्ठानानां सम्बन्धः स्थापितः । कर्मकाण्डस्य अनुष्ठानविषये विद्वज्जनानां मतवैभिन्यं प्रस्तूय एकस्य समर्थनम् अन्यानाञ्च निराकरणं कृतम् ।

ब्राह्मणयुगे यज्ञस्य सम्पादनेव धर्मस्य मुख्योद्देश्यः विद्यते । ब्राह्मणग्रन्थानुसारं यज्ञैः एव सर्वमभीष्टफलं प्राप्तुं शक्यते । अभीष्टप्राप्त्यर्थं देवैः अपि यज्ञः करणीयः ब्राह्मणग्रन्थानुसारं परस्परं विजयार्थं देवाः असुराः च यज्ञम् अकुर्वन्। जगति सर्वे पदार्थाः यज्ञस्य प्रतीकाः सन्ति । देवानां जनकरूपः प्रजापतिरपि यज्ञस्य प्रतीकः । "प्रजापति वै यज्ञः" वाक्यमिदं ब्राह्मणग्रन्थेषु स्थले-स्थले दृश्यते । यज्ञात् सृष्ट्युत्पत्तेः निर्देशं ऋग्वेदस्य पुरुषसूक्ते विद्यते । परञ्च ब्राह्मणग्रन्थेषु तथ्यमिदं पुनः पुनः प्रतिपादितम् । प्रत्येकस्य यज्ञीयकार्यस्य सूक्ष्मतमं वर्णनं प्रस्तुतम् । यज्ञस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मानुष्ठानस्य अतिविस्तृतं विवेचनं कृतम् ।

ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रतिपादितविषयाणां विद्वद्भिः द्विधा विभाजनं कृतम्-विधिः अर्थवादश्च । शाबरभाष्ये शबरस्वामिना दशधा विभाजनं कृतम्—

"हेतुर्निवचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परिक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ।।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु ।।"

एषां स्वरूपं संक्षेपेण प्रस्तूयते—

1. **विनियोग —** ब्राह्मणग्रन्थेषु मन्त्राणां विनियोगस्य प्रथमावतारो भवति । कस्य मन्त्रस्य प्रयोगः कस्मिन्नुद्देश्यार्थं भवति ? अस्य संयुक्तिकव्यवस्था ब्राह्मणग्रन्थे सर्वत्रोपलब्धो भवति । ब्राह्मणग्रन्थाः मन्त्रपदादेव विनियोगस्य युक्तिमतां सिद्ध्यन्ति । आपाततः मन्त्राणां तात्पर्यस्य यो बोधो भवति स तु ब्राह्मणानाम् अन्तरङ्गाध्यात्मिकव्याख्यानान्तरमेव । ताण्ड्यब्राह्मणस्य द्विवा एव दृष्टान्ताः पर्याप्त भवन्ति।

2. **हेतुः—** कर्मकाण्डस्य विशेषविधीनां कृते यानि कारणानि विहितानि तेषां हेतुः संज्ञा । ब्राह्मणग्रन्थेषु यज्ञीयविधिविधानानां कृते समुचितानि कारणानि प्रस्तुतानि । यथा- अग्निष्टोमयागे उद्गाता उदुम्बरस्य शाखायाः उच्छ्रयणं करोति । एतस्य विधानस्य कारणं प्रदर्शयन् ताण्ड्यब्राह्मणे उक्तम् । एव हेतु विधानेन अनुष्ठानस्य कारणानां ज्ञानं भवति येन अनुष्ठानेषु जनानां विश्वासः दृढं भवति ।

3. **निरुक्तिः—** ब्राह्मणग्रन्थेषु विविधानां शब्दानां निर्वचनस्यापि स्थाने-स्थाने निर्देशो मिलति । निर्देशोऽयम् एतावन्मार्मिको वैज्ञानिकश्चास्ति यद् भाषाशास्त्रदृष्ट्याऽपि अतीवमहत्त्वपूर्णः प्रतीतो भवति । निरुक्ते येषां शब्दानां व्युत्पत्त्यो मिलन्ति तेषां मूलमेतेषु ब्राह्मणग्रन्थेषुपलब्धमस्ति। निर्वचनमिदं नास्ति काल्पनिकम् । भाषाविज्ञानदृष्ट्या वैज्ञानिकताऽक्षुण्णैवास्ति। एतादृशी निरुक्तिः स्वयं संहिताभागेऽपि उपलब्धा भवति । अस्या आश्रयं गृहीत्वा ब्राह्मणग्रन्थस्य व्युत्पत्ति निर्मिताऽभवत् । शतपथब्राह्मणे ताण्ड्यब्राह्मणे चैव उपादेयानां निरुक्तीनां भण्डारमस्ति । नानाविधानां स्तोत्राणां सामभिधानानाञ्च सुष्ठु निरुक्तिः ताण्ड्यब्राह्मणे समुपलब्धाऽस्ति।

अतः निरुक्तस्य निर्वचनानां मूलम् एषु एव वर्तते इति निष्कर्षः ।

4. **आख्यानम्:—** ब्राह्मणग्रन्थेषु विधि-अर्थवादस्य विस्तृतं वर्णनं मिलति । इदं वर्णनं पठित्वा साधारणपाठकः समुद्वेलितो भवति, किञ्च एतेषु उद्वेजकविषयसमूहेषु यत्र तत्रात्यन्तरोचकमाकर्षकं महत्त्वपूर्णञ्चाख्यानमपि मिलति । तमसि प्रकाशकिरण इव, दीर्घमरुभूमौ हरितभूमिरिवैतान्याख्यानानि पाठकानामुद्विग्नचित्तया शान्तिदायकानि शीतलानि च भवन्ति । विधिविधानानां स्वरूपस्य व्याख्या एवास्याख्यानस्य जननी अस्ति । किञ्च यदा कदाऽऽख्यानमिदं यज्ञस्य सङ्कीर्णप्रान्तं परित्यज्य साहित्यस्य सार्वभौमक्षेत्रे विचरणं करोति तदा कर्मकाण्डस्य कर्कशतां द्रष्टुं न शक्नोति । आख्यानमिदं द्विविधं भवतिस्वल्पकायमाख्यानम्, दीर्घकायमाख्यानञ्चेति । स्वल्पकायिकेषु आख्यानेषु तासां कथानां गणना भवति, यस्यां कथायां सयुक्तितां प्रदर्शनं समुल्लिखितं भवति । एतान्याख्यानानि किञ्चिद्भेदेन सह अनेकेषु ब्राह्मणेषु समुपलब्धानि सन्ति । दीर्घाकायाख्यानेषु पुरुरवा-उर्वश्योराख्यानम् (शतपथब्राह्मण-11/5/1), प्राचीनजलौघस्येतिहासः (शत. 1/8/1) शुनः शेपस्याख्यानम् (ऐत. 7/2) मुख्यानि सन्ति। एतेषामनेकाख्यानां बीजं संहितायामेवान्तरविष्टमस्ति । ब्राह्मणादिपौराणिकग्रन्थेषु तमेवाख्यानबीजं गृहीत्वा स्वपद्धत्थानुरूपेण तस्य पल्लवनं कृतम्। पुरुरवा उर्वश्योः वर्णनमृग्वेदस्य एकस्मिन् विख्यातसंवादसूक्ते अस्त्येव । अस्मिन् सूक्ते उभयोः पारस्परिककथनविषयकाः मन्त्राश्च मिलन्ति । शतपथब्राह्मणे इदमेवाख्यानं विस्तरेण सह वर्णितमस्ति । प्राचीनौघस्य अथवा जलप्लावनस्य कथा भारतेतरसाहित्येऽपि उपलब्धा भवति ।

5. **निन्दा-प्रशंसा—** एषु ग्रन्थेषु यज्ञविधानानां ज्ञानोपयुक्तद्रव्याणां च प्रशंसा निषिद्धपदार्थानां निन्दा च स्तः । यथा- "वायुर्वै क्षेपिष्ठादेवता" अत्र वायोः प्रशंसा 'अमेध्यो वै माषा' अत्र माषस्य निन्दा । ईदृशस्य वाक्यस्य अर्थवाद इति संज्ञा।

NOTES

6. संशयः— "तद् व्यचिकित्सज्जुहवानी 3ज्ञमा हौषा3म्" इत्यादि वाक्येषु संशयः कृतः ।

7. विधिः—विधिशब्दस्य तात्पर्यः यज्ञः वा तत्सम्बद्धानाम् अवान्तरानुष्ठानानां विधानः । एव यज्ञानां विधायकानि वाक्यानि एव विधिशब्देन कथ्यन्ते । यज्ञेषु अप्रवृत्तान् जनान् तेषु प्रवृत्तकरणमेव विधिवाक्यानामुद्देश्यः । कतिपयानि विधिवाक्यानि द्रष्ट्व्यानि यथा- "अग्निहोत्रां जुहोति" "वैष्णव पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्" "ब्रीन् अवहन्ति ।" ब्राह्मणानां मुख्यविषयः विधिः एव वर्तते ।

8/9 परिक्रिया पुराकल्पश्च — "माषानेव मह्यं पचन्ति" अत्र परकृतिः अर्थात् परस्य कार्यस्य उल्लेखः विद्यते। "पुरा ब्राह्मणा अभेशु" अत्र पुराकल्पः (प्राचीनमाख्यानम्) । आख्यानं ब्राह्मणग्रन्थानां मुख्यभागः । यज्ञस्य विविधानुष्ठानानामवबोधन्यय ब्राह्मणग्रन्थेषु आख्यानं विद्यते । सृष्ट्युत्पत्तिविषयकं बहुसंख्याकमाख्यानमत्र प्राप्यते ।

10. व्यवधारणकल्पना — "यावतोऽश्वान्" प्रतिग्रह्णीयात्तवतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपेत्" व्यवधारणकल्पना (विशेषज्ञनिश्चयकल्पना) वर्तते ।

वस्तुतस्तु ब्राह्मणग्रन्थानां प्रतिपाद्यविषयः विधिरेव विद्यते । अन्यविषयाः विधेः परिपोषकाः निर्वाहकाश्च सन्ति । विधिविधानाः सयुक्तिकाः भवन्ति । विधिविधानपुष्ट्यर्थं हेतुकथनं प्रतिपादितम् । विधिवाक्येषु प्रयुक्तानां कतिपयपदानां निर्वचनं तेषु विहितानामनुष्ठानानां समर्थनाय भवति । विधिषु निहितानुष्ठानानां प्रशंसा निषिद्धद्रव्याणां निन्दा विधिवाक्यकृते उपयोगी स्तः येन जनाः यागादिषु प्रवृत्ताः भवन्ति ।

*** धर्मः समाजश्च—**ब्राह्मणकालिकः धर्मः यज्ञाधृतः वर्तते । ब्राह्मणग्रन्थानुसारं यज्ञः एव सर्वश्रेष्ठकर्म विद्यते । ब्राह्मणको सर्वे जनाः यज्ञमेव स्वधर्मं मन्यन्ते । यज्ञैः एव समस्तविश्वस्य कल्याणं भवति स्म । यज्ञ एव धर्मस्य प्रधनमङ्गमासीत् । ब्राह्मणकाले संहिताकालिकधर्मस्य मान्यतानां बहुपरिवर्तनं दृश्यते । ऋग्वेदस्य प्राचीनदेवानां वर्णनं ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि प्राप्यते परञ्च तेषां महत्त्वं प्रायः न्यूनमेव जातम् ।

ब्राह्मणकालिकसमाजे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां वर्णानां विभागं तेषां कर्त्तवयनिर्धारणञ्च कृतम् । वर्णचतुष्टयेषु ब्राह्मणानाम् उच्चतमस्थानं विद्यते । ब्राह्मणाः मनुष्याणां देवाः आसन् । क्षत्रियाणां कर्म राष्ट्रस्य रक्षणमासीत् । वैश्यानां कर्म राष्ट्रहिताय धनार्जनमासीत् । शूद्राणां कर्म ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां सेवकत्वमासीत् । ब्राह्मणग्रन्थेषु सत्यस्य महिमा प्रतिपादितां असत्यभाषणं पापदायकं सत्यभाषणं पुण्यप्रदञ्च । असत्यवादिनः जनाः अल्पकालं यावत् साफल्यं गन्तुं शक्नुवन्ति परञ्च तेषां सर्वनाशमवश्यमेव भवति । सत्यवादिनः अश्वयमेव साफल्यं प्राप्नुवन्ति । ब्राह्मणग्रन्थानुसारं पुरुषैः सर्वदा श्रमः करणीयः । दानम् आतिथ्यसत्कारः श्रेष्ठकर्म आसीत् ।

ब्राह्मणकालस्य समाजे नारीणां महत्त्वपूर्णं स्थानमासीत् । पुरुषः पत्नी विना यज्ञस्याधिकारी न भवति ।
पतिव्रतधर्मस्य पालनं स्त्रीणां कृते मङ्गलप्रदमासीत् । ब्राह्मणग्रन्थानामनुशीलनेन ज्ञायते यत् तस्मिन् काले वैदिक जनानां सहृदयतायाः उदारतायाः च अभावः विद्यते । संहिताकालिकभावनायुक्तवृत्तिः ब्राह्मणयुगे स्वार्थपरिपूर्णा जाता । ऋषीणामपि सुखभोगेच्छा दृष्टिगोचरा जाये । परञ्च विशुद्धव्यवहारिकतायाः दर्शनं भवति । देवानां प्रति अगाधश्रद्धा न्यूना जाता । यतो हि "यज्ञेः देवाः अपि नियन्त्रिताः जायन्ते" भावना एषा व्याप्ता आसीत् ।

ब्राह्मणसमाजे एव वर्गभेदस्य वर्णभेदस्य बीजानि निष्पद्यमानानि आसन् । संहितामुदारदृष्ट्या समाजस्य एकतायाः सङ्गठनस्य कृतं बन्धनं ब्राह्मणग्रन्थानां भेदभावनया अस्तव्यस्तं जातम् । जनाः पुरोहितस्य वर्गभावनया यज्ञविमुखाः एव न जायन्ते प्रत्युत विद्रोहभावनयापि ग्रस्ताः आसन् । एव ब्राह्मणग्रन्थेषु तस्य महदान्दोलनस्य पथः प्रशस्तः जातः यस्माद् बौद्धधर्मस्योद्भवो अभवत् ।

* **भाषा तथा शैली—**समस्तब्राह्मणग्रन्थाः गद्ये एव निबद्धाः सन्ति । ब्राह्मणग्रन्थानां गद्यः अतीवपरिमार्जितः, प्रसन्नश्चोदात्तश्चास्ति । दीर्घसमस्तपदानां न तु कुत्राऽपि दर्शनं भवति न चाप्यर्थाने काऽपि दुरूहता भवति । भगवती भागीरथ्याः भव्यप्रवाह इव गद्योऽयं स्वप्रवाहेण सह प्रवहति । भाषा, मन्त्राणां भाषा इव एव अस्ति तथापि प्राचीनशब्देभ्यः पराङ्मुखो भूत्वाऽभिनवशब्दग्रहणे न काऽपि विप्रतिपत्तिरस्ति । ब्राह्मणानां भाषा- संहिताभाषां पाणिनिना नियमितेन भाषया सह संयोजिका मध्यवर्त्तिनी शृङ्खला इव कार्यं करोति । वाक्यानां विन्यासः सरलः सरसः च आसीत् । यज्ञीयविधानवर्णने नीरसता-समागमनस्य सम्भावना भवति तथापि गद्यमिदं लघुवाक्येषु विन्यस्तः अस्ति । तेन हि वाक्येऽस्मिन् पर्याप्तरूपेण रोचकता, आकर्षकता, हृदयावर्जकता च मिलति । आख्यायिकायाः अंशस्तु विशेषरूपेण हृदयङ्गमो भवति । इति ।।

5. आरण्यकम्

आरण्यकोपनिषदौ ब्राह्मणानां परिशिष्ट-ग्रन्थ इव स्तः । एतेषु ग्रन्थेषु ब्राह्मणग्रन्थानाम् इव सामान्यप्रतिपाद्यविषयेभ्यः भिन्नविषयाणां प्रतिपादनं सर्वत्र विद्यमानं वर्तते । सायणाचार्यसम्मतौ ग्रन्थस्यारण्ये पाठ्यत्वेन 'आरण्यकम्' इति नामकरम् । यथा-

> **''अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते ।**
> **अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते ।।''**

(तै. आ. भ. श्लोक सं. 6)

एतेषां ग्रन्थानां मननस्थानम् अरण्यस्य एकान्त-शान्तवातावरणम् एव उपयुक्तम् आसीत् । ग्रामाभ्यन्तरे अस्याध्ययनं कदापि लाभप्रदमुचितञ्च उपादेयं नासीत् । आरण्यकस्य मुख्यप्रतिपाद्यविषयः न केवलं यज्ञ एवास्ति, प्रत्युत यज्ञ-यागाद्यभ्यन्तरे विद्यमानस्य आध्यात्मिकतथ्यस्य मीमांसाऽपि अस्ति । संहिता-मन्त्रेषु यस्या विधायाः संकेतमात्रम् एवोपलब्धं भवति तस्या विश्लेषणं चात्रास्ति ।

आरण्यकस्य महत्त्वं सर्वत्र स्वीकार्यमस्ति । महाभारतस्य कथनमस्ति यदौषधिभ्यौ यथाऽमृतमुद्धृतं तथैव वेदेभ्यः सारं समुद्धृत्यारण्यकं प्रणीतम् ।

यथा—

> **''आरण्यकञ्च वेदेभ्य औषधिभ्योऽमृतं यथा ।''**

(महाभारते 1/265)

मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदस्य यस्मिन्नंशे प्राणविद्यायाः प्रतीकोपासनायाश्च विषयस्य वर्णनमस्ति तदेवांशः आरण्यकं कथ्यते। आरण्यकमपि ब्राह्मणस्य एव अंशो अस्ति । तस्य विशिष्टताप्रदर्शनाय 'रहस्यब्राह्मणम्' इति नाम्ना ख्यातोऽस्ति । अनेन रहस्यब्राह्मणारण्यकयोः एकतायाः सिद्धिर्भवति ।

आरण्यकस्य नामान्तरं रहस्यमप्यस्ति । अस्य कारणमिदं प्रतीतो भवति यदारण्यकं यज्ञीयगूढरहस्यस्य प्रतिपादनं करोति तथा कर्मकाण्डस्य दार्शनिकव्याख्याऽपि प्रस्तौति । मुख्यत: ब्रह्मविद्या रहस्यशब्देन अभिहिताऽस्ति । विषयविवेचनस्य दृष्ट्या आरण्यकोपनिषदो: साम्यमस्ति । अत: बृहदारण्यकादिग्रन्था: उपनिषद् शब्देनापि व्यपदिश्यन्ते । किञ्च वर्णनविषयसाम्यत्वेनाऽपि तयोर्मध्ये किञ्चित् पार्थक्यमपि परिलक्ष्यते । आरण्यकस्य मुख्यविषय: प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना अस्ति । उपनिषदां वर्ण्यविषय: निर्गुणब्राह्मण: प्राप्त्युपाय: एवाऽस्ति । सत्यपि भेदावगमे यत्विकञ्चित् पार्थक्यमस्ति तेनैव हि द्वावपि ग्रन्थौ रहस्यग्रन्थौ स्त: ।

* **प्रतिपाद्यविषय:** – तैत्तिरीयब्राह्मणस्य आरम्भिकांशे कालस्य पारमार्थिकव्यावहारिकरूपयो: निदर्शनमतीव सुष्ठुरूपेण कृतमस्ति । कालस्तु निरन्तरं प्रवहत्येव । अखण्डसंवत्सरस्वरूपेऽस्यैव कालस्य परिदर्शनमस्माकं भवति । व्यावहारिक: काल: तु अनेकस्तथाऽनित्योऽस्ति। व्यवहाराय तस्य नानाखण्ड–मुहूर्त्त दिवारात्रि–पक्षमासादि कृते सत्यापि वस्तुत: कालस्तु एकरूप: एकाकार एव तिष्ठति । अस्मिन् प्रसङ्गे तस्य तुलना तया महानद्या सह कृताऽस्ति या अक्षय्यस्रोतसा सदा प्रवाहिता भवति, नानानद्य: मिलित्वा तां सञ्चारयन्ति यथा–

नदीव प्रभवात् काचिद् अक्षय्यात् स्यन्दते यथा ।
तां नद्योभिसमायान्ति सोरू: सती न निवर्त्तते ।

(तैत्ति. आ. 1/2)

अस्य आरण्यकस्य तृतीय–चतुर्थानुवाके ऋतूणां स्वरूपस्य वर्णनमतीववैज्ञानिकं मार्मिकञ्चास्ति । ग्रन्थेऽस्मिन् अनेकेषां ज्ञातव्यतथ्यानां सङ्कलनमस्ति । यथा वर्षर्त्तौ रोगाणाम् उत्पत्ति: तथा पाण्डुफरोगस्य प्रसार: (अदु:खो दु:खं चक्षुरिव तथा पीत इव दृश्यते) । पञ्चमहायज्ञानां विवेचनं तथा स्वाध्यायाध्ययनस्य मीमांसाऽतीवरमणीयास्ति । अन्यत्र च पुण्योपार्जनस्य पापवर्जनस्य च आलङ्कारिकभाषायां निदर्शनमस्ति ।

प्राणविद्याया: महत्त्वप्रदर्शनमारण्यकस्य विशिष्टो विषय: प्रतीतो भवति । आरण्यकस्य शान्तवातावरणमस्या: विद्योपार्जनाय नितान्तमुपादेयं भवति । आरण्यक: स्वकथनस्य सम्पुष्टो ऋग्वेदीयमन्त्राणाम् उद्धरणं ददाति । अनेन प्राणविद्याया: दीर्घकालिकपरम्पराया: परिचयो मिलति । प्राणा: सर्वत्र व्याप्ता: सन्ति ।

''सर्वे हीदं प्राणेनावृतम् ।''

प्राण: विश्वस्य धारकोऽस्ति । अतस्तदेव तस्य रक्षकोऽस्ति । अत एव मन्त्रे 'प्राणम्' 'गोपा' इति कथ्यते । प्राण एव आयो: कारणमस्ति। यथा–

''यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायु: ।''

(कौषी. उ. 12) ।

प्राणेनैव अन्तरिक्षस्य वायोश्च सृष्टिरभवत् । प्राण: पिताऽस्ति । अन्तरिक्षवायू तस्य सन्ततिरस्ति । यथा कृतज्ञपुत्र: स्वीकीयेन सत्कर्मणा पितरं प्रीणाति तथैव अन्तरिक्षवायूरूपौ द्वौ पुत्रावपि प्राणस्य

सेवायां संलग्नौ स्तः । अन्तरिक्षस्यानुसारणं कृत्वैव प्राणिमात्रस्य सञ्चरणं भवति तथाऽन्तरिक्षसाहाय्येनैव लोकाः दूरे कथितान् शब्दानपि शृण्वन्ति । अनेन रूपेणान्तरिक्षं प्राणस्य परिचर्यां करोति । वायुरपि शोभनगन्धेन प्राणं रक्षां करोति ।

ध्यानाय प्राणस्य विभिन्नानां गुणानामुल्लेखः विस्तृतरूपेण कृतोऽस्ति । तत्तद्रूपेण प्राणस्य ध्यानं कर्त्तव्यम् । तत्तद्रूपेणोपासनां कृते सति फलान्यपि तद्रूपेण एव उपासकाः प्राप्नुवन्ति ।

प्राण एव अहोरात्रस्वरूपे कालात्मकोऽस्ति दिवसः प्राणरूपमेवास्ति रात्रिश्चापानरूपमस्ति । प्रातः प्राणं एव सर्वाणीन्द्रियाणि शरीरे प्रसारयति । प्रतननमिदं दृष्ट्वा लोकाः कथयन्ति 'प्राताथि' अर्थात् प्रकर्षरूपेण प्राणः विस्तृतो अभवत् । अनेनैव कारणेन दिवसारम्भकालः यस्मिन् प्राणस्य प्रसारणं दृग्गोचरी भवति सः 'प्रातः' इति कथ्यते । दिवसावसाने इन्द्रियेषु सङ्कोचं परिदृश्यते । अनेनैव कारणेन तं कालं सायमित्युच्यते, तस्मिन् काले कथयति 'सामगात्' इति । विकासहेतुना दिवसः प्राणरूपोऽस्ति तथा सङ्कोचनकारणेनैव रात्रिः अपानमस्ति । प्राणस्य ध्यानमनेन प्रकारेणाहोरात्ररूपे कर्त्तव्यम् ।

प्राण एव देवतात्मकोऽस्ति । वाचि अग्निदेवताया निवासोऽस्ति । चक्षुः सूर्योऽस्ति । चन्द्रमा मनसो जातः, श्रोत्रेण च दिशः सन्ति । प्राणे आसां देवतानां ध्यानं कर्त्तव्यम् ।

प्राण एवं ऋषिरूपमस्ति । ऋग्वेदीयमन्त्राणां दृष्टारो बहवः ऋषयः आसन् । तेषां सर्वेषामृषीणां भावना प्राणे एव कर्त्तव्यम्, यतः प्राण एव एतेषां मन्त्रद्रष्टाणामृषीणामाकारे विद्यमानोऽस्ति । प्राण एव शयनकाले वाक् चक्षुरादीन्द्रियाणां निगरणकरणेन 'गृत्सः' इति कथ्यते तथा रतिकाले वीर्यस्य विसर्गजन्यमदोत्पन्नकरणेन अपानमेव मदोऽभवत् । अतः प्राणापानयोः संयोगमेव 'गृत्समदः' इति कथ्यते ।

प्राण एव विश्वामित्रोऽस्ति । यतोऽस्याः प्राणदेवताया निखिलं विश्वं भोग्यमस्तिं, तेनासौ विश्वस्य मित्रमस्ति–

''विश्वः मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रः ।''

प्राणं दृष्ट्वा वागाद्यभिमानिनो देवता अकथयन्– 'अयमेवास्मासु 'वामः' वन्दनीयः भजनीयः सेवनीयश्च भवति, यतोऽयमस्माकं श्रेष्ठोऽस्ति । अनेन हेतुना देवेषु वामत्वेन प्राण एव वामदेवोऽस्ति । प्राण एवात्रिः, यतोऽयं प्राण एव जगदिदं पापात्त्रातुं समथोऽस्ति । प्राण एव भरद्वाजो अस्ति । गतिसम्पन्नत्वेन मनुष्यदेहः 'बाज' इति नाम्ना ख्यातोऽस्ति । प्राणः तु अस्मिन् शरीरे प्रविश्य तस्य सततं रक्षां करोति । अतोऽयं प्राणः ''विभ्रद्वाज'' इति कथ्यते । अनेनैव कारणेन प्राणोऽयं भरद्वाज इति कथ्यते । देवताः प्राणं दृष्ट्वा कथितवन्तः– त्वं वशिष्ठोऽसि, यतोऽस्मिन् शरीरे इन्द्रियाणां निवासस्य कारणं प्राण एवास्ति । अतोऽयं वशिष्ठोऽस्ति । अनेन निर्वचनेन सिद्धो भवति यत् प्राण एव ऋषिरूपे अस्ति। अतः प्राणे एतेषाम् ऋषीणां भावना कर्त्तव्या तथा तद्रूपोपासनाऽपि कर्त्तव्येति । अस्मिन् आरण्यके प्राणस्य विषये एतत्पर्यन्तं कथितमस्ति–

''सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः एकैवा व्याहृतिः प्राण एव । प्राण ऋच इत्येव विद्यात् ।''

(ऐतः 2/2/10)

अनेन प्रकारेण आरण्यकेषु तेषां महनीयाध्यात्मिकतत्त्वानां सङ्केतः उपलब्धो भवति ।

।। इति।।

6. उपनिषद्

उपनिषदः पराविद्या इति पदेन व्यपदिश्यन्ते । वेदान्ता उपनिषद् इत्याख्यायन्ते । उपनिषद्-शब्दस्य रहस्यमर्थः इति । अध्यात्मविद्यारहस्यप्रतिपादका वेदभागा उपनिषदः कथ्यन्ते । तासु महर्षयः आध्यात्मिक्या विद्यया गूढतमानां रहस्याणां विशदतया विचारं कुर्वाणाः प्राप्यन्ते । भारतीयदर्शनसाहित्ये सन्ति त्रयः प्रस्थानग्रन्थाः । ते वेदानवलम्बमाना मानवजीवनस्य चरमं लक्ष्यं तत्प्राप्तिसाधनं चोपदिशन्ति । भारतीयविचारशास्त्रस्य श्रेष्ठोपजीव्यग्रन्थत्वाद् उपनिषदः प्रस्थानत्र्ययां प्रथमप्रस्थानत्वेन गृह्यन्ते । श्रीमद्भगवद्गीता द्वितीयं प्रस्थानमिति कथ्यते। गीतायाः द्वितीयप्रस्थान- महत्त्वमधः स्थितेन श्लोकेन स्पष्टमेव प्रकटीक्रियते-

**"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।"**

बादरायणव्यासप्रणीतं ब्रह्मसूत्रं तृतीयप्रस्थानमस्ति । भारतीया वैदिकधर्मग्रन्था दर्शनानि च इमामेव प्रस्थानत्रयीमवलम्बन्ति। उपनिषदां गीताब्रह्मसूत्रयोः आश्रयप्रदायिनीत्वात् ताः सन्ति महनीयतमाः ।

उप-नि-पूर्वकस्य विशरणगत्यवसादनार्थकस्य 'षद्लृ' धातोः क्विबन्तस्य रूपमिदमुपनिषद् इति। उपनिषदामध्ययनेन दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णमुमुक्षूणां संसारस्य बजभूता विद्या नश्यति ब्रह्म प्राप्तं भवति दुःखानि च क्षीणानि भवन्ति । ब्रह्मणः स्वरूपस्य तदवाप्त्युपायस्य जीवस्य जगतश्च किञ्चिद् आत्मादिविषयाणां सविस्तरं वर्णनपरत्वात् 'उपनिषद्' इत्येषा संज्ञा युक्तैव सार्थकेवेति ।

"सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्"

इति एतन्मुक्तिकोपनिषद्वाक्येन ज्ञायते यद् उपनिषदष्टोत्तरशततोऽप्यधिका आसन् । प्राप्तासु ष्टोत्तरशतसंख्याकासूपनिषत्सु, प्रायेण द्वादशोपनिषदः प्राचीनत्वाद् विशदयतया च विषयस्य प्रतिपादकत्वादतितरां प्रामाणिका मता भवन्ति । तत्र 10 उपनिषदः ऋग्वेदसम्बद्धाः, 19 उपनिषदः शुक्लयजुर्वेदसम्बद्धाः, 32 कृष्णयजुर्वेदसम्बद्धाः, 16 सामवेदसम्बद्धाः, 31 अथर्ववेदसम्बद्धाः । वेदान्ताचार्या एतासूपनिषत्सु कतिचनोपनिषदः स्वमतानुसारिण्यया व्याख्यया भूषितवन्तः । तासु दशोपनिषदः प्रसिद्धाः ।

ऋग्वेदीयोपनिषत्सु ऐतरेय-कौषीतकी, सामपरकोपनिषत्सु छान्दोग्यकेनोपनिषदौ, कृष्णयजुर्वेदविषयकासु उपनिषत्सु तैत्तिरीयमहानारायणकठ-श्वेताश्वतरमैत्रायण्युपनिषदः, शुक्लयजुरधिकृत्य लिखिता ईशावस्योपनिषद् बृहदारण्यकः किञ्चाथर्वनिष्ठासु मुण्डक-माण्डूक्य-प्रश्नोपनिषदश्च नितरां प्रथिताः प्राचीनाः प्रमाणप्राप्ताः सन्ति । मुण्डकोपनिषदि उपनिषदां संख्या निम्नरूपेण वर्णिताऽस्ति-

**"ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश ।।"**

NOTES

एतासु दशोपनिषदः प्रसिद्धाः- ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्य-बृहदारण्यकोपनिषदः। श्वेताश्वतरोपनिषदेकादश्यपि प्रसिद्धः ।

कतिचनोपनिषदो गद्यात्मिकाः, कतिचन पद्यात्मिकाः, कतिचन गद्यपद्योभयात्मिकाश्च । आसामुपनिषदां कालो भिन्न-भिन्नः, परं प्रसिद्धाः कतिचनोपनिषदो बुद्धकालात्प्राचीना एवेति संस्कृतसाहित्येतिहासलेखका वदन्ति ।

उपनिषदो भारतीयाध्यात्मविद्याया ज्वलन्ति रत्नानि महर्षयो यानि आध्यात्मिकतत्त्वानि ज्ञानदृशा साक्षात्कुर्वन् तानि सर्वाणि तत्त्वानि अन्यत्र वर्णितानि सन्ति ।

प्रतिपाद्यो विषयः—उपनिषत्सु अद्वैतविशिष्टाद्वैतश्रुतीनां सद्भावो भाति । आचार्यैः स्वसिद्धान्तप्रतिष्ठापिकाः श्रुतयः प्रधानत्वेन स्वीकृताः अन्यासां श्रफतीनां गौणत्वञ्च तैरुपपादितम् । शङ्करः स्वभाष्येण अद्वैतं श्रीरामानुजाचार्यानुगा विशिष्टाद्वैतं तत्र प्रतिपादयन्ति । वस्तुतः उपनिषत्सु दर्शनानां सर्वेषामपि बीजानि निहितानि सन्ति । न केवलमास्तिकदर्श- नानामपि तु नास्तिकदर्शनानामपि मूलसिद्धान्ताः समुपलभ्यन्ते । सत्यं हि इदम् उपनिषद् ऋषीणामाध्यात्मिकविचाराणां मनोज्ञो बहुमूल्यशाली च महान् कोषः ।

उपनिषदां प्रधानत्वेन प्रतिपाद्यो विषयोऽस्त्यात्मा । संहिताताः आरण्यकं यावत् तद्ब्रह्म आत्मानो भिन्नमित्येतेन रूपेण प्रतिपादितमस्ति । तदुपनिषत्सु ततो न भिन्नमित्येतेन प्रकारेण व्याख्यातमस्ति । आत्मा एव सर्वव्यापी वर्त्तते । विश्वस्य सर्वेष्वपि पदार्थेषु स एव व्याप्तोऽस्ति । तस्मिन्नेव समग्रस्याऽपि प्रपञ्चस्य लयो भवति । ततो व्यतिरिक्तं न किमपि । ब्रह्मतत्त्वं यः कोऽपि जिज्ञासति, ज्ञातुं शक्नुते, यः केऽपि मानवस्तत् लिप्सति लब्धुं प्रभवति । तदर्थं तपस्या काम्यते अभिलष्यते सत्यानुरागो बलिष्ठा निष्ठा विमलं च ज्ञानम् । नायमात्मा वेदाध्ययनेन लब्धुं शक्यो न च सद्धारणाशक्त्यैव। ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्तभेदेन रूपद्वयम् । तदस्ति मत्यममत्यञ्च । स्वलक्षणं लक्षणातीतञ्च । तत् परमात्मेत्येतदप्युच्यते । अयमेव परमात्मा अविद्याहेतोः बन्धने निपत्य जीवात्मेत्येतदपि निगृते । गतजनुः कर्मवशात् सुखानि च भोक्तुं जगति जन्म गृह्णाति । पुनः पुनः जायते म्रियते च । संसारेऽस्मिन् भोगानुकूलं स्थूलं वपुर्बिभर्ति । स लोके परलोके च भ्रमति स्वप्नावस्थायां लोकद्वयस्यापि ज्ञानमाप्नुते । स्वप्ने च सुखं दुःखञ्च विन्दति । स्वप्ने स्वप्नगतविषयदर्शनार्हशरीरं धारयति । भवति च तत् शरीरं स्थूलाद् भिन्नम् । उपनिषदो वदन्ति यज्जीवो भोगनिमित्तेन स्वप्ने स्वयं नवनवविषयाणां सृष्टिं कुरुते । परं वस्तुतः स्वप्नस्यापि सृष्टिरस्ति ब्रह्मणा एव जीवात्मब्रह्मणोरेकत्वात् ।

उपनिषत्सु कर्मगतिरपि सविस्तरं वर्णिताऽस्ति । तत्र देवयानपितृयानयोः निरूपणमालोक्यते । पुण्यकर्मभ्यः पुरुषः सुयोनिमध्ये पापेभ्यश्च कर्मभ्यः कुत्सितायां योन्यां जननमुपाददाति ।

आत्मानं द्रष्टुं किं वा ब्रह्म ज्ञातुं जीवस्य कर्त्तव्यामिदं यत् सः कायं वाचं मानसञ्च संयच्छेत् । किञ्च ब्रह्मणः साक्षात्काराय सत्स्य आचरणं, न कस्याऽपि वस्तुनोऽपहरणं, ब्रह्मचर्यस्य रक्षणम्, इन्द्रियाणां निग्रहणं, हिंसायाः परित्यजनम्, मातृ-पितृदेवातिथिगुरुजनानामभ्यर्चनं, निन्दनीयकर्मपरिवर्त्तनं, सांसारिकेषु विषयेषु विरजनम्, अन्तःकरणस्य परिक्षालनमेतानि कार्याण्यतितरामपेक्ष्यन्ते ।

परिशुद्धेन कायेन वचनेन हृदयेन अहंभावरूपस्थितम् प्रत्यक्चेतनमवबोद्धुं प्रयतेत जीवः । तदर्थं निदिध्यासनमपेक्षितमस्ति । योगशास्त्रोक्तसाधनानि साधनीयानि । एतस्मिन् अध्यवसाये तदैव सफलता

भवति यदा श्रद्धा भवति गुरुम्प्रति स्वसमर्पणं कृतं जायते । अहम्भावविनाशाय सर्वाण्यप्येतानि कार्याणि कर्त्तव्यानि सन्ति । गुरुस्तत्त्वं प्रीणदोषायैव प्रददाति । उक्तञ्च–

''प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा, प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे ।

गुरुर्जिज्ञासवे 'तत् त्वमसि' इत्येतदुपदिशति ।''शान्तोदान्तः शुद्धान्तःकरणः साधकः 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येतं गुरूपदेशं निशम्य स्वयमेवात्मनि ब्राह्मणोऽनुभूतिं कर्त्तुमारभते । उपनिषदो वस्तुओ भारतीयाऽध्यात्मसाहित्यस्य परमभास्वराणि रत्नानि सन्ति । तेषाम् उपनिषद्रत्नानां दिव्यया हि आभया भुवि को न मतिमान् आवर्जितोऽनुजातः ।

निष्कर्षरूपेण वक्तुं शक्नुमः यद् उपनिषद्ग्रन्थस्याऽपि विविधप्रतिपादनेव मुख्यो विषयः तथाऽपि प्रस्तुतेऽस्मिन् ऐतिहासिकग्रन्थे प्रायेणाथर्ववादेषु निबद्धाः पूर्ववर्णिता विषया इव प्रसङ्गागताः तदानीन्तनरीतिनीत्यादिपरिचायका विषयाः तथा औपनिषदिकतथ्यानां क्रमेण नूनं विदुषां छात्राणां च मनः तोषाय ऐतिहासिक–ज्ञानवृद्धये च भवेद् इअत नो विश्वासः । इत्यलम् ।

7. संस्कृतं संस्कृतिश्चैव श्रेयसे समुपास्यताम्

संसारे को नाम पुमान् न वेद यत् अस्माकमेतदेव भारतवर्षं, स देशो विद्यते, यः स्वज्ञानप्रकाशेन अज्ञानान्धकारेणावृत्तं जगदिदं प्रकाशितवान् । आर्याणां खलु अयमेव परमपावनो भारतदेशो यस्य भाषा संस्कृतिः च परम प्राचीने जगतः प्रारम्भिके च विद्येते ।

विश्वस्मिन् विश्वे संस्कृतमेव सा भाषा यस्यां सृष्टेः आदिकालाद् अद्यावधि साहित्यज्ञानं संस्कृतिश्च सुरक्षितानि वर्तन्ते । अस्माकं भारतीय संस्कृतभाषा संस्कृतिश्च कथं लोकैश्श्रेयसे समाश्रयणीये, अस्य कथनस्य पूर्वमेवाहं संस्कृतं किं, का च संस्कृतिरिति उक्त्वा पुनस्तयोः भण्डारं प्रति दृष्टिं करिष्यामि ।

'सम्' उपसर्गात् 'कृ' धातोः 'क्त' प्रत्यये कृते सति नपुंसके 'संस्कृतम्' शब्दो निष्पद्यते । सम्यक् प्रकारेण शुद्धतामुपगता भाषा एव संस्कृतभाषा अर्थात् या भाषा शुद्धा परिष्कृता परिनिष्ठा, व्याकरण–सम्बन्धि–त्रुटि–रहिता च वर्तते, सा 'संस्कृतम्' इति जायते । तथा च– **"संस्कृतं नाम दैवी वागन्व्याख्याता महर्षिभिः ।"**

संस्कृतिः संस्कारश्च इति शब्दौ एकार्थकौ । संपूर्वक–कृञ् धातोर्भावे क्तिनि 'संस्कृतिः' शब्दो निष्पद्यते । तस्मादेव धातोर्भावे घञि प्रत्ययेन 'संस्कारः' शब्दो निष्पद्यते । अतः उभयारकर्थकत्वम्, संस्करणं संस्कृतिः, संस्करण संस्कारः ।' अतो संस्काराणां जननी संस्कृतित्वेनाभिधीयते। यतो हि कृञ् धात्वर्थाश्च कायिकवाचिकमानसिका व्यापाराः । समीचीनास्ते संस्कृति–संस्कार–शब्दाभ्यामभिधीयन्ते ।

तत्र ऐहिकफलार्थानां व्यापाराणां तथाविधत्वमतथाविधत्वं च प्रत्यक्षानुमानाभ्यासम वसीयते, पारलौकिकफलार्थानां तेषां तथाविधत्वमतथाविधत्वं च धर्मग्रन्थेभ्य एव अवसीते । अत्र "सम्यक् कृतिः" अस्याधारे संस्कृतिशब्द–वाचनानामेषा सदाचार–युक्तव्यापाराणां च ऐक्यमेव ।

परन्तु अधुना लोक संस्कृतिशब्देन सामाजिकः, राष्ट्रविशेषानुबन्धिनोऽनुवर्तमाना केचिदाचारविशेषा व्यवहारविशेषा-श्चाभिधीयन्ते, ये इतरेषु समाजेषु, इतरेषु राष्ट्रेषु च नोपलभ्यन्ते तथा समाजविशेषस्य राष्ट्रविशेषयस्य च असाधारणा भवन्ति । तथाभूताचारा विचारदृष्ट्या समीचीना असमीचीनाश्च सन्तोऽपि सर्वे संस्कृतिशब्दकेन लोके व्यवह्रियन्ते ।

किं बहुना वेशभूषा पारस्परिक-व्यवहार-प्रभृतयोऽपि संस्कृतिशब्देन लोके व्यवह्रियन्ते परन्तु एषामपि बलवद्- निष्ठाननुधीष्टसाधनत्वेन सत्येव संस्कृतिशब्दार्थता युज्यते ।

मम मतौ तु एकया भाषया उत्पादितायाः सभ्यतायाः सरणिः राष्ट्रियभावना वा यय जना एकस्मिन् सूत्रे ग्रथिताः जायन्ते सा एव भावना राष्ट्रस्य तस्य 'संस्कृतिः' इति नाम्ना ज्ञायते । यथा हि अस्माकं संस्कृत्यागाधोदधौ वेदे प्रदर्शितम्—

"समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि ।।

तथाहि—

समानि व आकूतिः, समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

अपरञ्च-

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।।

यथा हि पूर्वमुक्तं यदखिलेस्मिन् जगति या कापि अत्यन्तप्राचीनतमा भाषा चेत् वर्तते तर्हि संस्कृतमेव । जगतोऽस्य सर्वे मूर्धन्या विद्वान्सो मन्यन्ते यत् संसारस्य प्राचीनतमं पुस्तकं 'वेदः' एव साम्प्रतं विचारणीयं तावदिदं यत् या भाषा जगतः प्राचीनतमा यस्यां च भाषायां जगतः प्राचीनतमं पुस्तकं 'वेदः' सा कीदृशी सुसमृद्धा भवेदिति ?

सरस्वती समुपासकाः जानन्ति यत् यदसाधारणं साहित्यमस्यां संस्कृतभाषायां लभ्यते न तत् साहित्यं जगतः कस्यामपि अन्यस्यां भाषायाम् । पाश्चात्या विपश्चिदोऽपि एकमतेन इदमेव भणन्ति श्केजलमहोदयेन लिखितं स्वकीये एकस्मिन् लेखे "जगतः प्रचलितभाषासु न कापि भाषा एतादृशीपूर्णा यादृशी संस्कृतं विद्यते । एतादृशानां शब्दाना धातूनां स्पष्टरीत्या ज्ञानं न कस्यामिप भाषामपि मिलति यादृशं संस्कृते ।"

डॉ. वेलंटाइन-महोदयाः लिखति- "संस्कृतमेव सर्वासां भाषाणां जननी" इति । डब्ल्यू. सी. टेलर-महाभागस्य सम्मतिः वर्तते यत् न कापि अन्या भाषा संस्कृतेन तुलयितुमलम् । यावत्तु यूरोपस्य सर्वा भाषा याः 'प्राच्या' इति अभिधीयनते तासां अस्मादेवजनिरभवत् । प्राध्यापकमैक्समूलरमहोदयेन उक्तं यत् "केवलं भारतीयहिन्दुभिः यूनानदेशीयैश्च व्याकरणशास्त्रस्य उन्नतिः विहिता, किन्तु यवनैः व्याकरणे यत् साफल्यमधिगतं तत् पाणिनेः ग्रन्थसमक्षे किञ्चिदपि न वर्तते यतो हि स जगत्यस्मिन् सर्वोत्तमो वैय्याकरणो बभूव ।"

अस्माकमेवास्यां गीर्वाणवाण्यां वेदोपनिषद् षड्-दर्शनग्रन्थादयो विद्यन्ते । ये हि भारतीय-ज्ञानराशेः अक्षण्णनिधयः । यान् प्रति च अद्य न केवलं भारतीया एव अपितु सर्वे एव पाश्चात्यजनाः दीर्घदृष्ट्या विलोक्य अज्ञानेनावृतं जीवनप्रकाशो आनेतुं मुहुर्मुहुः पश्यन्ति, पठन्ति, जानन्ति सम्यक् मननं च कुर्वन्ति । विलोक्यतां जर्मनतत्त्ववेत्तृशोपिनहार-महाभागानां विचारा उपनिषदः प्रति- "उपनिषदां प्रत्येकस्मात् पदात् गभीरा नवीनाश्च विचार उत्पद्यन्ते । सर्वेषु च विचारेषु सर्वोत्कृष्टाः, पवित्राः, सत्यभावाश्च विद्यन्ते । भारतीयवायुमण्डलेमाहं परिवृत्तोऽस्मि अनुरूपात्माना च नवीनविचारा अपि माम् परितः विद्यन्ते । संसारे मूलपदार्थान् विहाय कस्या अपि विधायाः ज्ञानं नैतादृशं लाभदायकं हृदयस्य च उच्चातयुच्चस्तरयुक्तं कर्तुमलम्, यादृशम् उपनिषदाम् । आभिः मम जीवने शान्तिः प्रदत्ता मृत्युकालेऽपि च मह्यं शान्ति प्रदास्यन्ति ।"

इत्थमेव दर्शनं प्रति उच्चकोटीनां पाश्चात्यविदुषां विचाराः सन्ति । मॉनीयर-विलियम्समहोदयो ब्रवीति- "यूरोपस्य प्रथम-दार्शनिकौ प्लेटोपीथागौरसौ उभौ एव दर्शनशास्त्रस्य सम्बन्धे भारतीयानां सर्वाधिकनिकटतमौ ऋणयुक्तौ स्तः ।" इत्थमेव च एकेन महोदयेन उक्तम् "सत्यमिदं खलु चेत् विद्यते यत् उच्चकोटिका विशालजातयः एव वास्तविकदार्शनिकान् पूर्णदर्शनशास्त्राणि च उत्पादयन्ति, तर्हि आर्याणां (हिन्दूनां) संसारे सर्वातिशायिविशालजातिः माननीया एव ।" अनेनेदं ज्ञायते भारतमिदं कपिलगौतमपतञ्जल्यादीन-द्वितीयदार्शनिकानुत्पाद्य दर्शनेऽनुपमतामुपागच्छत् । वेदास्तु खले मन्ये चतुर्विधसुखसारास्सन्ति । चतुर्षुदिक्षु च मन्ये चतस्रः जयध्वजाः सन्ति । ज्ञानगरिम्णा आगाराः विज्ञानस्य च भाण्डाराः सन्ति । पुण्यस्य तु ते पारावारा एव आचारस्य च आधारा विद्यन्ते ।

अस्माकं संस्कृत-भाषायाः अयमेवापूर्वभाण्डारो वर्तते, यस्मिन् विश्वविख्यातैः भासकालिदासभवभूति-प्रभृतिभिः विलिखितानि अपूर्वाणि स्वप्नवासवदत्ताभिज्ञानशकुन्तलोत्तर-रामचरितादीनि नाटकानि साहित्यस्य अस्य मणय इव विराजन्तेतराम् । जगतप्रसिद्धं शाकुन्तलं पठित्वा जर्मनकविगेटे महोदयेन उक्तं तत् दर्शनीयमेव- "शाकुन्तलं वर्तते तत् वस्तु यत् यौवनावस्थायाम् उत्पन्नमनुरागकलिकां प्रौढावस्थायामुत्पन्नेन भावफलेन समं सम्मेलयति । शाकुन्तलं वरीवर्ति तत् वस्तु यत् भूमेः स्वर्गेण समं मेलनं कारयति ।" अस्यामेव संस्कृतभाषायां राजतरंगिणी, रघुवंशम्, कुमारसंभवम्, मेघदूतम्, भट्टिकाव्यम्, शिशुपालवधम्, नेषधीयचरितम्, किरातार्जुनीयम्, दशरुपकम्, नाट्यशास्त्रम्, काव्यप्रकाशः, साहित्यदर्पणम्, ध्वन्यालोकः, बाणस्य कादम्बरी, सुबन्धोः वासवदत्ता, दण्डिनो दशकुमार-चरितादीनि काव्यानि, अलंकारशास्त्रादीनि, लक्षणग्रन्थाः, मनोहराणि च कथा साहित्यानि सुशोभन्तेतराम् ।

सर्वाणि एव सूत्राणि यथा हि धर्मसूत्राणि, गृह्यसूत्राणि खदिरसूत्राणि, पुराणानि, ब्राह्मणग्रन्थाश्चेत्यादिपुस्तकानि चेत् प्राप्तुकामास्तर्हि इयं संस्कृतभाषा समश्रयणीता एव । यतो हि यदि कस्यचिद्देशस्य साहित्य तस्य संस्कृत्याः द्योतकमस्ति, तर्हि संस्कृतसाहित्यं भारतीय-संस्कृत्या निर्मलदर्पणं वरीवर्ति, तस्यां निजातीतगौरवस्य प्रतिबिम्बं दृष्ट्वा वयमद्यापि गौरवेण स्वमस्तकमुन्नतं कर्तुं शक्नुमः । विद्याव्यसनिनां कृते तु अस्माकं शास्त्राणि, इतिहासः पुराणानि काव्यानि च अनुसन्धातुमपारक्षेत्रं समुपस्थापयन्ति । अतोऽस्या एव उपासनया न केवलं भारतवासिनामपितु समग्रेऽस्मिन्, संसारे तस्यां सन्निहितस्यादिधर्मसनातनस्य समाश्रयणेन सर्वेषामेव प्राणिनां श्रेयो नूनं भविष्यति । अतो ये असारे खलु अस्मिन् संसारे कल्याणं प्राप्तुकामाः सन्ति तैरियमस्माकं भारती, संस्कृतम्, सरस्वती वा समुपासनीया एव ।

जगतः समस्त संस्कृतिषु च केवलं भारतीय-संस्कृतिः दृष्टिपथमायाति या मूर्धन्यभावेन विराजते । अस्यामेव संस्कृत्यां सा गंभीरता या सागरे वर्तते । सा इव इयमस्माकं भारतीयसंस्कृतिः यस्यामनेकविदेशि-संस्कृतयस्समागत्य तथैव निस्संकोचभावे मिलिता यथा रत्नाकरे नद्यः सर्वाभ्यः दिग्भ्यः समागत्य निर्विघ्नं सम्मिलन्ति ।

इयमेवास्कां भारतीया संस्कृतिः या वर्णव्यवस्थां, आश्रमव्यवस्थां, यज्ञव्यवस्थां, धर्मव्यवस्थां, न्याय व्यवस्थां मानवजीवनस्योत्थानार्थञ्च ये ये उपायाः कल्याणप्रदाः तान् सर्वान् प्रदर्शयति । क्षणं विचिन्त्य वयं चेत दीर्घदृष्ट्या विलोकयामस्तर्हि पश्येम यत् याः विशेषताः अस्माकं भारतीयसंस्कृतौ विद्यन्ते, न वर्तन्ते खलु कस्यामपि जगतोऽपरसंस्कृत्याम्।

8. भारतीयदर्शनस्य वैशिष्ट्यम्

दर्शनशब्दः दर्शनार्थकाद् दृश् धातोः 'करणाधिकरणयोश्च इति सूत्रेण करणो ल्युटि प्रत्यये कृते व्युत्पद्यते । अत एव दृश्यते अनेन इत्यस्मिन्नर्थे एव दर्शनशब्दो व्युत्पद्यते । अत एव येन साधनेन द्वारा विश्वस्मिन् विश्वे विद्यमानानां वस्तूनां सूक्ष्मतमं ज्ञानं सम्पद्यते तज्ज्ञानमेव दर्शनमभिधीयते । भारतीयदर्शनं खलु तपःपूतमनसां विमलमतीनां ऋषीणां तत्त्वचिन्तनस्य मूर्तरूपम् । "इयं सृष्टिः कुतः आयाति ? कुत्र च विलीयते ? किमस्या उपादानकारणम् ? किं च निमित्तम् ? का प्रकृतिः ? को जीवः ? कश्चैतयोरधिष्ठाता ? किं च मानवजीवनस्य लक्ष्यम् ?" इत्येतेषां प्रश्नानामुत्तरं सर्वप्रथमं तत्त्वचिन्तनपरैः भारतीयदार्शनिकैरेव सम्यगाविष्कृतम् ।

केनोपनिषदि श्रुत्याभिहितम्—

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदवेदीन् महती विनष्टिः ।" अस्याः श्रुतेरभिप्रायो वर्तते यत् मानवश्चेदत्र सूक्ष्मज्ञाननेत्रेण मानवजीवनस्य प्रयोजनभूतानां प्राप्यस्य, प्राप्तुः प्राप्यप्राप्त्युपायस्य प्राप्यप्राप्तिफलस्य, प्राप्यप्राप्तिप्रतिबन्धकस्य च स्वरूपं यथायथं ज्ञात्वा आत्मोज्जीवनं करोति तदा तु तस्य मानवं जीवनं सफलं जातम्, अन्यथा मानवे जीवने जायमानासु महती विनष्टिः तत्त्वज्ञानाभावस्वरूपैव भवति ।

इमानि दर्शनानि **"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः"** इत्यादिकानां श्रुतीनां माध्यमेन आत्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य तत्साधनभूतानां श्रवणमनननिदिध्यासनानां च ज्ञानस्य 'करणं तु ध्येयम्' इत्यादिकानां श्रुतीनां माध्यमेन जगतः कारणं किम् ? अत्र प्रश्नानि उद्भूतानि उपर्युक्तानि च । सम्पूर्णेऽस्मिन् भारते यानि दर्शनानि प्रख्यातानि सन्ति तेषां समेषां स्थूलदृष्ट्या भागद्वयं कर्तुं शक्यते—

1. **आस्तिकदर्शनानि ।** 2. **नास्तिकदर्शनानि च ।**

शास्त्रप्रतिपादितानि तत्त्वान्येव, पारमार्थिकानि सन्तीति यानि दर्शनानि प्रतिपादयन्ति तानि दर्शनानि आस्तिकदर्शनशब्देन अभिधीयन्ते । वेदप्रतिपादितानाम् अर्थानां प्रामाण्यमनभ्युपगच्छन्ति दर्शनानि नास्तिकदर्शनशब्देन अभिधीयन्ते । नास्तिकदर्शनस्य त्रीणि स्रोतांसि—

1. **चार्वाकदर्शनम् ।** 2. **जैनदर्शनम् ।** 3. **बौद्धदर्शनं च ।**

आस्तिकदर्शनस्य षड्स्रोतांसि—

NOTES

1. न्यायदर्शनम् । 2. वैशेषिकदर्शनम् 3. सांख्यदर्शनम् ।

4. योगदर्शनम् । 5. मीमांसादर्शनम् । 6. वेदान्तदर्शनम् चेति ।

इमानि आस्तिकनास्तिकभेदेन भिन्नानि दर्शनानि विश्वस्मिन् विश्वे प्रसिद्धानि सन्ति । एतेषां समेषां दर्शनानां तत्त्वविवेचन शैल्यतीवमनोज्ञा वर्तते । आसीत् कश्चन कालविशेषो यदा भारते वर्षे वैदिकविचाराणामेव प्रचारः आसीत् । शास्त्राणामेवालोके कर्त्तव्याकर्त्तव्यानां निर्णयः समजायत । सर्वेषामाश्रमाणां वर्णानां च धर्माणां निर्धारणं वैदिका एव अकुर्वन् । किन्तु कालविशेषो वेदविरोधिना, तर्कैकप्रधानानां मतानाम् आविर्भावः समजायत । श्रूयते वेदेष्वेव नास्तिकदर्शनानामपि बीजानि निहितानि सन्ति । छान्दोग्योपनिषदः अष्टमे अध्याये एकाख्यायिका समुपवर्णिता वर्तते ।

"एष आत्मापहतपाप्माविजरोविमृत्युरविशोको विजिघत्सोपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ।"

इति आकाशवाणीं श्रुत्वा देवेषु इन्द्रः दैत्येषु विरोचनश्च प्रवव्राजतुः । तौ आत्मविद्यां जिघृक्षूदृष्टा शिष्यनियमानुसारेण तौ समुपनेत्य ताभ्यां चार्वाकदर्शनदृष्टया शरीरस्य एव आत्मत्वमुपदिदेश । तत् श्रुत्वा विरोचनस्तु सन्तुष्टः सन् गृहमाजगाम, किन्तु देवराज इन्द्रः देहस्यात्मत्वे दोषान् विचार्य पुनः पितामहस्य सविधे आगत्य बहुधा प्रेयस्य चात्मविद्यां जग्राह । श्रूयते तस्मादेव कालात् लोके देहात्मवादिनां मतं प्रसमरमभूत् ।

इदमपि श्रूयते यत् कदाचित् देवानामाचार्यः बृहस्पतिरेव चार्वाकमतं प्रसारयामास । यागेषु जायमानान् हिंसादिदोषान् दृष्ट्वा अहिंसकमतं बौद्धदर्शनं जैनमतञ्च लब्धप्रचारो बभूवतुः, इत्थम् आस्तिकानि दर्शनानि तु वेदविहित-अर्थाश्रितानि सन्त्येव । इमानि सर्वाण्येव दर्शनानि किञ्चिदभ्युपगम्य एव स्वमतस्य पोषणं कुर्वन्ति प्रमाणानामालोके । एतेषु दर्शनेषु प्रमाणविषयिण्यपि संख्या भिन्ना वर्तते । तत्र चार्वाकाः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति स्वीकुर्वन्ति । तत्रैव सर्वेषामपेक्षितानां प्रमाणानामन्तर्भावमपि वाञ्छन्ति । बौद्धौ प्रत्यक्षानुमाने द्वे प्रमाणे स्वीकुर्वन्ति । साङ्ख्याः योगिनः विशिष्टाद्वैतिनश्च प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि इति स्वीचक्रुः । नैयायिकाः चत्वारि प्रमाणानि स्वीकुर्वन्ति-प्रत्यक्षप्रमाणम्, अनुमानप्रमाणम्, उपमानप्रमाणम्, शब्दप्रमाणञ्चेति । अद्वैतिनः षट्प्रमाणानि इति स्वीकुर्वन्ति प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यनुपलब्धाख्यानि। पौराणिका अष्टौ प्रमाणानि इति प्रतिपादयन्ति-प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यनुपलब्धिसम्भवैतिह्याख्यानि । सर्वेषां दर्शनानां तत्त्वविवेचनशैली भिन्न-भिन्नापि स्व-स्वमौलिकतां न जहाति । अत एव सर्वे पौरस्त्याः पाश्चात्याः च समालोचकाः भारतीयदर्शनस्य तत्त्वमीमांसा ज्ञानमीमांसा च प्रशशंसुः । .

भारतीयदर्शनानामिदं वैशिष्ट्यं वर्तते यत् तेषामुत्पत्तिविषये कस्याश्चन कल्पनायाः अवसरो नास्ति । पाश्चात्येषु तु दर्शनोत्पत्ति विषये अनेके वादाः प्रख्याताः सन्ति । यथा - आश्चर्यजन्यतावादः, सन्देहजन्यतावादः, ज्ञानानुरागवादः प्रभृतयः अनेके वादाः प्रख्याताः सन्ति । किन्तु भारतीयानां दर्शनानां तु एतत् कथनं वर्तते यत् संसारे जायमानः ये केचनापि जीवास्सन्ति, ते समे दुःखाभिभूता भवन्ति काले-काले । दुःखानामागन्तुकत्वं वीक्ष्य मानवां मनसि विचारोऽयं संजातः यत् किमपि आगन्तुकं भवति तत् विनश्यति, यथा घटः पटः । दुःखमपि आगन्तुकं विद्यते, तस्य काले विशेषे एव जायमानत्वात्। अत एव अस्य आगन्तुकस्य दुःखस्य विनाशो नूनं स्यात् । तदा किं तत् साधनं विद्यते येन साधनेन

दु:खजातस्य ऐकान्तिकरूपेण समूलमुन्मूलनं भवेत् शाश्वतिकं च सुखं समुपलभ्येत एतादृशविचारपरम्परैव दर्शनमित्यभिधीयते ।

सांख्यकारिकाकारेण उक्तमपि -

"दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदाभिघातके हेतौ ।
दृष्टे, साऽपार्था चेत् नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।" इति ।

भारतीयदर्शनानां निम्नांकितानि वैशिष्ट्यानि सन्ति—

1. आत्मचिन्तनस्य प्राधान्यम्—भारतीयदर्शनेषु आत्मचिन्तनस्य प्राधान्यं सर्वेषु दर्शनेषु आत्मभावनाया: प्राबल्यं दृश्यते । आत्मन: स्वरूपं किमिति विषये चार्वाकोऽपि विचारं स्वकीयं प्रकाशयति । अत एव केचन चार्वाका: देहस्यैवात्मत्वं प्रतिपादयन्ति, केचनेन्द्रियाणामात्मत्वं प्रतिपादयन्ति, केचन प्राणानां केचन च मनसां बौद्धा: क्षणिकस्य निरन्वविनाशशालिनो ज्ञानस्य अद्वैतिन: निर्वेशस्य ज्ञानस्यात्मत्वं प्रतिपादयन्ति, सांख्या: पुरुषतत्त्वस्य आत्मत्वं स्वीकुर्वन्ति, योगिनोऽपि तथा, नैयायिका:, वैशेषिका अपि विभिन्नप्रकारेणात्मन: स्वरूपं निरूपयामासु: ।

विशिष्टाद्वैतिनस्तु प्राहु:—

"देहेन्द्रियमन: प्राणधीभ्योऽन्योऽनन्यलक्षण: ।
नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्माभिन्न: स्वत: सुखी ।।" इति ।।

2. आत्मन: सद्भावविषये प्रमाणानां स्वरूपम् — केचन दार्शनिका: आत्मानं प्रत्यक्षवेद्यम्, केचनानुमानसंवेद्यम् केचनागमैकवेद्यम्, केचन मानसप्रत्यक्षवेद्यं स्वीकुर्वन्ति । केचन च ज्ञानस्वभावतयाऽनु दितानस्तमित स्वरूपप्रकाश: स्वयं ज्योति: ईदृशोऽपि आगमानुमानयोजप्रत्यक्षै: स्वेतरसकलविलक्षणस्वाभाव्येन-विशद-विशदतर-विशद- तमतयाऽन्ततोऽयथावद् अपरोक्ष्यते आत्मा इति प्रतिपादयन्ति।

3. शास्त्रमूलकत्वम्—प्रायेण आस्तिका: दार्शनिका: प्रतिपादयन्ति,

"सम्मतं हि सर्वसमयेषु आत्मज्ञानं नि:श्रेयसहेतु:" इति ।।

श्रूयते च- 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्त्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।" "आत्मानं चेद्विजानीयात् ।" "तरति शोकमात्मवित् ।" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि: । परावरात्मतत्त्वविज्ञानस्यापवर्गसाधनत्वं प्रतिपादयन् वाक्यगण: ।

4. परमात्मतत्त्वस्वीकरणम्—भारतीयदर्शनेषु परमात्मन: स्वीकरणमपि एकं वैशिष्ट्यं वर्तते । अनेकानि दर्शनानि योग-न्याय-वेदान्तादीनि परमात्मन: सर्वज्ञत्वम्, सर्वशक्तिमत्त्वम्, सर्वकारणत्वम्, सर्वात्मऽवादिकञ्च स्वीकुर्वन्ति य: सर्वज्ञ: सर्ववित्', परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते', स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, 'यतो' वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, ऐतदात्मयमिदं सर्वम्' इत्यादीनां श्रुतीनामालोके ।

5. विवेचनप्राधान्यम्—सर्वाणि दर्शनानि स्वाभीष्टानां सर्वेषां तत्त्वानां विवेचनं प्रमाणानामालोके कुर्वन्ति । यद्यपि दर्शनेषु श्रद्धायै अपि स्थानं भवति किन्तु सा श्रद्धा तर्कप्रमाणोपबृंहिता परिपुष्टा च भवन्ति ।

इत्थं सर्वाणि दर्शनानि विवेचनप्रधानानि गूढ़ार्थसमालोचनप्रवणानि, तर्कप्रमाणोपबृंहितानि शास्त्रमूलकानि आत्मपरमात्मतत्त्वस्वरूपनिरूपणपरानि, दुःखापनोदनसाधननिर्देशकानि, जीवपरात्मयाथात्म्यज्ञानपूर्वकवर्णाश्रम-धर्मकर्त्तव्यनिरूपकाणि अखिलजगद्धितानुशासनपराणि च सन्ति।

9. षड्दर्शनानि

दर्शनसाहित्ये भारतीयदर्शनानि प्रमुखानि इमानि सन्ति- सांख्यम्, योग:, न्याय:, वैशेषिकम्, मीमांसा, वेदान्त:, जैनदर्शनम्, बौद्धदर्शनम्, चार्वाकदर्शनं च । एतेषु सांख्यम्, योग:, न्याय:, वैशेषिकम्, मीमांसा, वेदान्तश्चेति "षड्दर्शनानि" उच्यन्ते । यत: एतानि वेदं प्रमाणं मन्यन्ते, अत: एतानि आस्तिकदर्शनानि इत्यपि अभिधीयन्ते । जैनदर्शनम्, वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकेति चतुर्विधम् बौद्धदर्शनम्, चार्वाकदर्शनम्, चेति समेत्य एतानि अपि षट् परिगण्यन्ते। यत: एतानि वेदं प्रमाणं न मन्यते, अत: एतानि पूर्वं कैश्चित् नास्तिकदर्शनानि इत्यपि अभिहितानि । अत्र विषये आस्तिकनास्तिकेतिविभाजनम् ईश्वरस्य अस्तित्वनास्तित्वयो: मान्यताया: आधारे न वर्तते । इदं विभाजनं तु वेदप्रामाण्याधारे वर्तते, किन्तु आधुनिककाले असिमन् आधारे इदं विभाजनं समीचीनं न प्रतिभाति। वस्तुतस्तु अनेन विभाजनेन कस्यचित् अतिभौतिकस्य तथ्यस्य अस्तित्वनास्तित्वयो: मान्यताया: आधारे भाव्यम् । भौतिकानि तथ्यानि तु प्रत्यक्षगोचराणि सन्ति एव, अत: यानि दर्शनानि तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् अतिभौतिकस्य तथ्यस्य सत्तायां विश्वसन्ति, तानि आस्तिकदर्शनानि मन्तव्यानि, तद्विपरीतानि च नास्तिकानि । एवम् "अस्ति नास्ति दिष्टं मति:" इति पाणिनीयेन सूत्रेण अपि सामाञ्जस्यं यथावत् तिष्ठति । इत्थं च केवलम् एकम् चार्वाकदर्शनम् एव नास्तिकदर्शनं मन्तुं शक्यते, यतो हि तत् प्रत्यक्षगोचराणि तथ्यानि अतिरिच्य किञ्चित् अतिभौतिकीं सत्तां कञ्चित् अतिभौतिकं धर्मं वा मन्यन्ते एव, अत: तानि आस्तिकानि एव मन्तव्यानि ।

आस्तिकषड्दर्शनानां सामान्यपरिचयम् अत्र प्रस्तूयते–

1. सांख्यदर्शनम् – 'सांख्य बुद्धिर्ज्ञानम्' इति कोशवाक्यानुसारेण संख्याशब्दो ज्ञानपर: । संख्यामधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं सांख्यम् अति अभिधीयते । इति एव सांख्यशास्त्रस्य अपरो पर्याय: ज्ञानशास्त्रं वर्तते । ज्ञानञ्च व्यक्ताव्यक्तज्ञानां विवेकस्वरूपम् । भेदपूर्वकं ज्ञानमेव विवेक इति उच्यते ।

"दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।"

अयमाशय: यत् जननमरणपदजञ्जाला: जनिमन्तो जीवा: नूनम् आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकायख्यै: दु:खै: अहर्निशं सन्तप्ता: भवन्ति। अत एवात्र जिज्ञासा भवति यत् यस्मात् कारणाद् इमानि दु:खानि आगन्तुकानि भवन्ति; तस्मादेव कारणावेतेषां विनाशो भवतीति निश्चितम् । आत्मन: प्रतिकूलत्वात् एतेषां दु:खानां दूरीकरणमप्यनिवार्यं विद्यते । अत एव एतेषा दु:खानां विनाशकानि कानि साधनानि सन्ति ? यानीह साधनानि दु:खदूरीकरणस्य दृश्यते तानि द्विप्रकारकानि सन्ति- लौकिकानि वैदिकानि च । परन्तु लौकिकै: साधनै: दु:खानामत्यन्ताभावो नहि दृष्ट: अत एव वैदिकेषु उपायेषु जिज्ञासा जायते । यानि च वैदिकानि साधनानि यागादीनि शास्त्रे निर्दिष्टानि तेषामपि अविशुद्धिक्षयातिशयमुक्तत्वात् तेषु अनैकान्तिकत्वबुद्धिर्जायते । तथा चोक्तमीश्वरकृष्णेन–

"दृष्टवदानुश्रविक: सो ह्यविशुदिधक्षयातिशययुक्त:।" इति ।।

अत एव

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ता व्यक्तज्ञविज्ञानात् ।। इति ।।

अयमाशयः– लौकिकालौकिकसाधनव्यक्तिरिक्तमेव व्यक्ताव्यक्तज्ञानां भेदपूर्वकज्ञानस्वरूपं विज्ञानमेव कैवल्यावाप्तेः साधनमस्ति । तानि च व्यक्ताव्यक्तज्ञख्यानि तत्त्वानि कानि सन्ति इति अभिकांक्षायामाह ईश्वरकृष्णः—

"मूलप्रकृतिरविकृतिः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडषकश्च विकारः न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।" इति ।

सांख्यसम्मतानि तत्त्वानि एतानि सन्ति ।

प्रकृतिपुरुषौ, बुद्धि-अहंकारमनांसि, पञ्चमहाभूतानि चेति । एतेषां तत्त्वज्ञानमेव सांख्याचार्यैः—

"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानम्-- "प्रकृतिपुरुषविवेकः" "विवेकख्यातिः" "सत्त्वपुरुषान्यताख्याति" - रित्यादिनामभिनिर्दिष्टम् । प्रकृतिपुरुषयोः तत्त्वज्ञानेनैव विविध्दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपं मोक्षपदं लभ्यते । सांख्याः सत्कार्यवादिनः । "सतः सज्जायते" इति सत्कार्यवादः । सत्कार्यवादस्य सिद्धिः - "असदकरणादुपादानग्रहणात्" - इत्यादिकारिकायां ईश्वरकृष्णेन कमनीयता विहिता । गीतायामपि - **"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।"**

इत्येवं रूपेण सत्कार्यवादो विशदतां नीतः ।

2. योगदर्शनम् - योगदर्शनस्य प्रथमोपदेष्टरूपेण हिरण्यगर्भो ब्रह्म श्रूयते । परन्तु साम्प्रतं हिरण्यगर्भोपदिष्टः योगः न हि समुपलभ्यते । साम्प्रतं यस्य योगदर्शनस्य उपलब्धिः भवति तद्योगदर्शनं महर्षिपतञ्जलिकृतमेव वर्तते । ग्रन्थोऽयं चतुर्षु पादेषु विभक्तो वर्तते । समाधि-साधन-विभूति-कैवल्याख्या इमे चत्वारः पादाः सन्ति ।

योगस्यस्वरूपं निरूपयता महर्षिणा पतञ्जलिना सूत्रितम्—

"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।" इति ।

सूत्रस्य व्यासभाष्ये अभिहितम् - 'योगः समाधिः ।' स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः । यस्य चित्तस्य वृत्तीनां निरोधः योगेन क्रियते तस्य चित्तस्य पञ्च अवस्थाः भवन्ति । इमा अवस्था इव चित्तभूमिशब्देन अभिधीयन्ते । चित्तभूमीनां नामानि सन्ति – क्षिप्तमूढ-विक्षिप्त-एकाग्र-निरुद्धा ख्यानि । तथा चोक्तं व्यासभाष्यकारेण-(क्षिप्तमूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः । तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिः न योगपक्षे वर्तते । यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयते । क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति । निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते । स च वितर्कानुगतः विचारानुगतः आनन्दानुगतः अस्मितानुगतः । सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः इति ।

वृत्तीनां निरूपणं कुर्वन् योगसूत्रकार आह—

"वृत्तयः पञ्चतथ्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।।" (योगसूत्र 1/5)
'प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ।' इति ।

NOTES

अयमाशयः यत् पञ्चसंख्याताः चित्तवृत्तयः भवन्ति । ताः सर्वा एव वृतयः द्विविधा भवन्ति- क्लिष्टा अक्लिष्टा च । तत्र- 'क्लेश हेतुकाः कर्माशयप्रथमे क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः । गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः 'इत्याह क्लिष्टत्वाक्लिष्टत्व- विवरणे व्यासभाष्यकारः ।

प्रमाणान्यत्र दर्शने प्रत्यक्षानुमानागमाख्यानि स्वीक्रियन्ते । तथा चोक्तं सूत्रे-

"प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि" । (1/7)
'विपर्ययो मिथ्याज्ञानं तद्रूपप्रतिष्ठितम्' । (1/8)

निरूपणे विकल्पनिद्रास्मृतीनां निम्नप्रकारेण सूत्रितवान् **महर्षिः पतञ्जलिः** -

"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।" (1/9)
"अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ।" (1/10)
"अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ।" (1/11) इति ।।

इमा वृत्तय एव कार्याणि समुत्पाद्य संस्काररूपेण मानवानां हृदयेषु निवसन्ति । समयानुसारेण सादृश्यादिमहिम्ना उदबुद्धा इमे संस्कार एव पुनर्वृत्तिरूपेण परिणता भवन्ति । आसां वृत्तीनां निरोधेन तत्त्वज्ञानामुत्पद्यते दुःखानामत्यन्ताभावश्च सम्पद्यते । अत एव एतासां वृत्तीनां निरोधः कर्त्तव्यः ।

3. न्यायदर्शनम् — भारतीयदर्शनपरम्परायां न्यायदर्शनं प्रमुखम् । "ऋषिगौतमः" न्यायस्यादिप्रणेता । गौतमन्यायसूत्रेषु- ईश्वरो जगत्कर्ता, जगत्पालकः तत्संहारकश्च चित्रितः । न्यायमते- ईश्वरेच्छया परमाणुसंयोगो जायते । परमाणुसंयोगेन च सृष्टिः उत्पद्यते । इत्थं गौतम एव परमाणुवादस्याविष्कर्ता कथ्यते ।

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" - इति न्यायसूत्रे आत्मापि सुष्ठु परिभाषितः । दुःखत्रयपाशबद्धो जीवात्म **"प्रमाणप्रमेयादि"** - षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानात् मोक्षं प्राप्नोति ।

न्यायदर्शने प्रमाणानां विवेचनं विशेषतया विहितम् । तत्र इत्येतानि चत्वारि प्रमाणानि स्वीकृतानि । नैयायिकैः सर्वेषां पदार्थानां परीक्षणं प्रमाणनिकषोपले विधीयते ।

"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः"

इति व्याहरता भाष्यकारेण वात्स्यायनेन न्यायनये प्रमाणमाहात्म्यमङ्गीकृतम् । प्रमाणविवेचनप्राधान्येनैव न्यायदर्शनम्-

"प्रमाणशास्त्रम्" "तर्क शास्त्रम्" च इत्यादिनामभिर्व्यपदिश्यते ।

4. वैशेषिकदर्शनम् - वैशेषिकसूत्रकारः तत्र भवान् महर्षिकणादः वैशेषिकसम्प्रदायप्रवर्तकः । न्यायवैशेषिकयोः नास्ति महदन्तरम् । द्वयोरेव जीवजगदीश्वरविषयिण्यो मान्यताः समतां धारयन्ति । वैशेषिकैः परमाणुषु "विशेषः" इति नामपदार्थः स्वीकृतः । अस्मादेव कारणात् कणादं दर्शनं **"वैशेषिकः"** इति नाम्ना ख्यातिं जगाम । वैशेषिकानां मते -

"**द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः** इति षट्पदार्थाः ।" तत्र "पृथिवी-अप-तेज वायव्याकाशकालदिगात्ममनांसि।" इति नवद्रव्याणि । एतेषां पदार्थानां द्रव्याणां च तत्त्वज्ञानमेव मोक्षसाधनम् । "सांख्यदर्शनम् - महामुनिकपिलः सांख्यदर्शनस्य आद्योपदेष्टा । सांख्यनाम्ना एवास्य शास्त्रस्य महत्त्वं प्रतिभासते । अस्मिन्नेव शास्त्रे प्रथमं मोक्षसाधकतत्त्वानां संख्यानां परिगणनं वा कृतम् । अत एवेदं शास्त्रं सांख्यसंज्ञया प्रसिद्धम् ।

"सम्यक् ख्यानं संख्या" इति निर्वचनानुसारं यस्मिन् दर्शने जडचेतनयोः प्रकृतिपुरुषयोः सम्यग्ज्ञानं वा वर्णितं तद् दर्शनं सांख्यमित्यभिधीयते । सांख्यां परिभाषयता भगवता व्यासेन कथितम्-

"संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ।
तत्त्वानि च चतुर्विंशतिः तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ।।" इति ।।

5. मीमांसादर्शनम् - दार्शनिकप्रवरः तत्रभवान् महामुनिः जैमिनिः मीमांसाशास्त्रस्य सूत्रकारः । धर्मस्य विवेचनं मीमांसायाः प्रमुखो विषयः । यथा उक्तं श्लोकवार्तिके-

'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्'

मीमांसादर्शने – "**अथातो धर्मजिज्ञासा** ।" इत्यस्मिन् सूत्रेऽपि इदमेव तथ्यं प्रमाणितम् । जैमिनिमुनिना—

"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः"

इति सूत्रे धर्मस्य लक्षणं विहितम् । अत्र क्रियायाः प्रवर्तक यदा वेदस्य विधिवाक्यमेव "चोदना" या खलु भूतं भाविनं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं सकलमपि पदार्थजातं ज्ञापयितुं क्षमा ।

मीमांसादर्शने कर्मणां महत्त्वं महनीयतया स्वीकृतम् प्राचीनमीमांसकास्तु कर्म एव ईश्वरस्थानीयं स्वीचक्रुः ।

"कर्मेति मीमांसकाः ।"

इति वचनमस्योदाहरणभूतम् । किन्तु अर्वाचीनाः कर्मफलाध्यक्षरूपेण ईश्वरं पृथक्तया प्रकल्पयामासुः । मीमांसानुसारं निष्कामभावेन ईश्वरार्पणबुद्ध्या कर्माणि कुर्वन् मानवो मोक्षमाप्नोति ।

"वेदानामपौरुषेयत्वम्" "स्वतः प्रामाण्यम्"

"संचित प्रारब्धक्रियमाणकर्मणां स्वरूपम्" च यथा मीमांसकैः मीमांसितः तथा नान्यैः । मीमांसाया भागद्वयम् -

पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा चेति । तत्र पूर्वमीमांसा एव मीमांसादर्शनं वर्तते । उत्तरमीमांसा च वेदान्तः इति ।

6. वेदान्तदर्शनम् (उत्तरमीमांसा) - शारीरकसूत्रकारः तत्र भवान् भगवान् **बादरायणः** वेदान्तस्य उपदेष्टा । वेदान्तानुसारम् अखण्डं सच्चिदानन्दं ब्रह्म एवेकमद्वितीयं तत्त्वम् । जगदिदं मिथ्या । जीवोऽपि तत्त्वतो ब्रह्म एव नान्यत्-

"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।"

मायानाम्नी ब्रह्मणो विलक्षणा अनिर्वचनीया च शक्तिर्या खलु अज्ञानम्, अविद्या, प्रकृतिश्चेत्याद्यभिधानैरभिधीयते । मायया अज्ञानेन वा एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि नामरूपात्मकस्य जगतः भ्रान्तिस्तथैव जन्यते यथा अन्धकारे रज्जौ सर्पत्वभ्रान्तिः । इत्थं ब्रह्मणो विवर्तमेव जगत् ।

वेदान्तसिद्धान्तानुसारं तत्त्वज्ञानेन मायया अज्ञानस्य वा आवरणं छिन्नं जायते । तदा जीवः "तत्त्वमसीति" गुरुपदिष्टवाक्यसहकृतेन आत्मनः स्वरूपं परिचिनोति । साधकः साधनापद्धतिमनुसरन् आत्मनः श्रावण-मनन-निदिध्यासनेन अद्वैतब्रह्मणः साक्षात्कारं विदधाति । ब्रह्माणि साक्षकृते–

"अंह ब्रह्मास्मि ।"
"अयमात्मा ब्रह्म ।"
"प्रज्ञान ब्रह्म ।"
"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।"

इत्येतानि महावाक्यानि चरितार्थतां यान्ति । **"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।"**

इत्यनुसारं ब्रह्मवेत्ता स्वयमपि ब्रह्मत्वमेव प्राप्नोति । इयं ब्रह्मत्वप्राप्तिरेव परा गतिः सैव च पराकाष्ठा ।

अतीव प्रशस्ता पुण्या च खलु भारतीयदर्शनानां षड्दर्शनपरम्परा । षड्दर्शनसम्प्रदायेषु- कैवल्यम्, स्वरूपावस्थानम्, मोक्षः, दुःखत्रयनिवृत्तिः, परमानन्दावारितः वा जीवनस्य चरमलक्ष्यत्वे स्वीकृता । सर्वैरेव दार्शनिकैः दुःखनिवृत्तिमार्गः स्वमनीषिकाभिः सम्यग्निर्दिष्टः । इत्यलम् ।

10. नास्तिकदर्शनानि

भरतीयदर्शनानि प्रमुखानि इमानि सन्ति- सांख्यम् योगः, न्यायः, वैशेषिकम्, मीमांसा, वेदान्तः, जैनदर्शनम्, बौद्धदर्शनम्, चार्वाकदर्शनम् च । एतेषु सांख्यम्, योगः, न्यायः, वैशषिकम्, वेदान्तः चेति षड्दर्शनानि उच्यन्ते । एतानि वेदं प्रमाणं मन्यन्ते अतः आस्तिकदर्शनानि कथ्यन्ते । जैन-दर्शनम्, बौद्धदर्शनम् चार्वाकदर्शनं चेति वेदं प्रमाणं न मन्यन्ते, अतः एतानि नास्तिकदर्शनानि कथ्यन्ते । एतेषु नास्तिकदर्शनेषु प्रथमत्वेन प्रमुखत्वेन चार्वाकदर्शनमायाति । अतः सामान्यपरिचयम् अत्र प्रस्तुयते–

1. चार्वाक दर्शनम्–

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।

चार्वाकाः शरीरस्यैवात्मत्वं स्वीकुर्वन्ति । छान्दोग्योपनिषदः अष्टमाध्याये चार्वाकदर्शनस्य बीजानि सुरक्षितानि सन्ति । श्रूयते बृहस्पतिरेव बभूव चार्वाकदर्शनस्य सर्वप्रथमः प्रचारकः । यद्यपि साम्प्रतं चार्वाक दर्शनस्य किमपि पुस्तकं नहि समुपलभ्यते, किन्तु चार्वाकदर्शनस्य कानिचन सूत्राणि यत्र-तत्र पूर्वपक्षादिरूपेण, आस्तिकदर्शनस्य ग्रन्थेषु सुरक्षितानि सन्ति येषां संग्रहमेकत्रैव म.म. उमेशमिश्रः चकार स्वकीये भारतीयदर्शनाख्ये ग्रन्थे । तानि च सूत्राणि अधोऽङ्कितानि सन्ति–

1. अथातः तत्त्वं व्याख्यास्यामः ।

2. पृथिव्यतेजोवायुरिति तत्त्वानि।

3. तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ।

4. तेभ्यश्चैतन्यम् ।

5. किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम् ।

6. भूतान्येव चेतयन्ते ।

7. चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः ।

8. जलबुद्बुदवज्जीवः ।

9. परलोकिनः अभावात् परालोकाभावः ।

10. मरणमेवापवर्गः ।

11. धूर्तप्रलापस्त्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात् ।

12. अर्थकामौ पुरुषार्थौ ।

13. दण्डनीतिरेव विद्या अत्र वार्ताऽन्तर्भवति ।

14. प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् ।

15. लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः । इति ।।

इमानि सर्वाणि सूत्राणि बार्हस्पत्यसूत्रनाम्ना प्रख्यातानि सन्ति । एतेषां सूत्राणामालोके इदं निश्चेतुं शक्यते ।

1. चार्वाकाः जीवस्य पृथक् सत्त्वं नहि स्वीकुर्वन्ति ।

2. एतेषां मतानुसारेण वेदस्य प्रामाण्यं नहि स्वीकरणीयम् ।

3. चार्वाकाः पुरुषार्थचतुष्टयस्य सिद्धान्तं हित्वा अर्थकामयोरेव पुरुषार्थत्वं स्वीकुर्वन्ति । ध र्ममोक्षयोः पुरुषार्थत्वं स्वीकुर्वन्ति । धर्ममोक्षयोः पुरुषार्थत्वं नहि सम्भवति ।

4. पृथिव्यप्तेजोवायुरिति चत्वारि एव तत्त्वानि सन्ति, आकाशनामकं भूतं ते नहिं स्वीकुर्वन्ति, आकाशस्य अवकाशरूपत्वात् ।

5. येन प्रकारेण मादकद्रव्याणां संयोगविशेषेण तेषु मदशक्तिरुत्पद्यते, तेनैव प्रकारेण पृथिव्यप्तेजोवायूनां संयोगविशेषेण तेषां संघातभूते शरीरे ज्ञानमुत्पद्यते ।

6. शरीरमेवात्मा तत्रैवाहं प्रयोगात् । भवति च लोके स्थूलोऽहं कृशोऽहम् इत्यादिकः प्रयोगः । शरीरस्यैव स्थूलत्वकृशत्वयोर्विषयत्वात् ।

7. चार्वाकाणां मते नास्ति परलोकः, जीवस्य क्षणिकत्वात् शरीरपातान्तरमेव जीवस्य सत्तासमाप्तेः।

8. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् । तद्व्यतिरिक्तं प्रमाणं नास्ति ।

चार्वाकाः प्रलये नहि विश्वसन्ति अत एव संसारमुत्पादयितुम् इमे स्रष्टारं नह्यपेक्षन्ते । ते स्वीकुर्वन्ति यत् सृष्टिः स्वयमेव भवति अथवा मातापित्रोः परम्परया भवति । एतेषां मतानुसारेण संयोगेन वा समवायेन वा कणानामवयवावयविरूपं संघटनं नहि भवति । यतः इमे त्रसरेणवः क्षणिकाः सन्ति । अत एव एभिः अवयविनो नहि भवन्ति, त्रसरेणूनां संस्थानविशेषेण वा केवलेन संघटनेन वा वस्तूनि जायन्ते, रूपरसगन्धादिका गुणा अपि पृथिव्यादीनां संस्थानेभ्य एव जायन्ते । ते प्रतिपादयन्ति यत् येन प्रकारेण वर्षाकाले पृथिव्यादिभूतेभ्यः सहया कीटाः भेदादिकाः जीवविशेषाश्च समुत्पद्यन्ते तेनैव प्रकारेण, मनुष्यादिजीवेभ्यस्तेषां चैतन्यं निष्कारणमेव उत्पद्यन्ते । इमे चार्वाकाः आत्मव्यरिक्तिं परमात्मां नहि

स्वीकुर्वन्ति तस्यानावश्यकत्वात् परलोकोऽपि कश्चन नास्ति मरणोपरान्तं जीवास्तित्वस्याभावात् । एतेषां मतानुसारेण यावत्शरीरमेव जीवस्य सत्ता भवति । शरीरविनाशस्य समकालमेव जीवस्य विनाशो भवति । सांसारिकं जायमानं सुखमेवेमे स्वर्गशब्देन त्रिविधानि दुःखानि च नरकशब्देन अभिदधति । एतेषां सिद्धान्त एव वर्तते ।

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।" इति ।।

चार्वाकाणां चत्वारः सम्प्रदायाः सन्ति । तत्र देहात्मवादिनः चार्वाकाः सर्वप्रधानाः सन्ति । अनेन प्रकारेण दृश्यते यत् चार्वाकाणामतीव महती परम्परा आसीत् । इमे सर्वे स्व-स्वमतानुसारेणात्मनः प्रतिपादनमकार्षुः । यद्यपि सर्वे चार्वाकव्यतिरिक्ता दार्शनिकाः चार्वाकदर्शनस्य प्रत्याख्यानमकार्षुः, अथापि भारतीयदर्शनसमवाये चार्वाकदर्शनस्य महतोऽवदानस्यापलापं कर्तुं नहि शक्यते । मन्ये सर्वे एव दार्शनिकाः चार्वाकमतस्य खण्डनादेव स्वमतपोषणस्यारम्भणं कृत्वा स्वकीयं पन्थानं प्रशस्तमकार्षुः इति ।

2. जैनदर्शनम्—

नास्तिकदर्शनेषु चार्वाकदर्शनस्य अनन्तरं जैनदर्शनस्यैव स्थानमायाति । जैनानां दार्शनिकग्रन्थेषु चार्वाकदर्शनस्य उल्लेखः समुपलभ्यते । चार्वाकास्तु भूतेभ्यः पृथक् आत्मनः सत्तां नहि स्वीचक्रुः किन्तु जैनाः आत्मानं भूतेभ्यः पृथक स्वीकुर्वन्ति अथापि जैनाः भौतिकवादात् सर्वथा मुक्ता आसन् इत्यपि वक्तुं नहि शक्यते । अलौकिकगुणसम्पन्नो अपि आत्मा भौतिकतातः सम्बद्धो वर्तते इति जैनाः आत्मानं परिणामिनमपि स्वीकुर्वन्ति । जैनाः जीवम् अस्तिकायशब्देन अभिदधति । अत एव अस्मिन् मते आत्मा लघुरपि भवति बृहदपि । जैन दर्शनस्यापि प्रवृत्तिः दुःखानामात्यन्तिकहानाय सुखानामवाप्तये चापि भवति । तपोभिः साधनैश्च शरीवाङ्मनः क्रियाणां संयमनेनान्तः करणस्य शुद्धिः, परमात्मसाक्षात्कारश्य जैन दर्शनस्य चरमं लक्ष्यम् ।

सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानम्, सम्यक्चारित्र्यञ्चेति त्रिभ्यः रत्नेभ्यो जैना आजीवनं प्रयतन्ते । जैनदर्शनस्य प्रवर्तको ऋषभदेवः वर्तते । जैनदर्शनस्य प्रवर्तकत्वेन प्रख्याताः तीर्थङ्करशब्दवाच्याः चतुर्विंशतिसंख्याकाः महापुरुषाः अभूवन् । एतेषां तीर्थङ्कराणां नामानि निम्नांकितानि सन्ति–

1. आदिनाथः (ऋषभदेवः)	2. अजितनाथः	3. सम्भवनाथः
4. अभिनन्दनः,	5. सुमतिनाथः	6. पद्मप्रभुः
7. सुपार्श्वनाथः	8. चन्द्रप्रभः	9. सुविधिनाथः
10. शीतलनाथः	11. श्रेयांसनाथः	12. वासुपूज्यः
13. विमलनाथः	14. अनन्तनाथः	15. धर्मनाथः
16. शान्तिनाथः	17. कुन्थुनाथः	18. अरनाथः
19. मल्लिनाथः	20. मुनिसुव्रतः	21. नमिनाथः
22. नेमिनाथः	23. पार्श्वनाथः	24. वर्धमानः (महावीरः)।

अनयैवाचार्यपरम्परया जैनसिद्धान्तः अनादिकालतः सुरक्षितो वर्तते इति जैनमतावलम्बिनाम् अभिमतिः । वर्धमानो महावीर एव जैनानामन्तिमः तीर्थङ्करः आसीद् इति निश्चितः वर्तते । जैनसमाजे ब्रह्मचर्यपालनसंसारादनासक्तिदिगम्बरवासः प्रभृति नियमानां पालनं दृढतया क्रियते । किन्तु अस्मिन् विषये जैनेषु दलद्वयमभूत् । एके जैना दिगम्बरा अभूवन् अन्ये च श्वेताम्बराः ।

महावीरेण उपादिष्टं यत् केवलज्ञानावाप्तये परिव्राजकत्वस्वीकार आवश्यको भवति । तत्र गृहस्थानां गृहेभ्यो भिक्षित्वा जीवननिर्वाहकरणम् अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाख्यानां पञ्चव्रतानां पालनमत्यावश्कं भवति । जैनसम्प्रदाये तीर्थङ्करस्य पदमतीव महत्त्वपूर्णम भवति । सम्यग्ज्ञानेन सम्यग्वाचा सम्यक्चारित्र्येण च युक्तो जीवो साधु भवति । रोगभयेभ्यो विमुक्ता इमे वर्षासु चातुर्मास्यं सम्पाद्य वर्षस्याष्टसु मासेषु विचरन्तो जैनधर्मस्योपदेशं कुर्वन्ति ।

जैनदर्शने निम्नांकितानि तत्त्वानि स्वीक्रियन्ते- जीवाजीवात्मकं जगदेतन्निरीश्वरम् ।तच्च षड्द्रव्यात्मकं तानि च द्रव्याणि- जीव-धर्मा धर्म पुद्गल-काल-आकाशाख्यानि । तत्र जीवाः वृद्धाः योगसिद्धाः मुक्ताश्चेति त्रिविधाः सन्ति । धर्मो नाम- गतिमतां गतिहेतुभूतो द्रव्यविशेषो जगद्व्यापी। अधर्मश्च स्थितिहेतुभूतो व्यापी । पुद्गलो नाम- वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शवद् द्रव्यम् । तच्च द्विविधम्- परमाणुरूपं तत् सङ्घातरूपञ्च । पवन-ज्वलन-सलिल-धरणी-तनु-भुवनादिकम्।

कालस्तु-अभूदस्ति भविष्यतीति व्यवहारहेतुः अणुरूपो द्रव्यविशेषः । आकाशोऽप्येकोऽनन्तप्रदेशश्च । तेषु चाणुव्यतिरिक्तानि द्रव्याणि पञ्च अस्तिकाया इति । अनेकदेशवर्तिनि द्रव्येऽस्तिकायशब्दः प्रयुज्यते ।

जैनाः स्वपराभासिज्ञानं प्रमाणं स्वीकुर्वन्ति । अत एव प्रत्यक्षं द्विविधम् अपि प्रमाणं स्वपराभासि भवति । तत्र प्रत्यक्षस्य त्रयो भेदाः भवन्ति- अवधिः, मनपर्ययं केवलञ्च । जैनानां मते चत्वारि प्रमाणानि सन्ति- प्रत्यक्षम् अनुमानमौपम्यम् आगमश्च । अनेन प्रकारेण ज्ञायते यत् जैनानां मतमपि आचाराश्रितं वर्तते । अस्मिन् मते अन्तःकरणशुद्धावेव जना उदति । विनाऽन्तःकरणस्य शुद्धिं मोक्षावाप्तिर्भवितुं नार्हति । अन्तःकरणशुद्धयै चास्मिन् मते नैकविधानि तपांस्याचारणीयानि भवन्ति ।

3. बौद्धदर्शनम् -जैनदर्शनमिव बौद्धदर्शनमपि आचारशास्त्रमेव वर्तते । पश्चात्तनकालेषु बुद्धशिष्याः इदम् आध्यात्मिकं मत्वा अस्य दर्शनत्वं प्रतिपादितवन्तः । अस्य दर्शनस्य भागद्वयं विद्यते - आचारप्रधानम्, अध्यात्मप्रधानञ्च । अस्य मतस्य आदिप्रर्वतको 563 ई. पू. खीष्टाब्दे जगतः गौतम बुद्धो वर्तते । यद्यप्ययं राजपुत्रः आसीत् तथापि स्वभावतोऽयं परदुःखानि वीक्ष्य दुखी बभूव । अत एव गौतमः निश्चितवान् यत् संसारोऽयं दुःखमयो वर्तते । सांसारिकदुःखाद् मुक्तिमवाप्तये गौतमः संसाराद्विरक्तो भूत्वा वनं प्राविशत् । बिहारप्रदेशस्य बोधगया नाम्नि स्थाने तपांसि तप्त्वाऽयं बुद्धत्वमलभत।

तत्त्वज्ञानं प्राप्य बौतमबुद्धो लोककल्याणकर्मणि व्यापृतो बभूव । दुःखस्य कारणं चाविद्येव वर्तते, यस्याः अद्भुतया शक्त्या कारणानां परम्परा समुत्पद्यते । अस्याः परम्परायाः स्वरूपम् इत्थं वर्तते- अविद्यातः संस्कारो जायते, तस्मात् विज्ञानम्, विज्ञानात् नामरूपे भवतः, ताभ्यां षडायतनम्, षडायतनात् स्पर्शो भवति, स्पर्शात्, वेदना जायते, वेदनायाः तृष्णा भवति, तृष्णायाः रागो जायते, रागाद्द्वेषः, तस्मात् जातिः, जातेः जरा, जरायाश्च मरणं भवति ।

बौद्धदर्शनस्य अनुसारेण दुःखनिरोधायाष्टङ्गमार्गस्य अनुसरणमनिवार्यं भवति । तदर्थं च साधकैः निम्नांकितानां नियमानां पालनं कर्त्तव्यम्। ते च नियमाः सन्ति इमे–

1. सम्यक् दृष्टिः 2. सम्यक् संकल्पः, 3. सम्यग् वाक्
4. सम्यक् कर्मान्तः 5. सम्यगाजीवः 6. सम्यग् व्यायामः
7. सम्यक् स्मृतिः 8. सम्यक् समाधिः च ।

एतेषां नियमानां पालनेन साधकः स्वलक्ष्यं प्राप्नोति । साधकस्य बुद्धत्वावाप्तेः प्राक् तिस्त्रः विशिष्टाः अवस्थाः भवन्ति–श्रावकः, प्रत्येकबुद्धः बोधिसत्त्वश्च । तदनन्तरं बुद्धत्वस्य प्राप्तिर्भवति ।

अनेन प्रकारेण दृश्यते यत् सम्पूर्णमेव बौद्धदर्शनं दुःखानामात्यन्तिकै कान्तिकनिवृत्तिपूर्वकं मोक्षवाप्तये प्रयतते । इदमेव एतद्व्यतिरिक्तानामपि दर्शनानां लक्ष्यं वर्तते । इत्यलम् ।।

11. पुराणानां महत्त्वम्

पुराणानि भारतीयसाहित्यस्य प्राणभूतानि । पुराणं पुरातनमाख्यानमुच्यते । भासस्य पुरातनः इतिहासः, पुरातनः भूगोलः, पुरातनी संस्कृतिः, पुरातनं च दर्शनं पुराणेषु चित्रितम् संस्कृतवाङ्मये पुराणशब्दः चिरन्तनपर्यायः । पुराणेषु भूता वर्तमाना भाविनश्चार्था वर्ण्यन्ते । इतिहासे तु भूता एवार्था वर्ण्यन्ते इति पुराणेतिहासयोः भेदः प्राचीनाः पण्डिताः तु पुराणमपीतिहासशब्देनाभिधत्ते ।

पुराणशब्दस्यार्थः– पुराणविषयमक्षिलक्ष्यीकृत्य पुराण शब्दस्य विविधानि निर्वचनानि विहितानि । तानि यथा–

1. "पुराभवं पुराणम् ।" अनेन पुराणानां प्राचीनता प्रतिपादिता भवति ।
2. "पुराणाम् आख्यानं पुराणम्" इति । अनेन पुराणानां प्राचीनाख्यानरूपता प्रमाणिता ।
3. "यस्मात् पुरा हि अनति तदिदं पुराणम् ।" अनेन अतीते युगे पुराणानां सजीवता सूचिता ।
4. "पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम् ।" अनेन पुराणानां प्रकृतिपुरुषादिपूर्वतत्त्वचिन्तनपरता विज्ञापिता ।
6. भगवता **सायणाचार्येण** उक्तम्–

"जगतः प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्" – इत्येवं रूपेण पुराणशब्दो व्याकृतः ।

7. **मधुसूदनसरस्वतिना**– "विश्वसृष्टेरितिहासः पुराणम्" इतयुक्त्वा पुराणशब्दः परिभाषितः ।

इत्थमुपर्युक्तैः निर्वचनैः पुराणानां धार्मिकं सांस्कृतिकं दर्शनिकम् ऐतिहासिकं च महत्त्वं विद्योतितं भवति ।

विविधविधज्ञानराशित्वेनैव पुराणानि अपि पञ्चमवेदत्वेनाङ्गीकृतानि । यथा च भणितं भागवते –

"इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ।"

चतुर्वेदविद्याविशारदो वेदाङ्गनिष्णातोऽपि यो जनः पुराणं न वेत्ति स विद्वत्पदवीं प्राप्तुं नार्हति । अत एव सुष्ठु भणितं वायुपुराणे-

NOTES

"यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चेत् पुराणं स विद्यात् नैव स स्याद् विचक्षणः ।।"

धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णामपि पुरुषार्थानां सिद्धिः पुराणानां स्वाध्यायेन तत् चिन्तनेन तदनुसारं च जवीनयापनेन भवति । अतः स्वतः सिद्धं खलु पुराणानां वेदत्वम् । नारदीयपुराणे तु पुराणं वेदादप्यधिकं स्वीकृतम्-

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
वेतः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ।।"

वस्तुतो ये विषयाः वेदमन्त्रेषु निगूढास्ते एव पुराणेषु सरलया शैल्या विशदरुपेण व्याख्याताः ।

पुराणेषु पुराणलक्षणमेवं प्रकारेण उक्तम्-

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।"

सर्गः सृष्टिः प्रतिसर्गः सृष्टेर्लयः, पुनश्च सृष्टिः वंशः सृष्ट्यारम्भे वंशावली मन्वन्तराणि के के मानवः कदा अजामन्तेति वर्णनम्, वंशानुचरितं सूर्यचन्द्रवंशयोर्विशिष्टवर्णमम् इदं वस्तुपञ्चकं पुराणेषु अपेक्ष्यते ।

वस्तुतस्तु नैतान्येव विषयाणि पुराणेषु वर्णितानि । इदन्तु न्यूनतमं वर्णनीयं पुराणेषु इतो अपि अधिकानि तानि-तानि विषयाणि वर्णितानि । निदर्शनरूपेणाग्निपुराणमेव गृह्यताम्, तत्र हि ज्ञातव्यविषयाणि वर्णितानि येन तत् "भारतीयज्ञानकोष" इति अभिधीयते ।

कस्यापि मानवसमाजस्य इतिहासः तावन्न पूर्णो मन्यते यावत्तस्य सृष्टेः आदिकालतः इतिहासः न प्रस्तूयते । पाश्चात्यशिक्षाप्रभाविताः पण्डिताः न एतदनुमोदयन्ति स्म । अत एव ते पुराणानि अस्तयानीति स्वीकुर्वन्ति स्म । परञ्च अधुना दृष्टिकोणपरिवर्तन जातम् ।

पुराणानां संख्या

प्रतीकश्लोकेन पुराणानि अष्टादशसंख्यकानि सन्तीति प्रतिपादनपुरस्सरं प्रथमाक्षरप्रतीकेन तेषां नामान्यपि संस्मृतानि संकेतितानि च -

मद्वयं भद्वञ्चैव ब्रद्वयं वचतुष्टयम् ।

अ - ना - प - लि - ग - कूष्कानि पुराणानि प्रतीक्षते ।।

तदेवंमत्स्य-मारकण्डये-भागवत-भविष्य-ब्रह्माण्ड-ब्रह्मावैवर्त-वामन-वाराह-विष्णु-अग्नि-नारद-पद्म-लिङ्ग-गरुड-कूर्म-स्कन्दानि अष्टादशपुराणानि विज्ञेयानि । अष्टादशसंख्यकानि उपपुराणानि अपि विद्यन्ते । यथोक्तम्-

NOTES

सनत्कुमारं प्रथमं नारसिंह ततः परम् ।
नारदीयं शिवञ्च दौर्वासतमनुत्त मम् ।।

कपिलं मानवञ्चैव तथा चौशनसं स्मृतम् ।
वारुणं कालिकाख्यञ्च साम्बंनन्दिकृतं शुभम् ।।

सौरं प्राराशरप्रोक्तमादित्यञ्चेति विस्तरम् ।
माहेश्वरं भागवतं वासिष्ठञ्च सविस्तरम् ।।

इत्थं पुराणसाहित्यमतिविस्तरं मनोहरमलङ्कारूपेण वर्णितं गाथाख्यानोपख्यानो पख्यानसंवलितं संस्कृतवाङ्मयसागरे अतिदेदीप्यमानं महारत्नमिव आभाति ।

पुराणानां महत्त्वम्—

संस्कृतसाहित्ये पुराणानामतीव गौरवास्पदं स्थानं विद्यते । धार्मिकदृष्ट्या एषां महत्त्वमधिकमस्ति । वेदतत्त्वार्थजातं सारल्येन अवगमयितुमेवेतेषां प्रवृत्तिः । वेदविहितानां धर्माणां सरलसुबोधभाषायां वर्णनायैव पुराणानि विरचितानि । यथोक्तं **महाभारते—**

**इतिहासपुराणाभ्यं वेदं समुपबृंहयेत् ।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।**

यदा वेदोक्ता अर्थाः लोकानां बुद्धौ नारोढं प्रवृत्तास्तदा वेदोक्तार्थस्य ज्ञानं सुलभं कर्तुं पुराणानि विरच्यन्ते स्म । समाजस्य प्राचीनभारतस्येतिहासो निहितिः । पुराणोक्तानां कथावस्तूनां प्रामाणिकत्वं शिलालेखादिभिरपि कर्त्तुमारब्धम् । अत एव पाश्चात्याः विदेशीया अपि पण्डिताः पुराणे बद्धादरा दृश्यन्ते । इतिहासैः यदि राज्ञां वृत्तं प्राधान्येन बोधितं भवति तदा पुराणैः राज्ञां वृत्तौ सहैव ऋषीणामपि वृत्तं ज्ञातु शक्यते । पुराणेषु भौगोलिकं तथ्यमपि दृश्यन्ते । काशीखण्डे काशीनगर्याः यादृशं विस्तृतं वर्णनं विद्यते तेन तस्याः नगर्याः मानचित्रमिव पुरत उपतिष्ठते । अन्येष्वपि पुराणेषु येषां तेषां तीर्थानां तादृशं स्पष्टं चित्रणं दृश्यते येन तत्परिचये सौकर्यं जायते । पुराणेषु अतिशयोक्तिपूर्णा शैली समादृता येन जनाः तानि अविश्वसनीयानि काल्पनिकानि च प्रतीयन्ते स्म । तत्र बोधव्यमिदं यत् त्रिधा वर्णनं क्रियते– वस्तुतत्त्वकथारूपेण रूपकद्वारा अतिशयोक्तिद्वारा च । वस्तुतत्त्वकथा वैज्ञानिकानां हि वस्तु यथावद् वर्णयन्ति । न किमपि रञ्जनं तत्र समायोजयन्ति । रूपकद्वारा वस्तुकथनकप्रणाली वेदेषु व्यवह्रियते । तत्र हि उषः सुन्दरी ता वृत्रश्च राजवृत्तः । अतिशयोक्तिशैली पुराणेषु दृश्यन्ते । अस्यां शैल्यां वर्णिता अर्था यथामपितिविच्य ग्रहीतव्या भवन्ति । पुराणानां तुलनात्मकमध्ययनं तदन्तस्तले प्रवेशनं च यदि क्रियते तथा तत्रस्थ इतिहासभागः सामाजिकवर्णनरहस्यञ्च स्पष्टमेव भाषते इति पण्डितानां विचारः ।

रचनाकालः —

पुराणानां रचनाकालविषये यानि तथ्यानि ध्यातव्यानि तानि उल्लिखितानि । वैदिकसाहित्यस्य अनुशीलनेन प्रतीयते यत् पुराणानि अत्यन्तप्राचीनकालादेव प्रचलितानि सन्ति । एषाञ्च वेदमूलकत्वं तत्पण्डिताः स्वीकुर्वन्ति । अथर्ववेदस्य मन्त्रोऽयं निदर्शनरूपेण दृश्यते–

"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं सजुषा तथा ।
उच्छिताज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ।।"

गोपथब्राह्मणेऽपि पुराणस्योल्लेखं विद्यते –

एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्का ऐतिहासाः सान्वयाख्याताः सपुराणाः सस्वराः।

एवञ्च शतपथब्राह्मणोऽपि

"सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षति ।"

बृहदारण्यके 'इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः' छान्दोग्योपनिषदि" ऋग्वेदो भगवोऽध्येमि ... इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' इति पुराणशब्दस्योल्लेख दृश्यते ।

आपस्तम्बधर्मसूत्रे पुराणस्य उल्लेख एव न प्रत्युत श्लोकानां संख्या अपि निर्दिष्टा–" अथ पुराणे श्लोकानुदाहरन्ति, अष्टाशीतिसहस्राणीति'।

एवञ्च शङ्कराचार्यः कुमारिलभट्टः पुराणानि उद्धृतवन्तौ । बाणभट्टः हर्षचरिते "पुराणे वायुप्रलपितम्" इत्याह । पुराणेषु कलयुगवर्त्तिनां राज्ञां वर्णनानि दृश्यन्ते । विष्णुपुराणे मौर्यवंशस्य प्रामाणिकं विवरणं लभ्यते । मत्स्यपुराणे आन्ध्रनृपतयः स्मृताः वायुपराणे गुप्तनृपतयो वर्णिताः महाभारतकृता व्यासेन पुराणानि स्मृतानि । पद्मपुराणे ऋष्यशृङ्गस्य यद् वृत्तं वर्ण्यते तत् महाभारते अपि प्राप्यते । कौटिल्यकृतमर्थशास्त्रं पुराणानि निर्दिशति तत्र हि विनेयेभ्यः रापुत्रेभ्यः पुराणानि उपदेष्टव्यानि इत्युक्तः । अर्थशास्त्रं चेदं चन्द्रगुप्तकालिकं वर्तते । धर्मसूत्रेष्वपि पुराणानि स्मर्यन्ते ।

तदिमानि सर्वाणि तथ्यानि वैदिककाले अपि पुराणानामस्तित्वं प्रमाणयन्ति । ईसवीयसंवत्सरात् षट्शतकपूर्वतने कालेऽपि पुराणानामस्तित्वमासीदित कल्पनाऽपि सत्यानुमोदिता । इदन्तु सत्यं यत् पुराणस्य आदिमं रूपम् अद्यत्वे नावगम्यते । पुराणं कदाचिद् एकस्मिन् मये नारच्यत, समये-समये तत्राध्याया योजिताः । गुप्तकालपर्यन्तं तेषां वर्तमानरूपमुपपन्नमासीत् । इत्यलम् ।

12. वाल्मीकिरामायणम्

संस्कृतसाहित्यस्य स्रोतसि वेदे एव सर्वतः प्राक् कविकाव्य-शब्दयोः सम्मुलेखः प्राप्यते-

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" इति ।।

यद्यपि कविशब्दोऽत्र आदिकविं परमेश्वरमेव परामृशति तथापि कविपदेनात्र पदाम्नानं कस्य विस्मयावहम् । 'देवस्य काव्यम्' इत्यत्र काव्यपदं वेदमेवाभिधत्ते । इत्यनेन एतदभ्युपपन्नं जायते यत्कविभिः काव्यकलाप्रेरणा वेदेभ्यः एव प्राप्ता । वेदेभ्यः एव च छन्दसां परिज्ञानमलङ्काराणाञ्च परिचयः ज्ञातः ।

रमणीयं खलु वाल्मीकिरामायणम् । "रामायणम्" आदिकाव्यं तत्प्रणेता च वाल्मीकिः आदिकविः । यद्यपि रामायणात् पूर्वमपि बहवः काव्यमश्छन्दोबद्धाश्च ग्रन्था ग्रथिताः । किन्तु तेषु रसमयता नास्ति । न च तत्रालंकारच्छटा दृश्यते । लौकिकधरातले वाल्मीकिरामायणमेव एतादृशं प्रथमं कमनीयं

काव्यं यद्रसभावभरितं गुणगौरवान्वितं अलंकारैः अलंकृतं च सत् सहृदयहृदयं सततं रञ्जयति । अतो वाल्मीकिरामायणमेव आदिकाव्यत्वेन आद्रियते संस्कृतकाव्यकानने ।

रामयणस्य प्रादुर्भावपरम्परापि विलक्षणा एव । एकदा महर्षिवाल्मीकिः स्नानार्थं तमसानद्याः तटं जगाम । तत्र स कामकेलिमत्तं क्रौञ्चमिथुनादेकं व्याधेन व्यापाद्यमानं अवलोकयामास । एतत् करुणदृश्यं दर्शं-दर्शं ऋषिमानसे रसनिर्झरः प्रस्फुटितः । तस्यैव अभिव्यक्तिश्छन्दोमय्या वाचा ऋषिमुखादित्थं सञ्जाता-

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।

सोऽयं श्लोकः कवितायाः प्रथमाविर्भावः । महाकविना भवभूतिना उत्तररामचरितनाटके द्वितीयाङ्के-

"ऋषेः आद्यः कविरसि । आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः इत्युक्त्वा अन्यप्रामाणिकता प्रतिपादिता ।

"रस एव काव्यस्यात्मा" - इति काव्यशास्त्रिणां मतम् । रसश्च व्यङ्ग्यो भवति । व्यङ्ग्यार्थमेव काव्यात्मरूपेण मन्यमानो ध्वन्यालोककारस्तत्रभवान् आचार्यप्रवरः । आनन्दवर्धन उवाच -

"काव्यस्यात्मा स एवार्थ स्तस्मादादिकवेः पुरा ।
क्रोञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।। इति ।।

रामायणस्य लोकप्रियत्वम्

रामायणं हि भारतीयपरम्परायाः संस्कृतेश्च आमूलचूडमभिचरितं चित्रम! अनिर्वचनीयमतीव चारुतया ग्रन्थ्नाति । अत एव काव्यमिदमत्यधिकं लोकप्रियतां प्राप्तम् । प्रायः संस्कृतस्य महाकवयोः रामायणादेव तां कामपि कमनीयां कवित्वस्फूर्तिमविन्दन्त । अत एव रामायणं कतिपयानां संस्कृतमहाकाव्यानाम् उपजीव्यं विद्यते । कालिदास प्रणीतस्य रघुवंशमहाकाव्यस्य भवभूति-विरचितस्य महावीरचरितस्य उत्तररामचरितस्य च मूलस्रोतं रामायणमेव वर्तते । अस्य महाकाव्यस्य रामायणस्य भाषा प्राञ्जला ओजस्विनी ललितमधुरा प्रासादगुणसम्पन्ना च विद्यते । भावानां भाव्यता रसानां सरसपरिपाकः अलङ्काराणामाभरणं नूनं परिपूर्णतामवगाहते । मानवीयान्तः प्रकृतेः सालङ्कारं निरूपणं नैसर्गिकं विश्लेषणं बाह्याप्राकृतिक दृश्यानां सजीवं वर्णनं गिरिनिर्झरसरितावन्यलता द्रुमकुसुमषड ऋतु प्रभृतीनां चित्रणञ्च यादृशमत्र विद्यते न तादृशमन्यत्र दृश्यते।

वैशिष्टयम् -

तत्त्वतो विमृश्यमाने सुतरां स्पष्टं भवति यद् रामायणे निखिलानि महाकाव्यलक्षणानि दृश्यन्ते । घटनासंयोजनकौशलं रमणीयानां दृश्यानामलौकिकं चित्रणं रमणीयं प्रकृतिचित्रणं काव्यकलायाः पूर्णत्वं विविधछन्दसां प्रसरः ओजपूर्णकान्तिमती शैली अत्र पाठकानां मनांसि बलादेव आकर्षयन्ति । तदेवं विधं किमपि अन्यत्रोपलभ्यमानं काव्यसौन्दर्यमेवास्य सर्वातिशयलोकप्रियतायाः कारणं विद्यते ।

आदर्शचरित्रचित्रणं रामायणस्य अद्वितीयं वैशिष्ट्यम् । अस्य नायकः श्रीरामः मर्यादापुरुषोत्तमः । सर्वे आदर्शाः समाश्च मर्यादाः रामचरिते साकारतां गताः । किमधिकम् - सत्यवादित्वेन,

वचनपालकत्वेन आज्ञाकारिपुत्रत्वेन, विनीतशिष्यत्वेन, भ्रातृवत्सलत्वेन, एकपत्नीव्रतपतित्वेन, शरणागतवत्सलत्वेन, सन्मित्रत्वेन, उदाहरणस्वामित्वेन, दीबन्धुत्वेन, न्यायकारिभूपतित्वेन, लोकाराध ाकत्वेन च रामायणचित्रितो रामः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सर्वत्र सततमनुकरणीयः पूजनीयश्च । वस्तुतस्तु-

"रामो विग्रहवान् धर्मः ।"

इत्यनुसारं धर्म एव रामरूपं धारयित्वा धरामवततार । भगवती सीता वाल्मीकिरामायणस्य नायिका । सा खलु भारतीयसंस्कृतेः प्रतिमा एव । पतिव्रतानां धुरि कीर्तनीया सीता वनं गच्छन्तमपि राममनुजगाम । तत्र सा वनवासदुःखानि न गणयामास । रावणेनापहृता सीता प्राणबाधास्वपि सत्सु स्वीयं पतिव्रतधर्मं न तत्याज । रामेण परित्यक्ता सा दारुणं पतिवियोगमपि सेहे । तस्यामपि अवस्थायां तस्या मनसि केवलं राम एव रेमे । नितान्तं सत्यमेव इयमुक्तिः -

"कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत् ।।"

सर्वथा सीता सर्वतोभावेन अनुकरणीयं सीताचरितं कल्याणकामाभिः कामिनीभिः । रामायणस्य अन्यान्यपि चरित्राण्यादर्शभूतानि । पदे-पदे चारुचरित्रचित्रणमेव वाल्मीकिरामायणस्य महनीयं महत्त्वम् । तत्र न केवलं रामस्य मातृपितृगुरुभक्तिः, तत्रभवतः हनूमतः स्वामिभक्तिः सुग्रीवस्य चानुरक्तिरपि सहृदयहृदयान्याकर्षति ।

रामायणस्य भाषा-शैली-

वाल्मीकिरामायणस्य भाषा-शैली सरलता सरसा सुकोमला च खलु । सरलया मधुरया च गीर्वाणगिरा रामकथाकथनं वाल्मीकेः प्रतिभायाः परिचायकम् । शृङ्गारहास्यकरुणादिरसानां रमणीयता, अभिनवभावानां भव्यता, उपमाद्यलंकाराणां चारुता, माधुर्यौज-प्रसादगुणानां चगरिमा रामायणमहिमानं द्विगुणयति । भाषा अपि लौकिकसंस्कृतम् इति ।

प्रसिद्धिः -

स्वकीयगुणगौरवेण एव रामायणं सर्वत्र प्रसिद्धिं लोकप्रियतां च प्राप । व्यक्तेः समाजस्य च जीवनोपयोगिनः सर्वे विषयाः रामायणे समाविष्ठाः । रामायणस्य अध्ययनं-विदुषाम्-अविदुषाम्, ध ानिनां-निर्धनानाम्, संन्यासिनां-गृहीणाम्, बालवृद्धयूनां, द्विजानां शूद्राणाम्, स्त्रीणां-पुरुषाणां च स्वान्तं नितान्तमाकर्षति । रामायणस्य लोकप्रियत्वं सर्वकालस्थायित्वं च प्रख्यापयता भवगता वाल्मीकिना कथितम्-

"यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।।"

रामायणस्य लोकप्रियतायाः एतत् प्रत्यक्षं प्रमाणं यद् रामायणोत्तरकालिकैः कविभिः रामकथामाश्रित्य बहूनि काव्यानि नाटकानि च विरचितानि । तानि यथा- प्रतिमानाटकम्, रघुवंशमहाकाव्यम्, कुन्दमाला, भट्टिकाव्यम्, उत्तररामचरितम्, महावीरचरित, महावीरचरितम्, अनर्घराघवः, रामायणमञ्जरी, रामायणचम्पूः चेत्यादीनि । इत्थं रामायणस्य उपजीव्यत्वमपि सिद्ध्यति ।

रम्या रामायणी कथा-

रामायणस्य रम्यता भृशं प्रशंसिता संस्कृतसाहित्ये । रामायणं प्रशंसन्तः अर्वाचीनकवयः वाल्मीकिमपि अभिवादयाञ्चक्रुः । नलचम्पूकारः तत्रभवान् त्रिविक्रमभट्टः विरोधाभासेन रामायणकथां खरामपि (खरनामपात्रयुक्ततामपि) सुकोमलां, सदूषणामपि (दूषणनामपात्रयुक्तामपि) निर्दोषां कथयन् वाल्मीकिमित्थमभिननन्द-

"सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला ।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ।।"

(नलचम्पूः 1.11)

श्री भोजराजो वाल्मीकिं मधुरसूक्तीनां मार्गदर्शनम् -

"मधुमयभणितानां मार्गदर्शी महर्षिः । (रामायणचम्पूः 1.8)

साहित्यसमालोचकास्तं कविताशाखायाम् - "राम-राम" ...... इति

मधुरं कूजन्तं कोकिलं कथयामासुः -

"कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ।।"

रामायणीकथा वस्तुतो गङ्गेव, या भुवनत्रयं सततं पुनाति-

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामाम्भोनिधि सगता ।

श्रीमद्रामायणी गङ्गा पुनाति भुवनख्यम् ।।"

इत्यलम् ।।

13. महाभारतम्

भारतीयसाहित्यस्य गौरवं खलु महाभारतम् । महाशब्देन अस्य महत्त्वं भारतशब्देन चास्य भारतीयेतिहासधर्म-दर्शन- संस्कृति-निधानत्वं सूचितं भवति । महाभारतं न केवलमाकृत्यैव विशालतां धारयति, अपितु विषय-वैशिष्ट्येन अर्थगौरवेण चापीदं स्वकीयमहत्तां पुष्णाति । अत एव उक्तमपि-

"महत्त्वाद् भारतत्वाच्च महाभारतमुच्यते ।।"

सरलतया, रोचकतया, सर्वजनोपयोगितया च महाभारतं लोकप्रियतां जगाम । विषयतातिशयबाहुल्यसन्निवेशेन महाभारतं नाम ग्रन्थोऽयं **"पञ्चमो वेद"** अपि नाम्नाऽऽख्यायते । महाभारतं महर्षिः कृष्णद्वैपायनव्यासेन प्रणीतम् । अत्र कौरवपाण्डवयोः युद्धवर्णनम् अनेकाख्यानोपाख्यानगाथादिभिः सहैव विद्यते । धर्मार्थ काममोक्षाणं पुरुषार्थचतुष्टयानां विशदविवरणात्मकं परमरमणीयमादरणीयं च महाकाव्यमिदं वर्तते । यथोक्तम् अत्रैव-

"धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदि हास्तितदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ।।"

इदमद्भुतं विशालकायं महाकाव्यमिदं बृहदाख्यानयुक्तं महर्षिणा व्यासेन त्रिभिसंवत्सरैः विरचितमिति अस्मादेव महाकाव्यात् स्पष्टी भवति-

"त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
महाभारतमाख्यानं कृतिवानिदमद्भुतम्" ।।

महाभारतस्याख्यानमिदं पूर्वं व्यासममहाभागेन स्वशिष्याय वैशम्पायनोपदिष्टम् । ततः वैशम्पयायनेन अर्जुनस्य प्रपौत्राय जनमेजयाय श्रावितम् । तत्पश्चात् लोमहर्षपुत्रेण शौनकादिभ्यः उपदिष्टम् । एवञ्च आख्यानमिदं त्रिभिः वक्तुभिः महर्षिभिः विभिन्नश्रोतृभ्यः श्रावितम् । एव श्रवणादनुश्रवणाद्वा मूलग्रन्थे किञ्चित्कलेवरस्य वृद्धिः स्वाभाविकीति न सम्भावनाकोटिमतिक्रामति । तदेवं क्रमशः उत्तरोत्तरवृद्धिमुपगच्छदिदं लक्षैकपरिमितं श्लोकात्मकं संवृत्तम् । एवं विधक्रमेण व्यासेन प्रणीतं पूर्व जयाख्यमिदं वैशम्पायनेन प्रवर्द्धितमभवत् । जयाख्ये ग्रन्थेऽस्मिन् 8800 श्लोकाः आसन् । भारताख्ये पुनः 24000 श्लोकाः एवं चतुर्विंशतिसाहस्री चक्र भारतसंहिताम् ततश्च सौतिना लक्षमितसंवलिता कृता इति पाश्चात्यानां पाण्डितानामभिमतम् । परञ्च वास्तविकी श्लोकसंख्या हरिवंशसंहितायां 96244 मिता दृश्यते । अनुक्रमणिकाध्याये निर्दिष्टसूच्यनूसारं सकले महाभारते 1923 अध्यायाः 84244 शलोकाः विद्यन्ते । हरिवंशस्या खिलपर्वणि 12000 श्लोकानां संख्या वर्तते । एवञ्च भारतीयैः विद्वद्भिः 96244 शलोकानां संख्या अवधार्यतेऽत्र ।

महाभारतस्य स्वरूपविवेचनम्-

महाभारतमिदम् आदि-सभा-वन-विराट्-उद्योग-भीष्म-द्रोण-कर्ण-शल्य-सौप्तिक-स्त्री-शान्ति-अनुशासन- अश्वमेध-आश्रमवासि-मौशल- महाप्रास्थानिक-स्वर्गारोहणाख्यैरष्टादशभिः पर्वैः उपनिबद्धम् । तत्र प्रधानकथनोपन्यासेन सह अनेकानि आख्यानोपख्यानानि एकलितानि तेषु शकुन्तलोपाख्यानम्, मत्स्योपाख्यानम्, सवित्र्युपाख्यानम्, रामोपाख्यानम्, नलोपाख्यानञ्च प्रधानानि सन्ति । भीष्मपर्वणि च भगवद्गीताप्रकरणमतीव महत्त्वपूर्णं रमणीयं विश्वप्रसिद्धं वर्तते । प्रकरणमिदमष्टादशाध्यायैउपनिबद्धम् । अष्टादशाध्यायैः संवलितं विद्यिते । विश्वसाहित्यस्य न कोऽपि ग्रन्थस्तादृशीं प्रशस्तिं प्रतिष्ठां च लेभे यादृशीं महाभारते उपनिबद्धा गीतेति । अस्या असंख्याताष्टीका विविधासु भाषासु विद्यन्ते ।

महाभारते वर्णनम् -

महाभारतस्य संक्षेपेण वर्णितमितिवृत्तमेतदेव यद् धृतराष्ट्रपाण्डवौ उत्तरभारतस्य राज्ञो दुष्यन्तस्य पुत्रस्य भरतस्य वंशधरस्य शान्तनोः प्रपौत्रौ आस्ताम् । यद्यपि धृतराष्ट्रोऽग्रजन्मा आसीत् तथापि नेत्रहीनत्वात् पाण्डुरेव सर्वैः राजसिंहासनेऽभिषिक्तः । कालान्तरेण पाण्डुः पञ्चत्वं गतः । धृतराष्ट्रस्य शतपुत्रेषु दुर्योधनः एव ज्येष्ठः आसीत् । पाण्डोश्च युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन-नकुल-सहदेवेति पञ्च पुत्रा आसन् । कालक्रमेण यदा ते सर्वे यौवनत्वमाप्तं तदा दुर्योधनः छलेन तेषां राज्यमपहुर्तुमैच्छत् । कृतासंख्यप्रयत्नोऽपि यदा सः सफलतां न लेभे तदा स्वमातुलशकुनिसाहाय्येन द्यूतक्रीडायां पाण्डवान् पराजित्य द्रोपदीञ्च स्वानुजेन दुःशासनेन सभायामानीय नग्नां कर्तुं प्रयते । दैवात् सफलो न जातः।

पराजिताः पाण्डवाः द्वादशवर्षपर्यन्तं वनवासस्य वर्षैकञ्च यावदज्ञातवास कठिनां यातनामसहन् । ततोऽरण्यात् परावृत्त्य स्वकीयं राज्यमयाचयन् ।

दौत्यार्थं प्रेषितेन पाण्डवप्रतिनिधत्वाप्तेन श्रीकृष्णेनाप्यतिप्रयत्नं कृतम् । परञ्च स्वार्थपरायणः दुर्योधनस्तु **"सूच्याग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव"** इति निश्चयादल्पमात्रमपि न विचलितः । ततः पाण्डवाः अपि योद्धुं सन्नद्धाऽभवन् । फलतः पाण्डवानां कौरवाणां मध्ये कुरुक्षेत्रेऽष्टादशदिवसपर्यन्तं तुमुलं युद्धं सञ्जातः । निजदलबलेन सह दुर्योधनः पराजितः जातः विजयन्तु पाण्डवानां हस्ते जातम् । तेषां ज्येष्ठः युधिष्ठरः राजसिंहासनमतिष्ठत् । कालान्तरं द्रौपद्या सह पाण्डवाः अपि एतेन महायुद्धेन सन्तप्तहृदयाः सन्तः अद्विग्नमानसाश्च अभिमन्युपुत्रं परीक्षितं हस्तिनापुरस्य राज्ये प्रतिस्थाप्य हिमालयमगच्छन् । कालक्रमेण तत्रैव कालकवलतां गताः ।

महत्तम् –

महाभारतं हि नाम प्रौढाकारस्य ग्रन्थः । ग्रन्थोऽयं सहस्राणां हिन्दीसंस्कृतकाव्यानाञ्चोपजीव्यः वर्तते । भारतीयसंस्कृतौ अस्य सर्वाधिकं महत्त्वम् । भारतीयसंस्कृतिपरम्परायामिदं महाकाव्यं भारतीयसंस्कृत्याः सकलो महदादर्शाः यथार्थाश्चात्र विद्यन्ते । भारतीयसंस्कृतौ श्रुतिरिव प्रतिष्ठितम् । महाभारतस्य प्रमुखसन्देशः 'यतो धर्मस्ततो जयः' इति रूपेण प्रतिपादितः। यत्र मानवजीवनस्य सार एव दृश्यते । अस्य सिद्धान्तः निष्कामकर्म विद्यते । यथोक्तं अस्यैवाशभूतायां गीतायाम्–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" इति ।।

अत्र विविधमन्त्राणा शास्त्रीयतथ्यानां ज्ञानविज्ञानानां धर्मश्रौत गृह्यसूत्राणां कलपानां स्मृतीनाञ्च दर्शन–पुराण–कला– शिल्पादीनां काव्य–नाटक–उपन्यासप्रभृतीनां समायोजनं समुचितप्रकारेण सन्नद्धम् । गौतम–कणाद–जैमिनि–प्रभृतिभिराचार्यैः महाभारतदर्शन विषयकतथ्यानां उपवृंहणं सूत्ररूपेण कृतम् । वस्तुतस्तु ग्रन्थोऽयं भारतीयानां यथार्थ–ज्ञानविज्ञान–शास्त्र–दर्शन– धर्मनीति–आचरणादीनां स्वरूपनिर्धारणे महदुपयोगी विद्यते ।

महाभारतस्य शैली –

महाभारतस्य शैली सरला सुबोधा च ।

"शब्दार्थयोः समो गुम्फः" महाभारतस्य वैशिष्ट्यम् ।

यथा –

"मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितुं चिरम् ।
सुलभाः पुरुषाः राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।
धनात् कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्तते ।।"

इत्थं महाभारते पाञ्चाली रीतिर्मनो हरति । महाभारते वीररसः अङ्गी अन्ये च शृङ्गारहास्यादयोऽङ्गभूताः । विशेषतः उद्योग–भीष्म–द्रोण–कर्ण–शल्यपर्वसु तु वीररसधारा सततं प्रवाहिता । यद्यपि इतिहासप्रधानतया न तत्रालंकारप्रयोगावसरः स्तथापि भाषाप्रवाहे यथास्थानं अनुप्रासोपमारूपकादीनां प्रयोगो

नयनपथमवतरति महाभारते । अर्थान्तरन्यासच्छटा तु बाहुल्येन तत्रावलोक्यते । महाभारतकारेण प्रमुखतया अनुष्टुप् छन्दसैव इतिवृत्तं वर्णितम् । विरलतयैव प्रयोगोऽन्येषामिन्द्रवज्रा-वंशस्थादीनाम् । इत्यलम्।।

14. श्रीमद्भगवद्गीता

गीतायाः महत्त्वम् -

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीयसंस्कृतेः प्राणभूता वरीवर्ति । भारतीय-दर्शनग्रन्थेषु मूर्धन्यं स्थानं विद्यते गीतायाः इति । श्रीमद्गीतायाः आधारशिला मुख्यतः वैदिके धर्मे तत्त्वज्ञाने च एव धृता वर्तते, सहैव च तत्र सांख्यादीनां शास्त्राणामपि स्वानुकूलाः सिद्धान्ताः स्वीकृता वर्तन्ते, किन्तु तथापि यतः अत्र केचन स्वकीयाः मौलिकाः सिद्धान्ताः अपि सन्ति, अथ च तत्र औपनिषदेषु सांख्यादिशास्त्रीयेषु स्वकार्येषु च सिद्धान्तेषु परस्परं स्वदृष्ट्या समन्वयः कृतः वर्तते, अतः एतत् दर्शनं मूलतः समन्वयात्मकमपि सत् स्वकीयम् अभिनवं मौलिकं व्यक्तित्वं दधत् सर्वसाधारणग्राह्यरूपे विराजते। श्रुतीनां स्मृतीनां सर्वोपनिषदां सकलशास्त्राणां च सारभूतं तत्त्व गीतायां रमणीयतया प्रस्तुतम् । ज्ञानगरिमान्विता गीता खलु आत्मनः स्वरूपं निरूपयति, स्थितप्रज्ञतां प्रमाणयति, निष्कामकर्मयोगं निष्पादयति, यज्ञादीनां महत्त्वमुद्भावयति, वर्णाश्रमधर्मं प्रकाशयति, ज्ञानयोगं ज्ञापयति, भक्तियोगं भावयति, भगवतो विराटरूपं चोद्घाटयति ।

गीतायाः सर्वेऽपि विषया उपनिषद्भ्य एव विनिसृताः । तत्रभवान् भगवान् श्रीकृष्णः गोस्वरूपाणामुपनिषदां दोग्धा पार्थो गोदोहनकाले स्तनन्ध्यत्वेन समुपस्थितो वत्सः, सुधियश्च तस्या गोदोहस्य दुग्धामृतस्य भोक्तारः । इदमेव रमणीयं रूपकं कविना एकस्मिन्नेव पद्ये निबद्धम्-

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।"

वस्तुतस्तु उपनिषदां निगूढं तत्त्वमेव गीतायां भगवता कृष्णेन कमनीय-काव्यशैलया मधुरया च वाण्या वर्णितम् । गीतोक्तः देहात्मनोः सम्बन्धः उपनिषन्मूलकः । कठोपनिषदि-

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु"

इत्यादिरूपेण काव्यमय्या शैल्या यः शरीरात्मसम्बन्धश्चित्रितः स एव गीतायां द्वितीयेऽध्याये अभिनवरूपेण समुपवर्णितः । गीतायाः कर्मयोगस्तु-

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।"
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। " इति ।

आत्मनः स्वरूपम् -

श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयेऽध्याये आत्मनः अमृतत्वमविनाशित्वं च प्रतिपादयन् श्रीकृष्णः उवाच-

"नैनं छिन्दन्ति शास्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।"

जीवात्मा तु अच्छेद्यः, अदाह्य इति भगवान् श्रीकृष्णेन उक्तम् एव च -

"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।"

श्रीकृष्णेन गीतायां प्रतिपादितं यद् शरीरमेव नष्टं भवति न तु आत्मा । यस्य मनुष्यस्य जन्म भवति, मृत्युरपि ध्रुवमिति । यथा गीतायामुक्तम्–

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।" इति ।

यथा नरो जीर्णवस्त्राणि विहाय नवानि धारयति तथैव देही जीर्णानि शरीराणि परित्यज्य अन्यानि नूतनानि रमणीयानि वपूंषि गृह्णाति –

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य- न्यानि संयाति नवानि देही ।।

अत्र सुरम्यया उपमया देहात्मनोः सम्बन्धः सुष्ठु प्रख्यापितो भगवता । वस्तुतो गीतोक्तं देहात्सम्बन्धं विज्ञाय नरो जराजर्जरितो न जायते । न च मृत्योर्विभेति । स आत्मवित् सर्वथा शोकं तरति एव ।

गीतायाः वैशिष्ट्यम् –

गीतायां कर्मयोगस्य विशिष्टरूपेण प्रतिपादनं विद्यते । एतत् अद्वितीयमेव वैशिष्ट्यम् । निष्कामकर्मयोगमुपदिशता भगवता वासुदेवेन कथितम्–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

नः कर्मण्येव स्वतन्त्रः, तत्फले तु परतन्त्रः । अतः कर्मफलेच्छा न विधातव्या। निष्कामभावनाया नायमाशयो यदकर्मण्यतामेवाश्रयेज्जनः। एतदेवाभिप्रेत्यपुनः कथितम् –

"मा कर्मफलहेतुर्भू र्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।"

संसारे सर्वप्राणिषु कर्मणि स्वाभाविकी प्रवृत्तिः दरीदृश्यते । कश्चिदपि क्वचिदपि कर्महीनो नावलोक्यते । शरीरेण चेष्टाहीनोऽपि जनो मनसा तु चेष्टत एव । अत एव उक्तम् –

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" इति यदि प्रकृत्यैव जनश्चेष्टावांस्तर्हि तेन सदा प्रयत्नतो विवेकपुरःसरं सत्कर्माण्येव कर्त्तव्यानि । भगवद्गीतायां भक्तिज्ञानादिविविधयोगानां वर्णनं विहितम् । किन्तु तेषु सर्वेषु– "कर्मयोगो विशिष्यते" – इति भगवद्वचनानुसारं कर्मयोग एव श्रेयान् । गीतायामकर्मणः कर्मसंन्यासस्य च चित्रणमपि प्राप्यते । अस्यायमाशयः – "कर्माण्येव खलु बन्धननिमित्तानि । स्वकर्मभिरेव बध्यते जनः । कीदृशैः कर्मभिः ? सकामैरिति । सुचरितैर्दुश्चरितैर्वा सकामकर्मभिर्नरो जन्ममरणादिकं बन्धनं प्राप्नोति यतो हि तेषां फलभोगाय स्वर्गे नरके वा शरीरधारणमनिवार्यम् किन्तु फलेच्छां विहाय निष्कामभावेन क्रियमाणानि कर्माणि न खलु बन्धननिमित्तानि, कामनाया अभावेन तत्फलभोगाय शरीरधारणप्रसङ्गाभावात् । अतो निष्कामकर्माणि कर्माणि सन्तोऽपि अकर्माणि कथ्यन्ते । निष्कामकर्मनिरतो जन एव गीतानुसारं कर्मणि कुशलः कथयते । कर्मकौशलमेव च योगः । इत्थं सर्वथा सार्थकतां धत्ते भगवतो वचनमिदम्–

"योगः कर्मसु कौशलम्" इति ।

योगस्य इयं परिभाषा नूनं व्यावहारिकी । इयमेव च मोक्षपथदीपिका । अतः परमपदलिप्सुना ममुक्षुणा सदा स्वजीवने निष्कामकर्मयोग एव समाश्रयणीयः ।

NOTES

श्रीमद्गीताज्ञानस्यैव एष प्रभावो यन्नैराश्यपरीतो युद्धपराङमुखः भारतसमर-धौरेयः पार्थः आशान्वितो युद्धोन्मुखश्च संजातः । अन्येऽपि कर्मक्षेत्रेऽवतीर्णाः जनाः, गीतायाः स्वाध्यायं कृत्वा स्वकर्त्तव्यं प्रत्युत्साहवन्तः, विपदि धैर्यवन्तः, सततंविवेकवन्तः च जायन्ते । अतः गीतामृतं सदा सर्वैरपि कल्याणेप्सुभिः पेयमेव । इत्यलम् ।।

15. काव्यस्य स्वरूपम्

"कवेः कर्म काव्यम्, कवेरिदं कर्म भावो वा काव्यम्, कवनीयं काव्यम्" - इत्यादि निर्वचनानुसारं कवीनां रसभावान्वितं रमणीयार्थ प्रतिपादकशब्दयोजनात्मकं यत्कमनीयं कर्म तदेव काव्यम् । काव्यानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः । काव्यरसमास्वाद्य नान्यत्किञ्चिदपि रोचते जगति । काव्येषु आदर्शचरितानि कमनीयकथा वस्तूनि च तथा वर्ण्यन्ते यथा तानि पाठं-पाठं, श्रावं-श्रावं, दर्शं-दर्शं च चित्तं चमत्कृतमानन्दितं च जायते । "कवयः क्रान्तदर्शिनः" - इति यदुक्तं तद् वास्तविकम् । यत्र रविरश्मिर्न प्रविशति तत्रापि गच्छति खलु कविदृष्टिः । स्वकीयसूक्ष्मेक्षिकया सम्यक् पर्यवेक्ष्य कवयो यल्लिखन्ति तत्सार्वभौमिकं सर्वादेशिकं सार्वकालिकं च सत्यं भवति ।

कवेः प्रतिभाप्रसूतं किमपि विलक्षणं शब्दार्थयोजनात्मकं कर्म एव काव्यम् । यथा ब्रह्मणः कृतिरिदं जगत् तथैव कवेः सृष्टिः काव्यम् । कविरपि वस्तुतः स्वकीयकाव्यसृष्टेः ब्रह्मा एव । अत एव - "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ।"

इति यजुर्वेदीयमन्त्रे यदुक्ते तद् वास्तविकम् वाग्देवतारः तत्रभवान् मम्मटाचार्यस्तु कविभारतीं विधातुरपि कृतेरपेक्षया विलक्षणां व्याजहार-

"नियतिकृतनियमरहितां ह्लदैकमनीयमन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितमादधती भारती कवेर्जयति ।। "

विधातुः सृष्टिरिंय नियतीनियमेषु बद्धा, किन्तु तथा कविकृतिः । ब्रह्मणः सृष्टिः सुख-दुःखमोहात्मिका, किन्तु कविकृतिः सर्वदा आनन्दमयी । काव्यमधीत्य केवलं आनन्दानुभूतिरेव जायते । जगदिदं कारणपरतन्त्रं किन्तु कविकर्म सर्वथा सर्वतन्त्रस्वतन्त्रम् । काव्येषु विभावनाद्यलंकारयोजनायां कारणं विनापि कार्यं वर्ण्यते । जगति षड्रसा एव तेऽपि कालान्तेर विकृतिं प्राप्नुवन्ति । परन्तु काव्ये नवरसास्ते च सर्वदा नवनवमेवास्वादं पुष्यन्ति । इत्थं सर्वथा विलक्षणा खलु कविता कविभारती वा सा च सर्वोत्कर्षेण वर्तते ।

काव्यस्य प्रयोजनम्-

सामान्यस्तु मनोरञ्जनात्मिकया शैल्या चेतसः प्रसादनम् उद्बोधनं मानवस्य च सदाचरणं प्रति प्रवर्तनमेव काव्यस्य प्रयोजनम् । किन्तु मम्मटाचार्येण काव्यस्य षट् प्रयोजनानि निर्दिष्टानि-

NOTES

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मितत योपदेशयुजे ।।" इति ।

एतदतिरिक्तं धर्मार्थकाममोक्षाणां पुरुषार्थानां सिद्धिरपि अनायासेनैव काव्यस्य परमं प्रयोजनम् ।

काव्यस्य लक्षणम्–

काव्यस्य अनेकानि लक्षणानि आचार्यैः कृतानि । भरत मुनिना काव्यलक्षणव्याजेन नाटकस्वरूपमेव निरूपितम्–

"भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।"

अग्निपुराणे काव्यस्य पञ्च तत्त्वानि स्वीकृतानि–

**"संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद् दोषवर्जितम् ।।**

तदनन्तरं प्रायशः सर्वैरपि पूर्वाचार्यैः काव्यलक्षणे शब्दार्थयोरुभयोरपि समन्वयो विहितः । यथा–

(i) "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।" इति भामहः ।

(ii) "काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारः संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।" इति वामनः ।

(iii) "शब्दार्थौ काव्यम् ।" इति रुद्रटः ।

(iv) "शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली ।" इति दण्डीः ।

(v) "शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम् ।" इति आनन्दवर्धनः ।।

एतेषां लक्षणानामभिप्रायः यत् अर्थानुरूपं शब्दप्रयोगः शब्दानुकूलं च अर्थयोजनमेव काव्यम् ।

मम्मटाचार्येण दोषरहितयोः गुणान्वितयोः सालंकारयोश्च शब्दार्थयोरेव काव्यत्वमङ्गीकृतम्–

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।"

अत्र– "अनलंकृती" इत्यस्यायमाश यत्– "शब्दार्थौ सर्वत्र सालंकारौ स्याताम्, किन्तु यदि क्वचित् अलंकारो नैव स्पष्टः तत्र च – काव्यात्मभूतो रसः व्यङ्ग्यार्थो वा चमत्कारकारी विद्यते तर्हि तत्रापि काव्यत्वमसंदिग्धम् । आचार्यविश्वनाथस्तु सुस्पष्टमेव रसात्मकं वाक्यमेव काव्यं स्वीचकार '

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।"

इदं काव्यलक्षणमतीव प्रसिद्धं लोकप्रियं च । एतदनुसारं सहृदयैरास्वाद्यमानः रसः एव काव्यस्य आत्मा जीवनाधायको वा ।

इत्थं सर्वेषामपि काव्यलक्षणानां प्रायः अयमेव निष्कर्षः यत् यस्मिन् वाक्ये शब्दे अर्थे शब्दार्थयोर्वा रसमयता विद्यते तदेव काव्यमिति ।

काव्यस्य गुणाः-

येन प्रकारेण काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं तेनैव प्रकारेण काव्यस्य उत्कर्षहेतव सन्ति गुणालङ्काराः । गुणालङ्कारयोः भेदविषये मम्मटपूर्ववर्तिनामाचार्याणां द्विप्रकारकं मतं वर्तते । भामहप्रणीतस्य "काव्यालङ्कार; ग्रन्थस्य भामहविवरण व्याख्यायां भट्टोद्भटः भेदं मिथ्याकल्पानरूपं स्वीकरोति । तन्मतानुसारेण गुणालंकारयोः नास्ति कश्चन भेदः । तथा आह भट्टोदभटः -

"समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः । ओजः प्रभृतीनाम् अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितरिति गडुलिकप्रवाहेणैवेषां भेदः ।"

किन्तु काव्यालंकारसूत्रप्रणेतुः वामानस्य मतानुसारेण तु गुणालंकाराणां भेदो वर्तते । तथा च उक्तं वामनेन काव्यालङ्कारसूत्रे-

"काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः"

ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते च ओजः प्रसादादयः । न यमकोपमादयः । कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात् ओजः प्रसादादीनां तु केवलमस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति ।

'तदतिशयहेत वस्त्वलङ्काराः ।

तस्याः काव्यशोभायाः अतिशयस्तदतिशयः तस्य हेतवः । तु शब्दो व्यतिरेके । अलंकाराश्च यमकोपमादयः । अत्र श्लोके -

'युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।'

विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः । यदि भवति व-चश्च्युतं गुणेभ्योः वपुरिव यौवनबन्ध्मगनायाः। अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।

ध्वन्यालोकनामकस्य ग्रन्थस्य प्रणेता आचार्यः **आनन्दवर्धनस्तु प्राह-**

"तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।।" इति ।

अत एवाचार्यनन्दवर्धनस्य मतानुसारेण गुणालंकाराणां भेदो वर्तते एव । आनन्दवर्धनस्य मतानुसारेण एव आचार्यो **मम्मटस्त्वाह-**

"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः ।।" इति ।

आत्मन एव हि शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसयैव माधुर्यादयो गुणा न तु वर्णानाम् क्वचित् तु शौयादिसमुचितस्याकार- महत्त्वादेर्दर्शनात् "आम्ना एवास्य शूरः" इत्यादेर्व्यवहारात् । अन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण शूर इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण, 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहार प्रवृत्तेः अमधुरादिरसागानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण मधुरादिरसोपकरणानां तेषाम् सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि मधुरादिरसोपकरणानां तेषाम् असौकुमार्यादिरसपर्यन्तं प्रतीतिवन्ध्यां व्यवहरन्ति । अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्तेन तु वर्णमात्राश्रयाः ।

गुणानां भेदविषयेऽपि आचार्यस्य मम्मटस्य वामनेव सांक मतभेदो विद्यते । आचार्यो वामनः देश-दशसंख्याकान् शब्दगुणानर्थगुणांश्च स्वीकरोति । वामनाभिमतानां शब्दगुणानामर्थगुणानां च नामान्युभयत्र समान्येव सन्ति किन्तु तेषां लक्षणानि भिन्नानि-भिन्नानि सन्ति । अधस्तात् वामनाभिमतानां शब्दगुणानामर्थगुणानाञ्च लक्षणानि प्रस्तूयन्ते-

वामनाभिमतानां शब्दगुणानां लक्षणानि –

	गुणनामानि		**लक्षणानि**
1.	ओजः	–	गाढबन्धत्वमोजः ।
2.	प्रसादः	–	शैथिल्यं प्रसादः ।
3.	श्लेषः	–	मसृणत्वं श्लेषः ।
4.	समता	–	मार्गाभेदः समता ।
5.	समाधिः	–	आरोहावरोहक्रमः समाधिः ।
6.	माधुर्यम्	–	पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ।
7.	सौकुमार्यम्	–	अजरठत्वं सौकुमार्यम् ।
8.	उदारता	–	विकटत्वमुदारता ।
9.	अर्थव्यक्तिः	–	अर्थव्यक्तिहेतुत्वंमर्थव्यक्तिः ।
10.	कान्तिः	–	औज्ज्वल्यं कान्तिः ।

वामनाभिमतानामर्थगुणानां लक्षणानि –

	गुणनामानि		**लक्षणानि**
1.	ओजः	–	अर्थस्य प्रौढिरोजः ।
2.	प्रसादः	–	अर्थवैमल्यं प्रसादः ।
3.	श्लेषः	–	घटना श्लेषः ।
4.	समता	–	अवैषम्यं समता ।
5.	समाधिः	–	अर्थदृष्टिः समाधिः ।
6.	माधुर्यम्	–	उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।
7.	सौकुमार्यम्	–	अपारुष्यं सौकुमार्यम् ।
8.	उदारता	–	ग्राम्यत्वमुदारता ।
9.	अर्थव्यक्तिः	–	वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ।
10.	कान्तिः	–	दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

आयार्चो मम्मटः वामनोक्तान् गुणान् स्वीकृत्य त्रीनेव काव्यगुणान् स्वीकरोति । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशकर्त्रा –

"माधुर्यौजः प्रसादाख्याः त्रयस्तेन पुनर्दश ।" इति ।।

एतेषां त्रयाणां गुणानां स्वरूपं निरुपयन्नाह आचार्यो मम्मटः –

"आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।।" इति ।।

अत्यन्तद्रुतिहेतत्वात् –

"दीप्तयात्मविस्मृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः ।
चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः ।"
"बीभत्सरोद्ररसयोः तस्याधिक्यं क्रमेण च ।"

वीराद्वीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोजः –

"शुष्केन्धनादिवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।"

अन्यदिति व्याप्यमिह चित्तम् । सर्वत्रेति – सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च ।

"गुणवृत्त्या पुरस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्गता ।"

वामनोक्तानां समेषामर्थानां शब्दानां च गुणानां स्वाभिमतेषु त्रिष्वेव गुणेष्वन्तर्भावमभिप्रायन् मम्मटः प्राह –

"केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परेश्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।।" इति ।।
'तेन नार्थगुणाः वाच्याः प्रोक्ताः शब्दगुणाश्चय ये ।।"

इत्यलम् ।।

16. काव्येषु नाटकं रम्यम्

महाकविः कालिदासः खलु विलासः कलायाः, प्रकाशः प्रतिभायाः, विकासः व्यञ्जनायाः, अवभासः भव्यभावनायाः, कल्पः कमनीयकल्पनायाः, संकल्पश्चारुचरितवर्णनायाः, कल्पः कोमलपदावल्याः, शिल्पः रमणीयशैल्याः, अवतारः वाग्देवतायाः, विस्तारः विदग्धतायाः, अवतारः पुराकथायाः, संयोजकः गुणानां, प्रयोजकः रसानाम्, आयोजकश्च उपमाद्यलंकाराणाम् । कविताकामिनीकान्तः कालिदासः रघुवंशमेघदूतादीनां महाकाव्यानां खण्डाकाव्यानां च अभिज्ञानशाकुन्तलादीनां च नाटकानां च रचनया स्वकीर्तिं दिगन्तव्यापिनी कुर्वन् संस्कृतसाहित्याकाशे एकम् अतीव उत्कृष्टतया प्रकाशमानं समुज्ज्वलं नक्षत्रमिव विराजते । रचनासु 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' तु नाटकरत्नम् एव विद्यते । अस्य रमणीयता अपूर्वा एव अस्ति अभिज्ञानशाकुन्तलनाटकेन कालिदास्य यशः भारतसीमानमतिक्रम्य विदेशेष्वपि प्रसारं लेभे । अभिज्ञानशाकुन्तल नाटकमेव पाठं-पाठं वैदेशिकाः संस्कृतं प्रति आकृष्टाः बभूवुः । सर्वास्वपि काव्यविधासु नाटकं स्वभावतो हृदयग्राहित्वे चित्रपटे साक्षात् दृश्यत्वेन च रम्यमिति नात्र सन्देहः । किन्तु नाटकेषु अति कालिदासस्य 'शाकुनतलम्' सुन्दरमिति निर्विवादम् । शाकुन्तलेऽपि

चतुर्थोऽङ्कः श्रेष्ठः, तत्रापि च श्लोकचतुष्टयं प्रसिद्धम् । इदमेव तथ्यं प्रकाशयता निगदितं केनापि साहित्यसमालोचकेन–

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ।।"

"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" सर्वात्मना सफलं सुरम्यं च नाटकम् । नाटकमिदम् – घटनासंयोजनायाम्, कमनीयपदरचनायाम्, वर्णनपटुतायाम, चरित्र-चित्रणचतुरतायाम्, प्रकृतिवर्णननिपुणतायाम्, मनोभावाभिव्यञ्जनायाम्, रसपरिपाक कुशलतायाम्, अलंकारायोजनायं च सर्वातिशायि । शरीरसौन्दर्यचित्रणे कालिदासोऽद्वितीयः । अभिज्ञानशाकुन्तलस्य प्रथमेऽङ्के शकुन्तलायाः लावण्यं वर्णयन् व्याहरति कविः –

"अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं योवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ।।"

शकुन्तलायाः स्वाभाविकमकृत्रिमं च सौन्दर्यमभिनन्दनीयं खलु यत् वल्कलवस्त्रेषु अपि विराजते–

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम!,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।।"

मानवसौन्दर्य समकालमेव प्राकृतिकसौष्ठवमपि कालिदासतूलिकया विषयभूतम् नाटकस्य चतुर्थेऽङ्के प्रभातकाले सूर्यचन्द्रयोरुदयास्तवर्णनं कुर्वन् कथयति कालिदासः –

"यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनां –
माविष्कृतोरुणापुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्याम्,
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ।। "

अत्र शशिदिवाकरयोरुदयास्तवर्णनव्याजेन कालचक्रवैषम्यमपि सम्यक् निरूपितं कविना । पात्राणां चरित्रचित्रणेऽपि अनुपमः कालिदासः।

'अभिज्ञानशाकुन्तलनाटकं' सप्तसु अङ्केषु विभक्तम् । यद्यपि वस्तुविस्तारदृष्ट्या सर्वेऽपि अङ्काः नितान्तमुपयोगिनस्तथापि तेषु चतुर्थो अंकः श्रेष्ठः । यतो हि तत्रैव नाटकस्य प्रमुखाः घटना संयोगिताः । तास्तु यथा– दुर्वाससः शापः, शकुन्तलायाः पतिगृहगमनम्, पुत्रीवियोगे कण्वस्य वैक्लव्यम्, शकुन्तलां प्रति कण्वस्य उपदेशः, दुष्यन्तं प्रति कुलपतेः सन्देशः, वनस्पतिभिः शकुन्तलाये अलंकरणदानम्, शकुन्तलावियोगकाले अनुसूयाप्रियंवदयोः विषादः, शकुन्तलाविरहे आश्रमवासिनां मृगपक्षिलतानां व्याकुलता, तपोवनविरहकातरायाः शकुन्तलायाश्च मनोव्यथा ।

उपर्युक्तं समस्तमपि घटनाचक्रं महाकविना स्वनाट्यकलाकौशलेन चारुतया चित्रितम् । कालिदासस्य भव्यभावाभिव्यञ्जनम्, कमनीयकल्पनावैभवम्, शब्दचित्रचातुर्यम्, रसमाधुर्यम्,

अलंकारकौशलम्, काव्यगुण-गौरवम्, नाट्यशिल्पपटुत्वं च सर्वाधिकमभिज्ञानशाकुन्तलस्य चतुर्थे अङ्के एव समाविष्टम् । अत एव यथार्था एव इयम् उक्तिः —

"तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः" इति ।

पद्यरचनायां प्रशसनीयः खलु कालिदासः । कालिदासप्रणीतानि पद्यानि वस्तुतो गेयानि, भावमयानि, हृदयावर्जकानि च अभिज्ञानशाकुन्तले विन्यस्तानि पद्यानि तु प्रायशो रसिकानां रसनासु खेलन्ति । किन्तु शाकुन्तलेऽपि चतुर्थाङ्कबद्धाश्चत्वारः श्लोकाः अमृतमयोपदेशत्वेन भावगाम्भिर्यत्वेन, शाश्वतसत्यप्रकाशकत्वेन च समधिकं प्रशंसिता विद्वद्भिः । तेषु प्रथमस्तावत् –

"यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठ स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणस्कथं नु तनयाविश्लेषदुः खैर्नवैः ।।"

तत्र तनयाविश्लेषदुःखं स्वाभाविकमिति विज्ञापितं कविना । कन्यायाः पतिगृहगमवेलायां सर्वस्यापि हृदयं द्रवितं जायते। तोवनवासी तपोधनः कुलपतिकण्वोऽपि शकुन्तलावियोग व्याकुलः ।

द्वितीयः श्लोकः '

शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु पियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधयः ।।

अस्मिन् श्लोके कुलपतिना य उपदेशः प्रदत्तः स सर्वाभिरेव स्त्रीभिरनुकरणयः । एतदनुसारमाचरणेन परिवारे सुखमेधते ।

तृतीयः श्लोकः –

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
नादत्ते प्रियमण्डनापि युष्मत्स्नेहे या पल्लवम् ।
अद्ये वः कुसुमप्रसूति समये यस्या भवत्युत्सवः,
येयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनज्ञायताम् ।।

अत्र वृक्षैः सह शकुन्तलायाः पारिवारिकः सम्बन्धः सूचितः । वृक्षाः मानवस्य चिरसहयोगिनः अत एव ते सततं पालनीयाः।

चतुर्थः श्लोकः-

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मनः,
त्वय्यस्याः कमिप्यबान्ध्वकृतां सनपेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं वारेषु दृश्या त्वया,
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ।।

NOTES

दुष्यन्तं प्रति कण्वस्य अयमुपदेशो वस्तुतः कुलपतिगरिमानुरूपः । पित्रा कन्यायाः शुभाशंसनं तदर्थं च भाग्यावलम्बनं नितान्तं स्वाभाविकम् । इत्थं श्लोकचतुष्ट्ये मानवमनोविज्ञानं जीवनदर्शनं नैतिकमुद्बोधनं च साकारतां गतम् ।

अतः सिद्धं भवति यत् अभिज्ञानशाकुन्तलं कालिदासस्य सर्वस्वम् ।

। इत्यलम् ।

17. महाकविः कालिदासः

महाकविः कालिदासस्य स्थानं संस्कृतसाहित्ये उच्चतमं वर्तते । निखिलकविचक्रचूडामणिः कविकुलगुरुः समाभ्यधिकरहितकविताकामिनीविलासः महाकविः कालिदासः इमां मानवीं मेदिनीं नैजया नवनवोन्मेषशालिन्या प्रतिभया कदा समलञ्चकार इति अद्यापि निश्चितं नास्ति । विदूषानां मतानि अत्र उद्ध्रियन्ते–

समयः –

1. फ्रेंचविद्वान् 'हिपोलाइटफासः' रघुवंश वर्णितस्यराज्ञो अग्निवर्णस्य मरणानन्तरमुत्पन्नस्य पुत्रस्य समकालिकमेनं मत्वाऽस्य महाकवेः समयं खीष्टाब्देः प्राक् अष्टमशताब्दं स्वीकरोति ।

2. भोजप्रबनधस्य प्रणेता महाकविः बल्लालः खीष्टाब्देः द्वादशशताब्धां उज्जयिन्यधीशस्य सभायाः नवरत्नरूपेण स्वीकरोति । परञ्चेमे मते तर्कप्रमाणपराहतत्वात् नादर्तव्ये ।

3. मालविकाग्निमित्रनामकस्य नाटकस्य नायकः शुंगवंशीयो राजा अग्निमित्रो वर्तते । अयमग्निमित्रः मौर्यवंशमुन्मूल्य साम्राज्यं स्वायत्तीकर्त्तुः सेनापतेः पुष्पमित्रस्य पुत्र आसीत् अग्निमित्रः खीष्टाब्दस्य 50 वत्सरेभ्यः प्राग्वर्तिष्ट, अतः कालिदासस्य समयः खीष्टाब्दस्य 150 वत्सरात्पूर्वो नहि भवितुमर्हति ।

4. सम्राजो हर्षवर्धनस्य (606–647 ई.) सभाकविः बाणभट्टः हर्षचरिते– "निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु । प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ।" इति श्लोके कालिदासस्य नामोल्लेखं करोति अत एव कालिदासस्य समयः ईसवीयाः सप्तमशत्या पूर्वार्द्धादधिकोऽपि नहि भवितुमर्हति ।

5. पुलकेशिन् द्वितीयस्य (634 ई.) ऐहोलशिलालेखे कालिदासस्य नामोल्लेखादपि ईसव्याः सप्तमशताब्द्याः पूर्वार्द्धस्यार्वागेव कालिदासस्य समयः सिद्ध्यति ।

श्रीरमाशंकरतिवारीमहाभागाः कनिष्कस्य (78 ई.) सभापण्डितस्याश्वघोस्योत्तरकालवर्तिनं कालिदासं स्वीकरोति ।

स्थानम् –

कालिदासस्य स्थानविषयेऽपि विद्वत्सु मतैक्यं नास्ति । तथापि विदूषानां प्रमुखमतानामुल्लेखो अत्र क्रियते ।

1. कालिदासः भारतवर्षस्य कं प्रदेशमलञ्चकार इत्यपि नास्ति निश्चितम् । बंगदेशीयानां मतानुसारेणायं महाकविः कालिदासः काल्या भक्तः आसीत् । अत एवास्य नाम कालिदासः प्रथितोऽभूत् । काल्याः भक्ततवादयं वंगदेशीयः प्रतीयते इति बंगनिवासिनो विवेचकाः तर्कयन्ति ।

2. कालिदासस्य ग्रन्थेषु सर्वापेक्षमा विदिशायाः विदर्भस्य च सर्वाङ्गपूर्ण वर्णनं समुपलभ्यते, अत एव हि केचन पण्डिताः कालिदासं विदर्भवासिनं स्वीकुर्वन्ति ।

3. पिटर्सनप्रभृतयो विद्वांसो वदन्ति यत् "मालविकाग्निमित्रे" विदर्भ-राजकुमार्याः मालविकायाः रघुवंश विदर्भाधिपतेः पुयाः इन्दुमत्या स्वयंवरर्णनस्य मनोज्ञमकार्षीत् । इन्दुमत्याः प्रणयवर्णनञ्च अतिमनोरममवेक्ष्य सिद्ध्यति यदयं महाकविः वैदर्भ एवासीत्।

4. पण्डितचन्द्रबलिपाण्डेयानां मतानुसारेण कालिदासः विन्ध्यभूमेवाऽवात्सीत् । सः वैदर्भ एवासीत्।

5. प्रो परांजपे महोदयोऽपि एनं विदिशानिवासिनं मनुते । डॉ. रमाशंकरतिवारी महोदयो अपि कालिदासम् उज्जयिनी वासिनं मन्वते।

वस्तुतः उज्जयिनी प्रति प्रेम्ण अतिरेकादेव कालिदासस्य यक्षः मेघं भवत्यापि वक्रे पथि उज्जयिनीं गमयति । वक्रः पन्थाः यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां सौधोत्संगप्रणयविमुखो मास्मभूरुज्जयिन्याः विद्युद्दामस्फुरितचकितस्तत्र पौराङ्गानानां लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि।

कालिदासस्य देशकालयोरिव जीवनचरितमपि अनुमानैकगम्यमास्ते । जनश्रुतेरनुसारेणायं ब्राह्मणवंशावतंस आसीत् । आसीत् प्राक् वपुसा सुन्दरोऽप्ययं पूर्णो मूर्खः आसीत् । पण्डिताः कञ्चिद्राजकुमारीं वञ्चयित्वा तया साकमस्योद्वाहं सम्पादयामासुः । मत्या अनादृतोयं भगवतीं समाराध य कविकुलस्य चिराराध्योऽभूत् । गुप्तकालीनानां राज्ञां सभापण्डितोऽयं स्वनवनवोन्मेषशालिन्या प्रतिभया तात्कालिकीं समृद्धिं देशस्य वर्णयामास काव्याना माध्यमेन ।

कालिदासस्य ग्रन्थाः -

महाकविकालिदासस्य प्रतिभा चतुरस्रा आसीत् । अयं महाकविः काव्यानां खण्डकाव्यानां नाटकानाञ्च प्रणयनं कृतवान्। रघुवंशकुमारसम्भवाख्ये द्वे महाकाव्ये कालिदासस्य स्तः । अस्य महाकवेः द्वे खण्डकाव्येऽपि स्तः ऋतुसंहारमेघ-दूताभिधे । अस्य महाकवेः त्रीणि नाटकानि सन्ति मालविकाग्निमित्रम् विक्रमोर्वशीयम्, अभिज्ञानशाकुनतलञ्च ।

तत्र रघुवंशनाम्नि महाकाव्ये दिलीपादारभ्य अग्निवर्णपर्यन्तानां राज्ञां वर्णनं कृतवान् कविः । कुमारसम्भवमहाकाव्ये शिवपार्वत्योः शिववपार्वतयोः प्रणयः मनोरमतमायां शैलयां निरूपितवान् कालिदासः । ऋतुसंहारे तात्कालिकस्य समाजस्य परां समृद्धिमवर्णयत् । मेघदूते प्रियतमाविप्रयुक्तो यक्षः आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं प्रेक्ष्य तमलकायां प्रेषयत् स्वसन्देशेन साकम् । विदर्भराजदुहितुः मालविकायाः प्रणयः अग्निमित्रेण साकं वर्णितोऽस्ति । विक्रमोर्वशीये नाटके उर्वश्याः प्रणयः पुरुरवसा सह । संस्कृतसाहित्यस्य सर्वोत्तमे नाटके अभिज्ञानशाकुन्तले दुष्यन्तशकुन्तलयोः प्रणयस्य यादृशं मनोज्ञं वर्णनमास्ते तादृशं प्रणयस्य मनोज्ञं वर्णनं सर्वथाऽनुपलभ्यमास्ते अन्यत्र । इत्यलम्।

18. महाकविः दण्डीः

संस्कृतसाहित्याकाशे गद्यकाव्यस्य परम्परायाः मूलबीजं वैदिकवाङ्मयस्य संहितासु समुपलभ्यते । सर्वप्रथमम् अस्य काव्यस्य दर्शनं तैत्तिरीयसंहितायां भवति । ततः प्रभृति ब्राह्मणग्रन्थेषु उपनिषद्-ग्रन्थेषु, निरुक्ते, सूत्रग्रन्थे, महाभारते, महाभाष्ये च अस्य संवर्धनशीला परम्परा क्रमेण सम्प्राप्यते । अतः परमपि गद्यभाषायां रचनाः अभवन् परञ्च ताः कृतयः सम्प्रति अनुपलब्धाः सन्ति । एतेषां कतिपयानां कृतीनां समुलेखः यत्र तत्र सम्प्रत्युपलभ्यमाणेषु ग्रन्थेषु प्राप्यते । एवं प्रतीयते यत् एते ग्रन्थकाराः तदुल्लिखितैः गद्यकाव्यैः परिचिताः आसन् । पतञ्जलिकृतमहाभाष्येण ज्ञायते यत् तस्मिन् काले वासवदत्ता-सुमनोत्तरा भैवरथीनामकगद्यकाव्यविधायाः रचना समुपलब्धा आसीत् यस्याः निर्देशं महाभाष्ये प्राप्यते । महाकविबाणभट्टेन सिद्धहस्तगद्यकारस्य भट्टारकहरिश्चन्द्रस्य नामोल्लेखं कृतं विद्यते हषचरिते । कल्हणेन वररुचिकृता चारुमती, रौमिल्लसोमिल्लकृता शूद्रककथा इति गद्य काव्यद्वयस्य समुल्लेखः कृत्यः, तिलकमञ्जरीकारधनपालस्यानुसारं श्रीपालितकृता तरङ्गवतीकथा आन्ध्रभृतयः च गद्यकाव्यद्वयं सातवाहनराज्ञां काले विलिखित मासीत् । एवमेव सातकरणीहरण नमोवन्तीकथा इत्यादिग्रन्थाः प्राचीनगद्यकाव्यपरम्परां समर्थयन्ति परञ्चास्माकं दुर्दैवेन एते गद्यकाव्यग्रन्थाः सम्प्रतिकाले अनुपलब्ध ाः विद्यन्ते ।

अद्यत्वे ये गद्यकाव्यग्रन्थाः प्राप्यन्ते तेषु प्रथम स्थानं महाकविदण्डीकृतस्य दशकुमारचरितस्य विद्यते । सम्भवतः दण्डी तस्य महाकवेः उपाधिरेव विद्यते परञ्च तस्य वास्तविकं नामापि अविदितमस्ति । दण्डिनः जीवनकालादिविषये विदुषां मतसाम्यं न दृश्यते, परञ्च एतत् तु स्पष्टरूपेण सिद्धं जातं यत् महाकविरेषः दाक्षिणात्यः सम्भवतः विदर्भदेशीयः आसीत् । एतेषां विदुषामनुसारम् अस्य पितुः नाम वीरदत्तः मातुः नाम गौरीदेवी चासीत् । अस्य विषये इदमपि ज्ञायते यत् बाल्यकाले एव पितरौ दिवङ्गतौ जातौ । तदनन्तरं निरराज्ञयो भूत्वा इतस्ततः परिभ्रमन् कथञ्चित् पल्लवराज्ञः आश्रयमवाप्नोत्। अन्येषां विदुषां मतेन एषः महाकविः भारवेः दामोदरस्य वा प्रपौत्रः आसीत् । अस्य विषये अवन्तिसुन्दरीयकथायां एका कथा विद्यते तदनुसारं महाकविरयं दण्डधारी नैष्ठिकः ब्रह्मचारी आसीत् । वर्षासु ब्रह्मचारिणां नगरनिवासः शास्त्रानुमोदितः इति विचार्य अयं नगरे निवासकरोत् । तदा नगरपतिना स्वकन्यकानां शिक्षणार्थं सः शिक्षकत्वेन नियुक्तः जातः । विदितसमाचारः दण्डी अपि संस्कृतज्ञं नगरस्वामिनं दारिद्र्यमुपवर्णयितुं भृशम् आग्रहञ्चकार । तेनाऽपि आग्रहवशाद् दारिद्र्याष्टकं विरच्य दण्डिने दत्तम् । दण्डी अपि तदादाय सिमताऽऽस्य सम्बभूव । नगरस्वामी अपि अनुभवं चकार यद् दरिद्रतायाः अनुभवरहितेन मया यथा दारिद्र्याष्टकं विरचितं तथैवायं कृत्रिमो रसिकः न तु स्वाभाविकः । तदनु तस्य सर्वत्र सम्मानमवाप्नोत् । अस्य काल विषये संक्षेपेण प्रमुखतया पक्षद्वयं विद्वद्भिः स्वीक्रियते । केचन् विद्वांसः अस्य जन्मकालः षष्ठख्रिष्टाब्दस्य अन्तिमे चरणे स्वीकुर्वन्ति । अन्ये च सप्तमख्रिष्टाब्दस्य उत्तरार्धे इति । परञ्च दशकुमारचरिते चित्रितेन भौगेलिकराजनैतिकवातावरणेन ज्ञायते यत् एषः महाकविः सम्राट्-हर्षवर्धनस्य कालात् पूर्ववर्ती विद्यते । सम्राट्हर्षवर्धनस्य शासनकालः सप्तं ख्रिष्टाब्दस्य पूर्वार्द्धेआसीत् । अत एवं दण्डिनः कालः षष्ठख्रिष्टाब्दस्य उत्तरार्धः एव भवितुमर्हति ।

रचना: -

"त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ।।"

राजशेखररचितस्य सारङ्गधरपतिनामकग्रन्थस्य अनेन श्लोकेन ज्ञायते यत् दण्डीप्रणीताः त्रयः प्रबन्धाः सन्ति-अलङ्कारग्रन्थः, काव्यादर्शः, दशकुमारचरितम्, अवन्तीसुन्दरी कथा च । एतेषां विदुषामनुसारं दशकुमारचरितं दण्डीप्रणीतं नास्ति । परञ्च तैः उत्तमप्रमाणं सम्प्रति निराधारमिति सिद्धं जायते । पीशेलमहोदयानुसारं दण्डिनः प्रबन्धत्रयं काव्यादर्शः, दशकुमारचरितम्, अवन्तिसुन्दरीकथा इति प्रबन्धत्रयं दण्डिनः कृतमिति समर्थकानां विदुषां संख्यायां बहुतायतता विद्यते ।

पदलालित्यम् -

सर्वप्रथमं पदलालित्यमिति एतत् पदं विचारणीयम् । पदस्य लालित्यं पदलालित्यं सुप्तिङन्तपदम् इत्यनुसारं सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञयाऽभिधीयते । ललितस्य भावः लालित्यं माधुर्यमिति । एवं यस्यां पदसंघटनायां श्रवणानन्दकरत्वं माधुर्यं निसर्गतः समुपलभ्यते तदेव लालित्यमिति । यातोहि पदसंघटनासौष्ठवं श्रण्वन्तां सहृदयानां मनांसि अकस्मादेव आकर्षयति, सुखयति, लालयति च । कविजनानां गुणोऽयं काव्यस्य गौरवं विस्तारयति । दण्डिनः दशकुमारचरिते पदलालित्ययस्य गौरवं सर्वोत्कृष्टं विद्यते । तस्य अत्र संक्षिप्तरूपेण विवरणं प्रस्तूयते ।

महाकविदण्डिनः रुचिरस्वरवर्णप्रधानपदावलीषु मनः बलादेव आकृष्टं भवति । एतस्य कमलकोमलकल्पनातीतः प्रसादमाधुरी रसानुप्रासहासकमनीया पदावलिः पाठकजनानां मनोनुरञ्जनार्थं लालित्यप्रदर्शनाय च उपायनी भवति । तद्विषये दर्शनीयानि कानिचिद् स्थलानि प्रथमोच्छ्वासे राजहसंपरिचयप्रसङ्गे -

"राजहंसो नाम घनदर्पकन्दर्पसौन्दर्यहृद्यनिरवद्यरूपो भूयो बभूव" ।

किं बहुना दण्डिनः गद्यकाव्ये दशकुमारचरिते शब्दयोजना योग्यता अनुप्राससरसता वर्णनकमनीयता बलादेव पाठकानां सहृदयानां हृदयमाकर्षयति । अत एव दण्डिनः पदलालियत्यं इत्युक्तिः यथार्थत्वेन प्रतिभाति ।

इत्यलम् ।

19. महाकविः माघः

महाकविः माघः संस्कृतसाहित्याकाशे कालिदासात् अनन्तरं गणनाक्रमे समायाति । अस्य प्रमुखा रचना "शिशुपाल-वधम्" महाकाव्यम् अस्ति । अयं महाकविः राजस्थानीयः आसीत् । प्राप्तैः प्रमाणैः सूच्यते यत् अयं राजस्थान प्रदेशस्य 'भीनमाल' नामकस्य दक्षिणीयपार्वत्यप्रदेशस्य निवासी आसीत् । अयं महाकविः संभवतः श्रीमाली ब्राह्मणः आसीत् इति विद्वांसः कथयन्ति । अनेन कविना स्वविषये केवलम् इयत्एव उक्तं यत् तस्य पितुः नाम दत्तकः, पितामहस्य च नाम सुप्रभदेवः आसीत्, अथ च तस्य पितामहः सुप्रभदेवः 'धर्मनाभ' नामकस्य 'वर्मलात' नामकस्य च कस्यचन राज्ञः मन्त्री आसीत् । माघस्य इयतोऽधिकं जीवनवृत्तं ज्ञातं नास्ति ।

स्थितिकालः —

महाकवेः माघस्य स्थितिकालः विवादास्पदः अस्ति । किन्तु इयत् निश्चितं वर्तते यत् तस्य कालस्य उत्तरसीमा 800 ईस्वीयवर्षात् अनन्तरं नास्ति, यतो हि राष्ट्रकूटेन राज्ञा नृपतुङ्गेन (814 ई.) स्वकीये कन्नडभाषाग्रन्थे 'कविराजमार्गे' माघं कालिदाससमक्षकं स्वीकृत्य तस्य प्रशंसा कृता अस्ति, येन स्पष्टं भवति यत् नृपतुङ्गस्य समये नवमशतकस्य पूर्वार्द्धे माघः साहित्यजगति प्रतिष्ठापदम् आरूढः आसीत् ।

माघस्य स्थितिकालस्य पूर्वसीमा 650 ईस्वीयवर्षात् पूर्वं न गच्छति, यतो हि तेन 'शिशुपालवधे' अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना इति प्रकारेण वृत्तेः – काशिकावृत्तेः निर्देशः कृतः अस्ति, काशिकावृत्तेश्च रचना वामनजयादित्याभ्यां 650 ईस्वीयवर्षे कृता आसीत् । माघस्य पितामहस्य सुप्रभदेवस्य आश्रयदातुः राज्ञः वर्मलातस्य 635 ईस्वीयवर्षस्य एकेन शिलालेखेन ज्ञायते यत् वर्मलातस्य तन्मन्त्रिणः सुप्रभदेवज्ञस्य च कालः 625 ईस्वीयवर्षस्य समीपे आसीत् अतः सुप्रभदेवस्य पौत्रस्य माघस्य स्थितिकालः 650 ईस्वीयवर्षस्य 700 ईस्वीयवर्षस्य च मध्ये एव सिद्धः भवति । यतो हि तत्र 'न्यास' शब्देन जिनेन्द्रबुद्धिरचितस्य 'न्यासस्य' निर्देशम्' न मत्वा तत्पूर्ववर्तिनः कस्यचित् अन्यस्य न्यासस्य निर्देशः मन्यते, सामञ्जस्यम् अपि स्थितं भवति, अतः इदम् एव मन्तुम् उचितं प्रतीयते यत् तस्मिन् श्लोके 'न्यास' शब्देन जिनेन्द्रबुद्धिरचितस्य न्यासस्य निर्देशः नास्ति, अथ च फलतः माघस्य स्थितिकालः प्रायः उक्त एव (650–700 ई.) अस्ति ।

कृतयः —

माघस्य काव्यप्रतिभायाः पाण्डित्यस्य च निदर्शनमेकमेव महाकाव्यम् – "शिशुपालवधम्" इति । अनेनैव काव्येन माघस्य कीर्ति कौमुदी दिक्षु प्रसारमवाप । शिशुपालवधे भगवता श्रीकृष्णेन कृतः शिशुपालस्य वधः पाण्डित्यसंवलितया काव्यकलाकलितया भव्यभावभरितया च कवितया वर्णितः । विंशतिसर्गात्मकमिदं काव्यं महाकाव्यलक्षणैः परिपूर्णं विलक्षणमेव ग्रन्थरत्नं यत् च बृहत्त्रय्यान्यतमम् । माघकवेः शिशुपालवधं माघनाम्ना एव ख्यातम् । तच्च "काव्येषु माघः" इति कृत्वा विद्वद्भिः भृशं प्रशसितम् ।

माघे सन्तित्रयोगुणाः –

संस्कृतसाहित्याकाशे महाकवि माघस्य नाम कस्य विदुषः कृते समादरणीयः नास्ति । अयं महाकविः एकेन महाकाव्येन यादृशीं प्रसिद्धि मवाप तादृशी प्रसिद्धिः केनापि अपरेण महाकविना न सम्प्राप्ता । कालिदासानन्तरं संस्कृभाषायाः यदा अलंकारप्रधानशैल्याः प्रचारं प्रसारञ्च प्रचलत् तदा भारविमाघयोः ग्रन्थौ नितरां ख्यातिं लब्धवन्तौ । अस्याः काव्यशैल्याः असौ प्रमुखकविः वर्तते । असौ महाकविः केवलं काव्यशास्त्रे एव पारङ्गतः नास्ति अपितु व्याकरणराजनीति–अर्थशास्त्र–धर्मशास्त्र–कामशास्त्र–दर्शनशास्त्र–ज्योतिषशास्त्र–सङ्गीतशास्त्रादिविविधविषयाणां यादृशं पाण्डित्यं प्राप्तवान् तं पाण्डित्यं तु दर्शं दर्शम् अस्य काव्यप्रतिभायाः प्रशंसा नैके विद्वांसः बारं-बारं कुर्वन्ति । अस्य महाकावेः शिशुपालवधाभिधानं महाकाव्यं सहृदयानां कृते तेषां शब्दसन्होहानां ज्ञानानां परीक्षकः वर्तते । अतः केनचित्त आलोचकप्रवरेण उक्तम् –

"नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते" ।

काव्यशास्त्रदृष्ट्या अस्य कवेः रचना कालिदासभारविदण्डीनां कवीनां प्रमुखगुणानां विद्यमानतया सम्पन्नाऽस्ति । अनेन कारणेन अस्य महाकाव्यम् अमन्दानन्दसन्दोहास्पदम् अस्ति सहृदयानां कृते । अर्थात् माघस्य महाकाव्ये उपरिनामाङ्कितानां त्रयाणां कवीनां प्रमुखकाव्यगुणानाम् एकत्र दर्शनं बोभवीति इति केनापि कविना उक्तम् च –

"उपमा कालिदास्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ।।"

महाकविकालिदासस्य काव्येषु काव्यशास्त्रीयैः अन्यैः गुणैः सह उपमायाः अन्यतमं वैशिष्ट्यं दृश्यते । भारवेः किरातार्जुनीयाख्ये महाकाव्ये अन्यैः काव्यशास्त्रीयगुणैः सार्धम् अर्थगौरवं विशेषतः प्राप्तये । एवञ्च महाकविदण्डिनः काव्ये पदलालित्यं खलु विशिष्टं विद्यते, परन्तु अस्य महाकवेः काव्ये त्रयाणां पूर्वकथितानां गुणानां समाहारः । माघस्य उपमायाः उदाहरणं शिशुपालवधं लिखिते श्लोके द्रष्टव्यम्–

"निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणालसद्विसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ।।"

अत्र महाकविना मनोहरेण चमूरुमृगचर्मेण आच्छन्नस्य नारदस्य वपोः साम्यं पृष्ठास्तरणेन युक्तेन इन्द्रवाहनेन एरावतेन सह प्रस्तुतम् । इमं श्लोक पठनेनैव पाठकानां बुद्धिपटले अयं विचारः जायते यद उपमेयं सायासा न तु अनायासास्ति । अस्मिन्नेव प्रसंगे एका कालिदासीया उपमापि दर्शनीया –

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।"

सम्प्रति महाकवेः काव्ये अर्थगौरवस्य कानिचित् उदाहरणानि अवलोकनीयानि । शिशुपालवधस्य प्रथमसर्गे एव द्रष्टव्यः अयं श्लोकः –

"उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः प्रथक् विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ।।"

अस्मिन् श्लोके माघः अल्पशब्दैः सांख्यशास्त्रस्य सम्पूर्णं सिद्धान्तं प्रस्तुतं चकार । नारदः भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति प्रोवाच भगवन् ! भवान् सांख्य– शास्त्राचार्यैः कलिलादिभिः महर्षिभिः वर्णितः पुरातनः पुरुषः अस्ति । एवञ्च भवत्स्वरूपं तु नितराम् उदासीनं योगिभिः येन केन प्रकारेण अध्यात्मदृशा साक्षात्कृतं प्रकृतिः विकारेभ्यः पृथग्भूतं अस्ति । वस्तुतः अयं महाकविः घटे सागरं निक्षेप्तुं समर्थः वर्तते ।

पदलालित्यस्य उदाहरणमत्र द्रष्टव्यम् । रैवतकपर्वतस्य वर्णने महाकविः अयं श्लोकः विरचितवान्–

"नवपलाशपलाशिवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् ससुरभिं सुरभिं सुमनोहरैः ।।"

अस्मिन् श्लोके वर्णमाधुर्यं पदसौकुमार्यं भाषासंगीतात्मकत्वं रूपञ्च ।

कविना स्वकीयं काव्यप्रयोजनम् एकस्य श्लोकस्य माध्यमेन-चतुर्थसर्गे वर्णितम्-

"दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद् विस्मयमाततान।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः ।।"

यो सौन्दर्यः प्रेक्षकानां बुद्धौ प्रतिक्षणं नवीनानां भावानां नवीनानां सौन्दर्याणां च उद्भावना करोति, यम् आस्वादयितु कदापि मनस्तृप्तिं न जायते, वारं-वारं यं प्रति आकर्षणावर्धनं सञ्जायते स एव सौन्दर्यः कथ्यते । रमणीयतायाः तदेव वास्तविकं स्वरूपम् ।

अनेन प्रकारेण स्पष्टं भवति यत् महाकविः माघः स्वास्मिन् काव्ये शिशुपालवधाख्ये सहृदयानां हृदयावर्जनीयाः सर्वे गुणाः एकत्रीकृतवान् । दृश्यते जगति –

"भिन्नो रुचिर्हि लोकः" सर्वेषां जनानां रुचिरेकत्वं न प्राप्यते । अत एव समेषां सहृदयानाम् आनन्दवर्धनोद्देश्येन असौ महाकविः उपमार्थगौरवपदलालित्यादिगुणानां लोकोत्तराणाम् एकत्रैव समावेशं विधाय काव्यानन्दपायिनां बहूपकारं कृतवान् इति अलम् ।

20. महाकविः श्रीहर्षः

महाकविः श्रीहर्षः संस्कृतसाहित्यजगति सम्माननीयं स्थानम् अधिकरोति । अस्य कवेः 'नैषध ीयचरितम्' इति महाकाव्यम् अस्ति । अयं स्वकीयविषये स्वकृतिषु काञ्चन परिचयं दत्तवान् अस्ति । तदनुसारेण अस्य पितुः नाम श्रीहरिः मातुश्च नाम मामल्लदेवी आसीत् । अयं विभिन्नेषु शास्त्रेषु प्रवीणः आसीत् । दर्शनशास्त्रे विशिष्टा ख्यातिः आसीत् इतोऽपि अद्वैतवेदान्ते अस्य गतिः आसीत् । अयं कान्यकुब्जेश्वरस्य जयचन्द्रस्य सभायाम् अतीव सम्मानितरूपे तिष्ठति स्म । तथा च तत्कृतेन "ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्' इति उल्लेखेन ज्ञायते, कान्यकुब्जेश्वरः जयचन्द्रः तस्मै ताम्बूलद्वयम् आसनं च दत्त्व तं सम्मानयित स्म ।

स्थितिकाल –

ऐतिहासिकानामनुसारेण कान्यकुब्जेश्वरस्य जयचन्द्रस्य राज्यकालः 1169–1195 ईस्वीयवर्षेषु आसीत् । अतः तत्समकालीनस्य श्रीहर्षस्य स्थितिकालः निर्विवादरूपेण ईस्वीयद्वादशाशतकस्य उत्तरार्धः मन्यते ।

कृतयः –

महाकविश्रीहर्षस्य 'नैषधीयचरितम्' इति महाकाव्यम् अस्ति । 'खण्डनखण्डवाद्यम्' तस्य उत्कृष्टः कोटिकः दार्शनिकः ग्रन्थः अस्ति । अन्याः रचनाः यथा स्थैर्यविचारणम्, नवासाहसाङ्कचम्पूः, शिवशक्तिसिद्धश्च इत्यादीनां ग्रन्थानां रचना कृता अस्ति । एतेषु "नैषधीयचरितम्" द्वाविंशतिसर्गात्मकम् महाकाव्यम् अस्ति, यस्मिन् नलदमयन्त्योः, प्रेम्णः विवाहस्य च कथा वर्णिता अस्ति । अस्याः कथायाः, मूलस्रोतः महाभारतस्य 'नलोपाख्यानम्' अस्ति ।

वैशिष्टयम् –

महाकवेः श्रीहर्षस्य प्रधानमहाकाव्यम् अस्ति "नैषधीयचरितम्" इति । अस्य महाकाव्यस्य अनुशीलनेन ज्ञायते यत् काव्यक्षेत्रे भारवेः समयात् या कलाप्रधाना कलाप्रदर्शनात्मिका वा शैली प्रवृत्ता

अभवत् तस्याः चरमः प्रकर्षः अस्मिन् महाकाव्ये प्राप्यते । भारविसमये प्रवृत्तायाः उक्तायाः शैल्याः माघस्य काव्ये पर्याप्तः विकासः जातः, किन्तु श्रीहर्षं प्राप्य तु सा स्वीयं चरमोत्कर्षम् एव प्राप्तवती । श्रीहर्षस्य कवित्वस्य मुख्याः विशेषताः निम्नानुसारेण वर्तन्ते –

कलापक्षः –

श्रीहर्षस्य महाकाव्ये कलापक्षस्य प्राधान्यं विद्यते । कलापक्षस्य प्राधान्यं तु भारवेः माघस्य च कवित्वे अपि वर्तते, किन्तु पुनरपि तत्र भावपक्षः कलापक्षेण एतावता बलेन प्रकर्षेण वा सह न आक्रान्तः वर्तते यावता बलेन प्रकर्षेण वा सः श्रीहर्षस्य कवित्वे आक्रान्तः वर्तते । भारतीयैः समालोचकैः समानं कलाप्रधानां शैलीम् आश्रयस्तु कलाप्राधान्यवादिषु भारविमाघश्रीहर्षेषु कलात्मकप्रदर्शनस्य दृष्ट्यां श्रीहर्षः –

"तावद् भा भारवेर्भाति यावद् माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ।।"

इत्यादिरूपे उत्कृष्टतमः घोषितः अस्ति यत् यत्र कलापक्षस्य भावपक्षस्य उपरि पूर्णं साम्राज्यं वर्तते । कलात्मकं प्रदर्शनमेव श्रीहर्षस्य कवित्ववस्य परमम् उद्देश्यं प्रतीयते । इदमेव कारणमस्ति यत् इतिवृत्तस्य परमसंक्षिप्तत्वात् अपि कलात्मकप्रदर्शनस्य माध्यमभूतैः विभिन्नैः विस्तृतैः अथ च कदाचित् पुनरुक्तैः अपि वर्णनैः नैषधीयचरितस्य महाकाव्यस्य द्वाविंशतिसर्गात्मकं विशालं परिमाणं जातम् अस्ति ।

अलंकारप्रयोगः –

महाकविः श्रीहर्षः अलंकाराणां विन्यासे अती निपुणः अस्ति । सः स्वकीयं काव्यं प्रायः सर्वत्र एव अलंकारैः अलंकृतवान् अस्ति । कलापक्षस्य प्राधान्यात् हेतोः श्रीहर्षस्य अलंकारविन्यासः तावान् स्वाभाविकः नास्ति यावान् सः कलाप्रदर्शनहेतुकः वर्तते । फलतः स स्वकीयम् अलंकारविन्यासकलानैपुण्यं प्रदर्शयितुं बहुशः श्लेषालङ्कारं, स्वकीयं काव्य क्लिष्टम् अपि करोति । पुनरपि इयती वार्त्ता अवश्यम् अस्ति यत् अद्भुतानां कल्पनानाम् उद्भावनात् हेतोः श्रीहर्षेण प्रयुक्तेषु अर्थालंकारेषु अपूर्वं सौन्दर्यम् समागतम् अस्ति ।

पदलालित्यम् –

महाकवेः श्रीहर्षस्य पदलालित्यम् "नैषधे पदलालित्यम्" इत्यादिरूपे बहुशः प्रशंसितं वर्तते । वस्तुतः श्रीहर्षः ललितायाः पदावल्याः प्रयोगस्य विषये उत्कृष्टः कलाकारः अस्ति । ततप्रयुक्ता ललिता पदावली पदे-पदे पाठकान् विमोहयति । यतः अस्याः पदावल्याः निदर्शनं प्रायः समग्रमपि नैषधीयचरितम् अस्ति । अतः तत्र एव अस्याः दर्शनं कर्तुम् उचितम् अस्ति ।

श्रीहर्षस्य पाण्डित्यमपि उत्कृष्टम् आसीत् । दर्शनशास्त्रे अन्य अद्भुता गतिः आसीत् । अतः तस्य कवित्वस्य वैशिष्ट्यमपि वर्तते । बहुषु स्थलेषु अतिशयरूपे पाण्डित्यप्रदर्शनात् हेतोः तस्य काव्यं क्लिष्टम् अपि जातम् अस्ति, किन्तु इयं क्लिष्टता सर्वत्र एतादृशी नास्ति या स्वत एव समागता स्यात् अपि तु एतादृशी अपि वर्तते या कविना ज्ञानपूर्वक प्रयत्नात् समानीता अस्ति । श्रीहर्षः कलाप्राधान्यवादी उत्कृष्ट कविज अस्ति अथ च तत्प्रणीतं महाकाव्यम्– "नैषधीयचरितम्" कलात्मकेन

दृष्टिकोणेन उत्कृष्टं काव्यम् अस्ति । यद्यपि इदं काव्यं भावानुभूतिलालसान् सहृदयान् रमणीयभावाभिव्यक्ति–माधुर्येण रसनिभरान् कृत्वा प्रभावितान् न करोति । तथापि तत् कलाचमत्कारप्रियान् जनान् कल्पनाचमत्कारेण चमत्कृतान् कृत्वा पूर्णतः प्रभावितान् कर्तुं शक्तम् अस्ति, फलतश्च स्वस्य अनेन वैशिष्ट्येन हेतूना तत् उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः इत्यादिरूपे बहुशः प्रशंसितम् अपि जातम् अस्ति । इत्यलम् ।

21. महाकविः बाणभट्टः

परिचयः-

महाकविः बाणभट्टः गद्यकारेषु मूर्धन्यः सरस्वतयाश्च वरदपुत्रः आसीत् । अस्योपरि लक्ष्म्याः अपि कृपा विद्यमाना आसीत् । विद्वत्समाजे यथा अस्य आदरः आसीत् तथैव राजसभायामपि अस्य समादरः आसीत् । अयं महाकविः हर्षचरिते स्वजीवनस्य वृत्तान्तं विस्तारेण वर्णितवान् । तत्र शोणनदस्य तटे शाहबादमण्डले बिहारप्रदेशे प्रीतिकूटनामकनगरे प्रतिवसति स्म इत्यस्ति उल्लेखः । हर्षचरितस्यानुसारम् अस्य वंशस्य परिचयः ब्राह्मणः आरभते । तत्र कुबेरस्य पुत्रः पाशुपतः, पाशुपतस्य पुत्रः अर्थपतिः अर्थपतेः पुत्रः चित्रभानुः चित्रभानोः पुत्रः बाणभट्टः इति उपलभयते । अस्य माता राजदेवीं बाल्यैव दिवगंता । पित्रा लालितः पालितः पोषितश्चापि अयं सुयोगस्य अभिभावकस्य अभावात् मित्रैः सह ग्रामात् ग्रामं पर्यटन् देशान्तरस्य अवलोकनाय आकृष्टः मनः बहुकालम् अन्यत्र उषित्वा पुनः स्वग्राम् प्रति आजगाम ।

स्वपाण्डित्यप्रकर्षेण थानेश्वरस्य राजधान्या महाराजहर्षवर्धनस्य पण्डितसभायाः सर्वोत्कृष्टं पदम् अलंकृतवान् बाणभट्टः। किन्तु अस्य पदस्य प्राप्तेः पूर्वकाले बाणभट्टस्य विरोधिनः राज्ञः समीपे अस्य महतीं निन्दां कृतवान् । तेन राजा अस्योपरि कुपितः अभवत्, किन्तु राज्ञः भ्राता कृष्णराजः बाणभट्ट प्रति धारितं दौर्मनुष्यं निवारितवान्। अनन्तरं बाणभट्टः हर्षम् अवलोकयितुं स्वग्रामात् प्रस्थितवान् किन्तु राजा पूर्वं येन तिरस्कृतवान् अनन्तरं च अस्य अद्भुतपाण्डित्यप्रदर्शनेन सन्तुष्टः भूत्वा दानसम्मानादीभिः सत्कारितवान् ।

तत्र राजप्रसादे सुचिरं स्थित्वा पुनः प्रीतिकूटं प्रति आगच्छत् । ग्रामे एव तस्य पितरव्य पुत्रः श्यामलः बाणभट्टं हर्ष चरितं वर्णयितुं विज्ञापितवान् तेन बाणः चरितं रचितवान् । ततः परम् अनेन महपण्डितेन कादम्बरी सदृशम् अत्यद्भुतगद्यकाव्यं लिखितम् इत्यस्ति संक्षेपो परिचयः ।

वैशिष्ट्यम्-

महाकविः बाणभट्टः वाग्देव्याः वरदपुत्रः एव आसीत् । यतो हि एतस्य कालिदासादिदीनां सरस्वती साक्षात् आसीत् । गोवर्धनचारिणस्तु बाणभट्टः वाग्देव्याः साक्षात् अवतारः एव प्रतिपादितः तत्र महाकवेः बाणभट्टस्य लेखिन्या अनेकानि ग्रन्थरत्नानि विलिखितानि, येषु कानिचित् एव विदुषां पुरतः प्राप्तानि सन्ति । सूक्तिसंग्रहेषु अलंकारग्रन्थेषु च एतन्नाम्ना सुमनोहराणि अनेकानि पद्यानि उपलभ्यन्ते । क्षेमेन्द्रेणापि बाणकृतम् एकं पद्यं कादम्बर्याः विरहव्यथा वर्णनापरं प्रस्तुतं, किन्तु सः ग्रन्थः न उपलभ्यते । महाकविः अयं यद्यपि बहूनि पद्यमयानि काव्यानि रचितवान् तथापि गद्यकाव्यम् एव अस्य कवेः सर्वातिशयी उत्कृष्टञ्च काव्यं वर्तते । गद्यकाव्येषु 'हर्षचरितम्' आख्यायिका रत्नं वर्तते । कादम्बरी बाणभट्टस्य सर्वोत्कृष्टा रचना वर्तते । न इयं सर्वोत्कृष्टा अपितु नितरां प्रसिद्धतमा

वर्तते । पद्यकाव्येषु छन्दसाम् अलंकारादीनां साहाय्येन चरित्र-चित्रणं सरलं भवति । गेयत्वात् जनानां मनः अपि तत् हरति, किन्तु गद्यकाव्यं जनानां मनांसि हरेत् तदर्थं कवेः प्रतिभायाः रचना चातुर्यस्य अलंकारविशेषाणां प्रयोगस्य उपर्यक्तशब्दगुम्फनस्य च आवश्यकता भवति । तदैव गद्यकाव्यं मनोहारि भवति । अतः विद्वद्भिः उक्तं- **''गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति''** इति । बाणभट्टः कादम्बरी सदृशस्य गद्यकाव्यस्य निर्माणेन सर्वानपि कवीन् अतिशेते । अनेनैव कविना ओजस्विन्यां भाषायाम् एकशतसर्गधरा छन्दसा अतीव रमणीयनं भगवत्याः स्तुतिपरकम् एकं नाटकं निर्मितम् । अयं पार्वतीपरिणयः नाटकं मुकुटताडिकं च नाटकं निर्मितम् । हर्षचरितं करुणविषादाभ्यां परिपूर्णं गद्यकाव्यमस्ति तथापि हर्षः एक ओजस्वी प्रजापालकः दानशीलः नृपः आसीत् इत्यपि वर्णितम् ।

कादम्बरी पूर्वार्धे उत्तरार्धे च विभक्तम् । पूर्वार्धं बाणभट्टस्य रचनाऽस्ति । तत्र भाषाभावयोः शब्दार्थयोः च समुचितः समावेशः अवलोक्यते, वर्णनं सौन्दर्यं तु अनिर्वचनीयं विद्यते । तत्र विन्ध्याचलवर्णनं विकटायाः अटव्याः वर्णनम्, साहसप्रेमवतः शबरसैन्यस्य रोमाञ्चकरं वर्णनं सदयतायाः अवतारस्य जाबालिमुनेः वर्णनम्, मधुरभाषिण्याः वीणावत् मञ्जूवादिन्याः स्निग्धहृदयाः महाश्वेतायाः विरहविधुरायाः च मूर्ते च वर्णनं कस्य च न चेतासिं रञ्जयन्ति । अर्थ गन्धर्वराजकन्यायाः सरसहृदयायाः कमनीयशरीरायाः कादम्बर्याः प्रेममयीकथा श्रोतृणां मनांसि स्वाभिमुखम् आकर्षित इव।

कवेः गद्यानि पाञ्चाली रीतिम् अनुसरति । प्रायः श्लेषयुक्तानि ओजः गुणपूरितानि, विशालानि-विशालानि वाक्यानि सन्ति । सरलः अर्थः सुकुमारवर्णविन्यासः रचनाशैली रमणीया चास्ति । तत्र रसोत्पादकानि सर्वाणि काव्यतत्त्वानि पूरितानि सन्ति । अतः धर्मदासेन उक्तम्-

''रुचिरस्वरवर्णपदा रसभावती जगन्मनोहरति ।
सा किं तरुणि न हि न हि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ।।''

अनेन केनचित् उक्तं यत्-

''श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणी फलम् ।''

अथ सर्वविधबाणस्य वैशिष्ट्य गद्यकाव्ये विलोक्य आलोचकैः उक्तं यत्-

''बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'' इति ।

अर्थात् काव्यस सम्बन्धिनि सर्वविधानि वर्णनानि बाणैः एव कृतानि । अन्य कवयस्तु बाणम् एव अनुकुर्वाणाः सन्ति । इत्यलम् ।

22. महाकविः भवभूतिः

महाकविः भवभूतिः संस्कृतसाहित्याकाशे महत्त्वपूर्णस्थानं धत्ते । भवभूतिना स्वपरिचयार्थं स्वकृतिषु एव कश्चिद् अंशः लिखितः । तदनुसारेण भवभूतिः कान्यकुब्जेश्वरस्य यशोवर्मणः महाभागस्य आश्रितः महाकविः आसीत् । तस्य पितुः नाम नीलकण्ठः मातुः नाम जातुकर्णी च आसीत् । भट्टगोपालः तस्य पितामहः ज्ञाननिधिः गुरुश्च । सः कश्यपगोत्रीयः ब्राह्मणः आसीत् । विदर्भदेशनगरस्यपद्मपुरनगरं तस्य जन्मस्थानं वर्तते । श्रीकण्ठपदलाञ्छनो 'भवभूतिर्नाम' इत्यनुसारेण श्रीकण्ठः तस्योपाधिः आसीत् । व्याकरणन्यायमीमांसाशास्त्रेषु प्रवीणत्वात् ''पदवाक्यप्रमाणज्ञः''

इत्युपाधिनापि समलङ्कृतोऽभूत् । कल्हणानुसारं भवभूतिः कान्यकुब्जनृपतेः यशोवर्मणः महाभागस्य आश्रितः आसीत् । यशोवर्माणं कश्मीरनरेशः ललितादित्यः पराजितवान् राजतरङ्गिण्याः अनुसारेण ललितादित्यस्य शासनकालः 693 ईस्वीयतः आरभ्य 636 ईस्वीयं यावत् आसीत् ।

यशोवर्मणः राजकविः वाक्पतिराजः स्वप्राकृतकाव्ये 'गउडवहो' नामके ग्रन्थे सूर्यग्रहणस्य वर्णनं चकार । यस्य द्वितीयदिने ललितादित्येन यशोवर्मणः पराजितः । डॉ. याकोबीमहोदयानुसारेण अस्य ग्रहणस्य तिथिः 14 अगस्त्यः 723 ईस्वीयः वर्तते । अनेन सिद्ध्यति यत् यशोवर्मणः समय : 700 ईसवीयसमीपं विद्यते । अत एव तदाश्रितस्य भवभूतेरपि समयः 700 ईसवीयसन्निधौ भवेत् ।

कृतयः-

महाकविभवभूतेः तिस्रः रचना: उपलब्धाः सन्ति-

1. मालतीमाधवम् 2. महावीरचरितम् 3. उत्तररामचरितम् ।

वैशिष्ट्यम्/उत्तररामचरिते भवभूतेर्विशिष्यते-

महाकविः भवभूतिः संस्कृतनाट्यसाहित्यस्य कविषु प्रथमश्रेण्यां वर्तते । तस्य रसासिक्तं वाङ्मयं चिरकालात् सहृदयान् अलौकिकेन आनन्देन अप्यायितां करोति । तस्य नाटकेषु जीवनस्य सम्पूर्णाः अनुभवाः सन्ति, सर्वे च रसाः तत्र सन्ति, पुनरपि करुणशृंगाररसयोः प्राधान्यम् अवलोक्यते भवभूतिः अपूर्वः शब्द शिल्पी कविता वनिता रञ्जका मानवहृदयस्य प्रतिनिधिश्चास्ति । भवभूतौ अगाधं पाण्डित्यम् असाधाग्निप्रतिभा च विद्यते । अतः यथार्थं सहजतया कवितासु प्रस्तौति । तस्य दाम्पत्यस्नेहस्य आदर्शः सर्वोत्कृष्टः अनुरागाय बाह्यकरणानि न अपेक्षते । पति पत्न्योः उत्कृष्ट चित्रेण सह अनुपमये: अतः केनचित् उक्तं कवयः कालिदासाद्याः भवभूतिः महाकविः।

भवभूतेः तिस्रीषु अपि रचनासु उत्तररामचरितस्य कथावस्तु रामायणोपरि आश्रितं वर्तते । भवभूतिः कथायां बहूनि परिवर्तनानि कृत्वा नवीनरूपेण प्रस्तौति वैशिष्ट्यमेतत् यत् नाटकं सुखान्तं सञ्जातम् ।

अत्र नायकः राम धीरोदात्तः प्रजापालकः प्रजाहिताय सर्वस्वं परित्यजति । नायिका च सता करुणमूर्तिः अथवा शरीरिणी विरह-व्यथा इव अस्ति तथापि लोकोत्तरतेजसा नाटकं प्रतिपलम् आभासयति । लक्ष्मणः आज्ञापालकः कर्त्तव्यनिष्ठश्च तेजस्वी गम्भीरश्च वर्णितः । कौशल्या विपत्तिग्रस्ता, जनकः दुर्भाग्ययुक्तोऽपि क्षात्रधर्मेण प्रदीप्तः वर्णितः लवकुशौ बाल चापल्येन युक्तमपि वीरौ स्तः । चन्द्रकेतुः राजकुमारः सन्नपि विनयेन वीरतया च युक्तो वर्तते । तमसा वासन्ती आत्रेयी च नारीसुलभगुणैः साकमेव स्व-स्व भूमिकाः संकलतया निरव्यूढ-वत्याः । अष्टावक्रः वाल्मीकिश्च ऋषित्वेन चित्रितौ । सुमन्त्रः स्वामिभक्तः नीतिज्ञश्चास्ति । दण्डायनः स्वधातुकिः च अनध्याये प्रियाणां छात्राणां प्रतिनिधित्वं कुरुतः । अरुन्धती वशिष्ठपत्नी परमसाध्वी अनुकरणशीलाचास्ति ।

संवादः लघुः सहजः बोधगम्यः चास्ति । प्रकृति चित्रणदृष्ट्या नाटकमिदं महत्त्पूर्णम् । तत्र द्रुमादयः सीतारामयोः बन्धुत्वेन इवाऽस्ति । मयूरौ अपि सीतां स्मृतिः, वृक्षाः अपि पुष्पैः रामाय उर्घ्यं ददाति । रामे रुदिते सति ग्रावा (पत्थर) अपि रोदिति । दाम्पत्यप्रेमसाधु अत्र चित्रितं सुभाषितानि नाटकस्य अन्यवैशिष्ट्यानि सन्ति यथा-

"**गुणाः पूजास्थानं गुणिषु च न लिङ्गं न च वयः ।**"

रसवर्णने कविः अद्भुतः तत्रापि अस्मिन् नाटके करुणरसः एव मुख्यः रसः स्वीकृतः । श्रृंगारवीरादयोऽपि करुणरसस्यैव अंगरसाः सन्ति ।

अस्मिन् नाटके भाषायाः भावश्च अद्भुतं सामञ्जस्यं वर्त । भयावहेषु दृश्येषु समास-संकुलानि, ओजोगुणविशिष्टानि पद्यानि सन्ति । कोमल प्रसङ्गेषु अयं कविः वैदर्भी-रीतिम् उपासते । स्वयं कथयति च-

"**वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।**
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ।।"

अलंकारप्रयोगेऽपि महाकविः भवभूतिः कालिदासादीनां कोटौ समागच्छति । भवभूतेः भाषा सरला-तरला, स्वाभाविकी चास्ति । पुनरपि भाषायां प्रौढ़ता समायाता । इति एतानि वैशिष्ट्यानि उत्तररामचरितस्य विलोक्य एव केनचित् उक्तम्-

"**भवभूतेस्तु सर्वस्वमुत्तरं रामचरितम् ।**
तत्रापि च तृतीयोऽङ्कः तत्र श्लोकचतुष्ट्यम् ।।"

इत्यलम् ।

23. महाकविः शूद्रकः

संस्कृतसाहित्ये वाङमये वा महाकविशूद्रकस्य नाम बहुधा श्रूयते । वेतालपंचविंशतिकायां, कादम्बर्यां, कथा-सरित्सागरे, दशकुमारचरिते च ते ते कवयः शूद्रकस्य राज्ञो नाम संस्मरुः । अयं राजाऽपि कविरभूत् सफलतम् इत्यास्ते संस्कृतवाङ्मयालोचकानां मनीषा ।

महाकवेः शूद्रकस्य कालविषये अनेके विचाराः सन्ति-

1. **स्कन्धपुराणकाराः** वदन्ति-अस्य समयः विक्रमपूर्ववर्ती अयमास्त इति ।

2. **केचन विद्वांसः** आन्ध्रभृत्यकुलोत्पन्नः शिमुक एवायं शूद्रको वर्तते, अत एव अस्य कालः विक्रमस्य प्रथमशताब्दी वर्तते इति प्राहुः ।

3. **दण्डी काव्यादर्शे** शूद्रकस्य "लिम्पन्तीव तमोङ्गानि" इति पद्यमुद्धृतवान्, अत एव अयं सप्तमशताब्द्याः पूर्ववर्ती सिद्धयति ।

4. **षष्टशताब्द्याः वराहमिहिरः** मंगलबृहस्पत्यौः मैत्रीं प्राह, परञ्च शूद्रकः मङ्गलबृहस्पत्योर्विरोधं प्राह मृच्छकटिके, अत एवायं वराहमिहिरात् पूर्ववर्ती प्रतीतये ।

5. शूद्रकस्य मृच्छकटिके नाटके द्वितीयशताब्द्यां प्रणीतस्य मनुस्मृतेर्नियमा अनुसृता भवन्ति, अत एव अयं मनुस्मृतेः प्रणयनादनन्तरमेव बभूव इति निश्चयम् ।

शूद्रकस्य **'मृच्छकटिकम्'** नाटकं चारुदत्त्वसन्तसेनयोः प्रणयवर्णनसमयं सरसं रूपकमास्ते । मृच्छकटिके रूपके तत्कालीनस्य समाजस्य सुष्ठु चित्रणं कृतमास्ते । अस्य मृच्छकटिकस्य कथाया

NOTES

अंशद्वयमास्ते, प्रथमांशे चारुदत्तवसन्तसेनयोः प्रणयः प्राधान्यमेधे । द्वितीयेऽशे आर्यकस्य राज्यप्राप्तिः प्रवर्धते प्रथमां अस्योपजीव्यं भासकृतं दरिद्रचारुदत्तमाभाति । द्वितीयश्चांशः कविना सृष्टो वर्तते ।

वदान्यशूरे चारुदत्ते वसन्तसेनाया गणिकायाः प्रेमभूमैधते । शकारः तस्यामनुरागवान् वर्तते परञ्च सा तं द्विषति । अत एव शकारः एकान्ते वसन्तसेनामानीय तस्या हत्यां करोति, जनेषु च प्रचारयति यत् वसन्तसेनां जघानायं चारुदत्तः । न्यायालये चारुदत्ताय वसन्तसेनाया हत्या प्रयुक्तः प्राणदण्डः श्राव्यते । परञ्चादृष्टवशात् वसन्तसेना पुनः जीवनमेति आगत्य च सर्वजनसमक्षं शकारस्याखिलं कुकृत्यं वक्ति । भाग्यवशात् तदात्व एव आर्यको राजा भवति सम्पद्यते च सानन्दः चारुदत्तवसन्तसेनयोरुद्वाहः।

मृच्छकटिकस्य अध्ययनेन प्रतीयते यत् शूद्रकस्य समये उज्जयिनी भारतवर्षस्य समृद्धतमा नगर्यासीत् । तदात्वे चौर्यधूर्तयोः प्रचुरः प्रसारः आसीत् । न्यायालये मनुस्मृतेः सम्मानमासीत् । वेश्यागमनादिरूपाया विलासितायाः अपि तदात्वे श्रेष्ठित्वेनाभिधानमभवत् । तस्मिन् काले दासप्रथा अपि व्यवहारे आसीत्।

महाकवेः शूद्रकस्य काव्यशैली सरलतमा मनोहरा च वर्तते । क्वापि दीर्घाः समासा नहि दृश्यन्ते । मृच्छकटिके वर्षावर्णनं मनोरमम् आस्ते । शूद्रकः राज्ञो न्यायभवनस्य हृद्यं वर्णनमकार्षीत् । तथाहि चिन्तासक्त निमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशंकाकुलं पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम् । नानावाशकङ्कपक्षरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं नीक्षिुण्णतटं च राजकिरणं हिस्रैः समुद्रायते ।

शूद्रकः मनसा क्रान्तिकारी कविराभाति । केन प्रकारेण धनिनो मदमत्ता भवन्ति । राजकुलसम्मानितस्य शकारस्य सर्वाः कुत्सिताः चेष्टाः सहृदयानां मनस्सु क्षोभमुद्वेलयन्ति । यद्यपि चारुदत्तः दरिद्र आस्ते परञ्च वेश्यापि वसन्तसेना तस्मिन स्नेहप्रचुरा वर्तते । यद्यपि तस्यामाता तां निगृह्णाति अथापि तस्या अनुरागः स्वाभाविकत्वात् चारूदत्ते वर्धत एव । वैश्यकुले संजाताया वसन्तसेनाया ब्राह्मणेन चारुदत्तेन साकं विवाहः समाजे नवस्य विचारस्य उदय एव ।

अस्य मृच्छकटिकस्य रूपकस्य प्रधाननायिका वसन्तसेना वर्तते । नायकश्च चारुदत्तो ब्राह्मणः । अत्र अङ्गीरसः श्रृङ्गारो वर्तते । काले-काले हास्यकरुणयोरपि वृद्धिः दृश्यते । इति अलम् ।

24. महाकविः विश्वनाथः

आचार्यविश्वनाथः संस्कृतसाहित्यदर्पणम् नामकग्रन्थस्य प्रणेतारूपत्वेन प्रसिद्धः । अयं महाकविः श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः अष्टादशभाषावारविलासिनी भुजङ्गः, सहृदयगोष्ठिगरिष्ठानां श्रीमतां नारायणदासपादानाम्पौत्रः महाकविविश्वनाथः, अलंकारशास्त्रस्य प्रवक्ता आसीत् ।

यद्यपि विश्वनाथस्य समयादिनिरूपणोपयोगि किमपि स्फुटतरं प्रमाणं नोपलभामहे, तथापि समुपलब्धानि कानिचन प्रमाणानि आधारीकृत्य तन्निरूपणे प्रवर्तामहे । तथा च साहित्यदर्पणस्य चतुर्थे परिच्छेदे कविरयं यवनाधिपति अल्लाबुद्दीनखिलजीनामकसन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः । अल्लाबुद्दीननृपतौ न सन्धिर्न चं विग्रहः । इति श्लोकस्य माध्यमेन स्मरति । अल्लाबुद्दीनखिलजीनामकस्य यवनाधिपतेः शासनकालः 1296 ईस्वीतः 1316 ईस्वीं यावद् अभूत् । एतेन श्लोकेन प्रतीयते यत् विश्वनाथः अल्लाबुद्दीनस्य शासनकालस्य पश्चादेवाभूत् । साहित्यदर्पणस्य एका 1384 ईस्व्यां लिखिता हस्तलिखिता प्रतिरपि समुपलब्धा वर्तते । अनया विश्वनाथस्य कालः 1384 ईस्वीतो अर्वागेव निश्चीयते । महाकविः विश्वनाथः नरसिंह-विजयाख्यं काव्यमेकं व्यधात् । तत्र अल्लाबुद्दीनखिलजी पराजयितारं कलिङ्गराज्य भूपतिं नरसिंहरावमस्तौषीत्- ''आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे ।''

श्रीनृसिंहमहीपाल ! स्वस्त्यस्तु तव वाहेव । अनेन नाभातियदयं महाकवि: कस्यचन कलिङ्गदेशवप्रशासितु: नरसिंहरावभूपते: राज्ये सन्धिविग्रहिको अभूत् । महाकविविश्वनाथप्रणीतया चन्द्रकलानाटिकया आभाति यदयं कवि: कस्यचन भानुदेवनृपतेरपि सन्धिविग्रहिकोऽभूत् ।

एभि: सर्वै: प्रमाणै: निश्चीयते यत् अस्य महाकवे: त्रयोदशशताब्द्या: उत्तराधमरीय चतुर्दशशताब्द्या: पूर्वार्द्धौ भववितुमर्हति काल: । अयं महाकवि: केवलं संस्कृतभाषाया एव विद्वान् नासीद् अपितु अष्टादशभाषावारविला- सिनीभुजङ्गस्वस्मै लिखित्वा स्वीयाम् अष्टादशसु भाषासु निपुणतां सूचयति । साहित्यदर्पणे विश्वनाथ: उदाहरणरूपेण एकमेतादृशं पद्यमुद्धृतवान् स्वनिर्मितम् यस्य बह्वीसु भाषासु समान एव अर्थो भवति । तच्च पद्यरत्नमिदमास्ते **"मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विलाससरसस्तीरे । विरसासिकेलिकीरे किमालि धीरे च गन्धसमीरे ।।"** पद्यमदम्-संस्कृत-प्राकृत-शौरसेनीप्राच्यावन्ती-नागरापभ्रंशेषुसमानरूपमेव भवति यस्मात् कारणात् सन्धिविग्रहिक: प्रधानामत्य आसीत् । तस्मादेव कारणादस्य ब्राह्मणवंशावतंसता सूचिता भवति । भगवान् मनुरपि ब्रह्मणस्यैव सन्धिविग्रहितां प्रावोचत् । तथाहि-

"सर्वेषान्तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विशेषत: ।
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ।"

विश्वनाथस्य ग्रन्था:- विश्वनाथस्य नवसंख्यका: ग्रन्था: अस्य नवनवोन्मेषशालिन्या प्रज्ञाया: परिचयं ददति । ते च सन्ति निम्नांकिता ग्रन्था:-

1. राघवविलासमहाकाव्यम् ।
2. चन्द्रकला (नाटिका) ।
3. प्रभावती परिणयम् (नाटकम्)
4. कुवलयाश्चरितम् (प्राकृतं काव्यम्) ।
5. प्रशस्तिरत्नावलि: ।
6. नरसिंहविजय: (खण्डकाव्यम्) ।
7. कंसवधम् (काव्यम्) ।
8. साहित्यदर्पण: ।
9. काव्यप्रकाशदर्पण: (काव्यप्रकाशस्य व्याख्या) ।

विश्वनाथस्य साहित्यदर्पण:-

यद्यपि सन्ति विश्वनाथप्रणीता: नवसंख्याका: ग्रन्था: परञ्च तेषु समस्तेषु उडुगणेषु चन्द्रो यथा विभाति साहित्यदर्पणो ग्रन्थ: । अस्मिन् ग्रन्थे दशसंख्याका: परिच्छेदा: सन्ति । प्रथम परिच्छेदे काव्यं लक्षयता अनेन विदुषा महता संरम्भेण काव्यप्रकाशकृतं काव्यलक्षणं निराकृतम् । द्वितीये परिच्छेदे वाक्यां पदञ्च निरूप्य शब्दशक्तीनां विशदं विवेचनं चकार । तृतीये रसस्य व्याख्यां कृत्वा नायकनायिकादीनामपि विवेचनमकार्षीत् । नायकनायिकानां वर्णनं काव्यप्रकाशापेक्षया नबीनो विषयो वर्तते । विश्वनाथ: चतुर्थ परिच्छेदे गुणीभूतव्यंग्यकाव्यं विशदीचकार । पञ्चमे परिच्छेदे व्यञ्जना विरोधिनी वादिनो निराचष्टे । षष्ठे काव्यभेदानां वर्णनं काव्यप्रकाशापेक्षया सर्वथा नवीनो विषयो वर्तते । सप्तमे दोषाणां विचार: कृतो विश्वनाथेन । अष्टमे परिच्छेदे प्राचीनानां खण्डनपुरस्सरं मम्मटोक्तदिशा गुणत्रयस्य स्थापनां करोति स्म स: । नवमे परिच्छेदे रीतीनां विवेचनम् आकार्षीत् स: । दशमे च परिच्छेदे शब्दार्थ- अलङ्काराणां विशदं विवेचनमकरोत् विश्वनाथो महाकवि: ।

इत्यलम् ।

NOTES

25. महाकविः भरतमुनिः

संस्कृतसाहित्ये जगति आचार्यभरतमुनेः विशिष्ट। स्थानं वर्तते । भरतमुनिः नाट्यशास्त्रस्य प्रणेता विद्यते । महाकवेः नाष्ट्यशास्त्रं परवर्तीनां सर्वेषामलंकारिकाणामुपजीव्यमास्ते । नाट्यशास्त्रस्य आंग्लानुवादको 'मनमोहनघोषो' वक्ति यत्- ''भरतमुनिः एक काल्पनिकपुरुषो वर्तते ।'' वस्तुतः भरतमुनिनामकः कश्चन पुरुषो नास्ति, परन्तु मनमोहनघोषस्येदं मतं पूर्णरूपेणानादरणीयमास्ते विपश्चिदपिश्चमानां समवाये । अभिनवगुप्तप्रभृतयः समे प्रसिद्धा अलंकारिका भरतमुनिं स्वपूर्वाचार्यरूपेण स्वीकुर्वन्ति । मत्स्यपुराणस्य चतुर्विंशतितमेऽयाये अपि भरतमुनि असकृदुल्लिखितोऽस्ति । मत्स्यपुराणानुसारणे भरतमुनिः देवलोके लक्ष्मीस्वयम्वरनामकस्य नाटकस्य अभिनयं कारयामास । तत्रोर्वशी नाम्न्यप्सरा लक्ष्मया अभिनयं चकार । तत्र देवसभायामिन्द्रेण साकमुपस्थितं पुरुरवसं वीक्ष्य तस्य सौन्दर्येण आकृष्टमानसा उर्वशी अभिनयनाटकमेव विसस्मार । तेन रोषरुषितो भरतमुनिः पुरुरवसमुर्वशीञ्चोभयं शशाप । विक्रमोर्वशीयंनामके कालिदासो इममर्थं संकेतितवान् । तथाहि मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीवष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः । ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः ।

समयः-

भरतमुनेः कालस्य निर्णयः सर्वथा दुरूहो विषयो वर्तते । समयस्य विषये विद्वत्सु ऐकमत्यं नास्ति । अभिनवगुप्तः ''अभिनवभारती'' नाम्नीं नाट्यशास्त्रस्य व्याख्यां ईस्याः एकादशशताब्द्यां चकार । कालिदासः विक्रमोर्वशीयनाटकस्य 2/98 श्लोके भरतमुनिना शब्देन भरतस्य नामग्रहमुल्लेखं चकार । अत एव भरतमुनिः कालिदासात् पूर्ववर्ती सिद्ध्यति । संस्कृतसाहित्यस्य इतिहासे सूत्रकालरूपेण ईस्वीपूर्वस्य चतुर्थशताब्दी स्वीक्रियते । बहवो विद्वांसः भरतस्य समयं विक्रमपूर्वस्य 500 वत्सरेभ्य आरम्भ प्रथमशताब्दीं यावत् स्वीकुर्वन्ति ।

कृतयः-

भरतमुनेः नाट्यशास्त्रमेकं एव ग्रन्थो समुपलभ्यते । सम्पूर्णोयं ग्रन्थः षट्त्रिंशदध्यायेषु समुपलभ्यते । अस्मिन् ग्रन्थे 6000 षट्सहस्रसंख्याकाः श्लोकास्सन्ति । अत्र बहवस्तु अनुष्टुप् श्लोकाः सन्ति । कुत्रचित् आर्याछन्दांसि समुपलभ्यन्ते । रसनिरूपणस्य प्रसंगे क्वचन सूत्राणि क्वचन् च गद्यव्याख्यानानि समुपलभ्यन्ते । भरतः स्वकारिकाणां पुष्टौ अनुवंश्यश्लोकानुद्धृतवान् । अभिनवगुप्तस्यानुसारेण शिष्यपरम्परायां समागताः श्लोकाः 'अनुवंश्याः' कथ्यन्ते । इमे अनुवंश्यश्लोकाः भरतादपि प्राचीनाः सन्ति । सम्पूर्णो ग्रन्थ सूत्रेषु, भाष्येषु, कारिकासु च निबद्धो अस्ति । उत्तरभारतीयपाठानुसारेण नाट्यशास्त्रे सप्तत्रिंशत् अध्यायाः सन्ति । दाक्षिणात्यपाठानुसारेण च षट्त्रिंशत्संख्याकाः अध्यायाः सन्ति । अभिनवगुप्तोऽपि नाट्यशास्त्रे षष्ट्त्रिंशत् अध्यायान्नेव स्वीकरोति । नाट्यशास्त्रे छन्दः शास्त्र-अलंकार शास्त्र-संगीतशास्त्रप्रभृतीनां विषयाणां प्राथमिकं विवरणं समुपलभ्यते त एवेदं प्राचीनललितकलाया विश्वकोशः इव आभाति ।

अभिनवगुप्तशार्ङ्गदेवौ नाट्यशास्त्रस्य नवानां व्याख्यातृणां नामोलेखमकुरुताम् । ते च भट्टोद्भट-लोल्लट-शंकुक-भट्टनायक-राहुल-भट्यन्त्र अभिनवगुप्तकीर्तिधर- मातृगुप्ताचार्यास्सन्ति । मन्ये एतेषु केचन काल्पनिकाः केचन च वास्तविकाः भवेयुः ।

इत्यलम् ।

26. आचार्यभामहः

महाकवेः भरतमुनेः अनन्तरं भामह एव सर्वप्रथममलंकारशास्त्रीय ग्रन्थं रचयामास । भरतो नाट्यशास्त्रे अलंकारशास्त्रीयाणि तत्त्वानि गौणरूपेण व्याकार्षीत् । भरतानुसारेण अभिनयाश्चतुर्धा विभज्यन्ते; तत्र वाचिकाभिनये अलंकारशास्त्रं सन्निविशते । भरतः '**काव्यालंकारनाम्नि** ग्रन्थे अलंकारशास्त्रस्य तत्त्वानां स्वतन्त्ररूपेण व्याख्यां चकार। अनेके विद्वांसः भामहं काश्मीरवासिनं स्वीकुर्वन्ति । भामहालंकारानुसारणे भामहस्य पितुर्नाम रक्रिलगोम्या आसीत् । कतिपये विद्वांसो रक्रिलगोमीति नाम दृष्ट्वाऽनुमिन्वन्ति यत् भामहस्य पिता बौद्धः आसीत् । चन्द्रव्याकरणानुसारेण गोमिन् शब्दस्य पूज्यार्थे निपातो भवति । चन्द्रव्याकरणस्य प्रणेता चन्द्रगोम्यापि बौद्ध आसीत् । भामहो मङ्गलाचरणे सार्वं सर्वज्ञः बुद्धस्य नामेति पठत्यमरसिंहः । इत्थं रक्रिलगोमी बौद्ध आसीदिति सिद्ध्यति ।

परञ्चायं विचारः सर्वथा औचित्यं नो बिभर्ति । यद्यपि बुद्धस्य नाम सर्वज्ञाप्यस्ति किन्तु कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः । इत्यस्मिन् वाक्येऽमरसिंहः शंकरस्य नामसु सर्वज्ञं शब्दं पठति । किञ्च यदि भामहो बौद्धौऽभविष्यत् तदा काव्यालंकारे कुत्रचित् बुद्धस्य वर्णनमप्यकरिष्यत् यस्मात् कारणात् भामहो तथा अकृत्वा रामायणस्य महाभारतस्य बृहत्कथायाश्च पात्राणि असकृत् सस्मार काव्यालंकारे, तस्मात् कारणात् ज्ञायते यदयं बौद्धो नासीत् । प्रत्युत सो वैदिकधर्मावलम्बी ब्राह्मण आसीत् ।

समयः-

भामहः दण्डिनः पूर्ववर्ती वर्तते इत्यप्रचाल्यैः प्रमाणैः सिद्धम् आस्ते । तथाहि बौद्धाचार्यः श्वन्तरक्षितः (अष्टमशतकस्य) स्वकीये तत्त्वसंग्रहे' ग्रन्थे भामहस्य मतस्य उल्लेखं कृत्वा भामहस्य काश्चन श्लोकानुद्धृतवान् । अत एव भामहः अष्टमशत्याः ईस्व्याः पूर्वकालिकोऽस्तीति निश्प्रचमास्ते । आनन्दवर्धनस्य भामहस्य शेषं हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः । यदलघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्'' इति श्लोकं ध्वन्यालोकस्य चतुर्थ-उद्योते प्राचीनतरमवोचत् बाणभट्टस्य धरणीधारणायाध ुना त्वं शेषः इति वाक्यस्यापेक्षया । एतेन बाणभट्टादपि पूर्ववर्ती सिद्ध्यति भामहः । भामहः 501 ईस्व्याः दिङ्नागस्य प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति प्रत्यक्षलक्षणं नोद्धृतम् । एतेन ज्ञाये यत् भामहः 500 ईस्व्याः आरभ्य 620 ईसव्याः अन्तरो एव प्रादुर्बभूव । इत्थं भामहस्य कालः षष्ठशताब्द्याः पूर्वकाल एव सिद्ध्यति ।

कृतयः-

भामहस्य **काव्यालङ्कारं** एव एकः प्रसिद्धो ग्रन्थोऽस्ति । काव्यस्य अलंकारव्यतिरिक्तोऽपि कश्चन ग्रन्थो भामहेन प्रणीतोऽस्ति, अस्मिन् विषये किमपि पुष्टं। प्रमाणं नास्ति । किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तलस्य 'अर्थद्योतनिका' टीकायां राघवभट्टः तथाविधानि अपि भामहस्य वाक्यानि उद्धृतवान् यानि काव्यालंकारे नोपलभ्यन्ते । नारायणभट्टोऽपि कानिचन वाक्यानि भामहस्य उद्धृतानि चकार वृत्तरत्नाकरस्य स्वकीयायां टीकायां यान्यपि काव्यालंकारे नहि सन्ति । केषाञ्चन विदुषां मतानुसारेण भामहः प्राकृतप्रकाशस्य 'प्राकृतमनोरमाख्यां' टीकां प्रणीतवान् । एतेन भाति यत् भामहः काव्यालंकारव्यतिरिक्तानपि ग्रन्थानं व्यरिरचत् ये साम्प्रतं नोपलभ्यन्ते ।

भामहस्य काव्यालंकारे षट् परिच्छेदाः सन्ति । प्रथमपरिच्छेदेकाव्यशरीरस्य वर्णनमास्ते । अस्मिन् परिच्छेदे षष्टिश्लोकेषु काव्यलक्षणं काव्यभेदाः तस्य प्रयोजनादिकञ्च वर्णितमास्ते । द्वितीये तृतीये च

परिच्छेदे षष्ठ्युतरंशतश्लोकेषु केषाञ्चनालंकाराणां विवेचनमास्ते लक्षणोदाहरणसहितम् । चतुर्थपरिच्छेदे पञ्चाशत्श्लोकेषु दोषाणां वर्णनमास्ते । पञ्चमपरिच्छेदे सप्ततिश्लोकेषु न्यायनिर्णयोऽस्ति । षष्ठे परिच्छेदे षष्ठीश्लोकेषु शब्दशुद्धि: प्रदर्शिता: ।

इत्यलम् ।

27. संस्कृतभाषाया: महत्त्वम्

विश्वे असंख्या: भाषा: सन्ति । तासु सर्वासु भाषासु संस्कृतभाषा सर्वोत्तमा विद्यते । संस्कृतशब्दस्य व्युत्पत्ति: सम् उपसर्गपूर्वकात् डुकृञ् करणे धातो: क्त प्रत्ययत्वेन जात: । संस्कारयुक्ता, दोष रहिता परिष्कृता भाषा एव संस्कृतभाषा कथ्यते । इयमेव भाषा देववाणी, सुरवाणी, गीर्वाणवाणी अपि उच्यते एतानि नामानि एव अस्या: महत्त्वं सूचयति ।

संस्कृभाषा जगत: प्रायेण सर्वासां भाषाणां जननी अस्ति । भारततस्य तु सर्वा: एव भाषा अस्या: भाषाया: पुत्र्या: सन्ति । यादृशं महत् साहित्यं संस्कृतभाषाया: अस्ति तादृशं अन्यासां भाषाणां न । भगवत: मुखात् निर्गता: संसारस्य उपदेशकारका: चत्वारो वेदा: संस्कृतभाषायामेव विराजन्ते । एतेषु वेदेषु ऋग्वेद: विश्ववाङ्मये प्राचीनतम: ग्रन्थ: मन्यते । प्राय: संसारस्य सर्वेषु देशेषु ऐतेषां वेदानाम् अध्ययनं क्रियते । शतश: पुस्तकानि पाश्चात्य पण्डितै: वेदेषु लिखितानि । उपनिषद: अपि संस्कृतस्य गौरवं प्रतिपादयन्ति । पाश्चात्या: विद्वांस ता: विश्वस्य हितकारिण्य: मन्यन्ते ।

आदिकाव्यं रामायणं, शान्तरसपूर्णं वीरकाव्यं महाभारतमपि संस्कृतस्य गौरवं वर्धयत: । अनयो: ग्रन्थयो: विषयं गृहीत्वा एव विशालस्य साहित्यस्य रचना संजाता । दर्शन-शास्त्राणि अपि संस्कृतभाषाया: गौरव भूतानि सन्ति । पाश्चात्य दर्शनं तावत् षट्दर्शनानां प्रतिच्छायामात्रमस्ति। गीतानामकं ग्रन्थरत्नं क: जन: न जानाति । तस्या महत्त्वं प्रदर्शयन् कश्चित् लिखित-

का समस्या समस्तेऽपि संसारे जटिलास्ति या ।
समाहिता न गीतायां श्रीकृष्णेन महात्मना ॥

एतादृशं गीतामृतमपि संस्कृतभाषाया: गौरवं वर्धयति । एतदतिरिक्तं कालिदास-भास-भवभूति-प्रभृतिभि: विश्वविख्यातै: महाकविभि: लिखितानि महाकाव्यानि नाटकानि च समस्त-संसारे सम्मानितानि सन्ति ।

प्राचीननभारते इयं संस्कृत-भाषा लोकभाषा आसीत् । अनया च सम्पूर्णभारतवर्षम् एकसूत्रे निबद्धम् आसीत् । भारतस्य संस्कृति: संस्कृतादेव नि:सृता अद्यापि भारतवर्षम् उपकरोति ।

अत: भारतीयानां कर्त्तव्यमस्ति यत् अस्या: भाषाया: गौरवं स्मरन्त: ते अस्या: अध्ययने अध्यापने अधिकाधिकं ध्यानं ददतु इति ।

इयं सूक्ति सार्थकतां धत्ते-

"संस्कृतं नाम देवी वागन्वाख्याता महर्षिभि: ।"

संस्कृतभाषा दिव्यगुणसम्पन्ना खलु । अनया एव भाषया देवस्तुति: सकलं च देवकार्यं सम्पद्यते । देवा: संस्कृतभाषायामेव व्यवहारं कुर्वन्ति । अत एव इयं देववाणी अमरगिरा, सुरभारती, गीर्वाणवाणी,

देवभाषा च इत्यादिभिः विशेषणैरलंक्रियते । वेदाः वेदाङ्गानि, उपनिषदः पुराणानि, सकलानि च शास्त्राणि संस्कृतभाषायामेव निबद्धानि । इयमेव खलु दिव्यता संस्कृतस्य । यथा देवाङ्गनासु विलक्षणम् आकर्षणम्, यथा च तासां यौवनमखण्डितं तथैव संस्कृतभाषायामपि अद्वितीयमाकर्षणं तस्याश्च यौवनं सर्वथा अक्षुण्णम् । इत्थमपसारयिता खलु संस्कृतभाषा । संस्कृतस्य लिपिर्वैज्ञानिकी । अस्याः वर्णमाला भाषावैज्ञानिकानां पथप्रदर्शिका । संस्कृतव्याकरणं भाषाविज्ञानस्य मूलम् । एते सर्वे गुणाः संस्कृतस्य दिव्यतां पुष्णन्ति ।

अनिर्वचनीयं खलु संस्कृतसाहित्यम् । विश्वभाषाणां कलाकाराः संस्कृतसाहित्यसम्मुखं नतमस्तकाः। सकस्कृतवय स्वप्रतिभया संस्कृतसाहित्यं भाषयाञ्चकुः । आदिकविर्वाल्मीकिः संस्कृतभाषायामेव रामायणं रचितम् । कविताविलासः कालिदासः काव्यजेन सुरभारतीमेव वन्दे । एवमेव, अश्वघोष-भारवि-माघ-श्रीहर्ष-भवभूति-शूद्रकादयः कवयोऽपि स्वकाव्याञ्जलिभिः देववाणीमेय आनर्चुः।

संस्कृतकाव्यं विलक्षणतानां जन्मभूमिः । अस्मिन् एकतः कालिदासस्य उपमासौन्दर्यं चेतश्चमत्करोति अन्यतो भारवेरर्थगौरवं काव्ये गाम्भीर्यमादधाति । अपरतो दण्डिनः श्रीहर्षस्य च पदलालित्यं लीलाविलासमाकलयति । माघे तु उपमार्थगौरवपदलालित्यानां त्रयाणामपि संगमः संगमस्थानमिवानन्दयति । काव्यरसिकान् । यथा चोक्तं संस्कृतसाहित्यसमालोचकैः-

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः।।

संस्कृतकाव्यं सौन्दर्यस्य प्रतिमैवास्ति ।

उपमोत्प्रेक्षारूपकश्लेषाद्यलंकाराः संस्कृतकवितावनितायाः शृगारं कुर्वन्ति माधुर्योजः प्रसादगुणाः संस्कृतकाव्यकाशे माधुर्यस्यः ओजसः प्रसादस्य च वृष्टिं कुर्वन्ति। वैदर्भी- गौडीपाञ्चालीरीतियः संस्कृतकाव्य प्राणान् सञ्चारयन्ति । शृगारादयो रसाः संस्कृतकवितां सरसतयाः परिपूरयन्ति । लक्षणा-व्यञ्जना च संस्कृत कविता मौलिकताया मञ्चे संस्थापयतः। संस्कृतकवीनां वर्णनकौशलं विलक्षणम् । संस्कृतसाहित्ये समुपलब्धं प्रकृतिवर्णनं हृदयमाह्लादयति । संस्कृतकविभिः कृतमादर्शप्रेमचित्रणं नितान्तं प्रेरणाप्रदम् । साहित्यस्य सर्वाः विधाः संस्कृतसाहित्ये साकारतां गताः संस्कृतसाहित्यरयसं पायं पायं काव्यरसिकाः ब्रह्मानन्दमनुभवन्ति । इत्थं समृद्धतमं खलु संस्कृतसाहित्यम्।

संस्कृतभाषाविषये पंक्तिरपि प्रसिद्धा-

''भाषासु मधुरा मुख्या दिव्या गीर्वाणभारती''

वस्तुतो यादृशी सरसता नान्यत, च कोमलकान्तपदावलिः संस्कृतकाव्ये लसति तादृशी नान्यत्र क्वचिदपि दृष्टिपथमायाति। गेयानि खलु संस्कृतपद्यानि । यदा संस्कृतश्लोकाः संस्कृतगीतिकाश्च मधुरकण्ठैः संगीस्वरलहरीषु गीयन्ते तदा अचेतना प्रकृतिरपि मुग्धा जायते । कालिदासस्य सूक्तिमाधुर्यविषये बाणभट्टस्य इयमुक्तिर्वस्तुतः रमणीय-

''निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रातिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ।।''

NOTES

सुरभारतीसरसतामनुभवन्तः सरविलियमजोन्स गेटे-विलसन प्रभृतयः पाश्चत्यविद्वांसः तु सर्वं परित्यज्य संस्कृतस्य समुपासकाः बभूवुः । विलसनमहाभागस्तु संस्कृतमाधुर्यम् अक्षिलक्ष्यीकृत्य इत्थमुवाच-

"अमृतं मधुरं सम्यक् संस्कृतं हि ततोऽधिकम् ।
देवभोग्यमिदं यस्माद् देवभाषेति कथ्यते ।।"

अतः संस्कृतभाषया एव व्यवहारः करणीयः।

इत्यलम् ।।

28. संस्कृतशिक्षणस्य उद्देश्यानि

संस्कृतभाषा परिष्कृता व्याकरणनियमपरिशुद्धा भाषाविज्ञाननिकषोपल- परीक्षिता च या भाषा सैव- "संस्कृतभाष"- इति नाम्ना ज्ञायते । सेयं संस्कृतभाषा उपमाद्यलंकारैनलंकृता माधुर्यादिगुणगरिमान्विता, शृंगारादिरसपरिप्लुता च सती विश्वप्राङ्गणे विराजतेतराम् ।

संस्कृतशिक्षणस्य उद्देश्ययविषये आदौ इदं वक्तव्यमस्ति यत् सर्वेषां जनानां एकानि समानानि वा प्रयोजनानि न सन्ति, फलतः संस्कृताध्यनेन यानि उदद्देश्यानि सिद् यन्ति, तानि सर्वेषां जनानाम् अभीष्टानि भवेयुः इदमावश्यकं नास्ति । इदमेव कारणं यत् इदानीन्तनाः जनाः प्रायः संस्कृताध्ययने रुचिं न दधते, यतो हि यानि संस्कृताध्ययनेन उद्देश्यानि सिद्ध्यन्ति तानि इदानीं तेषा जीवनस्य प्रयोजनानि एव न सन्ति।

कस्यपि भाषायाः अध्ययनस्य मुख्यतः उद्देश्यद्वये वर्तते-प्रथमं तु स्वयं भाषाध्ययनसाध्यं अपरं च तन्निबद्ध वाङ्मयाध्ययनसाध्यम इति । भाषायाः अध्ययन साध्यं प्रयोजम् अपि पुनः मुख्यतः द्विविधं भवति-एकं तु व्यावहारिकम्, अपरं च शास्त्रीयं सैद्धान्तिकं वा । भाषाध्ययनसाध्यं व्यावहारिकम् उद्देश्यं तद्भाषाभाषाभिः सह तस्यां भाषायां वार्तालापद्वारा परस्परं विचाराणाम् आदान-प्रदानम्, अथ च तैः सह विभिन्न व्यावहारिककार्यसम्पादनम् अस्ति । 'भाषाध्ययनसाध्यं शास्त्रीयं सैद्धान्ति वा उद्देश्यं तस्याः भाषायाः अन्याभिः भाषाभिः सह विभिन्न व्यावहारिकाकार्यसम्पानम् अस्ति । यत् तस्याः भाषायाः अन्याभिः भाषाभिः सह कः सम्बन्धः अस्ति, तया अन्यायः भाषाभ्यः कस्मिन् रूपे किं दत्तम् अन्याभ्यश्च तथा किं गृहीतम्, अथ च तद्भाषाभाषिणां जनानाम् अन्यभाषाभाषिभिः जनैःसह केः कीदृशः वा विभिन्नः धार्मिकः, सामाजिकः, आर्थिकः, राजनैतिकः, सांस्कृतिकः, ऐतिहासिकः, भोगोलिकः वा सम्बन्ध आसीत् अस्ति वा येन तदनुकूलं परस्परम् ऐक्यभावना सम्पद्यते । तद्भाषानिबृद्धवाङ्मयाध्ययनसाध्यं च प्रयोजनं तद्वाङ्मयप्रतिपादितविभिन्नविषयाणां ज्ञानं तद्द्वारा च विभिन्ना धर्मार्थकाममोक्षादीनां पुरुषार्थानां साधनम् अस्ति ।

अतः उक्तेषु उद्देश्येषु संस्कृताध्ययनेन कानि उद्देश्यानि सिद्धयन्ति, अत्र विषये इदं निःसंकोचरूपेण कथयितुं शक्यते यत् इदानीं संस्कृतभाषाध्ययनसाध्यं व्यावहारिकम् उद्देश्यं नगण्यं वर्तते । यतो हि इदानीं विश्वे स्वयं भारते वा कः अपि भूखण्डः, प्रान्तः, प्रदेशः वा एतादृशः नास्ति यद् वासिनां जनानां मातृभाषा व्यावहारिकीभाषा वा संस्कृतं स्यात्, येन तैः सह संस्कृतभाषायां वार्तालापद्वारा विचाराणाम् आदानप्रदानाय विभिन्नव्यावहारिककार्यसम्पादनाय च संस्कृतभाषाध्ययनम् अनिवार्यं स्यात् । सम्पूर्णे अपि विश्वे यत्र कुत्र अपि निवसन्तः ये जनाः संस्कृत। जानन्ति, तस्मिन् वार्तालापं च कर्तुं

शक्नुवन्ति, ते अन्यामपि काञ्चन प्रचलिततरां स्वकीयां परकीयां वा भाषां समीचीनतया जानन्ति । अतः तैः सह तस्यां सौविध्येन वार्तालापः कर्तुं शक्यते तद्द्वारा च विभिन्नव्यावहारिककार्याणि सम्पदादयितुं शक्यन्ते, यथा च इदानीं सम्पाद्यमानानि वर्तन्ते । अत्र विषये इदम् अन्या वार्ता वर्तते यत् विभिन्नेषु भूखण्डेषु प्रदेशेषु वा निवसतां जनानां विभिन्नाः भाषाः वर्तन्ते । येन व्यवहारे किञ्चित् काठिन्यं भवति, अतः यदि ते सर्वे अपि जनाः संस्कृत। जानीयुः चेत् तस्मिन् सौविध्येन व्यवहारं सम्पादयेयुः, किन्तु एकं तु इदम् असम्भवतम् अव्यावहारिकं च प्रतीयते ।

संस्कृतभाषाध्ययनसाध्यं व्यावहारिकं प्रयोजनं नगण्यमस्ति, तथापि तदध्ययनसाध्यं शास्त्रीयं सैद्धान्तिकं वा प्रयोजनं विपुलं वर्ते । संस्कृतभाषा विश्वस्य प्राचीनतमा प्राचीनतमासु भाषासु अन्यतमा वा भाषा विद्यते । अतः तस्याः विश्वस्य अन्याभिः भाषाभिः सह भाषावैज्ञानिकरीत्वा तुलनात्मकेन अध्ययनेन विपुलतया इदं ज्ञातुं शक्यते यत् तस्याः विश्वस्य अन्याभिः विभिन्नाभिः भाषाभिः सह कः सम्बन्धः वर्तते, तया अन्याभ्यः भाषायाः कस्मिन् रूपे किं दत्तम्, किं वा ताभ्यः गृहीतम् अथ च प्राचीनकाले वर्तमानानां संस्कृतभाषाषिणं पूर्वजानाम् इदानीं ये परस्परीभिन्नभाषाभाषिणः वंशधराः वर्तन्ते, तेषां परस्परं वस्तुतः के विभिन्नाः पूर्वोक्ताः धार्मिकादयः सम्बन्धाः सन्ति । एतादृशं ज्ञानं सम्पद्येत चेत् विश्वे साम्प्रतं या बंगादिषु विभिन्नेषु प्रदेशेषु निवसत्सु जनेषु, परस्परम् अनैक्यभावना वर्तते, सा अपि पूर्णरूपेण निरस्ता स्यात् । राजनैतिकरूपेण विभिन्नाः भूखण्डाः प्रदेशाः वा भारतात् तथैव पूर्वं पृथक् जाताः सन्ति, यथा च वर्तमानकाले एव कतिपयप्रदेशाः 'पाकिस्तान' रूपेण पृथक् जाताः सन्ति । एषु परस्परं भारतेन सह वा यत् वैमनस्यं वर्ते । तत् संस्कृतस्य अध्ययनेन सांस्कृतिकादिकम् ऐक्यम् अनुभूय सौकर्येण दूरीकर्तुं शक्यते ।

अनेन प्रकारेण संस्कृतभाषानिबद्धवाङ्मयस्य अध्ययनसाध्यं राष्ट्रीयम् उद्देश्यं विपुलमस्ति आदौ तु एतादृशम् उद्देश्यं संस्कृतनिबद्धस्य विपुलस्य वाङ्मयस्य संरक्षणमस्ति । कस्य अपि वाङ्मयस्य संरक्षणम् अध्ययनाध्यापनेन एव भवति । अध्ययनाध्यापनेन विना वाङ्मयं लुप्तं भवति, यथा संस्कृतस्य एव भूयः वाङ्मय लुप्त जातम् । यदि अध्ययनाध्यापनाभावात् अवशिष्टं प्राचीनं संस्कृतवाङमयं लुप्तं स्यात् तदा राष्ट्रगौरवं राष्ट्रैश्वर्यं च पूर्णतः नष्टं भवेत् । इदानीं तु भारतीयैः इदं घोषयितुं शक्यते घोष्यते च यत् तेषां वेदवाङमयं विश्वस्य उपलब्धं प्राचीनतमं वाङमयमस्ति, यदाधारेण च इदं वक्तुं शक्यते यत् तेषां संस्कृतिः सभ्यता च अतीव प्राचीना वर्तते । पूर्वकाले ते असंस्कृताः असभ्याः वा न आसन्, अपितु यदा संसारस्य बहूनां राष्ट्राणां जन्म अपि न जातं, जातेषु अपि सम्यक् विवेकः एव न उपत्पन्नः आसीत्, तदा भारतं ज्ञानविज्ञानयुक्तं सत् विराजते स्म । आवश्यकतानुसारेण समयानुसारेण च प्रयत्नपूर्वक परिष्करणं संवर्द्धन वा कृतं स्यात् चेत् तदा यथा तैः पूर्वकाले विश्वाय बहुदत्तं तथा इदानीमपि दातुं शक्यते, इदं कृत्वा च तैः प्राचीनकालात् समुपार्जिते राष्ट्रगौरवे काचन उल्लेखनीया वृद्धिः कर्तुं शक्यते ।

इत्थं भाषावैज्ञानिकरीत्या संस्कृतभाषायाः अन्याभिः विभिन्नाभिः भाषाभिः सह तुलनात्मकेन अध्ययनेन पूर्वोक्तं विविधं महोद्देश्यं ज्ञानं प्राप्तुं संस्कृतवाङ्मयसंरक्षणेन राष्ट्रगौरवं राष्ट्रैश्वर्यं च संरक्षितुं भारतस्य प्राचीनं पूर्वोक्तं धार्मिकादिकम्, इतिहासं ज्ञातुं तुलनात्मकं धर्मविज्ञानं च परिज्ञातुं संस्कृतवाङ्मये प्रतिपादितानां विभिन्नां वैज्ञानिकां विषयाणाम्, अन्येषां च विभिन्नानां विषयाणां ज्ञानेन विविधान् लाभान् सम्पादयतिुं अथ च सहैव प्रचीनां भारतीयां वैज्ञानिकीं तदितरां च बहुमुखीं प्रतिभां द्रष्टुं वैज्ञानिकेऽस्मिन् युगेऽपि संस्कृताध्ययनं परमावश्यकं वर्तते । सामान्यतश्च तु तत् उद्देश्यं वर्तते ।

NOTES

29. अहिंसा परमो धर्मः

अस्मिन् भारतवर्षे प्राचीनकालादेव अहिंसायाः महत्त्वं मन्यते । भगवान् बुद्धः भगवान् महावीरः, सम्राट् अशोकः अहिंसायाः शास्त्रेश्च उपदेशं ददौ । तेषामेव अनुयायी श्रीमान् महात्मागान्धीमहाभागः अपि स्वजीवने अहिंसायाः व्रतं स्वीकृतवान् । तस्य मतमासीत् यत् अहिंसया दुष्कराणि अपि कार्याणि सुकराणि भवन्ति ।

अहिंसा शब्दः नञ् पूर्वकात् हिंसनार्थकात् हिंस् धातोः निष्पद्यते । केषाञ्चिदपि प्राणिनां शरीरं मानसम् अपीडनम् अहिंसा कथ्यते । सत्यब्रह्मचर्यादीनां सर्वेषां सद्गुणानां मूलम् अहिंसा एव अस्ति । अहिंसा एव धर्ममार्गः सर्वोत्कृष्टगुणः मोक्षसोपानश्च वर्तते । परमात्मनोः श्रेष्ठं रूपमपि अहिंसैव । अर्थ किन्नाम अहिंसा कथं वा अस्याः स्वरूपम् इति विचारणीयो विषयः । प्रथमं तावद् हिंसायाः स्वरूपमधेयम् । यैः कार्यैः कस्यचिदपि प्राणिनः मनागपि कष्टं भवति तानि कार्याणि हिंसात्मकानि कथ्यन्ते । हिंसा त्रिविधा–मानसिकी हिंसा, वाचनिकी हिंसा, कार्मिकी हिंसा च । केवलं प्राणिनां वधमेव हिंसा न भवति अपितु मनसापि परापकृतिचिन्तनं वाचा अप्रियवाक्यप्रयोगश्च हिंसारूपेण गण्यते । अत एव उपरि कथिताभिः त्रिविधाहिंसाभिः आत्मानं निवर्तमनमेवाहिंसा भवति ।

अस्माकं देशस्य प्राचीनैः महर्षिभिः महापुरुषैश्च भूयो भूयोः विहितम्–

''अहिंसा परमो धर्मः''

भगवता श्रीकृष्णेन गीतायामुक्तं यद् दैवीसम्पत्समन्वितां पुरुषाणां के गुणाः वर्तन्ते इति–

अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुपत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।

भगवता श्रीकृष्णेन इत्थं महतां लक्षणेषु सर्वप्रथमम् अहिंसाया एव गणना कृता । महामानवेन मनुना मनुस्मृतौ यावन्तः गुणाः उत्तमोत्तमानां महापुरुषाणां निगदिताः तेषु अहिंसायाः एव प्राथम्यमस्ति । पश्यन्तु भवन्तः–

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुवर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ।।

ब्राह्मणादिचतुर्भिः वर्णैः उपर्युक्ताः धर्माः समाचरणीयाः । परम् अहिंसा तु अवश्यमेव सर्वेषां हितसाधनिका, श्रेयोवर्धिनी चास्ति महर्षिणा पतञ्जलिना स्वकीये योगदर्शने यमव्याख्यायमानेन अहिंसायाः प्राधान्यं निरूप्यते–

''अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।''

वैदिकधर्मे तु परवर्तिनि काले यज्ञप्राबल्यं जातम् । यज्ञेषु हिंसापि जाता । परन्तु वैदिक विद्वद्भिः पुरोहितैश्च 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इति उद्घोषितम् । परिणमतः तदानीन्तने समाजे ययेषु हिंसायाः प्राबल्यं वीक्ष्य भवगतः बुद्धस्य महावीरस्य च मनसि हिंसाभावनायाः विपरीतभावना समुत्पन्ना । तया प्रेरितौ तौ महात्मानौ हिंसाविरोधम् उररीकृत्वा अहिंसाप्रधानयोः धर्मयोः प्रचारप्रसारं कृतवन्तौ । तयोः हिंसायाः कृते सर्वश्रेष्ठत्वं दृश्यते । विंशत्यां शताब्दयां महात्मागान्धि महाभागः हिंसायाः विरोधे

अहिंसायाः उद्घोषं कृतवान् । आंग्लशासनत्रसितेऽस्मिन् देशे तस्माद् देशं मोचयितुं हिंसाविरुद्धमार्गम् अलम् । हिंसया तु स्वदेशवासिनामेव प्राणहानिः भविष्यति इति ।

अहिंसामेव आधारं मन्यमानाः अस्माकं देशस्य प्राक्तनाः साम्प्रतिकाश्च शासकाः कदापि कस्याचिदपि देशस्योपरि आक्रमणं न चक्रुः । अस्माकं देशस्य हानिकर्तृपाकचीनादिदेशोपरि अपि न किमप्याक्रमणं विहितम् । वस्तुतस्तु अस्माकं देशस्य संस्कृतौ एव हिंसायाः कृते न विद्यते किमपि स्थानम् । भारतस्य संस्कृतिस्तु अहिंसामूलास्ति । अत एवेयं सनातनापि अस्ति ।

वर्तमानयुगे पदे-पदे हिंसायाः साम्राज्यं दृश्यते । अस्मिन् भौतिकतायाः युगे भौतिकसुखमेव वास्तविकसुखरूपे प्रतिष्ठितं वर्तते । येन केन प्रकारेण जनाः सुखमन्वेष्टुं संलग्नाः दृश्यन्ते । सुखोत्पादकानां पदार्थानां संग्रहणमेव तेषां जीवनस्य मूलोद्देश्यम् । एतत् कृते सर्वविधपापाचरणमपि कर्तुं ते न संकुचन्ति नैव विभ्यन्ति । आधुनिकसमाजे सद्गुणानां लोपः दुर्गुणानां च प्रकोपः, धर्मस्य ह्रासः अधर्मस्य च विकासः, सदाचाराणां व्यजनं दुराचाराणां च विवर्धनम् अवलोक्यन्ते । जनाः स्वार्थसिद्धये प्रप्राणहरणमपि कर्तुं शक्नुवन्ति । केचित् जनास्तु प्राणिनां हिंसा स्वेषां मनोरञ्जनसाधनं मन्यन्ते । अधुना सर्वत्र युद्धविभीषिकाः जृम्भायते । विश्वशान्तिः चिन्तनीयाम् अवस्थां प्राप्त । अत एव वर्तमानसमये प्राचीनकालादपि अधिका दृश्यते अहिंसायाः उपयोगिता ।

अन्ते इदं कथनम् अत्युक्तिः नास्ति यद् अहिंसायाः महिमा अनन्याः । अहिंसया शत्रवोऽपि मित्राणि भवितुं शक्यन्ते । क्रूरजनाः अपि सरलहृदयाः भवन्ति । अहिंसापरायणजनाः सर्वत्र निर्भयं विचरन्ति सुखं प्रतिष्ठां च प्राप्नुवन्ति । अहिंसाबलेन असम्भवान्यपि कार्याणि सिद्ध्यन्ति । अधुना सर्वे राष्ट्राः अहिंसायाः महात्म्यं विचिन्तयन्तः विश्वशान्त्यर्थं प्रयतन्ते । इत्थम् अहिंसाव्यवहारः सर्वोत्कृष्टध र्मः अस्ति इति तु निर्विवादरूपेण स्वीकुरुते जनैः । उक्तञ्च केनचित् कविवरेण्येन-

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

अस्य कवेः मतेन धर्मसर्वस्वं तु अहिंसा एव विद्यते । सर्वेषां जनानां कृते हिंसा अवश्यमेव सेवनीया । अहिंसाभावेन सर्वं कार्यं सिद्धिमाप्नोति । अनया विना जीवनं दुःखोदर्कं भवति अशान्तिश्च उत्पद्यते । अतः सर्वेषां सुखाभिलषितानां जनानां कृते अहिंसायाः परिचर्या अवश्यमेव करणीया ।

वस्तुतः अहिंसा भगवती, हितकरी, सुख-शान्तिदायिनी चास्ति इयमेव सर्वा आपदः विनाशयति । भगवान् बुद्धः अहिंसया एव समस्तं जगत् स्ववशे चकार । महात्मागान्धी अहिंसा शस्त्रेण भारतीय स्वतन्त्रतां विजितवान् । श्रीमान् जवाहरलाल नेहरू-महाभागः श्रीमान् लालबहादुर शास्त्री महोदयः च अहिंसायाः सन्देशं दत्त्वा संसारे भारतस्य यशः प्रसारितवान् अतः सत्यमेव कथितम्-

"अहिंसा परमो धर्मः ।"

इत्यलम् ।

30. परोपकाराय सतां विभूतयः

परेषाम्, अन्येषां जनानाम् उपकारः कल्याणम् एव परोपकारः अस्ति । कस्यचित् पुरुषस्य, समाजस्य, देशस्य वा कल्याणाय यत् किञ्चद् अपि क्रियते तत् परोपकारः अस्ति । संसारे परोपकारस्य

महिमा सर्वत्र दृष्टिगोचरः जायते। न केवलं मनुष्या एव किन्तु अन्ये प्राणिनः अपि परोपकारे संलग्नाः विलोक्यन्ते ।

व्यासेन अष्टादशपुराणेषु इदमेव उक्तम्-

"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।"

परोपकारेण न केवलम् अन्येषामेव प्राणिनां लाभः किन्तु आनन्दः अपि सञ्जायते । परोपकारिणः अन्तःकरणे सन्तोषः जायते । परोपकारेणैव जनैः सर्वाः सम्पदः प्राप्यन्ते । यथोक्तम्-

"परोपकारव्यापारः पुरुषो यः प्रजायते ।
सम्पदं स समाप्नोति परत्राऽपि परं पदम् ।।"

न केवलं मानवेषु एव परोपकारभावना विद्यते अपितु अन्ये स्थावरजङ्गमप्राणिनः अपि परोपकारे संलग्नाः भवन्ति । प्रकृतिः परोपकारस्यैव शिक्षां ददाति । नद्यः स्वयमेव जलं न पिबन्ति, वृक्षाश्च स्वयमेव फलानि न खादन्ति, गावः स्वयमेव दुग्धं न पिबन्ति । किन्तु तासां जलं, तेषां फलानि, दुग्धं च परोपकाराय भवन्ति-

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय वहन्ति नद्यः ।
परोपकाराय दुहन्ति गावः परोकारार्थमिदं शरीरम् ।।

तथा च-

स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः, पिबन्ति नाम्भः स्वयमेव नद्यः ।
धाराधरो वर्षति नात्मेतोः, परोपकाराय सतां विभूतयः ।।

अपि च-

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-र्नवाम्बुभिभूरिविलिम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः, स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।।

अस्मिन् जगति अनेकविधाः मानवाः सन्ति । केचित् परोपकारिणः केचित् परोपतापिनः भवन्ति। परोपकारिणः सज्जनाः एव सर्वेषां प्राणिनां हिताया तडागकूपादीन् खानयन्ति, उद्यानानि आरोपयन्ति, धर्मशालां पाठशालां च निर्मापयन्ति । परोपकारिणां परोपकारेणैव ते प्रसन्नः भवन्ति । तेषां शोभा परोपकारेण भवन्ति न तु अन्येनापि केनापि वस्तुना ।

उक्तमपि-

"श्रोतं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ।।"

परोपकारीजनाः स्वशरीरस्यापि त्यांग कृत्वा पेरषां रक्षां कुर्वन्ति । ऋषिदधीचिः स्वस्य अस्थीनि दत्त्वा देवानां रक्षां कृतवान् । राजाशिविः स्वमासं दत्त्वा कपोतस्य रक्षां कृतवान् । रन्तिदेवः क्षुधार्तोऽपि

स्वभोजनं चाण्डालाय समर्पितवान् । दिलीप: परोपकारभावनया एव स्वशरीरं सिंहाय प्रदत्तवान् । एवमेव परोपकारी दिवङ्गतोऽपि यश: शरीरेण सदैव जीवति ।

भगवान् सूर्य: दिवसे प्रकाशं कृत्वा मनुष्यान् सत्कार्याणि कर्तुं प्रेरयति, तत्र तान् संलग्नान् च करोति । सर्वदा तान् जागरूकान् करोति । जगत: कल्याणाय आतपं दत्त्वा अन्नमुत्पादयति । चन्द्र: शीतलतां दत्त्वा सुखीकरोति । गंगा-यमुना-प्रभृतय: नद्य: जलदानेन समस्तं लोकं सुखिनं कुर्वन्ति । अस्माकं देशे बहव: परोपकारिण: जना सन्ति । परोपकारस्य महिमा अपार: अस्ति । स च सर्वै: कर्त्तव्य: एव । अत: सत्यं कथितं केनापि-

'परोपकार: कर्त्तव्य: प्राणैरपि धनैरपि ।
परोपकारणं पुण्यं न स्यात् क्रतुशतैरपि ।।''

इत्यलम्

31. आचार: परमोधर्म:

मनुष्यस्य जीवने धर्मस्य महत् महत्त्वं विद्यते । पुरुषस्य उत्कर्ष: अपकर्ष: वा धर्मेण एव जायते । रक्षित: धर्म: मनुष्यं रक्षति अरक्षितश्च धर्म: मानवं हन्ति अत एव मनु: कथयति –

''धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित:''

द्विविध: खलु: धर्म:-प्रवृत्ति लक्षण: निवृत्तिलक्षणश्च, उभयोरपि मूलं सदाचार: अस्ति, अत एव

''आचार: प्रभवो धर्म:'' इति शास्त्रै: कथितम् ।

सतां सज्जनानाम् आचार: सद्व्यवाहर: चरित्रं वा सदाचार: भवति । अस्यैव पर्याय: आचार: वृत्तं चरित्रं वास्ति । विष्णु पुराणे सदाचारस्य क्षणमिदं लिखितम् -

''साधव: क्षीणदोषाश्च सच्छब्द: साधुवाचक: ।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचार: स उच्यते ।।''

जीवने सदाचारस्य महिमा महत्त्वपूर्ण: ननु, सर्वविधं वैभवं, वित्तं च निरर्थकं यदि सदाचारधनं नास्ति, अत एव साधु उच्यते -

''अक्षीण: वित्तत: क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हत: ।।''

सदाचारादेव जीव: दीर्घमायु:, अक्षयं धनं च लभते सदाचारेण खलु मनुष्य: उन्नते: चरमशिखरं गच्छति, अत एव ऋषिभि: समस्तवर्णेभ्य: सदाचार: अनिवार्य: प्रतिपादित: । ''चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैतव शाश्वत:'' मानवस्य जीवने तपस: अपि महत्त्वं विद्यते । आचार एव एतादृशं धनं यत्र कदापि नाशमेति । वित्तवृत्तयो: वृत्तमेव श्रेयान् । अतो वृत्तं सर्वदा रक्षणीयम्-

''वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्तत: क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हत: ।।''

सर्वाणि ईप्सितानि वस्तूनि आचारेणैव लभ्यन्ते । यथा चोक्तं विष्णुस्मृतौ-

NOTES

"आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचाराद् धनमक्षय्यम् आचाराद् अन्त्यलक्षणम् ।।

सदाचारेणैव अभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः संभवा। सदाचारिणाः सदा प्रसन्नाः निर्भया निर्द्वन्द्वाश्च विचरन्ति। सदाचारसम्पन्नाः नराः इह लोके प्रतिष्ठां, परलोके च स्वर्गं लभन्ते । धर्मं लक्षयता मनुना सदाचारः "साक्षाद् धर्मः" कथितः-

"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।।"

वस्तुतः धर्मस्य व्यावहारिकं लोकप्रियं नितान्तं च सार्थकं स्वरूपं सदाचार एव । य एव सदाचारी स एव परमधार्मिकः । रामस्य जीवनम् आचारस्य मूर्तरूपमासत् । अत एव - "रामो विग्रहवान् ध र्मः" इत्युक्त्वा स प्रशंसितः । आचार एव तपसः मूलम् । उक्तं मनुना-'

"सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ।।"

आचारस्य मूलं श्रुतिषु स्मृतिषु च सन्निहितम् । श्रुतिस्मृति प्रतिपादित आचार एव च परमो धर्मः । अतः सर्वथा सार्थकमिदं मनु वचनम्-

"आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ।।"

सदाचारी सदा स्वास्थ्यं, सौन्दर्यं, तेजस्तिां, दर्शनीयतां च प्राप्नोति । महाभारते उक्तम्-

"निरोगः कान्तिसम्पन्नः सर्वदुःखविवर्जितः ।
सदाचारी भवेल्लोके दर्शनीयस्तु सर्वदा ।।"

सदाचारव्रतंपालनेनैव रामकृष्णबुद्धदयानान्दगांधिप्रभृतीनां महापुरुषाणां सीतासावित्रीपदिम्नी प्रभृतीनां व वीरवनितां यशोगानमद्यावधि सर्वैः क्रियते ।

नीतिशतकस्येदं सुभाषितमतीव शोभनम् । वस्तुतः केयूरहार चन्दनादयो न भूषयन्ति मानवान्, अपितु तेषां शीलमेव तान् अलंकरोति । स्वमधुरया वाचा, मदुव्यवहारेण दया दाक्षिण्यादिगुणगौरवेण च नरस्त्रिभुवनमपि वशीकरोति । शीलस्य माहात्म्यं गायता भगवता व्यासेन भणितम्-

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः ।
न हि किंचिदसाध्यं वै लौके शीलवतां भवेत् ।।

शीलेनैव मानवव्यक्तित्वं विकसति । सर्वेषां गुणानां समावेशोऽपि शीले एव समवलोक्यते ।

सर्वशास्त्रेषु आचारवन्त एव प्रशंसितः, आचारहीनाश्च भृशं निन्दिताः । वेदवेदाङ्गनिष्णातोऽपि यो जनः आचारहीनतस्तस्य कल्याणं कदापि न संभवम् । अतः सुष्ठूक्तम्-

"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः ।"

वेदशास्त्रपारङ्गतोऽपि रावणः आचारभृष्टो बभूव, अत एव स राक्षसत्वं प्राप सर्वत्र च निन्दनीयतां जगाम । अद्यापि विजयदशम्याम् अवसरे रावणः प्रतिवर्षं दह्यते । मर्यादापुरुषोत्तमो रामश्च सर्वैः

सर्वत्र पूज्यते । आचारस्यैव एषा महिमा । वेदाध्ययनफलमपि वेदानुसारमाचरणेनैव प्राप्यते । आचाराद् भ्रष्टो विप्रोऽपि वेद फलं न प्राप्नोति । यथोक्तं मनुना–

"आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ।।"

अतो वेदविद्याफलभोगाय, यशोलाभा, स्वर्गादिसुखप्राप्तये च सदाचारव्रतपालनं विधेयम् ।

इत्यलम् ।

32. विद्यार्थीजीवनम्

वर्तमानाधुनिकयुगे विद्यार्थीजीवनविषये सर्वैः विचारणीयमस्ति । पूर्वं तु विद्यार्थी अर्थात् ये विद्यानाम् अर्थिनः सन्ति ते एव विद्यार्थिनः उच्चयन्ते । येषां मनसि सर्वदा विद्यार्जनस्य वैक्लव्यं दरीदृश्यते तदनुरूपञ्च प्रयत्नमपि, ते जनाः आदर्शभूतविद्यार्थिनः भवन्ति । विद्यार्जनाय महत्कष्टमपि तृणाय मन्यन्ते तस्मिन्नेव कार्ये चैव आनन्दः अनुभूयन्ते । भोजनपानमनोरञ्जनादिकार्याणि परित्यज्य ईदृशाः जनाः दैहिकविकासं प्रति न चिन्तां कुर्वन्ति । तेषां जीवनं तु ज्ञानस्य सञ्चयवितरणरूपे कार्ये एव समाप्तं भवति ।

उक्तमपि–

"विद्यार्थित्वं मया स्तुत्यं जीवनं क्लेशनाशनम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं ज्ञानदायकम् ।।"

प्राचीनसमये महर्षिभिः सम्पूर्णं मानजीवनं चतुर्षु भागेषु विभाजनं कृतम् । जीनं शतवर्षातमकं स्वकृत्य प्रथमं पञ्चविंशतिवर्षात्मकं जीवनकालः ब्रह्मचर्यः कथ्यते । ब्रह्मचर्यसमयः एव विद्यायाः अध्ययनस्य सर्वोत्तमः समयाः । बालकाः अस्यां वेलायां स्वगेभ्यः गुरुगृहं ऋषिकुलं विद्याध्ययनाय सद्गुणार्जनाय च जग्मुः । ऋषिकुलाः कस्मिंश्चिद् वने एव निर्मिताः आसन् । तेषु सदाचारिणः गुरवः निस्वार्थभावनया स्वान् शिष्यान् अपाठयन् । शिष्याः अपि गुरूणाम् आदेशानां सर्वदा सर्वथा पालनं चक्रुः । अस्मिन् काले वेदवेदाङ्गानाम् अध्ययनम् अभ्यासं च करणयम् इति महर्षिभिः विहितम् । विद्यार्थिनां कृते भोजनादि व्यवस्थापित गुरुभिः एव अभवत् । छात्राणां कृते स्वाध्यायस्य अतिरक्तं न किमपि कर्तुं विहितम् । तेषामुपरि किमपि चिन्ताभारं नासीत् । इदमेव कारणमस्ति यद् आदर्शभूतछात्रस्य महर्षिभिः पञ्चलक्षणानि प्रतिपादितानि–

"काकचेष्टा बकोध्यानं श्वाननिन्द्रा तथैव च ।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पञ्चलक्षणम् ।।"

सर्वेषां बालकानां कृते आदर्शछात्ररूपे प्रतिष्ठां प्राप्तुम् उपरिलिखितानि पञ्चलक्षणानि अवश्यमेव सेवितव्यानि । यथा काकस्य चेष्टा भवति यत् कुत्र भोजनं प्राप्तुं शक्नोति, कुत्र कथं च सुरक्षा प्राप्स्यति तथैव विद्यार्थिभिः सर्वदा करणीयं प्रयतनीयं च । यथा बकस्य ध्यानं सर्वदा स्वलक्ष्यरूपमकरादिषु जन्तुषु केन्द्रितमस्ति तथैव विद्यार्थिनोऽपि निजोद्देश्यरूपां विद्याम् अधिगन्तु प्रयन्तं कुर्युः । श्वाननिद्रावद् विद्यार्थिजनैः अल्पकालावधिं यावत् शयनं करणीयम् । अल्पाहार तु पठनाय अत्यावश्यकम् । यो

NOTES

जनः बहुंभोजनभक्षी अस्ति तेन रात्रौ पठनाय जागरणं न भवितुं शक्नोति । गृहस्य त्यागमपि विद्यार्थिनां कृते अत्यावश्यकं विद्यते । यतो हि तावत् पर्यन्तं सम्यक् शिक्षाग्रहणं कर्तुं न शक्नोति छात्रः यावत् गृहात् दूरे न भवति । विद्या तु बहिरेव भवितुं शक्नोति । शान्तवातावरणमावश्यकम् परन्तु वर्तमानसमयस्य विद्यार्थिनः पूर्णरूपेण गृहत्यागं कर्तुं न शक्नुवन्ति । परं उपरि निर्दिष्टानि अन्यानि चत्वारि लक्षणानि पालयितुं समर्थाः तु भवितुं शक्नुबन्ति । उक्तानि सर्वाणि लक्षणानि तु तेषाम् एकान्तविद्यार्जनप्रवर्तकानि एव सन्ति ।

अस्माकं प्राचीनैः ग्रन्थैः इदं प्रतिपादितं यद् "अध्ययनं परमं तपः ।" वस्तुतः विद्यार्जनं कठिनतमं तपः वर्तते । विद्यार्थिजीवने अनेकाः मानसिकार्थिकपारिवारिकसमस्याः आपतन्ति याभिः समस्याभिः पराजयं स्वीकृत्य विद्यार्थिनः स्वमार्गाद् भ्रष्टाः भवन्ति । दुःखरूपे जीवने व्यकतेः धैर्यस्य परीक्षा भवति । ये जनाः धैर्यवन्तः सन्ति ते एव स्वजीवने परीक्षायां निश्चित रूपेण सफलतायाः पात्राणि भवन्ति । अत एव विद्यार्थिनां कृतेऽपि विद्याऽध्ययनाय धैर्यस्य महती आवश्यकता वर्तते ।

विद्यार्थिजीवनं तु मानवजीनस्य निर्माणाय मानवेभ्यः अवसरं प्रददाति । अस्मिन्नेव काले सर्वविधानां मानसिकबौद्धिकशक्तीनां विकासाय अस्मिन् जीवने पर्याप्तम् अवसरं भवति । बालकानां निर्मलनिर्दोषबुद्धौ यत् किञ्चिदपि प्राप्यते तत् सर्वं दृढीभूय तदनुरूपं संस्कारमपि निर्मिमीते, येन संस्कारेण मानवाः जीवनपर्यन्तम् आचरन्ति । यैः जनः आयं स्वर्णिमकालः अध्ययनादितरेषु कार्येषु व्यतीतः कृतः तेषां जीवनं तु पश्चात्तापयुक्तं भवति । यैः च अध्ययने इव ईदृग्विधस्यकालस्य सदुपयोगः कृतः तेषां सम्पूर्णम् अवशिष्टं जीवनं सुखसमृद्धिसम्पन्नं चिन्तारहितं च भवति ।

विद्या द्विविधा लौकिकी पारलौकिकी च । लौकिकीविद्यायाः अध्ययनप्रभावेण मानवाः भौतिकसुखसमृद्ध्यर्थं निरन्तरं प्रयतन्ते परन्तु लौकिकसुखमेव केवलं मानवस्य मनसि शान्तिं प्रददातुं न शक्यते । द्वितीया विद्या तु पारलौकिकम् आध्यात्मिकं सुखं दातुं समर्थास्ति । आध्यात्मिकं सुखमेव वास्तविकं सुखं मन्यते विद्वद्भिः । परं

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।"

इति उक्त्यनुसारमेव शरीरपोषणायपि किञ्चित् कार्यम् अवश्यमेव करणीयम्, अतः साम्प्रतिके युगे काचिद् अर्थकरीविद्यायाः अध्ययनं विद्यार्थिभिः अवश्यं करणीयम् ।

अध्ययनकाले अध्येतृभिः स्वचरित्रनिर्माणाय अपि प्रयतनीयम् । सच्चरित्रयुक्ताः विद्यार्थिनः एव भाविनिकाले सर्वकारस्य व्यावस्थायाम् उच्चपदं प्राप्नुवन्ति । विद्याध्ययनस्य केवलम् इदमेव प्रयोजनम्, यत् येन-केन प्रकारेण अर्थोपार्जनं भवेद् अपितु चारित्रिकबलं विकासायापि निरन्तरं प्रयत्नीयम् । अस्य कृते तामसगुणसम्पन्नः आहारः परिहर्तव्यः। जीवने सरलताविचारे औदार्यचिन्तने सामञ्जस्यं च अवश्यमेव जनयतिव्यम् । इन्द्रियनिग्रहस्यापि विद्यार्थीजीवने महत्त्पूर्णं स्थानं विद्यते । अनुशासनमपि पालयितव्यं विद्यार्थिभिः बुद्धिविकासेन सह शारीरिकविकासोऽपि विधेयः । प्रातः प्रतिदिनं शयनं त्यक्त्वा दैनिकक्रियाकरणानन्तरं व्यायामोऽपि अवश्यकरणीयः । खेलनमपि विद्यार्थिनां मानसिकशक्तिविकासे महत्त्वपूर्णं भूमिकां निर्वाहयति । अतः विद्यार्थिभिः सायंकाले क्रीडाक्षेत्रे एकत्रीभूय स्वस्वरूचि अनुकूलम् क्रीडनं आवश्यकम्।

अस्मिन् भौतिकवादिनि युगे विद्यार्थिनः अध्ययनं प्रति विशेषाभिरुचिं न प्रदर्शयन्ति । सर्वासु दिक्षु 'नकल' इत्यस्य प्रचारो दृश्यते । विद्यार्थिनः स्वकार्यं परित्यज्य इतस्ततः भ्रमन्तः दृश्यन्ते । परिणामतः ते जीवने किञ्चिदपि कार्यं कर्तुं न समर्थाः भवन्ति । अद्यतनाः युवकाः एव भाविनि काले देशस्य कर्णधाराः भविष्यन्ति । यस्य देशस्य युवकानाम् ईदृशी शोचनीया दशा वर्तते किं भविष्यति तस्य देशस्य । अतः विद्यार्थिभिः अवश्यमेव दत्तचित्तयुक्ताः भूत्वा अध्ययने संलग्नं भवितव्यम् । इति अलम् ।

33. वीरभौग्या वसुन्धरा

भारतदेशस्य भूमिः वीराणां भूमिः वर्तते । स्वर्णपुष्पितां रत्नगर्भां, शस्यश्यामलां, गंगा-यमुना-गोदावरी-सरस्वती- नर्मदा-सिन्धु-कावेरीणां वारिभिः प्रक्षालित-भूभागाम्, अयोध्या-मथुरा-माया-काशी-काञ्च्यवन्तिकाभिः नगरीभिरुपशोभिताम्, विन्ध्य-हिमालय-मलय-महेन्द्र-सह्याद्रिभिः दृढमूलाम्, स्वर्गापवर्गगच्छतां कर्मभूमिमामिलां शूरः कृतविद्यः सेवाकर्मविदग्धः उपभुंक्ते । एतेषु त्रिषु अपि उपभोक्तृषु शूरवीरस्यैव प्रथमं स्थानम् । वस्तुतः वीरः उत्साहिनः, अतिभूमिं गतस्येद्यिभिन्न एव नामान्तरम् । प्रकर्षं गतः उत्साहसम्पन्नः एव वीरो भवति । वीरो नूनं पीडितानां, दुखिनाम्, आर्तानां, दलितानां, दुर्गतानां, कृते आत्मानं संशये निपातयति । वीरः कदाचिदपि भयात् कामाद् वा कार्यं न सम्पदादयति, स न्यायस्य मार्गं परिचिनोति, असौ सत्यं सदा समाश्रयते । भयान्न वेपते । सः स्फार-स्फुरित-तेजसा सूर्य इव समस्तमिलातलं पदाक्रान्तं करोति । रिपुखङ्गग्राधारापांत सहिष्णुर्भवति । अनन्तोद्भूतभूतौघसंकुले भूतलेऽस्मिन् शास्त्रस्य सञ्चालने चतुराः त्रि चतुराः वीराः क्षमाः । वीरः लोकोत्तरं चरितमर्पयति । नूनं विजयश्रीः व्युत्पन्नः प्रौढवनिते वा यत करवाल कररुह विदीर्ण वीराणां भुजयोरन्तरालं स्पृह्यति । नूनं वीरः वह्निं शमयितुम्, हिमं ज्वलयितुम्, वातं निरोद्धुम्, रवं मूर्तविधातुं पर्वतान् नतिं नेतुं, महीमुन्नमयितुम्, सिन्धुं स्थलयितुं समर्थः ।

कथितञ्च-

''को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशस्तथा ।
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहु प्रतापार्जितम् ।।
''भुजे विशाले विमलेऽसिपत्रे कोऽन्यस्य तेजस्विकथां सहेत ।
गतासुरप्याहव सीम्निवीरः द्विवा विद्यते रविमण्डलं यः ।।''

यद्यपि प्राधान्येन वीरशब्दः युद्धक्षेत्रे शस्त्रास्त्रसञ्चालनप्रवीणे, स्वप्रतिपक्षजन्मनां हनने, अरीणां विजये एव प्रयुज्यते तथाप्युत्साहः स्थायिभावकः वीरः दया-दान-धर्म-युद्ध वीरभेदेन चतुर्विधः सम्पद्यते, यथा दयावीरः, दानवीरः धर्मवीरः, युद्धवीरश्चेति वस्तुतः चतुर्विधेष्वपि वीरभेदेषु उत्साहः एव प्राधानयेनदृश्यते । तथाहि-शङ्खचूडस्यजीवनरक्षायै स्वप्राणान् विनतानन्दनायार्पयन् जीमूतवाहनः दयावीरः यथा-

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तं, अद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत्, किं भक्षणात्त्वं विरतो गुरुत्मन् ।।

अत्र जीमूतवाहनस्य दयासमुत्साहः स्थायिभावः, शंखचूडः आलम्बनविभावः मातुः कातरोक्तिरुद्दीपनविभावः, एतदुक्तिरनुभावः धृत्यादयाः सञ्चारिभावः इमे समुदिताः ज्ञान सम्बन्धेन सभ्येषु वर्तमानाः दयावीरत्वेन प्रतिभासन्ते ।

दानवीरो यथा परशुरामः–

त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही निर्याज दानावधिः, इत्यत्र परशुरामस्य त्यागे उत्साहः स्थायीभावः दानपात्राणि ब्राह्मणाः आलम्बनविभावः सत्वाध्यवसायादयश्चोद्दीपनविभावाः, सर्वस्वत्यागादर्योनुभावाः धृत्यादयः सञ्चारिभावः, एतैः सर्वैः षष्टिनीतः दानवीरतां भजते । पृथिव्यां यावन्तः नृपाः समाजयन्तः, यैः च एषासमुपभुक्ता नूनं ते वीरशब्दभाजः, यतो हि वीरभोग्या वसुन्धरा, आसृष्टेरद्यावधेरितिहासः साक्षी यत्पुरा वैदिककाले वसुन्धरायै देवासुरसंग्रामाः वर्षसहस्रं समाजयन्त । येषु संग्रामेषु देवासुरयोः परस्परं मुष्टामुष्टि, दण्डादण्डि, केशाकेशि, शस्त्राशस्त्रि, अस्त्रास्त्रि पदातिनां पदातिभिः, अश्वारोहिणामश्वारोहैः महज्जन्यमजनि । तस्मिन् युगे राज्य सत्तामधिगन्तुमेव राजसूययज्ञानां विधानमजायत। राजसूयातुपूर्वं दिग्विजयमावश्यकमासीत् । दिग्विजयं सम्पाद्यमान एव कश्चित्सम्राड्भवितुमर्हति स्म । दिग्विजयायैव प्रथममश्वमेघः क्रियते स्म ।

महाभारते कौरव पाण्डवयोः परस्परं प्रवर्तमानं युद्धं "**सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव**" इति कौरवाणामुक्तिः वीरभोग्या वसन्धुरायस्य परिचायिका ।

"हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन तत्र पार्थेन संयुगे ।
अक्षौहिणी सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ।।
लोहितायति चादित्ये त्वरमाणो धनञ्जयः ।
पञ्चविंशतिः सहस्रन्निजघान महारथान् ।।
रथेभ्यो गजवाजिभ्यः संग्रामे वीरमानिनः ।
पतिताः पात्यमाश्नाच दृश्यन्तेऽर्जुनताडिताः ।।"

ननु एतान् जनसंघातः कस्माद् भवति, किमर्थञ्च क्रियते इति यदा चिन्तयामः, तदा यस्यैकमात्रमुत्तरं केवलं राज्याधिगतिः, इत्येवास्ति । के च कुर्वन्ति अस्योत्तरं वीराः कुर्वन्ति, फलितार्थश्च वीरभोग्या वसुन्धरेति सुस्थितम् ।

अन्यच्च–को न जानाति वीरवरोपाख्यानम्, यः स्व द्वात्रिंशत् क्षणोपेतं प्रियं पुत्रं भार्याम् आत्मानञ्चापि स्वस्वामिने शूद्रकाय, तस्य राज्यरक्षायै भगवत्यै सर्वमंगलायै आहुतीकृत्य पुनः शूद्रकानुभावतया भगवत्याः सर्व-मंगलायाः प्रसादेन पुत्रदारः लब्धजीवनः राज्ञा शूद्रकेण प्रदत्तं राज्यं यौवराज्यपदञ्चालभत । एतत्सर्वं वीरवरस्य वीरतायाः एव फलम्, तस्मात्साधूच्यते–

"वीरभोग्या वसुन्धरा" इति

।। इत्यलम् ।।

34. सहसा विदधीत न क्रियाम्

"सहसा विदधत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलब्धाः स्वमेव सम्पदः ।।"

अयं श्लोकः महाकविना भारविना किरातार्जुनीये महाकाव्ये लिखितः । श्लोके "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्" अयं सूक्तिः प्रसिद्धा । यद्यपि अस्य महाकाव्ये अन्याश्च अनेकाः सूक्तयः विद्यन्ते परञ्च अस्याः सूक्त्याः महत्त्वम् अत्यधिकं विद्यते । प्रथमं तु श्लोके पठितानां कतिपयशब्दानां तात्पर्यस्य स्पष्टीकरणम् आवश्यकम् अस्ति । को नाम विवेकः ? कश्च अविवेकः ? विवेकस्य मानजीवने कीदृशी उपयोगिता इत्यादीनां प्रश्नानां समाधनमपि आवश्यकं दृश्यते । भारतीयमनीषानुसारणे पुण्यापुण्ययोः, सदसतोः, कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः श्रेयप्रेययोः चापि येन साधनेन विधिवद् विवेचनं भवति तदेव विवेकः उच्यते । एतद् अतिरक्तम् अविवेकशब्दवाच्यः । विवेकः एव न संसारे ज्ञानरूपेण बुद्धिरूपेण च व्यवह्रियते । अस्मिन् प्राणिजगति ये केचन जीवनधारिणः सन्ति । जीवने हि सुखं सर्वेषाम् अभीष्टं वर्तते । सर्वे प्राणिनः सुखमेव अभिलषन्ति । सुखप्राप्त्यर्थं यानि साधनानि इह जगति विद्यन्ते तेषु साधनेषु विवेकः अन्यतमः । विवेकपूर्वाकृतिरेवश्रियं प्राप्नोति । विवेकः एव सुखस्य मूलम्, उन्नतेः साधनं, गुणानाम् आगारं, श्रियः आश्रयः च अस्ति । ये जनाः विवकेपूर्वकं किमपि कार्यं कुर्वन्ति तेषां कृते नास्ति कष्टावसरः ।

ये जनाः विपश्चिताः विद्वांसः वा वर्तन्ते ते अवश्यमेव किमपि कार्यम् अविवेकपूर्वकं न कुर्वन्ति । अविवेकः तु आपत्तीनां जनकः कर्तुं पदे-पदे वस्तुस्थितिं सम्यग् विचार्य शान्तेन अन्तःकरणेन कर्त्तव्यस्य अकर्त्तव्यस्य च कर्मणः गुरुलाघवं विमृश्य तथैव कार्यं कुर्वन्ति । परिणामतः ईदृशाः जनाः कदाचिदपि दुःखभागः न भवन्ति । यतो हि यत्कर्म सुविचार्य क्रियते तद् निश्चप्रचं सफलत्वमेव आदधाति । अतः हितोपदेशकर्तृणा उक्तम्-

"सूचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतम् ।
सुदीर्घकालेऽपि नयाति विक्रियाम् ।।"

विवेकशीलाः विवेकसम्पन्नाः वा जनाः कस्मिञ्चिदपि कर्मणि तस्य कर्मणः समुचितविचारं न कृत्वा न प्रवर्तन्ते । अस्मिन् जगति ये राजानः स्वकीयानां शासनेषु सफलतां वाञ्छति, ते सर्वाणि राज्यकार्याणि सुविचार्य एव कुर्वन्ति । किं कार्यम् ? किञ्च अकार्यम् इति सम्यग् विमृश्य कर्त्तव्यं कर्म निश्चिन्वन्ति । यदि ते कस्यापि कार्यस्य विचार्य एव निश्चीयते तर्हि तत्फलमेव दुःखावहं भवति । कोशकारेः सहसा शब्दस्य प्रयोगः अविचारिते अर्थे कृतः । यानि कार्याणि अविचारितानि कृतानि सन्ति तानि तु चेतांसि शल्यतुल्यमाघातं ददति । अतः महाकविना भर्तृहरिणा उक्तम्-

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ।।

पुरा नीतिविशारदेन नीतिप्रमुखेन वा चाणक्येन विवेकपूर्वकमेव कर्म कृतम् । विवेकपूर्णकार्यकरणात् स्वकीयं राज्यं स्थापितवान् । इत्यस्मिन् विषये करणीयानि कर्त्तव्यानि निर्दिष्टानि । यदि कोऽपि मानवः स्वकीये जीवने कार्यक्षेत्रे वा कालस्य, मित्रस्य, देशस्य धनागमोपायस्य, स्वस्य हितैषिणस्य, आत्मनः शक्त्याश्च सुष्ठुरूपेण विवेचनं कृत्वा कार्ये संलग्नः भवति तर्हि तस्य जीवने कदापि विपत्तिः कथमपि न आगन्तुं शक्नोति । अतः पश्यन्तु भवन्तः चाणक्योक्तः निम्नांकितः श्लोकः—

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ ।
कस्याहं का च मे शक्तिः इति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ।।

मानवः यौवनधनादिमदगर्वितः भूत्वा यदा पूर्वापरविचारान् परित्यज्य कार्याणि करोति तदा सः विपत्तिभाजनं भवति । अतः सर्वेषां कृते इदम् अत्यावश्यकं यद् अविचारितं किमपि कार्यं कदापि न करणीयम् ।

इत्यलम् ।

35. वसन्तवर्णनम्

भारतवर्षे एकस्मिन् वर्षे षड्ऋतवः भवन्ति । यथा- ग्रीष्मः, वर्षा, हेमन्तः, शरदः, शिशिरः वसन्तश्च । अस्माकं देशे यथासमयं जनानां मनोमोदाय ऋतुमती नववधुरिव नवचेतनां प्रदातुं प्रकृतिनटी ऋतुरूपेण समायाति । तत्र वसन्तः ऋतुराजो वर्तते अतीव मनोहरः । तत्र चैत्रवैशाखौ वसन्तः, जयेष्ठाषाढौ ग्रीष्मः, श्रावणभाद्रौ वर्षाः, अश्विनकार्तिकौ शरद्, मार्गशीर्षपोषौ हेमन्तः, माघफाल्गुनौ शिशिरः । वसन्ते ऋतौ प्रातः सायं मन्दः सुगन्धश्च वाति वायुः । दिवसाः परम-रमणीयाः नात्युष्णाः नातिशीताः भवन्ति । न चण्डां तपति मार्तण्डः, वार-विलासिनीव नवां नवां शुभां च शोभां विभर्ति वनस्थली, परिभ्रमणपथ्याः सन्ति प्रदोषाः, रमणीयाः सन्ति चन्द्रिका सनाथाः चैत्रक्षपाः । प्रतिक्षणं प्रत्यभिनवतां समुपैति प्रकृतिशोभा । तरूणां शाखासु नवाः पल्लवाः उद्भवन्ति पुष्पाणि च विकसन्ति । सर्वेऽपि खगाः मृगाः जनाः लताः वृक्षाश्चापि प्रसन्नाः मत्ताः च जायन्ते अस्मिन् वसन्तऋतौ ।

उक्तमपि-

''लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन, समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।
मरुमन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्, रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ।।

वसन्ते भ्रमणं स्वास्थ्याय लाभदायकं भवति । अत एव आयुर्वेदशास्त्रे कथितम्-

''वसन्ते भ्रमणं पथ्यम् ।''

अस्मिन् वसन्तसमये पिककुञ्जमञ्जुसंगीतपञ्चमस्वराञ्चित गीतरम्यः गङ्गातरङ्गकणसङ्गसुशीतवातः, जनमनः सिन्धुक्षणायेव प्रवर्तयन् सरसकिसलयलतालास्योपदेशदक्षं दक्षिणानिलम्, आलोलरक्तपल्लवप्रलम्भान् अशोकवृक्षान् कम्पयन् उत्कोरकयन् वकुलैः सह तिलक-चम्पकनीपान्, वाञ्छित मुकुलमञ्जरी भरेण नमयन् बालसहकारपादपान्, अपातीयन् अर्जुनवृक्षान्, विकरन् माधवीलता मोदम्, उत्कटयन् किंशुकवनानि, निरङ्कुशयन् कामिजनमनांसि निर्मूलयन् मानवतीनां मानम्, अपनयन् ललनानां लज्जाम्, परिहरन् प्रणिपातमर्यादाम्, समुल्लासयन् कामस्य ध्वजानिव किं शुकान्, जनयन् सकलमेव भूमण्डलं स्वर्णमिव रागमयमिव मदनमयमिव, प्रेमयमिव, उन्मादमयमिव जीवलोकं किसलयन् सकलकान्तार-काननम्, आमोदयन् उपवनतरून् उत्फुल्लयन् सहकारद्रुमान् आमोदयन् सम्पूर्णसंसारं प्रावर्तत् सुरभि मधुमासः ।

अस्मिन् वसन्तऋतो विचित्रमख्यरामणीयकम्, नभः प्रसन्नम्, सलिलं प्रसन्नम्, निशाः प्रसन्नाः, उडुरम्याः यामिन्यः, वसन्तस्य प्रसादलक्ष्म्याः वस्तुप्रतिभाति । एकत्र निम्वतमालताली लसति, अपरत्र जाम्बीर-जम्बुसहकारसुदाडिमम्मी विलसति । अन्यत्र चन्दनकदम्बकदम्बकं विभाति । अपरत्र शोभते नवैः किसलयैः आम्रवनम् । लताः फुल्लन्ति सुरभयति दिशामन्तरालं सहकारमञ्जीराणां सुगन्धः । प्रमोदन्ते बकुलानां पंक्तयः । सौरभाणां सार्धं फुल्लन्ति चम्पकताः । मादयति मधुमल्लिका दिशामन्तराणि

। विस्मरति आत्मानं पुष्पपरागागमरागोन्मत्तो निर्गन्धोऽपि पलाशः । सुरभिताः कुर्वन्ति पाटलवनानि दिकचक्रम । विलसति सहकारवनं फलसम्पदाभिः । विनम्राः सन्ति फलभरेण दाडिमानां द्रुमालिः। मदयति माध्विकसौरभेण जनानां मनांसि मधूकवनम् ।

NOTES

सर्वं मधुरमिव भाति मधो मासे । एकत्र विपुलाः विहंगाः विविधाः अलिनिकुरम्बाः मञ्जुगुञ्जन्ति । क्वचित् शुकसारिकाः अनिशं कलरवं कुर्वन्ति । क्वचिच्च सहकारवृक्षे रम्यां कलिकामास्वाद्य मधुकुरस्वरेण कोकिलानां गणाः गायन्ति । नृत्यन्ति मयूर्यः, उपवीणयति प्रपीव पुष्परसमदिरं मधुकरीणां कुलम् । आलयतीव षड्जेन स्वरेण सारिकाणां संघष्ठः गायन्ति पञ्चमस्वरेण सताल लयं संगीत कोविदानि पुंस कोकिलानां कुलानि । आवाति मन्दः सुगन्धः शीतलश्च पवनः अन्यत्र कपिवृन्दैः, विदलितानि दाडिमानां फलानि, मनोहराणि नारङ्गकाणि, रूचिराणि, रम्भा दलानि विलसिन्त ।

वसन्तऋतौ निशायां वियति शशकलङ्कः यामिनीकामिनीन्द्रः, नयनकुमुदजालं मोदयन् मोददायी तारकेशः सचिवतारकैः वृत्तः नृपः इव विमलकिरणदीप्तिराजीभिः राजते ।

वसन्तऋतौ चन्द्रज्योत्सनया नूनम्–

''मदनमिति युवानं यौवराज्यऽभिसिञ्चन, कृत् कुमुदविकासो भासयन् दिङ्मुखानि ।
इमममृततरङ्गैः प्लावयन् जीवलोकम्, गगनमवजगाहे मन्द मन्दं मृगाङ्कः ।।

निश्चितरूपेण प्राकृतिकसौन्दर्येण सर्वेषु ऋतुषु प्रथमं स्थानं लभन्ते एष वसन्तः । अहो ! अपूर्वा कापि लोकोत्तरा कमनीयताऽस्य मधुमासस्य । अस्य शोभामक्षिलक्ष्मीकृत्य कविपुङ्गवः माघपण्डितः इत्थं कथितम्–

''नव पलाश पलाशवनं पुरः, स्फुट-परागपरागतपंकजम् ।
मृदुलतान्त-लतान्तमलोकयत्, स सुरभि सुरभिं सुमनोभरैः ।।'

भ्रमराः अपि मधुलोलुपाः मधुकराङ्गनाभिः सहेतः ततः पुष्पेषु भ्रमन्ति यथोक्तं तेनैव घण्टापथेन माघेन–

मधुरया मधुबोधित माधवी, मधु समृद्धि समेधित मेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहरुन्मद, ध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ।।

वसन्तमासस्य सौन्दर्यं प्रायः सर्वैः एव कविभिः स्वस्वग्रन्थेषु वर्णितम् । अस्य ऋतोः सर्वश्रेष्ठतामाकलय्य कवयः ऋतुराजः इति पदेन सम्बोध्यन्ते । **''मासानां मार्गशीर्षोऽस्ति । ऋतूनां कुसुमाकरः''** इत्याह व्यासः ।

इत्यलम् ।

36. विद्या ददाति विनयम्

सर्वप्रथमं तु छात्रे अनुशासनं भवेत् । यदि अनुशासनमस्ति चेत् संस्काराः उत्पद्यन्ते, संस्काराः सन्ति चेत् विनयशीलता स्वयमेव आयाति । शिक्षया अथवा विद्यया अपि विनयमायाति । कथितमपि–

NOTES

**''विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मः ततः सुखम् ।।**

अर्थात् विद्या विनयं ददाति, विनयात् विनम्रात् वा पात्रता योग्यता वा आयाति । योग्यत्वात् धनमायाति, धनात् धर्मो भवति, धर्मात् सुखस्य प्राप्तिर्भवति । अपि च –

**''नभोभूषा पूषा कमलवनभूषा मधुकरः, वचोभूषा सत्यं वरविभवभूषा वितरणम् ।
मनो भूषा मैत्री विमलकुलभूषा सुचरितम्, सदो भूषा सूक्तिः सकलगुणभूषा च विनयः ।।''**

अर्थात् आकाशस्य आभूषणं सूर्यः, कमलवनानाम् आभूषणं मधुकरः, वचसां भूषणं सत्यम्, विविधविभवानां भूषणं दानम्, मनसो भूषणं सौहार्दम्, विमलकुलभूषणं सुचरितम्, सभायाः भूषणं सूक्तिः, परमेतेषां समेषां गुणानाम् अन्येषाञ्च दयादानदाक्षिण्यादीनां भूषणं विनयः एव ।

यथा जीवनं विना शरीरम्, जलं विना वापी–कूप–सरित् कासारादयः, पतिं विना वनिता, रसं विना कविता, तेजो विना सविता, चन्द्रं विना यामिनी, कान्तं विना कामिनी, धर्म विना विद्या, सत्यं विना तपः न शोभते तथैव विनयं विना शौर्यम्, वीर्यम् धैर्यमपि न शोभते । तस्माद्विनयो भूषणं महत् ।

विनयो हि नाम सचेतसां चेतनानां चित्तोत्कर्षज्ञापको धर्मविशेषः, स खलु सर्वेषु गुणगणेषु गरीयान्, विनयेन हीनः नानागुणगणविमण्डितोऽपि विलक्षविचक्षणोऽपि गार्ह्यत्वमावहति प्रेक्षावताम् । अमुष्मिन् जगति यैरेव गुणगणैः पुरुषाः सम्मानमादरं च लभन्ते, विनयं विना तैरेव गुणैः निन्दाभाजनतां भजन्ते जनाः ।

यथा एकेन सुगन्धिना पुष्पितेन सुवृक्षेण सर्वं वनं वासितं जायते, यथा एकेन सुपुत्रेण सिंही निर्भयं निर्भरं स्वपिति, यथा एकेन विद्यायुक्तेन धार्मिकेण सुपुत्रेण कुलं शोभते, यथा श्रुतेन श्रोत्रम्, दानेन पाणिः, वृद्धैः सभा, धर्मेण वृद्धाः, सत्येन धर्मः, अछद्मना सत्यम्, शशिना दिशा, निशया शशिः, पयसा कमलम्, कमलेन पयः शोभते तथैव विनयेन जनानां जीवनं शोभते ।

यथा नक्षत्रभूषणं चन्द्रः, नारीणां भूषणं पतिः, पृथिव्याः भूषणं नृपः, सर्ववचसां भूषणं सत्यम्, लज्जाभूषणं कुलयोषिताम्, यथा नरस्याभरणं क्षमाः तथा विनयेन साधु शोभते जनः ।

विनयेन हीनस्य सन्ति अपि विविधगुणग्रामा, अपरिमेयाः अर्थाः, अतुलं बलम्, अनुपमं रूपम्, अगाधपाण्डित्यम्, अपरिमितं दानम्, निस्सीमं शौर्यम्, विनयं विना किंशुक–कुसुममिव दूरतः एव रम्यं नयनानन्ददायकञ्च । वस्तुतः विनयवर्जितानाम्, उच्छृङ्खलानाम्, समुच्छिन्नसच्छीलानां जनानां न कुत्रापि समादरः भवति । एवं विधं विनयं विद्यैव प्रसूते ।

उक्तमपि–

**''यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपायब्रह्मन् ।।''**

नूनं विद्या सा या सुखाय कल्पते, सुखं धर्मातु, धर्मः धनात्, धनं पात्रत्वात्, पात्रं विनयात्, विनयः विद्यायाः समुद्भवति । यथाहि–

"विद्या ददाति विनयं विनयात् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ।।"

विनयविहीनः परं निखिलविभूति समन्विताः राज्याधिकारिणोऽपि कीचकाः कालकवलतां गताः इति को न जानाति । एवं सर्वसमृद्धिसम्पन्नाः, विजिताहवाः, प्रबलवलवाहनाः, दुर्योधनादयः कौरववीरमुख्याः केवलमविनयदोषदूषिता एव पञ्चत्वं गताः एवं शिशुपालरावणादयोऽपि समरकुशलिनोऽपरिमेययोद्धगुण–विमण्डिताः महीपालाः विनयीनतयाऽकाले यमराजभवनातिथयः सञ्जाताः । इममविनयस्य परिणाममवलोक्य कथयन्ति सज्जनाः यत् प्रभूतपयसि अम्लस्य लवमात्रमापि तावन्ति दुग्धानि दधित्वेन परिणमयति । एवं प्रभूतगुणसत्त्वेऽपि विना विनयं विकृतिं नयन्ति पुरुषं स्वाभाविका धर्माः नूनं गुणरत्नस्य विनयस्य विकासः–

गौरवं गुरुषु स्नेहं नीचेषु प्रेम बन्धुषु ।
दर्शयन् विनये धर्मः सर्वप्रीतिकरो भवेत् ।।

अत्र गुरुजनेषु गौरवं तावत् वयोवृद्धजनान् प्रति यथोचितं सम्मानप्रदर्शनं सूनृतेन वचसा तैः सह संलापः, कुलवृद्धदानामनुद्धतवाग्वैभवैरभ्यर्थाना तदन्तिके चापल्यपरिहारः, वयः कनिष्ठान् प्रति नयध र्मकथनम्, हितानुकीर्तनं च । यस्याः भाषायां विद्यायाः वा अध्ययनेन एते गुणाः न समायान्ति न सा भाषा तद्विद्या, केवलमरण्यरोदनम् । विद्या तु सा यामधीत्य स्वनामधन्यः ईश्वरचन्द्रः विद्यासागरः महाविनम्रो बभूव ।

विनयस्य परिचयं पृच्छन् कश्चिद्वंगदेशो या विद्वान् निर्दिशति तल्लक्षणम् । अविनयशीलानां, अहंकारिणां मुखमतिभयङ्करं प्रतीयते । अहंभावः शत्रूनुत्पादयति, ईर्ष्यां वर्धयति, जगति शुभा् मार्गान् कण्टकाकीर्णान् करोति । परं विनयस्तु शत्रुं मित्रं करोति, ईर्ष्यां दूरतः परित्यजति, जगति दुर्गमानपि मार्गान् कुसुमसदृशान् कोमलान् करोति । नूनं विनयोऽमूल्यो गुणः । तं च विद्या प्रसूते–

प्रजानां विनयाधानात् रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।।

इत्यत्र कविकुलगुरुकालिदासोऽपि स दिलीपः तासां प्रजानां विनयस्य शिक्षायाः आधानात् पिताऽऽसीत् । नूनं विनयो विद्यायाः परिणामः । "विनयफला हि विद्या" इति मल्लिनाथः ।

अपरञ्च–

विद्या विनयोपेता हरति न चेतांसि कस्य मनुजस्य ।
काञ्चन मणिसंयोगो यो जनयति कस्य लोचनानन्दम् ।।

नूनं विनयोपेता विद्या सफलवृक्ष इव, मणिकाञ्चनसंयोग इव सर्वेषाममन्दाऽऽनन्दाय जायते । विनयवन्तो विद्यावन्तः च कदापि परान् न निन्दन्ति न चासूयन्ति, न च परेषामप्रियं वचोभिः कुर्वन्ति, एतत्सर्वं विद्याजन्यविनयस्यैव सुफलम् ।

इत्थं च–

"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।।

ये जनः विद्यामधीत्य तत्फलेन विनयेन रहितः चेद् भवति तादृशः पुरुषः शास्त्राण्यधीत्यापि मूर्खः कथ्यते । विद्याध्ययनस्य फलमेवैतत्, यज्जनः विनयसम्पन्नः स्यात् । जीवनोद्देश्यं पुरुषार्थचतुष्टयं च धर्मार्थकाममोक्षरूपं लभताम्, यस्तु विद्यामधीत्य अपि साहंकारः तस्य विद्याध्ययनभूषरे प्रक्षिप्तबीजमिव निष्फलम् । अतः साधु उक्तम्–

"विद्या ददाति विनयम्,
विनयोभूषणं महत् ।"

इल्यलम् ।

37. उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः

उत् उन्नतये, अभ्युदयाय वा योगः कर्मसु कौशलं याः सम्पादयति स उद्योगीति कथ्यते । एतेन इदमायातं यत् उद्योगमन्तरा न कस्यापि अभ्युदयः कल्पते, उद्योगिने एव पुरुषसिंह इति पदवीं ददाति लोकः । सत्कर्मसु एव उद्योगः सुखावहो भवति । अतः पुम्भिः सत्कर्मसु यथाशक्ति उद्योगः कर्त्तव्यः । अस्मिन् संसारे सर्वेषां जनानां स्वाभाविकी महती अभिलाषा भवति यद् अहं सुखी स्याम्, दुःखं न स्यात् परं न एतावता चिन्तनमात्रेण तस्य दुःखं विलयमाप्यन्ते न च सुखं समधिगम्यते । उद्योगः अध्यवसायः, विधेयेषु निरालस्यम्, उद्यमः पुरुषकारः कर्मेत्यादिपदैरुच्यते । प्रत्येकस्मिन् कर्मणि सफलतामधिगन्तुं, दुःखपरम्परां हातुम्, सुखसम्पदं सम्पादयितुं समस्तं कार्यकलापं साधयितुम् उद्योगः एव प्रधानं निदानम् । उद्यमं विना सर्वसुखं वञ्चितः, सर्वदुःखविपन्नः, सर्ववैभवविहीनः, सर्वक्लेशभाजनं भवति मानवः ।

कदाचित् साक्षाद्रूपेण कदाचिच्च परम्परया फलति आत्मकृतोद्योगः । यथा मार्जारः गृहस्थानां धान्यादिनाशोन्मुखान् मूषकान् नैसर्गिकवैरेण निहिन्ति । स उद्योगस्य महिम्ना एव गोपालं विनापि दुग्धपानं करोति । केचन विद्वांसः जल्पन्ति यद् दैवं विना परिश्रमोऽपि न फलति । ते कथयन्ति यदि भाग्ये वस्तुलाभो नास्ति तथा तस्य अभिलाषुकः पुरुषः उद्योगं कुर्वन् मृत्युमुखोऽपि पतेच्च तदापि तस्य इष्टलाभो नैव भवति । उक्तं केनापि कविना–

"पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते ।
तस्मात् पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ।।
यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ।।"

दैवं पुरुषकारश्च उभयं प्रयोजनसिद्धये प्रभवति । यथा महानपि गजः स्वल्पेनाङ्कुशेन वशमायाति । एवं दैवं स्वल्पेन पुरुषकारेण सिद्ध्यै घटते । एवमेव प्रतिकूलं दैवं महतापि पुरुषकारेण वशं न याति । यथा गजः स्वल्पेन अङ्कुशेन वशे याति । सः स्वल्पशक्तिमद्भ्योऽपि पराभवं प्राप्नोति । अतः यथाशक्ति प्रयत्नपूर्वकमुद्योगः कर्त्तव्यः । अत्र साधूक्तम्–

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ।।

अत्र एतद् अवधेयं यदि यत्ने कृतेऽपि कार्यं न सिध्यति, तदाऽत्र यत्ने को दोषः, का न्यूनता इति चिन्तनीयम् । ननु अत्र अस्माकं को दोषः इति वक्तव्यम्, यत्ने दोषं ज्ञात्वा पुनः उद्योगमाश्रित्य यतितव्यमिति पद्यस्य अर्थः ।

सोद्योगं नरः त्रिभिः साधनैः आत्मविश्वासेन लक्ष्यं प्रति पूर्णनिष्ठया, सततप्रयत्नेन च साफल्यं समधिगच्छत नूनं ''संशयात्मा विनश्यति'' कातराः अकर्मणि च आत्मविश्वासं त्यजन्ति । महाभारतस्य उदाहरणमस्ति–

''विषमं समतां याति दूरमायाति चान्तिकम् ।
जलधिः स्थलतामेति वह्निश्चायातिशीतताम् ।।''

अत एव क्रूरैः नीतिकुटिलैः धार्तराष्ट्रैः छद्मना पाण्डवेभ्यः हृते प्राज्यं राज्यं पाण्डवाः स्वसततं प्रयत्नेन एव तान् धूर्तान् धार्तराष्ट्रान् पराजित्य स्वं राज्यं पुनः अजय् । कथितमपि–

''पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रैः महाबलैः ।
पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवात् भुजसंश्रयात् ।।

वस्तुतः यस्य अङ्गेषु अध्यवसायं समुन्मीलति तस्य अनलः सलिलायते, जलधिः कुल्यायते, मेरुः सर्षपायते, मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते, विषरसः पीयूषायते ।

केनापि कविना उक्तञ्च–

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः, प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति ।।

एतेन उद्योगिनः उत्तमजनेषु गण्यन्ते इति तु स्पष्टमेव । पुरावृत्त–पर्यालोचनयाऽक्षिलक्ष्मी क्रियते यदुद्योगिनः पुरुषाः एव उन्नते पराकाष्ठां भजने । तथाहि निषादरसूनोरेकलव्यस्य गुरुं विनैव स्वपुरुषार्थमात्रेणैव धुनर्विद्याऽध्ययनम् । किञ्च तातारप्रदेशे समरकन्दनगरान्किे कस्यामपि पल्लयां जातः तैमूरलङ्गः स्वोद्योगेनैव समरकन्दनृपतेः सैन्याधिपत्यं समासाद्य स्वनिरतिशयबलविक्रमेण राज्ञः परमप्रियो जातः । कालक्रमेण स च एव तैमूरलङ्गः स्वस्वामिनः एव प्रतिकूलं युद्धमारभत। पुनः पुनः पराजितोऽपि सप्तवारं तुमलं युद्धं विद्धन् प्रतिवारमेव पराजितः । विध्वंस्तसकलसैन्यः दुःखेन निर्विण्णः स्वमरणे मतिं चकार । गत्वा च कामपि गिरिगुहां प्राणांस्त्यक्तुकामो बभूव । तस्मिन्नैव क्षणे शस्यमुखी काचित् पिपीलिका ऊर्ध्वस्थं स्वावासमारोढुकामा पुनः पुनः अधः पपात । एवं सुप्तकृत्वश्चेष्टमाना विफल मनोरथा बभूव । ततश्च भूयोऽपि सा पूर्वतोऽधिकमुद्योगमास्थाय स्वगन्तव्यमास्पदं प्राप्त । एतत् समीक्ष्य तैमूरलङ्गोऽपि भूयोऽरातिजिघांसयाऽष्टकृत्वः कृतप्रयासः अधिकवलचयेन युद्धेन सपत्नकुलं समूलमुन्मूल्य समरकन्देश्वरं पराजित्य, तद्राज्यसिंहासनमलञ्चकार ।

एतत्सर्वं तस्य एव उद्योगस्य विलसितम् । वस्तुतः व्यवसायिनां अध्यवसायिनां कृते नास्त्यसम्भवं किञ्चित् । येषां च कीर्तिः जन्मजन्मान्तरं बहुकालं यावत्तिष्ठति तत् तु उद्योगस्य एव माहात्म्यम् । ये तु 'यद् भविष्यति तद्भविष्यति' इति चिन्तयति ते सर्वथा दुःखभाजः एवं भवन्ति । अस्मिन् लोके उद्यमिन एव जनाः सुखं, सिद्धिम् धनम्, जयं, विजयं च प्राप्नुवन्ति । तस्मात् सत्यम् उच्यते–

NOTES

"कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्यमाहितः ।"

इत्यलम् ।

38. सन्तोषः

सम्यक् तोषः इति सन्तोषः तदभावः असन्तोषः इत्युच्ये । विविधसुखदुःखसमन्वितेऽस्मिन् संसारे पुरुषैः स्त्रीभिः किं बहुना सर्वैः प्राणिभिः सतं सुखं प्राप्तुमेव नानाविधानि कर्माणि क्रियन्ते, परन्तु येषां मनसि सन्तोषाभावः भवति तेभ्यः सुखं क्रमशः शनैः-शनैः-दूरं गच्छति । येषां मनसि च सन्तोषावासः निर्मितः ते निश्चप्रचं सुखभागिमः सन्ति अस्मिन् विषये नास्ति काचित् शंसीतिः विपश्चिताम् ।

सांसारिकविषयसुखेषु सततवर्धमाना तृष्णाऽपि असन्तोषजन्मदातृरूपे उक्ता । तृष्णया पीडितः जनः सर्वदा अशान्तचित्तो भवति । रात्रौ तेन निद्रा न लभ्यते । सततं लोभस्य वशीभूतः सः धनादिकपदार्थानां प्राप्त्यर्थमेव अभिलषति ।

अतः दुःखनिवृत्तिमिच्छद्भिः पुम्भिः तृष्णालोभादिभावान् विहाय सन्तोषः समाश्रयणीयः येन ऐहिकसुखमात्मशान्तिश्च स्वयमेव तत्सविधेः आयास्यतः । ईदृग्विधानां पुरुषाणां कृते मोक्षप्राप्तिरपि करतलामलकवत सुकरा भवति । वस्तुतः यदि दार्शनिकदृशा सम्यक् रूपेण जगतः स्थित्योपरि विचारयेम तर्हि इदं तथ्यं दृष्टिपथमायाति यद् वास्तविकसुखस्य वसतिः जागतिकेषु पदार्थेषु न विद्यते अपितु स्वान्तःकरणेन सुखं जायते । सुखम् आत्मनि तदैव जनिः करोति यदा सन्तोषस्य भावः भवति । उक्तञ्च-

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं तन्मूलमितरद् धनम् ।।

संसारेऽस्मिन् सुखोपभोक्तुं जनैः संयतमना जितात्मनः च भवितव्यः । जितात्मा पुरुषः सुखं लभते । सन्तोषमन्तरा जितात्मत्वमपि नोपलभ्यते । जगत्यस्मिन् सुखस्य भोगस्य च इयत्ता न दरीदृश्यते । कियन्तः भोगः कियन्तः सुखोत्पादकाः पदार्थाः इत्यस्य न कापि सीमारेखा दृश्यते । कियन्ति सुखानि सन्ति जगति इत्यस्याः भावनायाः न कुत्रचित् इतिश्रीः । तृष्णा तु प्रतिफलं प्रतिक्षणं प्रत्यहं वर्धते एव।

तृष्णा खलु जनैः दुरत्यजा वर्तते । एतस्याः प्रभावेण जनाः प्रत्यहं इतस्ततः धावन्तोऽपि शान्ति न प्राप्नुवन्ति । केवलं धनसम्वर्द्धनाय नितरां प्रयासं कुर्वन्ति । अतः सुखशान्तिवाञ्छद्भिः जनैः तृष्णा सदैव परित्यजनीयास्ति । सन्तोषम् आस्थाय स्वलपधनमापि बहुमन्यमानाः जनाः सुखशान्तिं प्राप्नुवन्ति । यस्य पार्श्वे एतत् धनं विद्यते, यो सन्तोषं प्राप्नोति सन्तोषं प्राप्नुवन् कार्यं करोति तदा निश्चयेन सुखमाप्नोति । यदा मानवानां समीपे सन्तोषधनम् आयाति तदा तेषां कृते सर्वाण्यपि अन्यानि धनानि सारहीनानि भवन्ति । योगशास्त्रे उक्तमपि च **"सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।"**

अस्माकं प्राचीनैः नीतिनिपुणैः विद्विद्भिः सन्तोषविषये विभिन्नदृष्ट्या विचारं कृतम् । केनापि कविना उक्तम्-

सन्तोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु चैव न कर्त्तव्यः अध्ययने जपदानयोः।।

अस्य श्लोकस्य आशयः अयमस्ति यत् जगति यावन्ति योग्यवस्तूनि विद्यन्ते तेभ्यः अस्मभ्यं यत्प्राप्तुं यदुपलब्धं तस्मिन् एव सन्तोषः कर्त्तव्यः । यादृशी स्वकीया स्त्री भवेत् तस्याम् एव रतिः करणीयाः, सन्तोषानुभवोऽपि तस्यामेव विधेयः । स्वपौरुषोपार्जितं यादृग् भोजनम् उपलब्धं तदेव सन्तोषपूर्वकम् अश्नीयात् ।

अस्मिन् प्रसङ्गे कः कीदृग् अश्नाति अहं तु तादृग् न प्राप्नोमि इत्याकारिका चिन्ता न कर्त्तव्या कदापि । धनस्य विषयेऽपि तथैव आचरणीयः। वित्तप्राप्ति सम्बन्धे कस्मैचिदपि सन्तोषो नैवोपजायते । कठोपनिषदि अस्मिन् विषये बहुवर्णित् विलसति **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः,** इति । मृत्योः समक्षं गतस्य नचिकेतसः मृत्युं प्रति उक्तिरियम् । यदा नचिकेतसा तृतीयवरदानरूपे मृत्योरनन्तरं आत्मतत्त्वस्य का गतिर्भवति इत्यस्य विषये याचयामास । यमस्तु तस्य आत्मज्ञानाधिकारित्वं परीक्षितुं तस्मै प्रलोभनानि दातुं प्रारभत् । प्रत्युत्तररूपे उक्तमन्त्रांशम् अभाषत् नचिकेता।

अहो ! कीदृशी परम्परा दृश्यते संसारे असन्तोषस्य तृष्णायाश्च । यया गृहीतः मानवः क्षणमपि सुखं न लेभे, परन्तु सर्वत्र सन्तोषो न समाश्रयणीयः । अध्ययनक्षेत्रे जपदानक्षेत्रयोः सन्तोषो न करणीयः । सन्तोषः एतेषु क्षेत्रेषु हानिप्रदोऽस्ति।

अस्माकं शास्त्रेषु वर्णितमस्ति बहुधा । विश्वेऽस्मिन् बहुपदार्थाः योग्यवस्तूनि सृष्टिकर्त्ता रचितानि सन्ति । परं न तानि सर्वाणि सर्वेषां कृते समुपलभ्यानि । स्वकृतकर्मणा दैववशाच्च कस्मै अधिकं कस्मै च अल्पं योग्यार्थम् उपलभ्यन्ते । अतः यस्मै यानि कानि वस्तूनि उपलब्धानि सन्ति तेषु एव तैः सन्तोषानुभवो करणीयः । पूर्णत्वं तु केवलम् ईश्वरे एव निहितम् । तद्व्यतिरिक्ताः सर्वे प्राणिनः अपूर्णत्वं भजन्ते । कोऽपि जनः धनाभावे दुःखितः कोऽपि पुत्राभावे पीडितः, अपरे च नैके जनाः उभयाभावेन सततं कष्टानुभवं कुर्वन्ति ।

अतः स्वपौरुषेण भगवतः कृपया च यत्किञ्चिदपि समुपलब्धमस्ति, तेष्वेव सन्तोषलाभः कर्त्तव्यः । सन्तोषः खलु सकलकलिकलुषायितात्मनां जनानां कुशलचिकित्सकः तृष्यतस्तृष्णाविनाशकः परमो मन्त्रः अस्ति । अतः सुतरां सन्तोषः विधातव्यः सुखाय इति ।

इत्यलम् ।

39. विज्ञानस्य उपयोगिता

अथ किम् नाम विज्ञानम् कीदृक् वास्य स्वरूपम्, कथङ्कारं इदं जनानाम् अन्येषां चराचराणाञ्चोपकारं विदधाति ? विज्ञानेन के लाभाः काश्च हानयः ? मानवानाम् कथमिदं युगं विज्ञानयुगम् ? विज्ञानं बिना किं मानवानां कार्यसञ्चालने अवरोधो उत्पद्यन्ते, एते विवेचनीयाः विषयाः सन्ति अस्मिन् प्रसङ्गे:।

विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानमिति उच्यते । कस्यचिदपि विषयस्य पदार्थस्य वा प्रत्यवयवानां विवेचनेन प्राप्तं तद् विषयकज्ञानं विज्ञानपदाभिधेयम् । साम्प्रतिकं युगं विज्ञानस्य युगमस्ति । युगेऽस्मिन् विज्ञानं सर्वोत्तमशक्तिरूपं विश्वसञ्चालन-स्याधारश्च सञ्जातम् । अस्मि् युगे विज्ञानं विना शयन-भक्षण-भ्रमण-नर्तन-प्रेषण-श्रवण-गमनादिकार्याणि अस्वाभाविकानि प्रतीयन्ते। मानवैः विज्ञानस्य सहाय्येन प्रकृतेर्गहनादहनतमानि रहस्यानि प्रकाश्यतां नीतानि ।

विज्ञानेन मानवानां अपरेषां जीवानाञ्च बहूपकार: कृत: । वैज्ञानिका: आविष्कारा: एषां प्राणिनां कृते दैनिकजीवनोपयोगिवस्तूनां निर्माणेन सततं मानवसभ्यतासंस्कृत्योश्च वर्धनं कुर्वन्ति । विज्ञानस्य प्रभावेण सूर्यचन्द्रादिग्रहा: वायुवर्षादिप्राकृतिकाशक्तयश्च अधुना केवलं देवरूपा: न सन्ति, अपितु एते मानवानां सहाय्यकारका: भवितुं शक्नुवन्ति । सूर्याद् एव शक्तिं गृहीत्वा नैकानि नवाविष्कारितानि यन्त्राणि चालयितुं शक्यते । सौरोर्जया दूरदर्शनसङ्गणकादियन्त्राणां सञ्चालनं भवत्येव साम्प्रतिके काले । एवमन्यानि अनेकानि कार्याणि अपि विज्ञानस्य सहाय्येन सम्भवन्ति अद्यतने युगे ।

विज्ञानं प्रतिदिवसं प्रतिक्षणं उन्नते: मार्गमारोहन् दृश्यते । अखिलविश्वस्य अनेके लब्ध ख्यातिवैज्ञानिका: स्वजीवनमपि तृणवन्मन्यमाना: विज्ञानस्य उपलब्धीनां वर्धनाय दत्तचितेन प्रयतन्ते । विश्वेऽस्मिन् साम्प्रत। न कोऽपि देश: वर्तते एतादृश: यस्य विज्ञानवेत्तर: नवीनविषयस्य गवेषणायां दत्तचिता: न स्यु: । सर्वत: विज्ञानवार्त्ता प्रचरति । स्थाने स्थाने, पदे, पदे, ग्रामे ग्रामे, नगरे-नगरे च सर्वत्र विज्ञानस्य चमत्कारा: दरीदृश्यन्ते । यातायाते वाग्व्यवहारे संवादप्रेषणे वस्त्रनिर्माणे अन्नोत्पादने भवननिर्माणे दूरदेशयात्राषु सर्वत्रैव विज्ञानमपेक्ष्यते । साम्प्रतिके काले यादृशी स्थिति: जगति वर्तमान अस्ति तस्यां कस्यापि नरस्य जीवनं विज्ञानं विना चलितुं शक्नोति । प्राक्तने युगे शतयोजनपर्यान्त मार्गमपि जना: पदातिरूपेणैव गन्तुं शक्नुवन्ति स्म परम् अद्यतने कोऽपि जन: पदातिरूपेण अल्पीयसीमपि यातां कर्तुं न क्षमोऽस्ति । यात्रा प्रसङ्गे वायुयानं मोटरयानं रेलयानं जलयानं इत्यादीनि बहूनि यानानि विज्ञानस्यैव चमत्कारा: सन्ति । यै: यानै: सुदूरस्थितेषु दुर्गमस्थानेष्वपि सरलतया गन्तं शक्यते । इभि: वैज्ञानिकयन्त्रै: न केवलं भारतस्यैव अपितु विदेशस्यापि यात्रा अत्यल्पे काले एव भवति: अमेरिका रूसादिदेशनिर्मितै: अपोलोन्यूनादिभिरन्तरिक्षोपग्रहैस्तु मानवानां कृते असम्भवमपि कार्यं सम्भाव्यम् दृश्यते । इयमेव साइकिल-मोटरसाइकिल-स्कूटर-प्रभृतीनां लघुयानानामाविष्काराद् अल्पदूरीये यातायाते अतिसौकर्यं सञ्जातम् । स्थानकृतं दूरत्वम् अधुना विज्ञानेन समाप्तप्रायं दृश्यते । विज्ञानस्य सहाय्येन एव अस्माकं देशे विविधयन्त्रशालानां निर्माणेन दैनिकोपयोगिवस्तुजातं निर्माय मानवजीवनं सरलतरं क्रियते ।

जीवनस्य सर्वेषु क्षेत्रेषु विद्युत्शक्त्या: उपयोगं पदे-पदे दृश्यते । विद्युता एव मानवानां कृते सुखकरीणि बहूनि यन्त्राणि सञ्चाल्यन्ते भोजनं पच्यते, वस्त्रादयो निर्मीयन्ते गृहादय: प्रकाश्यन्ते च ।

विद्युता एव विद्युद्यानानि जलपोता: विमानानि च सञ्चाल्यते । विज्ञानबेलन मानव: गृह स्थित: एव गणनया निश्चितं कर्तुं क्षम: भवति यत् एतस्मिन् काले गृहात् यास्यामि तदनु इयता कालेन स्वगन्तव्यस्थानं निश्चप्रचं प्राप्स्यामि इति ।

एवमेव पुराणेषु पुष्पकादिविमानानां कथां बहुधा साश्चर्यं पठाम: । विमानानि तानि देवेभ्य: एव सुलभानि आसन् । वयं सर्वे जानीम: यत् पुष्पकसंज्ञकमेव विमान् कुबेरपार्श्वे आसीत् तमेव रावण: स्ववशे चकार, तदेव विभीषण: लङ्काविजयानन्तर भवगते रामाय ददौ । राम: तस्योपरि आरुह्य स्वभार्यया सीतया सह लक्ष्मण: अयोध्यां प्राप्त: आसीत् । पुन: तद् विमानं प्रत्यावर्तत । अद्यापि य: कोऽपि धनवान् पुरुष: इच्छति स: विमानमारुह्य अनेकेषु देशेषु भ्रमितुं समर्थ: अस्ति: । आगामिकाले विमाने आरुह्य जन: चन्द्रलोकेऽपि गन्तुं समर्थ: भविष्यति इति मम मतम् ।

वर्तमाने युगे जनै: समाचारपत्रप्रेषणक्षेतेऽपि महत् परिवर्तनं कृतम् । पुरा कपोतहंसादिपक्षीणा साहाय्येन जङ्घाक्तपुरुषेण संवादप्रेषणम् अभवत् । अस्मिन् कार्ये महत् काठिन्यं अनुभूयते स्म । अधुना

दूरभाषणयन्त्रसहाय्येन वयं शताधिकक्रोशस्थितैः जनैः सहभाषमाणे साफल्यं प्राप्नुमः । देशस्यैकभागादन्यभागं स्वकीयं सन्देशं प्रेषायितुमहं तन्त्रीमन्त्रमाध्यमेन समर्थोऽस्मि । वायरलेसमाध्यमेन वयं कस्यचिदपि सुदूरस्थितस्य एवं स्थानस्य भाषणं सन्देशं वा सङ्गीतादिकं च गृहे स्थिताः श्रोतुं शुक्नुमः । एवमेव मनोरञ्जनक्षेत्रेऽपि चलचित्रं दूरदर्शनस्य आकाशवाण्याश्च लोकप्रियता तु सर्वविदिता एव । चलचित्रप्रदर्शने विविधवर्णमयानि चित्राणि मनोरञ्जना ध्वनियोजनाश्च अस्मभ्यं विविधसुदूरवर्तिना स्थानानां चित्राणि दृष्टिपथं नेतुं समर्थाः सन्ति । जनानां कृते आकाशवाणी द्वारा देशप्रदेशसमाचारान् श्रवणम् आवश्यकं वर्तते । दूरदर्शनमाध्यमेन सुदूरवर्तिनां कलाकाराणां वक्तृणाञ्च छायाचित्राणि ध्वनिश्च दर्शनश्रवणे सुकरौ वर्तेते ।

चिकित्साक्षेतेऽपि विज्ञानस्य महती उपयोगिता वर्तते । कुशलचित्रकारोऽपि यत्चित्रं निर्मातुं कदापि न पारयते, मानवाङ्गस्य तच्चित्रं एक्सरे इत्याख्यैः रश्मिभिः साहय्येन सरलतया अत्यल्पकालावधो वास्तविके रूपे ग्रहीतुं सरल कार्यमस्ति । अणुवीक्षणयन्त्रमाध्यमेन विविधानां रोगाणां कीटाणून् दृष्ट्वा आधुनिकाः चिकित्साशास्त्रविदः रोगनिदानक्षेत्रे महत्साफल्यं प्राप्नुवन्ति । रोगाणां निदानं कृत्वा तेषां विनाशार्थम् ओषधीनां प्रयोगार्थं तन्निवारणे दत्तचित्तः भूत्वा जनानां जीवनरक्षणं कुर्वन्ति । आधुनिको वैज्ञानिकचिकित्सकः तु कृत्रिमहृद्रोपणरूपेण कार्ये सफलतां अवाप्यासामयिकमृत्युमपि विजेतुं समर्थः ।

युगेऽस्मिन् मानवजीवनं सुखपूर्णं विधातुं विद्युत्शक्त्याः महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते । विद्यतुः प्रभावेण एव शीतम् उष्णायते उष्णं च शीतायते । रात्रिः दिवसायते दिवसश्च निशायते । विद्युता एव अनेकानि यन्त्राणि दैनिकोपकरणानि च चाल्यन्ते । प्रकाशमञ्जुषा विद्युद्व्यजनं पाचनयन्त्रं, वातानुकूलकरणयन्त्रं तापकरणयन्त्रञ्च विद्युता एव स्वकार्याणि कर्तुं समर्थानि सन्ति । किं बहुना, विद्युत्साहाय्येनैव वस्त्रादयो निर्भीन्ते यन्त्रशालाः सञ्चालयन्ते कृषकानां कृते कृषिभूमिं सिञ्चनार्थमपि विद्युतः महती आवश्यकता वर्तते । एवं सर्वैः जनैः प्रतिपदं जीवने सौविध्यवर्धनायः विद्युतः उपयोगः क्रियते ।

युद्धसामग्रीणां निर्माणेक्षेत्रे तु विज्ञानस्य चमत्कृतिः निरन्तराम् आश्चर्यवहा दृश्यते । एटमबम-हाइड्रोजनबम मेगारनबमनापामबममशीन-गनमशीन-राडारराकेट-प्रभृतिनामाविष्कारान् कृत्वा युद्धप्रक्रियायां मूलचूलपरिवर्तनं कृतं विज्ञानेन । एवं क्षणेनैव शत्रूणां सुदूरवार्तिन किमपि नगरं कोऽपि देशः अग्निसात् भस्मसात् जलासात् प्रलयसात् विधातुं सरलतमं कार्यं वर्तते । अभियान्त्रिकी क्षेत्रेऽपि विज्ञानेन बहूपकारं कृतम् ।

यथा एकतः विज्ञानं मानवानां कृते अनेके लाभान् लाति तथैव अमुना बहवः हानयः अपि दृष्टिपथमायान्ति । यथा विज्ञानेन मानवस्योपकृतं तथेवापकृतमपि लक्ष्यते । विज्ञानेन विनिर्मितानि युद्धयन्त्राणि मानवानां विनाशकराणि सन्ति । यदि कदाचित् परमाणुयुद्धं प्रारभ्यते तर्हि विश्वस्य प्रलयमपि निश्चिमस्ति । विज्ञानस्य प्रभावेणं जीवनं धर्महीनं चरित्रहीनं स्वास्थ्यहीनं मनोबलहीनं कर्मठताविरहितं सालसं च दृश्यते । विज्ञानेन जनाः केवलं घोरभौतिकवादिनः भवन्ति यस्मात् कारणात् तेषां ध्यानं मनाक् अपि आध्यात्मिकविषय नास्ति । अतः एतादृशाः जनाः धार्मिकमनोवृत्त्यभावे कथं समुन्नतिं कर्तं समर्थाः स्युरिति विचारणीयोऽयं विषयः । ~~कीदृशाः जनाः~~ धार्मिकमनोवृत्त्यभावे कथं समुन्नतिं कर्तं समर्थाः स्युरिति विचारणीयोऽयं विषयः । कीदृशः मानवानां विकासः भवति इति न शक्यं वर्णयितुम् । विद्युतः प्रयोगेणपि मृतानां मृयमाणानां संख्या वर्द्धत्येव नित्यम् । विद्युत्शक्त्या

अनेकानि ईदृग् विधानि यन्त्राणि चाल्यन्ते यैः मानवानां चतुर्षु दिक्षु वातावरणं दोषयुक्तं भवति । तेन च अनेकाः व्याधयाः प्रादुर्भूताः भवन्ति । इत्थं विज्ञानस्य अनेके लाभाः हानयश्च भवन्ति ।

इत्यलम् ।

40. स्त्रीशिक्षायाः महत्त्वम्

स्वतन्त्रे विकसनशीले भारतेऽस्मिन् स्त्रीशिक्षायाः महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते । यतो हि एकेन चक्रेण स्यन्दनस्य गतिः न भवति तथैव स्त्रीपुरुषयोः परस्परं सहयोगेन बिना तानवोन्नतिः राष्ट्रोन्नतिः वा न भवितुं शक्नोतिं । अतः स्त्रीशिक्षायाः आवश्यकता स्वयं सिद्धा अस्ति । शिशूनां शैशवकालः मातृः समीपे व्यतीतो भवति । अयमेव समयः ईदृशेऽस्ति यत् यदत्र पश्यति यश्च श्रणोति शिशुः तस्य सर्वस्यं एव संस्कारस्तं संस्करोति । अतः यथा मातरो भवन्ति, तेषां तथैव सन्ततिः अपि। यदि मातरः अशिक्षिताः अज्ञानिनः कर्त्तव्यबुद्धिहीनाश्च भविष्यन्ति तर्हि कथं ताः स्वशिशून् सम्यक्तया पालयिष्यन्ति। अतः महानिर्वाणतन्त्रानुसारं "कन्याऽप्येवं लालनीया शिक्षणीया प्रयत्नतः।"

अस्मिन् प्रसङ्गे प्रथमं शिक्षायाः स्वरूपमधिकृत्यैव विचारसरिणं प्रारभते 'शिक्षा' शब्दस्तु संस्कृतभाषायाः शिक्ष्धातोः निष्पन्नः भवति । शिक्षा मानवजीवनस्य एका यादृशी प्रक्रिया वर्तते यस्याः माध्यमेन मनुष्यः स्वजीवनं सुनिश्चितपथि नेतुं शुभाशुभं विवेचयियुं हिताहितं निर्णेतुं सद्भावं वर्धयितुं, दुर्भावं तिरोधयितुं समर्थो भवितुं शक्यते । अस्याः आवश्यकता यथा नरस्य जीवने तथैव नार्याः जीवनेऽपि वर्तते । इयं यथा नराणां हितसाधिका वर्तते तथैव नारीणामपि । नरश्च नारी च एतौ द्वावेव सद्गृहस्थजीवनरथस्य चक्रद्वयं स्तः । यदि नरः तु विद्वान् स्यात् परन्तु भार्या चेत् मूर्खा भवेत् तदा जीवनं सुखावहं न भवितुमर्हति । द्वयोः एकरूपत्वभावेन तयो जीवनं निश्चितमेव सुखावहं भवति, अस्मिन् विषये नास्ति कापि विप्रतिपत्तिः ।

स्त्रीणां शिक्षोपरि यदि गाम्भीर्येण विचार्येत् तर्हि तासामपि जीवने शिक्षायाः भूयसी आवश्यकतानुभूयते । स्त्रियाः एव अस्माकं देशे मातृशक्तिरूपेण पूज्यन्ते । ता एव जन्मदातृपालनकर्तृरूपेण प्रतिष्ठिताः शोभन्ते । अस्माकं भारतीयसंस्कृत्यनुयायिनां कुलेषु तु शिशुनां जननानन्तरं तेषां भरणपोषणस्योत्तरदायित्वं मातृणामेवोपरि आपतति । गृहकुटुम्बसंचालनस्य गृहस्थजीवनस्य सुखशान्त्योः, श्वसुरश्वश्रोः सेवायाः शिशूनां शैशवावस्थायां पाठनस्य, तेषु सच्छीलनिधानस्य पदे-पदे भर्तुः सहयोगस्य, सद्भावोन्नयस्य अभ्यागतातिथीनां सपर्यायाश्च प्रभारो गृहपत्निरूपायाः स्त्रियः एवोपरि आपतति । ईदृशानां कार्यभाराणाम् उत्तरदायित्वं वहनकर्तुं ताः एव स्त्रियाः समर्थाः भवितुमर्हन्ति याः सत्छिक्षायाः पूतजलेनः अभिषिक्ताः भवन्ति।

पुरातने समाजे अपि स्त्रियः शिक्षिताः बभूवुः परं तासां संख्या भूयसी न दृश्यते । वैदिककाले स्त्रीभ्यः अनेकानि धार्मिककार्याणि विहितानि आसन् । ऋग्वेदे उक्तं सा गार्हपत्यकर्मणि जागरूकाभूत, पुत्रादिलाभेन समृद्धिञ्चचागच्छत् इति । विचार्यतां यदि स्त्रियः अशिक्षिताः आसन् तर्हि कथं तासां कृते तु अनेकशः कन्यकानां शिक्षाव्यवस्था निर्दिश्यते । तासामपि पुत्रवद् उपनयादिसंस्काराः अभूवन् । ताः वैदुष्यं प्राप्य यज्ञादिकर्मणि, विद्याविवादे मन्त्र दर्शनकर्मणि प्रावर्तन्त । ऋग्वेदे श्रद्धा, कामायनी, यमी, शची इन्द्राणी, अदितिः, आत्रेयी, अपाला, रोमशा, घोषा, उर्वशी, सावित्री, गोधा, विश्ववारा, सिकता, निवावरी, लोपामुद्रा प्रभृतयः स्त्रियः मन्त्रदर्शनेन स्वकीयानां वैदुष्यं गौरवञ्च

प्रकाशयाचक्रः । इत्थं इदं स्वष्टरूपेण कथयितुं शक्यते यत् स्त्रियः अपि शिक्षायाः सत्पात्राः अभूवन् सन्ति भविष्यन्ति च तासामपि शिक्षणं अति आवश्यकम् अनिवार्यञ्च वर्तते ।

साम्प्रतं विचारणीयं यद् एतासां शिक्षाव्यवस्था कीदृशी भवितव्या ? कीदृशी शिक्षा एतासां हिसाधिका भवितुं शक्नोति ? किं कुमारीणां कुमाराणां च सहशिक्षा श्रेयस्करी भवितव्या न वा ? अस्मिन् विषये विदुषां वैमत्यं दृश्यते । बालक-बालिकानां शिक्षा समानमेव स्यात् मा अत्र कश्चन प्रतिबन्धः साम्प्रतमसाम्प्रतं प्रतिभाति । केचन विद्वांस विचारकाः शिक्षाविदश्च एव वदन्तः श्रूयन्ते यत् यदा बालकबालिकायोर्मध्ये नैसर्गिकी विभिन्नता वर्तते तेषां कार्यशक्तिः अपि अस्यां वर्तते । स्त्रियस्तु मूलतः मातृशक्तिरूपाः सन्ति। अतः तासां विद्या ईदृशी भूयात् या तासा कृते मातृशक्तिमूलभूतान् गुणान् उन्नेतुं समर्था स्यात् । तासु सौकुमार्यं, शीलं, स्नेहं, सद्भावं वात्सल्यं तच्चारित्र्यं कर्त्तव्यनिष्ठतां चोत्पादयेत् । एतेषां सद्गुणानामभावे तासां सकलकलानिष्णातत्वमपि निष्प्रयोजनं भवति ।

वर्तमानकाले भारतेऽस्मिन् आङ्गलसभ्यतायाः संस्कृत्याश्च प्रभावेण यादृशी दुरावस्था शिक्षाक्षेत्रे दृश्यते, तया मानवानां चारित्रिकं ह्रासं नित्यप्रतिं वर्धते ।

प्रायः सर्वेषु विश्वविद्यालययेषु महाविद्यालयेषु च सहशिक्षा व्यवस्था अवलोक्यते । स्त्रीणां कृते पुरुषाणां कृते च समानशिक्षाव्यवस्था प्रवर्तितास्ति । ईदृशीनां शिक्षाव्यवस्थानां परिवर्तनमावश्यकम् ।

स्त्रीणां कृते पृथक् व्यवस्था पुरुषाणां कृते च पृथक शिक्षाव्यवस्था करणीया । तेषां स्परूपं पाठ्यक्रमं भिन्नं भवनीयम् । स्त्रीणां शिक्षिकाः स्त्रियः पुरुषाणां शिक्षकाश्च पुरुषाः भवेयुः । अस्मिन् विषये केचन कथयन्ति यत् कुमाराणां कुमारीणाञ्च शैशवे सहशिक्षा सम्भवति । तत्र तु कापि व्यावहारिकी क्लिष्टता न विचारपथमायाति । परं यौवनावस्थायामपि सहशिक्षा स्म्भवा श्रेयस्करी वा भवितुं समर्था इति वक्तुं सुकरं न दृश्यते । अतः यावच्छक्यं तावद् यौवने पृथक् एव शिक्षायाः व्यवस्था प्रशस्या भविष्यति इत्थं सुनिश्चितं यत् स्त्रियः अपि शिक्षिताः भवेयुः । यदि एवं न भविष्यति तदा भाविनि काले अस्माकं सभ्यतासंस्कृत्योश्च निरन्तर ह्रासः भविष्यति । यथा पुरुषाणां कृते शिक्षायाः अधिकारोऽस्ति तथैव स्त्रीणां कृतेऽपि । अतः अस्माभिः सर्वैः स्वकीयानां कन्यानां पठनपाठनोपरि गाम्भीर्येण विचारणीयम् तदनुसारं च समाचरणीयम् अन्यथा भाविनि काले समाजे देशे च उच्छृङ्खलतायाः जन्म अवश्यमेव भविष्यति ।

इत्यलम् ।

41. महर्षिदयानन्दः

भारतवर्षस्य समाजसुधारकेषु महर्षेः दयानन्दस्य सर्वोत्कृष्टं स्थानं वर्तते । स्वजीवने महाभागोऽयं अनेकविधान् सुधारान् अकरोत् । **"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विजः उच्चयते"** इत्यनुसारेण जन्ममूलां जातिप्रथां निरस्य गुणकर्मानुसारं वैदिकशास्त्रसम्मितां वर्णव्यवस्थामुद्घोषयत् । तादृशः महापुरुषः साम्प्रतं राजकोटजनपदस्य गुर्जरप्रान्ताधिष्ठिते टङ्कारानाम्नि ग्रामे । 1814 खीष्टाब्दे संवसरे भाद्रपदमासस्य कृष्णपक्षेऽष्टम्यां तिथौ स्वजन्मनां भारदेशम् अलङ्कतवान् । अस्य बालकस्य नाम मूलशङ्करः अस्य पितुः नाम करसनजा तिवारी मातुः नाम अमृतबेन चासन् । 1819 ईसवीये देवनागरीत्यक्षराणां पठने पारङ्गतः जातः । यजुर्वेदस्य रुद्रध्यायश्चापि अनेन कण्ठस्थः कृतः । अष्टमे वर्षे चोपनयनञ्चकार ।

NOTES

त्रयोदशवर्षे अस्मै मूलशंकराय शिवरात्रिव्रतम् आदिदेश: जनक: । व्रतकाले निशीथे शिलिङ्गम् आरुह्य नैवेद्यं खादन्तं एक मूषकं दृष्टवान् । तदा शंकितमानसोऽसौ स्वपितरं पृष्टवान्, यत: य: शिव: सम्पूर्णसंसारस्य स्रष्टा पालक: संरक्षक: निहन्ता, नायं स: शिव: यतो हि अयन्तु मूषकेभ्योऽप्यात्मानं रक्षितुम् अक्षम: वर्तते । पुत्रेण कृतप्रश्नस्य सन्तोषप्रदम् उत्तरं दातुं पिताऽपि असमर्थ: । तदा महात्मा अविचारयत् यत् अवश्यमेव सत्य: शिव: कश्चिदन्य: स: एव वन्दनीय: पूजनीय: अन्वेषणीय: प्राप्तव्यश्च। गृहे स्वभगिन्या: पितृव्यस्य च मृत्युम अवलोक्य महापुरूषोऽसौ लौकिकबन्धनान् विहाय सत्यं शिवं सुन्दरं लोकशङ्करं मूलशङ्कर: साक्षात्कर्तुं प्रत्यजानात् ।

अनन्तरं हिमालयं प्राप्य तपोऽतपत् । तत्पश्चात् दण्डिनं स्वामिनं विरजानन्द् अवाप्य व्याकरणादिकमार्षसाहित्यम् अपठत् । आर्षप्रज्ञान्वितोऽयं गुरुदक्षिणारूपेण तस्मै लवङ्गानि दानायोपस्थितोऽभवत् । तदा स्वामी तमादेशम् दत्तवान यद् वेदं समुद्धर, सकले विश्वे वैदिकधर्मस्य ज्योति: प्रज्वालय पाखण्डानां समुन्मूलनं कुरु इति ।

तत: वैदिकसिद्धान्तानां पुन: संस्थापनाय । 1863 ई. वैशाखमासादयम् आगरानगरत: प्रचारकार्यम् आरब्धवान् । मूर्तिपूजनं वेदविरुद्धमिति विषयमधिकृत्य 1863 ख्रीष्टाब्दे कार्तिकमासस्य शुक्लपक्षे द्वादश्यां तिथौ काशीस्थै:

स्वामिविशुद्धानन्दादिभिर्विद्वद्भि: सह शास्त्रार्थोऽभवत् यत्र महर्षिदयानन्द : विजयं प्राप्तवान् । महाभागेन वैदिकधर्मस्य प्रचारप्रसारार्थम् 1875 ख्रीष्टा अपैलमासस्य दशमे दिनाङ्के शनिवासरे मुम्बईनगरे प्रथमम् आर्यसमाजस्य स्थापना विहिता । मानवजनानां शरीरिकं मानसिंक सामाजिकमभ्युदयमेव आर्यसमाजस्य महदुद्देश्यमासीत् ।

महर्षिदयानन्देन ऋग्वेदभाष्यम्, युजर्वेदभाष्यम्, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थ प्रकाश:, संस्कारविधि:, गोकरुणानिधि:, व्यवहारभानु:, आर्याभिविनय:, पञ्चमहायज्ञविधि:, वेदान्तिध्वान्तनिध ारणम्, अद्वैतमतखण्डनम्, भ्रमोच्छेदनं इत्यादय: ग्रन्था: विरचिता: ।

महाभागेन भारतदेशे विद्यमानाया: दासप्रथाया: बालविवाहस्य बहुपत्नीवादस्य धार्मिकमन्धानुकरणस्य अन्धविश्वासस्य मरणानन्तरं श्राद्धप्रथायाश्च निदानं कृतवान् । मृतानां पितृणा श्राद्धविधिं विहाय जीवितपितृणां सेवां कर्तुम आदिदेश । प्राचीनगुरुकुलशिक्षापद्धत्या: प्रचारम् अकरोत् । गुर्जरदेशीयोऽपि सन् संस्कृतभाषाया: प्रकाण्डपण्डितोऽपि सन् जनकल्याणाय हिन्दीभाषायामेव लेखप्रचारस्य च माध्यमं चक्रे । हिन्दीभाषाप्रचारेऽपि महोदयस्य महद्योगदानं वर्तते ।

आंग्लपरतन्त्रतात: भारतस्योद्धाराय देशे स्वातन्त्रयस्यान्दोलनं जनेषु प्रचारितवान् । महर्षिणा सत्यार्थप्रकाशे स्पष्टरूपेण उद्घोषितं यद् निष्कृतमपि स्वराज्यं श्रेयान् परकीयाद् राज्याद् श्रेयस्करम् अस्ति ।

वैदिकसंस्कृतिसभ्यताया: संरक्षणार्थं कृण्वन्तो विश्वमार्यमित्यघोषयत् । पञ्चमहायज्ञानां षोड़शसंस्काराणाञ्च आवश्यककर्त्तव्यस्य प्रतिपादनम् अकरोत् । एवं प्रकारेण भारतीयानाम् अभ्युदयकार्ये दत्तचित्ताय दयानन्दाय 1883 ख्रीष्टाब्दे तमे संवत्सरे सितम्बरमासस्य एकोनत्रिंशत्तारिकायां जोधपुरननगरे जगन्नाथनाम्ना पाचकेन दुग्धे विषं सम्मेल्य दत्तम् सेन तन्मासस्यैव त्रिंशत् तारिकायां दीपावलिपर्वणि पञ्चतत्वं शरीरं विहाय स्वर्गलोकं प्राप्तवान् ।

इत्यलम् ।

42. महात्माबुद्धः

नूनं यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारते, अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजति प्रभुः । परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवति युगे-युगे कश्चित् महात्मा ।तदनुरूपं यदा स्थाने-स्थाने गोष्ठ्यां-गोष्ठ्यां चत्वरे-चत्वरे चाधर्मस्य पाखण्डस्य, अज्ञानान्धकारस्य हिसायाः प्राधान्यमासीत् पुनीततमेष्वपि यज्ञादिषु कर्मणि पशुबलिः प्रदीयते स्म । प्रत्येकस्मिन् शुभकर्मणि धार्मिककृत्येषु अपि हिंसायाः प्राधान्यमासीत्, तस्मिन् काले पञ्चविंशतिशतवर्षे पूर्वं भारते वर्षे कपिलवस्तु नामनगरे शाक्यवंशे मातुः मायादेव्याः गर्भात् राज्ञः शुद्धोधनस्य पुण्यप्रतापात् यथाकालं वैशाखमासस्य पूर्णिमाया पुण्यायां तिथौ लम्बिनी वने शालतरुमूले जन्म प्राप्तवान् । एकादशेऽहनि पितानाम कुर्यादितिशास्त्रादेशेन पिताऽस्य जातस्य 'सिद्धार्थः' इति नाम चकार । बोधिज्ञानप्राप्त्यनन्तरम् अस्य महाभागस्य नाम बुद्धः अभवत् ।

महापुरुषस्यास्य जन्मसमये एवं ज्योतिषाचार्यैः एषः फलादेशः विहितः यद् बालोऽयं महान् सम्राट भविष्यति अथवा राज्यादिसुखं परित्याज्य महत् तपस्तप्त्वा सम्पूर्णे भूमण्डले स्वधर्मं प्रसारयिष्यति । ज्योतिर्बिदुषां वचनं श्रुत्वा राजा शुद्धोधनः पुत्रविरहेण सर्वान् लौकिकरमणीयान् सम्भारान् आनाय्य तं बालकं तेन प्रकारेण अरञ्जयत् येन बालोऽयं संसारस्य दुःखं ज्ञातुं न शक्नुयात् । स्वल्पावस्थायामेव सः सर्वासु विद्यासु पण्डितोऽभवत्। सकलसुखपदार्थैः परिवृत्तमपि तं स्वपुत्रं संसाराद् विरक्तं दृष्ट्वा राजा अतिलावण्यवत्या राजकुमार्या यशोधरया सह विवाहमकरोत् । तया सह राजकुमारः राहुलनामकं पुत्रम् अजनयत् । परम् एतत् सर्वं विलासाधन सः तृणाय मन्यते स्म । न किञ्चित् साधनं तस्य मनोरञ्जनार्थम् अलम् आसीत् ।

एकदा सः प्रवृत्ते मधुमासे प्राकृतिकं सौन्दर्यं दृष्टकामः रथमधिरुह्य नगरात् बहिः गतवान् । मार्गेऽसौ वृद्ध रोगिणं मृतं च जनमपश्यत् । दृष्ट्वा च तम् सारथिम् पृष्टवान्, कथम् एतस्य एतादृशी दुरवस्था जाता । सारिथः प्रत्युवाच यज्जातमात्रस्य सर्वस्य एतादृशी दशा जायते । प्रत्येकप्राणी वृद्धः भवति, रोगी च भवति म्रियते एतत् । श्रुत्वा संजातवैराग्यः दुःखमात्रं त्यक्तुकामः निर्वाणं च लब्धुकामः मनसि दृढ़ं संकल्पं कृतवान् ।

एवं कदाचित् निशीथे स्वप्रियपुत्रं, दयितां भार्यां पितरौ समृद्धं राज्यं सर्वं विहाय अश्वम् आरूह्य नगरतः बहिः प्रस्थानं कृतवान् । ततोऽश्वं वेषभूषां चापि त्यक्त्वा विधाय च भिक्षुवेषं, ग्रामद् ग्रामं देशाद् देशं भ्रमणं कुर्वन् भिक्षां चरन् प्राणिमात्रस्य दुःखनाशोपायं विचारयन् चिन्ताकुलमानसो बभूव । सः निराहारः षड्वर्षपन्तं घोरं तपः कृतवान् । परं कायक्लेशजनकेन तपसा लाभं न दृष्ट्वा तपः विहाय ज्ञानाधिगतये बोधगयामगच्छत् । तत्र बोधिवृक्षस्याधस्तात् सत्येनाऽहिंसया च कल्याणं भवितुमर्हति इति ज्ञानं लब्ध्वा बुद्धः सञ्जातः ।

क्रमानुसारं सः वाराणसीं प्राप्य तत्रार्यसत्यचतुष्टयं समुपदिष्टवान् । दुःखमस्तीति प्रथमार्य सत्यम्, तस्य दुःखस्य हेतुरस्तीति द्वितीयम् दुःखनिरोधकं निर्वाणं तृतीयम्, तदुपायभूतोऽष्टाङ्गमार्गोऽप्यस्तीति चतुर्थम् । निर्वाणममृतपदम् । ज्ञानसम्पत्तयेऽष्टाङ्गयोगमार्ग एव शरणम् । सम्यक् दृष्टिः सम्यक् संकल्पः सम्यक् वाक् , सम्यक् आचारः सम्यक् आजीवः, सम्यग्वीर्यम्, सम्यक् स्मृतिः, सम्यक् समाधिश्चेति अष्ट-अङ्गानि सन्ति । एषां सदुपदेशः सर्वतो प्राक् सारनाथे अभूत् । पश्चात् स्थाने-स्थाने बुद्धधर्मस्य प्रचार जातः ।

NOTES

एषः भगवान् बुद्धः सत्येन-अहिंसया-तपसा-त्यागेन सर्वत्र सम्मानं प्राप्तवान् । महाभागस्यास्य अनेके शिष्याः सञ्जाताः । स्त्रियोऽपि भिक्षुण्यः जाताः कर्मेण विहार-आरामसंघादयः स्थाने निर्मिताः । संघस्य परिचालनोपयोगिनो नियमाः अपि निर्मिताः । तेषु मुख्यरूपेण सत्यस्य अहिंसा-प्रेम-दया-सदाचार-वासनात्याग एव सिद्धान्ताः सन्ति । बौद्धधर्मस्य त्रीणि रत्नानि जगत्प्रसिद्धानि सन्ति । बहवः राजानः सर्वे वर्णाः ब्राह्मणाः क्षत्रियाः, विप्राः शूद्राश्च पुरुषाः स्त्रियः चापि, भिक्षुकाः गृहस्थाश्चापि बुद्धं शरणं,धर्मं शरणम् , संघ शरणम् उपागच्छन् ।

बुद्धः तु यावज्जीवन ज्ञानमुपदिशन् वार्द्धक्ये कुशीनगरे स्वप्राणान् विहाय निर्वाणं गतः । पश्चात् तस्य शिष्येषु प्रधानशिष्यः आनन्दभिक्षुः अवर्तत् । किञ्चित्कालान्तरं तस्य शिष्येषु वैमत्यं समुत्पन्नम् । तेन बुद्ध धर्मः भागचतुष्टयेषु संविभक्तः-सौत्रान्तिकः वैभाषिकः माध्यमिकः, योगाचारश्चेति भेदात् । सम्राट् अशोकसमये बौद्धधर्मस्य महान् प्रचारः जातः । चीन-जापान-लङ्कादिषु देशेषु सर्वत्रैव बौद्धध र्मस्य प्रचारः प्रसारश्चाभवत् । पश्चात् अस्मिन् धर्मे वासनाजन्यदोषाः समुत्पन्नाः । तेन एषः धर्मः ह्रासं गतः । अनन्तरं परवर्तिभः विद्वांसैः अस्य धर्मस्य खण्डनं कृत्वा अत्यन्तं कृशिमानमनीयत्।

इत्यलम् ।

43. श्रीशङ्कराचार्यः

श्रीशङ्कराचार्यस्य जन्म केरलप्रदेशस्य कलादि-नामके ग्रामे नम्बूदरीब्राह्मणकुले सञ्जातः । अस्य जन्मकालविषये विद्वत्समाजे महान् विवादो दृष्यते । किन्तु साधारणतया अस्य जन्म 788 ई. गेलोकयात्रां च 820 ई. स्वीक्रियते । अस्य पिता शिवगुरुः माता च अर्यम्बा आस्ताम् । यदा शङ्कराचार्यः पञ्चवर्षीयः आसीत् तदा एव अस्य पिता परलोकं ययौ । अत एव पितृहीनस्यास्य बालकस्य भरणपोषणभारो अस्य मातुः उपरि आपतितः । शङ्कराचार्यः तस्यामवस्थायां पाण्डित्यम् अवाप ।

यस्मिन् काले शङ्कराचार्यस्य आविर्भावो जातः तदा अस्मिन् देशे बौद्धधर्मस्य प्रचारः आसीत् । इदं प्रतिभाति स्म यत् ब्राह्मणसंस्कृतिस्थाने बौद्धसंस्कृतिः एवस्थापयिष्यति । उच्यते यत् अस्यां विकटपरिस्थित्यां शङ्कराचार्यः वैदिकसंस्कृतेः उद्धारं कर्तं एव अवतरितः । आचार्यस्य जीवनक्रमेण इदं विज्ञायते यत् तस्य जन्म कस्यचिद् उद्देश्यविशेषस्य् सिद्धयर्थम् एवाभूत् । बौद्धदर्शनस्य खण्डनं तु असौ अवश्यमेव कृतवान् परन्तु तस्य अनेकान् सिद्धान्तान् अङ्गीकृतवान् । अनेनवैदिकसंस्कृततिस्वीकृतृणां मीमांसकानामपि बहुधा आलोचनं कृतम् । अस्य आलोचनादृष्टिः न केवलं परधर्मावलम्बिषु अपितु स्वधर्मावलम्बिष्वपि आसीत् । सत्यानुरागिणेः स्वकीयेषु परकीयेषु न कोऽपि भेदः । महाभागस्य वैराग्यः तस्य जीवनस्य शुचिता तस्य मेधा, तस्य कार्यशीलता दार्शनिको विचारः आदयः गुणाः अलौकिकम् असाधारणञ्च आसन् ।

एकदा पूर्णायां नद्यां स्नातुं गतवान् श्रीशङ्करः तत्र एकः जलान्तरर्गतः मकरः अस्य गाढं जग्राह । तदा आत्मनः मरणकालं ज्ञात्वा मात्रे न्यवेदयत् । मातः नूनमहं कालकवलितः, परं मन्ये त्वं लोकहिताय परोपकाराय सम्यासानुजानीहि, स्यामध्ययनेनैव व्यपदेशेनेशानुग्रहेण मकरग्रहान्मुक्तः जीवनमाप्नुयाम् । इत्थं निवेदिता जननी नान्यमुपायञ्चास्य रक्षणायावलोकयन्ती स्नेहविह्वला विनिवेदिता च भूयः-

व्यजति नूनमयं चरणं चलः , जलचरोऽम्ब तवानु मतेन मे ।
सकल संन्यसने परिकलिपते यदि तवानुमतिः परिकल्पये ।।

इत्थं विनिवेदिता माता नान्यमुपाञ्चास्य रक्षणाय अवलोकयन्ती स्नेहविह्वलाऽपि जीविते सुते शङ्करे परिव्रजिते दर्शनं तु भविष्यति एव मृते तु तदापि दुर्लभमिति निश्चयं कृत्वा स्वानुमतिं दत्तवती उक्तञ्च–

इतिशिशै चकिता वदति स्फुटम् व्यधित सानुमतिं द्रुतमम्बिका ।
सतिसुते भविता मम दर्शनम् मृतवतस्तदु नेति विनिश्चयः ।।

तत्पश्चात् मातुः अनुज्ञाम अधिगत्य महनीयकीर्तिः भगवान् लोकशङ्करः शङ्करः श्री गौडपादाचार्य शिष्यात् श्री गोविन्दभगवत्पादगुरोः दीक्षा गृहीत्वाऽसारसंसारं परित्यज्य संन्यासं जग्राह । ततः गुरोः आदेशेन द्वैतवाद सिद्धान्तध्वजमादाय धर्म विजयाय दिग्विजयाय च ग्रामात् ग्रामं नगरात् नगरम् अटनं कुर्वन् मध्ये-मध्ये विविधैः पण्डितप्रवरैः विद्वद्भिश्च सहादैतवादसिद्धान्तं परामृशन् गतः कदाचित् लोकविश्रुतां वाराणसीं नाम नगरीं या खलु–

पुरा तु वेधा तुलना प्रसङ्गेः न्यधाद्धि काशीममरावतीं च ।
यदा तुलायां तदा गरिम्णा । काशीभुवं प्राप दिवञ्च सान्या ।।

तत्र गत्वा आचार्य प्रवरस्य मण्डनमिश्रस्य गृहम् अन्वेष्टु कामः कूपाज्जलमुदञ्चन्तीं काञ्चिद्धीवरीम् अपृच्छत् । भगवति ? क्वास्ति श्रीमण्डनमिश्रस्य गृहम ? तदा सा धीवरी उवाच –

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थ नीडान्तरसन्निवद्धाः अवेहि तद्धाम हि मण्डनस्य ।।

इत्थं धीवर्या दत्तसङ्केतः श्रीशङ्करः मण्डनमिश्रस्य गृहं गतवान् । तत्र मण्डनमिश्रस्य मेधाविनी भार्या तयोः शास्त्रार्थे निर्णायकं साभापत्यं पदं स्वीकृतवती । तत्र शास्त्रार्थे एषः वैदिकज्ञानप्रदीपः अद्वैतसिद्धान्तः प्रतिपादकः श्रीशङ्करः मण्डनमिश्रव्यजयत् । अद्वैतसिद्धान्ताश्चास्य ब्रह्मैव केवलम् अस्य चराचरप्रपञ्चस्य कारणम् । तत्र वेदान्तसिद्धान्तो ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिन्यदुररीक्रियते । सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेहनानास्ति किञ्चिनेति भगवती श्रुतिः ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः । एषां नये नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त स्वभावस्य स्वयं प्रकाशकस्य चिद्रूपरुपस्य ब्रह्मणः मायाऽविद्याद्युपाधिना कुण्ठितप्रकाशत्वम् । असङ्गस्य च तस्याकाशादि प्रपञ्चजनकत्वञ्च स्वीकृतम् । जगदिदं मायाजन्यं ब्रह्मणा च विवर्तस्वरूपम् । विवर्तो हि नामोपादानाद्विलक्षणोऽन्यथाभावः विवर्तः । उक्तञ्च वेदान्तसारे–

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्तः इत्युदीरितः ।।

अस्तु प्रकृतमनुसरामः । एषः निष्कामकर्मयोगी स्वल्पे वयसि संन्यस्तः जीवनमुक्तश्च द्वात्रिंशद्वर्षदेशीय एहिलौकिकीं लीलां समाप्य परब्रह्मणि लीनः अभवत् । धन्यः खल्वेषः महनीयकीर्ति जगदगुरूः श्री शङ्करः ।

इत्यलम् ।

44. भगवान् महावीर

जैन धर्मस्य अन्तिमः तीर्थङ्करः वर्धमानाऽभिधः जैनाचार्यस्य प्रसिद्धतमस्य पार्श्वनाथस्य सार्द्धशतकद्वयान्ते बिहारप्रान्तान्तर्गते वैशाली ग्रामे 656 ईस्वीपूर्वे जन्म परिग्रहञ्चकार । अस्य महामानवस्य

जन्म ज्ञातृकक्षत्रियवंशे जातम् । अस्य जनकः स्वनामधन्यः सिद्धार्थः माता व त्रिशला नामधेया आसीत् । अस्य पाणिग्रहणसंस्कारः यशोदा देव्या सह अभवत् इति श्वेताम्बरसम्प्रदायवादिनः कथयन्ति । पित्रोः मरणानन्तरमसौ वर्धमानः स्व ज्येष्ठभ्रातुः नान्दिवर्धनस्याऽनुमत्या स्वगृहात् परिवारजनाश्च पर्यत्यजत् । त्रिंशद्वर्षीयोऽसौ 686 ईसवीपूर्वे संन्यस्य स्व सुखं वैभवञ्च विहाय वैराग्यमध्यगच्छत् । अस्य मनसि वैराग्यस्य पूर्वोपार्जिताः संस्काराः पूर्णरूपेण प्रादुरभवन् ।

नूनं वैराग्यमेव निर्वाणकारणम् वैराग्यं विना सांसारिकविषयवासनासु लिप्तः नरः कदाचिदपि निर्वाणम् अधिगन्तुं न शक्तः इति विचार्य संसारस्यऽसारतां ज्ञात्वा सांसारिकरागद्वेषौ परित्यज्य शान्तमनाः द्वादशवर्षाणि यावत् महद्भीषणं तपस्तेपे। फलतः तपसः फलं कैवल्ज्ञानमधिगत्य अहिंसा सत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्यऽपरिग्रहाणां पञ्चमहाव्रतानां गृहमेधिनां लोकपाशबद्धानां कृते परमावश्यकमिति मत्त्वा प्रजाहिताय भंग-वंग कलिङ्गेषु मगध कौशाम्ब्यादिषु प्रदेशेषु धर्मप्रचाराय बभ्राम । एतादृशा परोपकारिणां जीवनं सफलम् ।

तत्तद्देशीयाः प्रजाः प्रजापालकाश्चाऽस्यधर्मे दीक्षिताः । अस्य प्रधानं धर्मप्रचारस्य स्थानं मगध प्रान्तस्य तात्कालीनं राष्ट्रस्थानं राजगिरि नामधेयमासीत् । उत्तरप्रदेशे चासौ अर्द्धमागधी भाषया जैनध र्मस्य प्रचुरं प्रचारं प्रसारञ्च अकरोत् । अस्य प्रथमः प्रधानशिष्यः गौतमः इन्द्रभूतिनामधेयः आसीत् । वर्धमानः रागद्वेषादीन् रिपुन् विजित्य 'महावीरस्योपाधिं जिनोपाधिञ्चालभत् । द्विसप्तति (72) वर्षदेशीयोऽसौ वर्धमान महावीरः जैन धर्मस्य अन्तिमः तीर्थङ्करः 527 ईसवी पूर्व पावापुरीनामधेये पुण्यतीर्थे स्वपाञ्चभौतिकं शरीरं परित्यज्य यशः कायमलभत्।

जैनधर्मे प्राधान्येन मोक्षस्य त्रीणि साधनानि सन्ति । सम्यग् दर्शनम्, सम्यग् ज्ञानम् सम्यक् चरित्रञ्चेति । यथोक्तं आचार्य-उमास्वामिना तत्त्वार्थसूत्रे –

"**सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः** ।" तत्रापि तीर्थंकरैः प्रतिपादितेषु सिद्धान्तेषु महतीश्रद्धैव निर्वाणमार्गस्य प्रधानं पाथेयं जैनधर्मे प्रतिपादितम् । जैनदर्शनेषु ईश्वस्य कापि सत्ता न स्वीक्रियते । परं तत्सत्ता जगरूकतया निराक्रियते। बहुत्ववादः वास्तववादो हि परमोऽभ्युपगमोऽस्य। जैनदर्शन कणे-कणे जीवसत्ताऽङ्गीक्रियते अत एवाणावणौ व्याप्तानां जीवनां परिरक्षणार्थं परमोदात्तोऽहिंसा सिद्धान्तः "**अहिंसा परमोधर्मः**" स्वीकृतः ।

जैनदर्शनेषु ज्ञानं सर्वथा दर्शनान्तरेभ्यः विलक्षणं प्रत्यक्ष-परोक्षभेदेन द्विविधं तत्रात्मसापेक्ष ज्ञानं पत्यक्षाम् । आत्मेतरेन्द्रियादिसापेक्षं ज्ञानं परोक्षम् । परोक्षज्ञानमपि श्रुतिभेदेन द्विविधम् । प्रत्यक्षमपि सांव्यावहारिक पारमार्थिकभेदेन द्विविधम् । परोक्षज्ञानस्यावान्तरभेदाः अपि स्मृति-प्रत्यभिज्ञान-तर्क-अनुमान आगमभेदात् पञ्चभेदा : प्रदर्शिताः ।

स्याद्वादो हि नाम जैनदर्शनस्य प्रधानः वादः। पदार्थाः खल्वनेकधर्मीणः । तेषु पदार्थेषु परिपूर्णं सर्वधर्मसमन्वितं ज्ञानम् । तच्च सर्वसाधारणै : जनैः दुखायम् । केवलमधिगतकैवल्यै सिद्धपुरुषैरेवतदवार्यम् । सर्वसाधारणैस्तु जनैः पदार्थनामांशिकं ज्ञानं लब्धुं शक्यते । तदांशिकं ज्ञानं नयः इति शब्देन व्यवह्रियते । यथोक्तं स्याद्वादमञ्जर्याम्-नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः अनेनेति स नयः । ज्ञानसामान्यं दुर्नय-नय प्रमाणभेदेन त्रिविधं वर्तते ।

नयवादोऽपि जैनदर्शनेषु सविशदमुपवर्णितः । द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनश्यचेति प्राधान्येन पूर्वः द्विविधः नयः तत्र द्रव्यार्थिक नयः त्रिविधः पर्यायार्थिकनयश्च पुनः चतुर्विधः इत्थं सम्भूय सप्तविधः नयः । नैगम-संग्रह-व्यवहार- ऋतुसूत्र-शब्द-समभिरूढ़-एवम्भूतनयश्चेतिभेदात्।

इत्यलम् ।

45. विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

विद्याधनं प्रधानमस्ति । विद्या शब्दस्य उत्पत्तिः ज्ञानार्थकाद् विद्धातोः भवति । कस्यापि विषयस्य वस्तुनः च ज्ञानं विद्यामाध्यमेन एव भवति । विद्या (शिक्षा) तु मनुजस्य तृतीयं नेत्रं भवति । विद्या अर्थात् वेदानामध्ययनं तत्त्वार्थज्ञानम् एतेषामनुशीलनं विद्या एव । उपनिषदाम् अनुसारं द्वे विद्ये परा अपरा च । तत्र अपरा विद्या वेदा वेदाङ्गानि च । परा विद्या साभवति यया अक्षरम् अधिगम्यते । यया लौकिकं ज्ञानं जायते सा अपरा विद्या । यया च अक्षर-ब्रह्म-विषयकं ज्ञानं जायते , सा परा विद्या । द्वे अपि विद्याशब्दवाच्ये, ज्ञातव्ये च वर्तेते ।

विद्येव तद् धनम्, यया सर्वोऽपि मानवीयो मनोरथोऽभिलाषो वा पूर्यते । विद्या द्वारा एव बालकस्य सर्वाङ्गीणविकासः भवति । विद्यया एव कर्त्तव्यस्य अकर्त्तव्यस्य ज्ञानम्, धर्मस्य अर्धमस्य ज्ञानम्, पुण्यस्य अपुण्यस्य विवेकः, लाभस्य अलाभस्य च बोधो भवति । विद्या द्वारा एव लक्ष्यस्य निर्धारणम्, लौकिकविषयावाप्ति :, भौतिकसुखसाधनम्, भूमिगृहविभवादीनाम् अवाप्तिश्च । अपरं च एतस्य वैशिष्ट्यं यद् एतद् धनं न भ्रातृभाज्यम्, न नृपहार्यम्, न च भारकारि वर्तते । यथा-यथा दीयते विभज्यते च तथा तथैव वृद्धिम् अश्नुते । कथितं च-

''न चौरहार्यं न राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि ।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ।।

ससांरे विद्या एव तद् ज्योतिः यद् मानवे मनुष्ये ज्ञानज्योतिः ज्वलयति अविद्यायाः अन्धकारं दूरीकरोति, दुर्गुणान् वारयति, सदगुणेषु च संचारयति , कीर्तिं प्रथयति, गौरवं विकासयति, यशो वितनोति इति । विद्यायाः महत्त्वविषये **नीतिशतके भतृहरिणा कथितम्-**

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं ,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरूः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ।।

अपि च-

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुविभारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरिन्त।।

विद्या मानवस्य किं किं हितं न साधयति ? अपितु कल्पलतेव सर्वसुखसाधिका, सर्वगुणप्रदा, सर्वाभीष्टसंधात्री च सा । एषा मातृवत् संरक्षिका, पितृवत् सत्पथप्रदर्शिका, कान्तावत् सुखदा मनोरञ्जिका च, कीर्तिप्रदा, वैभवदायिनी, दुर्गुणगणनाशेन मनसः पावयित्री च

NOTES

कथितं च भोजनप्रबन्धे-

**"मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते, कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं, किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ।।"**

विद्यायाःपरमं लक्ष्यं विद्यते भौतिकसुखसाधनेन सममेव पापावले निरसन- पुरः सरं मुक्तेः संसाधनम् । यदि न स्याद् विद्यामुक्तेः साधनं तर्हि तदवाप्तिरपि न श्रेयसे न च सुखाय स्यात्। एतत् कथनं प्रसिद्धम्-

"सा विद्या या विमुक्तये ।"

विद्यैव ज्ञानस्य प्राप्तिः भवति। विद्या समोऽन्यः कोऽपि बन्धुः नास्ति। विदेशगमने अपि विद्या एव मित्रम् । विद्यायाः कारणात् मनुष्यः स्वदेशे एव नैव अपितु विदेशेषु अपि सर्वत्र पूज्यते । विद्यां बिना तु मानवस्य विकासः सम्भवोऽपि एव नास्ति ।

मनुष्यस्य जीवने विद्यायाः सर्वाधिकं महत्त्वमस्ति । शिक्षितः पुरुषः समस्ताः विपदः सुखेन तरति, स्वयं सुखी भवति, स्व-ज्ञानस्य प्रकाशं कृत्वा अन्यानपि सुखीकरोति । विद्या हि सर्वोत्कृष्टं धनं विद्यते, तत् चौराः न चौरयन्ति, भ्रातरः न विभाजयन्ति, राजानः न अपहर्तुं शक्नुवन्ति, तत् भारं न करोति ।

व्ययेन तत् निरन्तरं वृद्धिं गच्छति । अन्यत् सामान्यं धनं तावत् विनश्यति । उक्तञ्च-

**अपूर्वः कोऽपि कोशेऽयं विद्यते तव भारती ।
व्ययतो वृद्धिमायाति, क्षयमायाति सञ्चयात् ।।**

विद्यायाः प्रचारेण मनुष्य-समुदायस्य, समाजस्य, राष्ट्रस्य, संसारस्य च कल्याणं उन्नतिश्च भवति । विद्याया बलेनैव अद्य अमेरिका-रूसादयो देशाः उन्नते : तिष्ठन्ति, चन्द्रमपि विजेतुं प्रयतन्ते । विद्या हि माता इव रक्षति, पिता एव हितकार्ये नियोजयति, कान्तवत् दुःखं दूरीकृत्वा आनन्दं ददाति, प्रेम संसारं च करोति, सा लक्ष्मीं वर्धयति, कीर्तिं च दिशासु विस्तारयति, कल्पलता इव सा सर्वान् मनोरथान् पूरयति । तस्या दानमेव सर्वोत्तमस्ति, अतः कथितम्-

**"किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ।
सर्वेषामपि दानानां विद्या-दानं विशिष्यते ।।"**

विद्यया मनुष्यः विनम्रः भवति, ततः सर्वकार्येषु योग्यः भवति । ततश्च धनं प्राप्नोति ततः परं धर्मं सुखं च लभते । विद्या हि प्रच्छन्नं गुप्तं धनं विद्यते, विदेशे सा एव सर्वोत्कृष्टः बन्धुः अस्ति, सा गुरूणामपि गुरुः देवानामपि अधिदेवः अस्ति, तस्मात् विद्यावान् सर्वत्र पूज्यते । अतः साधु कथितं केनापि-

विद्या धनं सर्वधनप्रधानम् ।

इत्यलम्।

46. धर्मोरक्षति रक्षितः

NOTES

धारणार्थकात् "धृ" धातोः 'मन्' प्रत्यये कृते सति धर्मशब्दः सिद्ध्यति । इत्थं- "**धरति लोकान्**" यद्वा "**ध्रियते पुण्यात्मभिर्यः स धर्मः**"

इति धर्मशब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थः । महाभारस्य अनुसारं जगद्धारकतत्त्वानि एव धर्माः यथा-

"**धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो: धारयते प्रजाः ।**"

वस्तुतो यानि तत्त्वानि अथवा ये सार्वभौमसिद्धान्ताः जगत् धारयन्ति ते एव धर्माः। तेष्वेव परिवारस्य समाजस्य राष्ट्रस्य विश्वस्य च स्थितिः प्रतिष्ठा वा । जगतो धारकाणि तत्वानि महर्षिणा पतञ्जलिना एकस्मिन्नेव योगसेत्रे प्रस्तुतानि-

"**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।**"

एते यमा:- 'सार्वभौमा महाव्रतम्' इति नाम्ना व्याहताः। भगवता मनुना धर्मस्व दश लक्षणानि वर्णितानि । यथा-

"**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।**
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।"

एतानि दश लक्षणानि वस्तुतः जीवनस्य समाजस्य च उत्थापकानि, जनमानसपावकानि, लोककल्याणसाधकानि, विश्वशान्तिस्थापकानि च।

लौकिकी समृद्धिः पारलौकिकं च स्वर्गादिसुखं धर्मेणैव प्राप्तुं शक्यते । अत एव धर्म लक्षयता वैशेषिकदर्शनकारेण कणादेन कथितम-

"**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः ।।**"

अत्र भौतिककाध्यात्मवादयोरुभयोरपि रमणीयः समन्वयः दृष्टिपथमायाति । धर्मेणैव मानवो मानवतामुपैति । आहारनिद्रामैथुनादिकं तु मनुष्येषु पशुषु चोभयोरपि सामान्यमेव । मनुष्येषु धर्म एव एकः एतादृशः गुणः येन ते पशूनामपेक्षया उत्तमाः श्रेष्ठाश्च कथ्यन्ते । अतो धर्मशून्या जना पशुतुल्या एव एतदेवाभिप्रेत्य हितोपदेशे कथितम्-

"**आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।**
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।"

अनेन सुनिश्चितं यत् मनुष्यत्वप्राप्तये धर्मपालनमनिवार्यम् । प्राणास्त्यक्त्वापि धर्मरक्षा विधेया । यो धर्मं चरति, विपत्तावपि च धर्मं न त्यजति, धर्मस्तं सततं रक्षति । यश्च धर्माचरणं न करोति, न च तं रक्षति धर्मस्तं नाशयति । अतः धर्मो न हातव्यः न च हन्तव्यः सततं च रक्षितव्यः । इदमेव तथ्यं प्रकाशयता भगवता मनुना भणितम् —

"**धर्मो एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।**
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।"

एतादृशानि उदाहरणानि प्राप्यन्ते यद्धर्मपरायणै: स्वकीयं शरीरं समर्पितं किन्तु धर्मो न त्यक्त:। लोके तेषामेव यश: सुरक्षितम्। अस्माकीनं भारतं वर्षसहस्रात्मिकामपि पराधीनतां सेहे किन्तु स्वधर्मं न जहो । इदमेव कारणं यद् भारतमद्यापि सगौरवं जीवति । जगति स देश:, सा जाति:, ते च जना एव जीवन्ति येषां धर्मो जीवितम् ।

अत्र धर्मशब्द: कर्त्तव्यवाचक:। कतिपयविद्वान्स: धर्मशब्दं वर्णाश्रमधर्मार्थोऽपि स्वीकुर्वन्ति । मनुष्यो यस्मिन् कस्मिन्नपि आश्रमे वर्णे वा संस्थितो भवेत् स स्वकर्त्तव्यं दृढतया पालयेत् । स्वधर्मं पालयन जनो मत्युमपि आलिङ्गेत् किन्तु भयेन स्वधर्मात् पलायनं कृत्वा परधर्मं नैवाङ्गीकुर्यात् । अत: स्वक्षात्रधर्मात् पलायमान अर्जुनमुपदिशता भगवता श्रीकृष्णेन सम्यग् उपदिष्टम् –

"स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।"

एष उपदेश: सर्वदा सर्वेषां जनानां कृते प्रेरणादायक: प्राणशक्तिसंचारकश्च । धर्मो विजयस्य मूलम् । यद्यपि यदा कदा अधर्मोऽपि विजयन्निव प्रतिभाति। अधर्मेण जन: कदाचित् वृद्धिमपि प्राप्नोति ।तथापि अन्ततस्तु स समूलमेव विनश्यति मुनना उक्तम् –

**"अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
तत: सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।।"**

इत्थं अधर्मो विनाशकारणम् । अतो धर्माचरणमेव श्रेय: । धर्ममार्गे बहूनि कष्टानि समापतन्ति । किन्तु तानि सर्वाणि सहमान: यो धर्मान्न विचलति सफलता तस्य चरणचुम्बनं विदधाति । इतिहास: साक्षी–

"सर्वदा सर्वत्र धर्मस्यैव विजयो बभूव । किमधिकम्–रामस्य, कृष्णस्य, पाण्डवानाम्, अन्येषां च धर्मयुद्धरतानां विजयो वस्तुत: धर्मस्यैव विजय: ।

धर्मो मानवस्य सार्वकालिकं मित्रम् । सुखे–दु:खे, सम्पत्तौ–विपतौ, जीवने–मरणे, लोके–परलोके च धर्म एव परमसहायक:। धनानि, पशव: नार्य:, सखाय: अन्ये च सर्वे बान्धवा: मरणोत्तरं मानवस्य साहाय्यं त्यजन्ति किन्तु एक: धर्म: परलोकेऽपि तमनुगच्छति । अत साधु उक्तम्–

**"एक एव सुहृद् निधनेऽप्यनुयाति य: ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ।।"**

47. जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी

जननी जन्मभूमिश्च सर्वविधसुखसम्पन्नं स्वर्गमपि अतिशयाते । अत्रेदं विचारणीयम्, यदस्माकं मातु: मातृभूमेश्च किं स्थानम् ? कतम: सम्बन्धो वरीवर्ति येन ते स्वर्गादपि अतिरिच्येत? जन्मदानात् माता जननीति कथ्यते । यदि वयं गर्भ धारणादारभ्य पालनपोषणपर्यन्तं मातु: स्नेहपूर्णां सद्व्यवहारपरम्परां स्मरामस्तर्हि अस्माकं हृदि महान् श्रद्धासञ्चारो मातु: चरणयोराविर्भवति । स्वकीयानन्द: श्रेष्ठ: वरिष्ठ: सर्वेषामभीष्ट: च। अत एव सर्वे स्वर्गं कामयन्ते किन्तु जनन्या जन्मभूमिं स्वर्गादपि अधिकम्, नात्र सन्देह: । प्रवासकाले स्वीयां जननीं जन्मभूमिं च भावभरितचेतसा सर्वे स्मरन्ति । रावणं हत्वा यदा रामो लङ्कामधितस्थौ तदा तस्मै सा स्वर्णमयी लङ्का अपि न रुरुचे । स: स्वकीयां जननीं जन्मभूमि च स्मारं लक्ष्मणं प्रति इति जगाद–

"अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे रोचते लक्ष्मण।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।।"

सर्वेषां जनानां प्रजनने, पालने, लालने पोषणे च जननीजन्मभूम्यौः उभयोरपि समानं महत्वं स्वतः सिद्धमेव । जनयति उत्पादयति इति जननी । माता केवलं जननी एव, अपितु बालस्य अनेककार्यसंपादनात् सैव "धात्री-अम्बा वीरसूः शक्तिः" इत्यादिभिः विशेषणै अलंक्रियते ।

माता एव पूर्वं शिशुं गर्भे धारयति, ततः प्रसवपीडामनुभवति, तदनन्तरं सैव तं पालयति पोषयति संबर्धयति च सा स्वयं शिशोर्मूत्रपुरीषप्लुते वस्त्रं स्वपिति तं च स्वच्छे शयने शयाति । इत्यं महानुपकारः स्वलु मातुर्पुत्रं प्रति यस्य निष्कृतिरशक्या । अत एवोक्त मनुना-

"यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ।।"

मातापित्रोरुभयोरपि माता एव महीयसी । पितुरपेक्षा मातुर्महत्त्वं सहस्रगुणमधिकम् ।

तैत्तिरीयोपनिषदि आचार्येण अन्तेवासिनं प्रति कृतोऽयमुपदेशः सर्वथा सार्थकः । स्वदिव्यगुणैः माता सततं पूजनीया। सा बालस्य पालनाय पोषणाय संवर्धनाय संरक्षणाय च स्वं सर्वस्वमपि समर्पयति । अत एव सा बालस्यापि सर्वस्वमेव । सा एव परा देवता-

"माता परं दैवतम् ।"

स्वधैर्यौदार्यक्षमादि गुणगौरवात् सा पृथिव्या मूर्तिरिव।

"माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः।

भूमेर्भारस्तोलयितुं शक्यः किन्तु पुत्रं प्रति भद्रभावनाभरितं मातुः हृदयमतुलनीम् । इदमेव तथ्यं प्रमाणीकुर्वन यक्षेन पृष्ठे युधिष्ठिरो जगाद-

"माता गुरूतरा भूमेः ।"

यत्सुखं बाल्यावस्थायां मातुः क्रोडे अनुभूयते तदाजीवनमन्यत्र कुत्रचिदपि न लभ्यते । ममतायास्तु साक्षात् प्रतिमा एव खलु माता । सा सर्वतीर्थमयी, सर्वथा पूजनीया प्रदक्षिणीया वन्दनीया चेति प्रतिपादयन् भगवान् व्यासो व्याजहार-

"सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता ।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत् ।।
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम् ।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।।
जानुनी च करौ यस्य पित्रो प्रणमतः शिरः ।
निपतन्ति पृथिव्यां च सोऽक्षयं लभते दिवम् ।।

इत्थं माता स्वर्गादपि गरीयसी महीयसी च । माता एव प्रथमा पाठशाला । माता स्तन्यपानकाले एव पुत्र सर्वं शिक्षयति । सा बालहृदये यानि संस्कारबीजानि वपति तान्येव आजीवनं पुष्पितानि पल्लवितानि च जायन्ते । इतिहासप्रसिद्धा आदर्शमाता देवी मदालसा स्वान् पुत्रान् लालयन्ती इत्थं शिक्षायांचक्रे–

''शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमायापरि वर्जितोऽसि ।
संसारमायां त्यज मोहनिद्राम्- मदालसा शिक्षयतीह बालम् ।।''

एवमेव माता जीजाबाई शिवाजीमहाभागं देशभक्तिपाठं पाठयामास। अन्येऽपि सर्वे महापुरुषा मातृभिरेव महत्तां प्राप्तः। वस्तुतो जननी एव जनानां मिर्माणहेतुः ।

जननीवत् जन्मभूमिरपि पूज्या सापि स्वार्गापवर्गापेक्षया समधिंक गरिमामयी महिमामयी च । यस्याम् अस्माभिर्जन्म गृहीतम्, सा क्वचिदपि कदाचिदपि न विस्मरणीया । यस्या जलं पायं-पायं यस्याश्च अन्नं भोजं भोजम् आस्माकीनं शरीरं सुपुष्टं सबलं तेजोमयम् ओजोमयं च सञ्जातं सा मातृभूः सततं वन्दनीया । रत्नगर्भाया वसुन्धराया उदरं खनित्रेण विस्फार्य अस्माभिः सुवर्णादिकं गृह्यते । प्रतिदिनं च तस्या उपरि मलमूत्रादिकं विसृज्यते, किन्तु तथापि सा धरणी धात्रीव अस्मान् अङ्के ध ारयति । इत्थं क्षमाया अवतारभूता क्षमानामधेया स मातृभूमिरस्माभिः श्रद्धया अर्चनीया ।

भारतम् आस्माकीना जन्मभूमिः। इदमास्माकीनं गौरवम् । भारतदेशः प्राचीनतमः खलु । भारतीय संस्कृतिरपि प्राचीनतमा। यथोक्तमाद्यग्रन्थे वेदे–

''सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा।''

भारतमेव सर्वप्रथमं सभ्यतासूर्येण भारतं कृतम् । यथाह विश्वकविटैगोरमहाभागः–

प्रथम प्रभात उदय तव गगने प्रथम सामरव तव तपोवने ।''

भारतमनीषिभ्य एव विश्वमानवाः स्वचरित्रशिक्षां लेभिरे । यथा च मनुर्घोषयांचकार–

''एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।''

इत्थं धन्या खलु भारतभूमिस्तत्र लब्धजन्मानः च वयं सर्वे । भारतस्य प्राकृतिकसुषमापि रमणीयतमा। प्रकृत्या रङ्गस्थली खलु भारतभूमिः । नानारूपधारिणी प्रकृतिनटी अत्र सर्वेषु ऋतुषु नानाविधं शृङ्गारं करोति सर्वेषां च चित्तं चमत्करोति । तारांकितं नभः, सस्यश्यामला भूमिः, हिमाच्छादिताः पर्वताः, कलकलनिनादिन्यो नद्यः, गर्जन्तो मेघाः, नृत्यन्तो मयूराः, कूजन्तः कोकिलाः, गुञ्जन्तो भ्रमराः, पुष्पिताः वाटिकाः, फलभारनम्राश्च वृक्षाः सर्व एव भारतदेशमहिमानं प्रकटयन्ति । एकतो देवनदी गङ्गा अपरतश्च प्रेमनदी यमुना भारतभुव प्रीणयतः । रामकृष्णदयानन्दगौतमबुद्धादयो महापुरुषाः स्वजन्मना भारतं पावयामासुः । वाल्मीकि-व्यासकालिदासादयः कवयः काव्यव्याजेन भारतवन्दनां वितेनिरे । किमधि ाकम्-देवा अपि भारतभूमिगौरवं मुक्तकण्ठेन गायन्ति । विष्णुपुराणे यथा उक्तम्–

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।"

इत्यलम् ।

48. अनुशासनस्य महत्त्वम्

मानवजीवनस्य विकासे अनुशासनस्य विशिष्टं महत्त्वमस्ति । ह्रासविकासयोः क्रमः चक्रारपङ्क्तिरिव चलति । मनुष्येषु अयं क्रमः बाल- युवा-वृद्धेति क्रमेण परिणतिं गच्छति । अद्य ये छात्रत्वेन अस्माकं पुरः उद्यानकोरकायमाणा विकासोन्मुखा दृश्यन्ते, ते एव भाविनो जगतः मान्याः कर्णधारा भविष्यन्ति, अतः तेषां स्कन्धेषु महान् भारराशिः निक्षिप्तो भविता । कथं ते एतादृग् गुरुतरभारवहने समर्था भवेयुः-विषयेऽस्मिन् किमपि विवेचनीयमस्ति ।

बालकावस्थायां ब्रह्मचर्यादिनियमानभ्यसन्तः यथाविधि अध्ययनं मननं निदिध्यासनं च कुर्युः। गुरुजनानाम् उपदेशान् पालयन्तः तेषां चरणेषु निवसन्तःये स्वकीयम् अध्ययनकालिंक जीवनं गमयन्ति, ते एव स्वतन्त्रस्य देशस्य महतीं धुरं निर्वोढुं समर्था भवन्ति । लोकः अपि तेषु विश्सीति यद् एते सच्चरितपुष्टकायाः गुरुपदेशेषु विश्वसन्तः, पवित्रान्तःकरणा नूनं देशस्य भागधेयानि अभिवर्धयिष्यन्ति । अद्य गान्धिप्रभृति महापुरुषवर्य्याणां महता महता अदम्येन उत्साहेन परिश्रमेण च अस्माकं भारतवर्षं पराधीनतापाशान्मुक्तिमधिगम्य स्वतन्त्रतां गतम् । तदानीं ये छात्रा आसन् ते एव अद्य क्रमशः देशस्य नेतारः सन्ति । साम्प्रतिकाः ये स्वकर्मपरायणाः सन्ति ते भाविनि काले देशस्य अस्य स्वतन्त्रयसंरक्षणं विधास्यन्ति इति समेषां मनीषा ।

शिक्षाकाले यथा सर्वविधाः बालकाः शिक्षकाणां चरणेषु श्रद्धावनताः उपविशन्ति, प्रेम्णा भ्रातृभावमापन्ना व्यवहरन्ति तथैव सामाजिकजीवनेऽपि व्यवहर्त्तव्यमिति न विस्मर्तव्यम् । शिक्षणविषयेषु अपि तेषामेव विषयाणाम् अध्ययनं समीचीनं भवति । ये प्रायोगिकाः, स्युः, एतादृक्षु विषयेक्षु विषयेषु कृषिः, कुटीरोद्योगा, यन्त्रादिनिर्माणप्रकाशः, विविधप्रकारेषु सत्सु यः कोऽपि विषयः अभीष्टः स्यात् तत्र साभिनिवेशं प्रयत्नीयम् यथा पश्चादपि जीवनक्षेत्रे तस्य महदाकारेण प्रयोगः स्वस्मै अर्थकरः स्यात्, समेषां हिताय च भवेत् । छात्रा एव राष्ट्रस्याधारभित्तयः ।

"शतायुर्वै पुरुषः"

इति प्रमाणेन पुरुषः शतं वर्षाणि जीवति । तज्जीवनं चतुर्ष भागेषु विभक्तम् । तेषु प्रथमो भागः ब्रह्मचर्याश्रमः, द्वितीयो गृहस्थाश्रमः, तृतीयो वानप्रस्थः, चतुर्थः तु संन्यासाश्रमः । एषु प्रथमो ब्रह्मचर्य्यमयः कालः विद्याध्ययने **विनियोजनीयः, इदमेव मुख्यं कर्तव्यं छात्राणाम् ।**

"कार्यकालं न हापयेत् ।"

यद्यपि इदं चः सर्वैः समानरूपेण आदरणीयम् तथाऽपि छात्रैः एव विशेषेण अवधेयम् । यतो हि-

"प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम् ।
तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यति ।।"

एतेन सिद्धं भवति यत् प्रत्येकं विभागे अनिवार्यकर्माणि वर्णितानि सन्ति तेषामाचरणम् अत्यन्तमावश्यकम् । इत्थं महत्त्वपूर्णं छात्रजीवनं यो व्यर्थं यापयति स स्वकीयं समस्तं जीवनं

कण्टकाकीर्णं करोति । अध्ययन काले ये छात्राः उपदेशपूर्णानि गुरुणां कठोर-वाक्यानि श्रुत्वापि ध ैर्यमालम्ब्य अध्ययनं कुर्वन्ति ते पश्चात् सुखेन कालं गमयन्ति। यथा-

''गीर्भिर्गुरुणां परूषाक्षराभिः सन्तर्जिता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कर्षणा नृपाणां न जातु मौलो मणयो वहन्ति ।

राज्ञो मुकुटेषु ये मणयः खचिताः दृश्यन्ते ते शाणोत्कषणानन्तरम् एव तद्योग्यतां बिभ्रति, तथैव गुरूणां परुषाक्षरैः धार्षिताश्छात्राः महत्सु पदेषु प्रतिष्ठिताः शोभन्ते । संक्षेपेण छात्राणां कर्त्तव्यसूचीयं निर्दिश्यते-

''सत्य-अहिंसा -अस्तेयभावना-ब्रह्मचर्यापरिग्रह-जितेन्द्रियत्व-शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-भगवदुपासना इति। ब्रह्मचर्यास्यापि महिमानं वर्णयन्ती श्रुतिः कथयति-

''ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।''

मृत्युरपि येन निर्जितो भवति यद् ब्रह्मचर्य्यमिति प्राचीनाः।

अधुना छात्रजीवनं सर्वथा विपरीतमिव संवृत्तम । तेषां प्रवृत्तिः सर्वथा अध्ययनाद् दूरीभूय अन्यत्र रमते । गुरोः उपदेशमन्तरा सम्यक् मार्गदर्शनं कथमपि केनापि प्रकारेण नैव शक्यते, इति व्यवहारतः शास्तोऽपि सिद्ध्यति, किन्तु इदानीं गुरुषु छात्राः न तथा श्रद्धाबद्धावशाः दृश्यन्ते यथा आवश्यकता भवति । तेषामनादरेणविद्यायाः दृढ़ ह्रासः, विद्यायाः ह्रासेन बालकानां ह्रासः, तेषां ह्रासेन तेषां देशस्य ह्रासः यस्य ते कर्णधाराः सम्भविष्यन्ति।

यथा देशस्य आधारशिलाश्छात्राः भवन्ति तथैव छात्राणां तात्कालिकजीवनस्य आधारशिलारूपा गुरवः विराजन्ते । ते तथा धीमतः, शूरान् वीरान्, दानशीलान् कर्मठन् देशभक्तान, दयालून्, शासकान्, वैज्ञानिककान् वा रचयिष्यन्ति यथा ते भाविनि युगे कार्यं समाचरिष्यन्ति । छात्राणामपेक्षया गुरुजनाः उपदेशकर्मसु उदासीनाः भवेयुश्चेद्र हन्त! तर्हि को नाम अपरः देशस्य समुद्धर्ता स्यात् । अतः पुनरपि छात्रैः तथा प्रयतितव्यं यथा ते पूर्ववद् गुरुषु श्रद्धालवो भवेयुः तेषां ज्ञानजातमाकण्ठं निपीय बाह्येन आन्तरिकेण च शरीरेण सम्पुष्टास्ते सर्वत्र सम्मानं लभेयुः।

इत्यलम् ।

49. योगः कर्मसुकौशलम्

व्याकरणशास्त्रस्य मूर्धन्यग्रन्थवैयाकरणमहाभाष्यस्य रचयिता भगवता पतञ्जलिना निर्दिष्टं यत् ''योगश्चिवृत्तिनिरोधः ।'' भगवता श्रीकृष्णेनापि गीतायां तस्य विषयस्य चर्चा विहिताऽस्ति-

''योगः कर्मसु कौशलम्'' इति ।

अवितथमिदमुभयोर्जल्पितम् । यदि नाम वयं किमपि कार्यं परिश्रमसाध्यमनायाससाध्यं वा कर्तुं विचारयामः, तत्र मनसः एकाग्रता सुतरामपेक्षते । सर्वेषां प्राणिनां मनसः का स्थितिः भवति अस्मिन् विषयेऽपि भगवद्गीतायां श्रीकृष्णेन कथितम्-

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।"

अर्जुनः पृच्छति, भगवान् ! एतन्मनः प्रमाथि मनुष्यस्य विचारजातं मथ्नाति तथा कामं दृढमपि वर्तते । मानवः यद् विचारयति तत्प्रमथ्य अन्यदेव कर्तुंप्रवर्तयति अत एतस्य निग्रहः, वायोर्निग्रहापेक्षयापि कठिनतरं मन्ये । इदं तथ्यं, यावन्मानवस्य मनसः स्थितिः एकाग्रा न भवति तदवधि स न किमपि कार्यं कर्तुं प्रभवति न वा तत्र सिद्धिरेव जायते ? तस्य प्रश्नस्य उत्तरे श्रीकृष्णः वदति–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।

भगवता श्रीकृष्णवचं अयमेव सारः यत् अभ्यासेन वैराग्येण च मनः स्वायत्तीकर्तुं पार्यते । यदनु कार्यसिद्धिः सम्भवति स एव योगः । तपसि संलग्नानां महापुरुषाणां स्वरूपं निरूपयता भगवता एकत्र विवेचितं वर्ते–

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।

अयं ध्यानयोगः कार्यसिद्धौ साधकः अभ्यासपरवशश्च वर्तते । निवातस्थानस्थिततदीपज्योतिरिव यदा साधकः स्थिरबुद्धिः भवेत् तदा तस्य मनसः स्थितेः किं वक्तव्यम् अवशिष्यते । तव स नूनं लौकिकं पारलौकिकं वा कार्यं साधयितुं सुतरां समर्थः भवति ।

अनन्यांश्चिन्यन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

भगवतः भक्तानाम् एकमेव कर्म यद् भगवतोऽनन्यभावेन स्मरणं ततः सः स्वयमेव तेषां योगक्षेमस्य कर्ता भवति । बुद्धियोगस्य चर्चाऽवसरे तेन उक्तमस्ति यत् ये भक्ताः मच्चित्ताः, मद्गतप्राणां च भूत्वा परस्परम् इत्थम् उपदिशन्ति तेभ्यः तादृशीं बुद्धिं प्रदाय तान् आत्मीयान् करोमि इति ।

इदं सर्वे सर्वदा इच्छन्ति यत् येषु कार्येषु वयं संलग्नाः स्म तेषु सर्वेषु अपि उत्तरोत्तरं सफलता स्यात् तत्र सन्ति बहूनि कारणानि, यदिदं जगत् नैकस्मिन् सिद्धान्तेऽवस्थितम् । तत्र केऽपि परिश्रमस्य प्रशंसकाः तदपरे भाग्यवादिनः, इत्थं कार्यपद्धतौ विषमता आयाति । नीचाः विघ्नानां भयेन कार्यं एव न प्रारभन्ते, मध्यमकोटिकाः पुमांसः विघ्ने सति मध्ये एव विरिमन्ति सन्ति कतिपये दृढ़सिद्धान्ताः ये स्वकीयं मनः स्थिरीकृत्य कार्यस्य आरम्भं कुर्वन्ति, तेषां कार्यमध्ये यदि विघ्ना आयान्त्यपि तर्हि ते तानविगणय्य कार्यसमाप्तिं यावत् बद्धपरिकराः तिष्ठन्त्येव । एतादृशाः पुरुषपुङ्गवाः कर्मयोगिन इति कथ्यन्ते किन्तु जगति एतादृशानां संख्या अङ्गुलगणनीया एव । कर्मसु अपि तानि एव कर्माणि श्रेष्ठानि कथ्यन्ते यानि परेषां हिताय कल्पन्ते तद्द्वारा वात्मनोऽपि श्रेयः स्यात् ।

फलमस्तु मास्तु वा अस्माभिः कर्म कर्त्तव्यम् इति विचार्य ये कर्मक्षेत्रे अवतरन्ति ते कर्मठाः कथ्यन्ते तेषामेव जगति समादरो भवति । केवलं ये उदरम्भरिणो तेषु न कोऽपि स्निह्यति । लोके स एव उत्तमो योगी कथ्यते यः सर्वेषां परोपकाराय जीवन् कर्मपथान्न विचलति ।

NOTES

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवाऽर्जुनः ।।

इत्यलम् ।

50. एकं सद्विप्राः बहुधा वंदन्ति

मन्त्रा शोऽयं ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य सूक्तस्य एकस्य मन्त्रस्य वर्तते । स च–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहुः ।।

अयं मन्त्रः एकेश्वरवादस्य डिंडिमघोषं करोति । एकेन पदेन ईश्वरः गृह्यते । तत् पदम् अद्वितीयम् इति द्योतयति। सः ईश्वरः एक एव अस्ति । अन्यानि च इन्द्र–वरुण–रुद्र–प्रभृतीनि नामानि अपि तस्यैव परमात्मनः सन्ति । सद्विप्राः पदेन आप्ताः गृह्यन्ते आप्तवाक्यं च प्रमाणं भवति । बहुधा पदं बहुप्रकारेण अर्थं सूचयति । सारोऽयं यत् ईश्वरः एक एव अस्ति स च विद्वद्भिः अनेकनामभिः नैकविधप्रकारैश्च ज्ञायते वर्ण्यते लिख्यते च ।

वेदेषु देवानां कल्पना स्तुतिश्च अदभुता अद्वितीया च विद्यते । देव शब्दः यास्काचार्येण दा द्युत्–दिव् धातुभ्यः निष्पन्नः वर्णितः । देवो दानात् वा दीपनाद् वा द्युस्थानो भवति इति देवशब्दस्य निरुक्तिः निरुक्ते कृता । ब्राह्मणेन तावत् विद्वांसो वै देवाः "**सत्यमयाः उ देवाः**" प्राणाः देवाः, मनो देवः, चक्षुर्देवः, वायुर्देवः, इत्यादिमंत्रांशेषु देव–शब्द; अनेकार्थकः प्रतिपादितः । अनेक–ब्राह्मणेषु ते देवाः त्रयस्त्रिशत् देवाः वर्णिताः । शतपथब्राह्मणे लिखितं वर्तते यत् "अष्टौ वसवः । एकादश रुद्राः । द्वादश आदित्याः इमे एव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिंशः । त्रयस्त्रिंशद् वै दैवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः" प्रजापतिश्च अनेक–स्थानेषु ईश्वरत्वेन वर्णितः खलु । स ईश्वरः एव च देवानाम् अधिदेवः एकश्च विद्यते । सः हि अक्षरः सर्वव्यापी विद्यते । देवपदवाच्याः इन्द्र–वरुण–प्रभृतयः तदाश्रिताः एव । तथा च ऋग्वेदे "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवाः अधिविश्वेनिषेदुः" अयं मंत्रांशः एकेश्वर वादस्य अन्येषां देवानां च स्थितिं स्फुटं प्रतिपादयति ।

एकेश्वरवादस्य प्रतिपादकाः बहवः मन्त्राः बहूनि च सूक्तानि वेदेषु विद्यन्ते । ऋग्वेदे केवलं एकमात्रे परेश्वरस्य पूजायाः विधानमस्ति । अन्येषां च पूजाया निषेधो वर्तते–

माचिदन्यद् दिशंसत सभायो मा ऋषण्यत ।
इन्द्रमित स्तोत............................।।

अन्यत्र वर्णितं यत् परमेश्वरः एकः निश्चयेन एकः एव परीवर्तिः–

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।
तमिदं निर्गतं सह स एव एकः एक इत् एक एव ।।

एकेश्वरवादस्य यादृशं प्रबलं स्पष्टं च प्रतिपादनं उक्तमन्त्रेषु वर्तते तादृशम् अन्यत्र कुत्रापि न दृश्यते । इदमेव कारणं यत् पाश्चात्यः विद्वान्सः अपि अनेके एकेश्वरवादं स्पष्टं स्वीकुर्वन्ति । सुप्रसिद्धविदुषा अर्नेष्टवुड महोदयेन स्वपुस्तके लिखितम्:–

हिन्दूनां दृष्ट्या केवलम् एक एव ईश्वरः वर्तते । तच्च पुराकाले ऋग्वेदे "**एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति**" इति मंत्रांशे प्रतिपादितम् ।

वेदानां व्याख्याता मेक्समूलरादयः स्वग्रन्थे अलिखत् "भवेन्नाम वैदिकसंहितानां अनिर्णीतः कालः परन्तु तासु संहितासु एकेश्वरवादस्य कल्पना निर्णीता ननु ।" तेन विदुषा स्वरचिते प्राचीन संस्कृत-साहित्यस्य इतिहासे लिखितम्-

अहं दशममण्डलस्य एकम् अन्यत् सूक्तं संयोजयामि यस्मिन् एकेश्वरस्य विचारः अस्ति, दशममण्डलस्य द्वाशीतिसूक्ते विश्वकर्मा जगत् कर्ता चेति नाम्ना परमेश्वरस्य स्मरणं कृतमस्ति । अस्मिन् सूक्ते वारत्रयं परमेश्वराय एक इति पदं प्रयुक्तम् । तेषु च "**यो देवानां नामधा एक एव इति मंत्रांशः**" सर्वाधिकं महत्त्वपूर्णः । अस्मिन् खलु प्रतिपादितं यत् ईश्वरः एक एव स च अनेकेषां देवानां नाम धत्ते । ऋग्वेदस्य एव हिरण्यगर्भसूक्ते चतुर्वारम् ईश्वराय एक पदस्य प्रयोगः दृश्यते । तत्र च "**पतिरेक आसीत्**" यो देवेषु अधिदेव एक आसीत् महित्वैक-इदं राजा जगतो बभूव । ततो देवानां समवर्तताशुरेकः इत्यादि मन्त्रांशाः द्रष्टव्याः सन्ति ।

अथर्ववेदे अनेकस्थानेषु एकः परमेश्वरः एव केवलं पूजनयीः अस्तीति वर्णितं ननु । एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः "पतिरेक एव नमस्यः सुशेवः' एतादृशान् मन्त्रान् वीक्ष्य वैदिकस्य एकेश्वरवादस्य विषये लेशमात्रमपि संशयो नावशिष्यते। इतोऽपि चेत् एकेश्वरवादस्य संशयः स्यात् तदा अणुमात्रस्यापि तस्य निवारणाय पुनः ऋषिभिः मंत्राः लिखिताः सन्ति । एकः पाश्चात्य कोविदः ब्रवीति यत् वेदेषु एकेश्वरवादः तथा प्राबल्येन स्थिरनिश्चयेन समं प्रदर्शितः यत् आर्याणां नैसर्गिक-एकेश्वरवादित्वम् अस्वीकुर्वद्भिः अस्मादृशैः अत्यधिकं संकोचः अनुभविष्यते ।"

इत्थं निर्णीतं यत् ईश्वरः एक एव । बहूनि च तस्य नामानि उच्चार्यन्ते कोविदैः स एक एव ईश्वरः, जगत्पतिः, अनादिः, अजन्मा, सर्वव्यापकः सर्वान्तर्यामी, अनश्वरः च विद्यते । क्रान्तदर्शिनः कवयः एकं तं बहुप्रकारेण कल्पयन्ति तत् यथा ऋग्वेदे स्पष्टं लिखितम्-

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिः एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति अतः सत्यमेव प्रसिद्धं यत्......'**एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति** ।"

इत्यलम् ।

51. जनसंख्या समस्या

साम्प्रतं संसारस्य सर्वेषां देशानां जनसंख्या निरन्तरं वर्धिता येन जगतः समक्षे अनेकानां समस्यानां सन्दोहा उत्पद्यन्ते । एतासां समस्यानां सम्यक् समाधानं कस्यचिदपि विदुषः विचारपथं नारोहति । साम्प्रतम् अस्माकं देशस्य जननेतृणां ध्यानमपि अस्याः समस्यायाः उपरि गतमस्ति । ते राजनेतारः अस्याः समस्यायाः समाधानार्थं सततं प्रयासं कुर्वन्तः सन्ति । यद्यपि अस्माकं देशे पूर्वतः एवं अनेके उपायाः परिवारनियोजनस्य अन्वेषिताः परन्तु यावत् जनसामान्यान् प्रति अस्य परिवारनियोजनस्य महत्त्वं प्रतिपादितं न भवेत् यावत् अशिक्षितानां जनानां मध्ये अस्य महत्त्वं प्रचारितं न भवेत् तावत्तु अस्याः समस्यायाः वास्तविकं समाधानं न भवितुं शक्नोति ।

सम्प्रति अस्माकं भारतवर्षस्य जनसंख्या प्रायः शतलक्षः सञ्जाता अस्ति, भाविनिकाले अस्यां वृद्धिरेव भविष्यति । यया इदमपि सम्भाव्यते यत् किञ्चित् वर्षानन्तरं देशस्य समक्षे खाद्यवस्तूनां सुतरामभावः भविष्यति । निवासार्थञ्च स्थानाभावोऽपि भविष्यति देशे जनसंख्या वर्धनेन शिक्षायाः समुचिता व्यवस्थापि सर्वेषां जनानां कृते न भवितुं शक्ष्यति । अतः पितृणाम् अभिभावकानां समक्षे एतादृश्याः समस्याः सञ्जाताः भविष्यन्ति याभिः समस्याभिः सङ्गताः जनाः विविधानां कष्टानाम् आधिव्याधीनाञ्च भाजनानि भविष्यन्ति । उक्तञ्च केनापि कविना–

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।
एको सूर्यः तमो हन्ति न च तारागणाः अपि ।।

अस्माकं भारतदेशे स्वर्गीया प्रधानमन्त्रिपदारूढा श्रीमति इन्दिरागान्धि–महोदया अद्यतः एकादशवर्ष पूर्वमेव जनसंख्यावृद्धेः समस्योपरि विचारं कृतवती । तया महानुभावया बहवः प्रयासाः विहिताः । इन्दिरागान्धिमहोदयायाः शासनसमये एव **"अखिलभारतीय-परिवार-नियोजन-परिषद्"** नाम्नी एका संस्था संस्थापिता । एतया संस्थया अस्याः समस्यायाः समाधानाय बहवः प्रयासाः विहिताः । एतया संस्थया स्थाने-स्थाने परिवार नियोजनस्य कृते अनेकानां शिविराणाम् आयोजनं कृतम् । तेषु शिविरेषु समाजशास्त्रीयाणां प्रवचनानि श्रावितानि । नैकानां भिषजां प्ररोचनारूपाणि सम्भाषणानि कारयितानि । पुरस्कारस्वरूपाणि रुप्यकाण्यपि तेभ्यः परिवारनियोजनपात्रेभ्यः दत्तानि । तस्याः शासनकालस्य मध्यभागे यदा देशस्यभ्रष्टजनानां भ्रष्टाचाराणां रहस्योद्घाटनं प्रारब्धं तदा सर्वे भ्रष्टाः राजकर्मचारिणः अधिकारिणश्च एकत्रीभूय मिलित्वा च श्रीमती स्वर्गीयां इन्दिरागान्धिमहोदयां प्रधानमन्त्रिपदात् पृथक्करणार्थं सफलप्रयासान् चक्रुः ।

साम्प्रतम् अनेके सफलताः उपायाः परिवारनियोजनस्य प्रचलिताः सन्ति । बहवः अस्य कार्यक्रमस्य समर्थनं कुर्वन्ति । येषां पार्श्वे द्वौ सन्तानौ भवतः ते स्वयमेव परिवारनियोजनस्य योग्याः भवन्ति । ईदृशाः जनाः येन केनचित् उपायेन सन्तानोत्पत्तिम् अवरुद्ध्यर्थं प्रयत्नानि कुर्वन्ति । केचित् 'निरोध' इत्याख्यस्य पदार्थस्य प्रयोगं कुर्वन्ति, केचित् पत्न्याः शल्यक्रियामेव कारयन्ति केचित् विविधविधानां गुलिकानां प्रयोगेण सन्तानवृद्ध्युपरि विजयं प्राप्नुवन्ति, केचिञ्च संयममाध्यमेनजीवनं यापयन्ति । अतः तेऽपि सन्तानोत्पत्तिरूपकार्ये स्वेच्छया योगदानं कुर्वन्ति ।

साम्प्रतं तु ये पुरुषाः स्त्रियः वा सर्वकारस्य अस्मिन् कार्ये योगदानं कुर्वन्ति ते पुरस्कारभाजनानि भवन्ति । तेषां कृते विविधविधान् पदार्थान् सर्वकारस्य प्रतिनिधयः यच्छन्ति । ते जनाः प्ररोचनारूपं कार्यं कुर्वन्ति तेऽपि कानिचित् रूप्यकाणि पुरस्कारस्वरूपाणि प्राप्नुवन्ति । येषां सर्वकारकर्मचारिणां पार्श्वे द्वौ एव सन्तती विद्येते तेषां कृते अधिका एका वेतनवृद्धिः सर्वकारेण सम्प्रदीयते ।

वस्तुतः आधुनिके युगे महदावश्यकता वर्तते परिवारनियोजनस्य । अस्मिन् सर्वैः विचारवद्भिः इदं करणीयम् आवश्यकं वर्तते यत् परिवारनियोजनरूपकार्यं कस्यचिदपि व्यक्तिविशेषस्य नास्ति अपितु अखिलदेशस्य कार्यमिदं सर्वैः करणीयम् । सर्वे देशवासिनः अनेन उपायेन लाभान्वितः भविष्यन्ति । यदा देशे खाद्यसमस्या सञ्जाता भविष्यति, निवास-समस्या उत्पन्न भविष्यति, शिक्षासमस्या वर्धिता भविष्यति, तदा अस्माकं देशः अनेकानि कठोराभिः समस्याभिः ग्रसितः भविष्यति, नास्ति अत्र विप्रतिपत्तिः । अतः सर्वैः जनैः अस्मिन् महत्त्वपूर्णे देशहितार्थे कार्ये योगदानं देयम् इति निबन्धकारस्य बलीयसी अभिलाषा वर्तते ।

इत्यलम् ।

52. देशे साम्प्रदायिकी समस्या

देशेऽस्मिन् विविधधर्मावलम्बिनः जनाः निवसन्ति । यथा हिन्दवः, मुहम्मदीयाः, ईशायवः, पारसीकाः, विविधजात्युत्पन्नाः ब्राह्मणाः, क्षत्रियाः, यादवाः, बौद्धाः, जनाः, शैवाः, शाक्ताः, वैशणवाः इत्यादयः । तेषां मतवैषम्यात् कलहः विरोधः संङ्घर्षः च भवन्ति । वयमास्तिकाः यूयं नास्तिकाः, वयं वैदिकाः यूयमवैदिकाः अस्माकं सम्प्रदायः प्राचीनतमो युष्माकं पुनर्नवीनः किञ्चित्कालादेव प्रचलितः इत्येवं परस्परम् आक्षेपं कुर्वन्तः साम्प्रदायिकाः जनाः सर्वे विश्रुता भवेयुः । एवमेव वयं ब्राह्मणा अत एव श्रेष्ठाः यूयं क्षत्रियाः यादवाः अत् एव अश्रेष्ठा इति कलहायमानाः दृश्यन्ते। विविधधर्मानुयायिनां तत्तत्सम्प्रदायनामोल्लेखपूर्वकं तत्तसिद्धान्तखण्डनप्रवृत्तनां ग्रन्थानां नामसु 'मुखभङ्गः' कर्णविमर्दनम्' 'मुखचपेटिका' इत्यादिपदविन्यासोऽपि तादृश्या एवासहिष्णुतायाः लज्जास्पदं निदर्शनम् ।

अस्मिन् काले समुन्नतदेशेषु तत्तदनुदारसाम्प्रदायिकभावनासु प्रतिदिनं समुपक्षीयमाणास्वपि भारतीयेषु राष्ट्रीयभावनानष्टकरोऽसष्णुतायां: सद्भावः कस्य देशहितैषिणः आर्यधर्माभिमानिनोः मनस्तापं न विस्तारयति । यद्यपि सर्वैः मन्यन्ते यत् मानवाः एव न प्रत्युत सर्वेऽपि चेतनाचेतनाः जगतः प्राणिनः एकस्यैव परमपरमात्मनः पुत्राः सन्ति । सर्वेषां जनयिता पोषकः संहर्त्ता च एका एव शक्तिः विद्यते या शक्तिः विभिन्नसम्प्रदायेषु अनेकानेकानाम्ना ख्याता विद्यते । तेषां गन्तव्यस्थानमपि एकमेवास्ति परञ्च गमनीयानि मार्गाणि विभिन्नानि सन्ति । एतादृशावस्थायां तेषां साम्प्रदायिकविरोधमशोभनं परमशक्तिमनसः विरुद्धमिति प्रतीयते ।

तदत्र आपाततः परस्परविरूद्धतया प्रतीयमानेष्वपि शैवशाक्तवैष्णवजैनबौद्धप्रभृतिषु सम्प्रदायेषु ब्राह्मणक्षत्रिययादवादिषु जातिषु एकसूत्रेण व्याप्तायाः भारतीयमौलिकसंस्कृत्याः स्वरूपस्यापरिज्ञानमेव तस्य कारणम् इति संक्षेपेण वक्तुं शक्यते । अत्र एतदपि विभावनीयम् इतिहासज्ञानिनाम् अतिरोहितमेतद् यत् कालक्रमेण तत्तदवस्था नामावश्यकतानुरूपं स्वभावतः एव नवाः नवाः सम्प्रदायाः सर्वेषु देशेषु प्रवर्तन्ते । परम्परागतमर्यादा विरोधित्वभावना तेषु किञ्चित्कालपर्यन्तमेव जायते। किञ्चित्कालातिपाते तु तेषां तस्यामेव मर्यादायामन्तर्भावः समावेशश्च प्रायः सर्वत्र क्रियते । ततश्च साम्प्रदायिकी असहिष्णुता सर्वथा अविचारमूला । अत एव तत्त्वविदो विचारशीलाः पण्डिताः तेषु-तेषु सम्प्रदायेषु व्यापिन्या एकस्या भारतीयसंस्कृत्या भावनयैष भविताचित्तः उदारहृदयाः परस्परसहिष्णुताभावस्यैवाभिवृद्धिम् इच्छन्ति।

अन्यच्च, सम्प्रदायेषु परस्परं मतभेदः तस्य तस्य तत्त्वस्य विषये साम्प्रदायिकपरिभाषाकृद् एव भवति । एवञ्चान्ततः भेदोऽयं भाषायाः विलासः एव पर्यवस्यति । यतो आध्यात्मिकानां दार्शनिकानाञ्च तत्त्वानां परिशीलने भाषा प्रायेण परिभाषारूपेणैव कार्यकारी भवति । यथा हि तत्तच्छास्त्रेषु व्यवहारसौकर्याय पारिभाषिकशब्दानां कल्पना सङ्केतो वा क्रियते तथैव खल्वाध्यात्मिके दार्शनिके च जगति शाब्दिकरूढीनामाश्रयेण तत्तप्रमेयाणां प्रतिपादनं क्रियते । एवं भाषातत्त्वस्य स्वरूपे कमपि भेदम् आदध ाती केवलं तस्य विभिन्नपक्षानेव प्रतिपादयति । अतश्च 'शब्द्ब्रह्मेति' वर्तते इत्यनुसारं भाषायाः स्तरम् अतिक्रान्तस्य तत्त्वदर्शिनः स्थितप्रज्ञस्य द्रष्टौ वेदान्तस्य ब्रह्मनीतिशास्त्रस्य 'सत्यम्' बौद्धदर्शनस्य 'ध ार्मः' मीमांसादर्शनस्य कर्म तन्त्र शास्त्रस्य शक्ति गीतायाः च 'अहम्' अथवा कृष्णः मुहम्मदीयानां 'अल्लाहः' सर्वे एते परिभाषिकशब्दाः । वस्तुतः एकस्यैव मौलिकतत्त्वस्य तत्तद्दृष्टिभेदेन प्रतिपादकाः सन्ति ।

सर्वमेतत्पश्यतां वै मनीषिणां साम्प्रदायिक्यसहिष्णुता केवलं मूर्खतायाः अज्ञानस्यैव च विजृम्भितम्। अत एव राष्ट्रस्यैक्यम् एकस्या भारतीयसंस्कृतेश्च पुष्टिम् अभिवाञ्छद्भिः सर्वैः सम्प्रदायानुयायिनैः साम्प्रदायिक्यसहिष्णुता समूलमुन्मूलनीया ।

सारांश :

इस इकाई में आपने व्याकरण महाभाष्यम् के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का अध्ययन किया है। इस महाभाष्य के रचनाकार महर्षि पतंजलि हैं। महाभाष्य के इस अंश में 'शब्दानुशासन' शीर्षक अंश में महर्षि पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या की गयी है। पतंजलि के लिए पाणिनि के सूत्रों का महत्व मंत्रों के समान था। उनके शब्दों में 'पाणिनि के किसी भी सूत्र का एक वर्ण भी निरर्थक नहीं है, अत: उसमें दोष निकालना दुस्साहस ही कहा जायेगा।' महर्षि पतंजलि ने सूत्रकार के साथ ही वार्तिककार के वचनों की समीक्षा करते हुए अनेकानेक शंकाओं का समाधान अपने महाभाष्य में प्रस्तुत किया है। यह सभी विवरण आपने इस इकाई के 'अनुशासनीय शब्द-निर्णय अधिकरण' से लेकर वर्णोपदेश प्रयोजन अधिकरण, तक भाष्यों में विभिन्न आक्षेपों एवं उनके निराकरणों सहित पढ़ा है।

इस इकाई में आपने विभिन्न विषयों पर लिखित संस्कृत निबन्धों का भी अध्ययन किया है। इन निबन्धों में भारतीय वेदों, महाकाव्यों, संस्कृत साहित्य के महाकवियों, अहिंसा व परोपकार जैसे दैवी गुणों के साथ-साथ कतिपय सामाजिक एवं वैज्ञानिक विषयों का वर्णन किया गया है। इन निबन्धों के अध्ययन से आप स्वयं भी संस्कृत-निबन्ध-लेखन में सक्षम हो सकेंगे।

अभ्यास-प्रश्न :

1. शास्त्र प्रयोजन अधिकरण के ऊहा पदार्थ निरूपण भाष्य की समीक्षा कीजिए।
2. आगम पदार्थ निरूपण भाष्य की हिन्दी-व्याख्या कीजिए।
3. उक्त प्रयोजन ग्रन्थोपपत्ति प्रकरण के आक्षेपों एवं उनके समाधानों का विवेचन कीजिए।
4. शास्त्र निर्माण निरूपण भाष्य की शंका-समाधनपूर्वक व्याख्या कीजिए।
5. शब्दों के नित्यत्व एवं अनित्यत्व पर महर्षि पतंजलि के विचारों की व्याख्या कीजिए।
6. नित्यता साधक पक्ष निर्णय अधिकरण में वर्णित आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत कीजिए।
7. अधर्माधिक्य भाष्य का विवेचन अपने शब्दों में कीजिए।
8. वर्णोपदेश प्रयोजन अधिकरण के भाष्यों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
9. ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों पर संस्कृत में निबन्ध लिखिए।
10. निम्नलिखित शीर्षकों पर संस्कृत में निबन्ध लिखिए :
    (क) भारतीय दर्शनस्य महत्ता
    (ख) संस्कृत-साहित्यस्य गौरवम्
    (ग) शरद् ऋतु वर्णनम्
    (घ) महिला-सशक्तीकरणस्य महत्वम्
    (ङ) अस्माकं राष्ट्रियः नेतारः

✤ ✤ ✤

सुझाव पत्र (विद्यार्थियों के लिये)

नाम –
नामांकन नं. –
फोन नं.–
ई–मेल आईडी –

कार्यक्रम का नाम –
कोर्स का नाम –
सत्र –

प्रिय छात्र–छात्राओं,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव आंमत्रित है, कृपया आपको प्रदान की जाने वाली पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

....

....

....

....

....

....

....

....

....

छात्र का नाम एवं हस्ताक्षर

सुझाव पत्र (विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक के लिये)

नाम – पद –

विभाग/विषय – पता –

फोन नं.– सत्र –

ई–मेल आईडी –

प्रिय विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव प्रार्थनीय है, कृपया आप इस पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

....

....

....

....

....

....

....

....

....

धन्यवाद,

नाम एवं हस्ताक्षर